Printed & Published by Hiralal Deochand Shah at
Sharda Mudranalaya. Near Pankore Naka,
AHMEDABAD.

इद पुस्तक अमदावाद-पानकोरनाका समीप वर्तिनि श्री शारदामुद्रणालये
देवचन्द्रात्मजेन हीरालालेन मुद्रित प्रकाशित च।

॥१॥

संपादकीय निवेदन

प्रस्तुत वैराग्यकल्पलता न्यायविशारद अने न्यायाचार्य महोपाध्याय श्रीयशोविजयजीनी कृति छे. तेनी श्लोकसंख्या ७००८ छे, जेनो निर्देश डेहेलाना उपाश्रयनी प्रतिना अन्ते करेलो छे. जो के आ ग्रन्थ स्वतन्त्र कृतिरूप नथी, तेनी रचनानो आधार सिद्धर्षिप्रणीत उपमितिभवप्रपंचा कथा छे. तेनी वस्तु अने पात्रोने अनुसरीने आ ग्रन्थनी रचना करवामां आवी छे, छतां उपाध्यायजी जेवा प्रतिभासंपन्न बहुश्रुत विद्वाननी कृतिमां अनेक विशिष्टताओ होय ए स्वाभाविक छे. तेओए आ ग्रन्थमां उपमितिनुं अवतरण घणी सुन्दर रीते करेलुं छे, जेथी कोईने पण आ ग्रन्थ अनुकरणरूप न लागतां स्वतन्त्र कृति होय एम लागे छे. कोइ कोइ आवश्यक विषयनुं निरूपण तो स्वतन्त्रपणे पण करवामां आव्युं छे. दा. त. उपमितिमां नहि होवा छतां वैराग्यना हेतुरूपे समाधिनुं स्वरूप प्रथम स्तवकमां श्लो. १२४ थी २६९ सुधीमां सविस्तरपणे बताव्युं छे.

जैन कथासाहित्य घणुं विशाल छे. तेना प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश अने गुजराती भाषामां सेंकडो ग्रन्थो मोजुद छे. तेमां वैराग्यप्रधान कथाग्रन्थोमां समराइच्चकहा अने उपमितिभवप्रपंचा कथा सर्वश्रेष्ठ छे. तेमां समराइच्चकहा प्राकृत भाषामां छे अने वस्तु, अलंकार, रस अने भाषानी दृष्टिए घणी समृद्ध छे. तेवी रीते संस्कृत भाषामां उपमिति पण अद्वितीय कथा छे. तेनी भाषा सरल अने नदीना प्रवाहनी जेम क्यांय पण अटकाया सिवाय त्वरित गतिए चालती श्रोताना हृदयमां गंभीर अने सचोट असर उत्पन्न करे छे. उपाध्यायजीए उपमितिना भाव, पात्र अने वस्तु

लई महाकाव्यनी शैलीथी प्रस्तुत ग्रन्थनी रचना करी छे. वच्चे वच्चे वसन्तादि ऋतुओ, प्रातःकाल, सायंकाल, सूर्योदय, सूर्यास्त, सन्ध्या इत्यादिनुं मनोरजक वर्णन कर्युं छे. एकंदर साधु साध्वीने वैराग्यप्रधान काव्यना पाठ्य पुस्तक तरीके आ घणो उपयोगी ग्रन्थ छे.

आ वैराग्यकल्पलताना कर्ता श्रीयशोविजयजी उपाध्याय आगम, तर्कशास्त्र, अध्यात्म, कर्म, योग इत्यादि अनेक विषयोमां अद्वितीय विद्वान् छे अने तेमणे ते ते विषयना स्वतन्त्ररूपे के अन्य ग्रन्थोनी टीकारूपे संस्कृत, प्राकृत अने गुजराती भाषामां अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोनी रचना करी छे. जो के उपाध्यायजीना रचेला बधा ग्रन्थो उपलब्ध थता नथी, वळी तेमना केटलाक ग्रन्थो अपूर्ण ज मळे छे, तो पण तेमणे रचेला साहित्यना ग्रन्थो जे मळी शके छे ते एटला बधा छे के तेना अभ्यास माटे आखुं जीवन पण पर्याप्त नथी.

उपाध्यायजी एटला महान विद्वान् थइ गया, के श्रीहेमचंद्राचार्य पछी तेमना जेवा वीजा कोइ समर्थ विद्वान् थया होय तेम जाणवामां नथी. आवा प्रतिभाशाली अने प्रौढ विद्वाननुं जीवनवृत्तान्त सविस्तर कोइए लख्युं नथी, परंतु तेनी सामग्री नीचे मुजब छे. (१) तेमणे पोताना रचेला ग्रन्थना अन्ते लखेली प्रशस्तिओ, (२) जेसलमीरना श्रावक हरराज देवराज उपरनो प्रश्नोत्तर पत्र, (३) तेमना समकालीन मुनि कान्तिविजयजीए रचेलो सुजसवेली भास अने (४) वीजा ग्रन्थोमां तेमना संबंधमां आवेला उल्लेखो. तेमणे रचेला ग्रन्थोना अन्ते आवेली प्रशस्तिओमां पोताना संबंधमां लख्युं छे के "गुरु पं. नयविजयजी मने स्वपर दर्शननो अभ्यास करावबा माटे काशी लई गया अने काशीमां रहीने में चिन्तामणि आदि ग्रन्थोनो अभ्यास कर्यो अने न्यायशास्त्रना विपुल भावो जाण्या, जेथी सिद्धसेनादिकृत शास्त्रना भाव जाणवाने हुं समर्थ थयो." (जुओ द्रव्यगुणपर्यायरास प्रशस्ति अने ३५० गाथाना सिमंधरजिन स्तवनप्रशस्ति)

"गुरु केवळ मने न्यायशास्त्रनो अभ्यास करावबा माटे वात्सल्यने लीधे काशीमां लांबो समय रह्या, ब्राह्मणोने वश कर्या, राजाओने

बालको नेवा गण्या अने शत्रुओने मित्र गण्या.” (सामाचारी प्रशस्ति)

“गुरु पं. नयविजयजीए मने तर्कशास्त्रनो अभ्यास कराव्यो, जेना प्रीतिपात्र बुद्धिमान् भ्राता पद्मविजयजी छे एवा मने काशीमां पंडितोए न्यायविशारदनुं बिरुद आप्युं. (न्यायखण्डनखाद्य प्रशस्ति)

पंडितोए काशीमां पहेलां न्यायविशारदनुं बिरुद आप्युं अने सो ग्रन्थनी रचना कर्या पछी मने न्यायाचार्यनुं बिरुद आप्युं.(तर्कभाषा प्रशस्ति)

उपरनी अने ए सिवायनी बीजी प्रशस्तिओनो सार ए छे के गुरु पं. नयविजयजीए मने (यशोविजयजीने) काशी लइने चिन्तामणि आदि न्याय-तर्क शास्त्रनो अभ्यास कराव्यो, पडितोए न्यायविशारदनुं बिरुद आप्युं अने सो ग्रन्थोनी रचना कर्या पछी न्यायाचार्यनुं बिरुद आप्युं. ते सिवाय पद्मविजयजी पोताना सहोदर छे एनो पण पोते ज उल्लेख कर्यो छे.

खंभातथी उपाध्यायजीए लखेला जेसलमीरना श्रावक हरराज देवराज उपरना पत्रमां शास्त्रीय प्रश्नोना उत्तरो छे, तेमां पण तेमना पोताना जीवन सबन्धे एटलीज हकीकत छे के “न्यायाचार्य बिरुद तो भट्टाचार्ये न्यायग्रन्थनी रचना करेली जोइने प्रसन्न थइने आप्युं छे, अने ते अमे ग्रन्थनी समाप्तिमां लख्युं छे.” वळी ते ज पत्रमां लख्युं छे के “बौद्धादिनी एकान्त युक्ति खंडी स्याद्वाद पद्धतिथी न्यायग्रन्थ २लक्ष प्रमाण कर्यो छे.” उपर प्रमाणे उपाध्यायजीए प्रशस्ति वगेरेमां पोते जणावेली थोडी हकीकत मळे छे, पण तेओना जन्मस्थान माता-पिता वगेरे संबन्धमां जे हकीकत आज सुधी नहोती मळती ते हमणां थोडा वरसमां उपलब्ध थएल सुजशवेली भासमांथी मळी आवी छे. ते आ प्रमाणे.

“गूजरातमां पाटणनी पासे आवेला कन्होडा गाममां नारायण नामे वणिक अने तेनी पत्नी सोभागदे रहेता हता. तेओने जसवंत अने पद्मसिंह नामे बे पुत्रो हता. पंडित नयविजयजी कुणगेर चोमासुं रहीने वि. सं. १६८८मां कन्होडे आव्या अने तेमना धर्मोपदेशथी वैराग्य

पामी माता अने बन्ने पुत्रोए तेज सालमां अणहिलपुर पाटण जइ गुरु पासे दीक्षा लीधी. जसवंत अने पद्मसिंहनुं नाम अनुक्रमे यशोविजय अने पद्मविजय राखवामां आव्युं. तेओनी वडी दीक्षा पण तेज वर्षे विजयदेवसूरिना हाथे थई. तेओए सामायिकादि शास्त्रनो अभ्यास कर्यो. संवत् १६९९ मां यशोविजयजी गुरु साथे अमदावादमां आव्या अने संघ समक्ष आठ महा अवधान कर्यां. ते वखते शाह धनजी सूराए गुरुने विनंति करी के "यशोविजयजी विद्यानुं योग्य पात्र छे, जो काशी जइ छ दर्शनना ग्रन्थोनो अभ्यास करे तो बीजा हेमचंद्राचार्य थाय, अने जैन-शासननी प्रभावना करे. गुरुए उत्तरमां जणाव्युं के आ कार्य धनने आधीन छे. अन्यमति पंडितो स्वार्थ सिवाय नवीन न्यायशास्त्रनो अभ्यास न करावे. गुरुनुं वचन सांभळी धनजी सूराए ते माटे बे हजार रुपीआ खर्च करवानी इच्छा दर्शावी. त्यारबाद गुरुए यशोविजयजी साथे काशी तरफ विहार कर्यो. पाछळथी धनजी सूराए हुंडीद्वारा पैसानी मदद मोकली. काशीमां तार्किक शिरोमणि भट्टाचार्य रहेता हता, तेमनी पासे सातसो शिष्यो मीमांसादि शास्त्रोनो अभ्यास करता हता यशोविजयजीए न्याय, (उत्तर) मीमांसा, बौद्ध, जैमिनि तथा वैशिषिक दर्शनोनो अभ्यास तेमनी पासे शरु कर्यो. अने साथे जैन दर्शननुं पण खूब चिन्तन कर्युं. आ प्रमाणे त्रण वरस सुधी निरंतर अभ्यास कर्यो. तेवामां कोई संन्यासी आडंबर साथे वाद करवा आव्यो. यशोविजयजीए बधी सभा समक्ष तेनी साथे वाद कर्यो अने तेमां तेओए विजय मेळव्यो अने वाजते गाजते पोताना स्थाने आव्या, तथा पंडितोए न्यायविशारद बिरुद आप्युं. एम काशीमां त्रण वरस रह्या बाद तेओ आग्रा आव्या. अने त्यां चार वरस रही शास्त्रोनो विशेष अभ्यास कर्यो. सुजशवेली भासमां न्यायाचार्य पद संबन्धी कंइपण उल्लेख नथी, पण न्यायविशारद बिरुद मळ्या पछी आग्रा आव्यानो उल्लेख छे, परन्तु जैन तर्कभाषानी प्रशस्तिमां "न्यायविशारद बिरुद मळ्या बाद सो ग्रन्थोनी रचना करी अने त्यारबाद न्यायाचार्य पद मळ्युं." एवो उल्लेख छे. वळी हरराज देवराजना पत्रमां पण "न्यायाचार्य पद तो भट्टाचार्ये ग्रन्थरचना देखी प्रसन्न थइ आप्युं छे" ए हकीकत पोतेज लखी छे,

माटे तर्कभाषा प्रशस्ति अने उपरना पत्रनी हकीकतनो परस्पर संवाद मळे छे, ते उपरथी एम मानवाने कारण मळे छे के न्यायविशारद बिरुद मळ्या पछी बीजा त्रण वरस काशीमां रही सो ग्रन्थनी रचना कर्या बाद न्यायाचार्य पद काशीमां ज भट्टाचार्य तरफथी मळ्युं होय. एकंदर तेमनो काशी निवास त्रण वरसनो नहि, पण छ वरसनो संभवे छे. नहि तो पोते ज जेनो उल्लेख करेलो छे ते न्यायाचार्य पद क्यारे मळ्युं तेनो खुलासो भासमांथी मळी शकतो नथी त्यार बाद तेओ आग्रा आव्या अने त्यां चार वरस सुधी न्यायाचार्यनी पासे शास्त्रोनो सविशेष अभ्यास कर्यो.

आग्राथी दुर्दम वादीओने जीततां तेओ अमदावादमां आव्या अने नागोरी सराहना उपाश्रये उतर्या. ते वखते अमदावादमां महोबतखान सुबो हतो, तेणे राजसभामां यशोविजयजीनी विद्वत्तानी कीर्ति सांभळी अने तेमने जोवानी इच्छा थइ. तेथी यशोविजयजी राजसभामां आव्या अने खानना समक्ष तेओए अढार अवधान कर्या. ते जोइने महोबतखान खुश थयो अने तेमने वाजते गाजते सन्मानपूर्वक पोताने स्थानके पहोंचाड्या. त्यार बाद राजनगरना संघे मळीने यशोविजयजीने उपाध्याय पदवी आपवानी विजयदेवसूरिने विनंति करी, विजयदेवसूरिए पण संघनी विनंति योग्य जाणी उपाध्याय पद आपवानुं नक्की कर्युं. त्यार बाद पंडित यशोविजयजीए वीश स्थानकना तपनुं आराधन कर्युं अने १७१८ मां विजयदेवसूरि स्वर्गस्थ थयेला होवाथी के अन्य कारणे विजयप्रभसूरिए तेमने उपाध्याय पदवी आपी.

उपाध्यायजी १७४३ मां डभोइमां चातुर्मास रह्या अने त्यां अनशन करी स्वर्गे गया. ज्यां तेमना देहने अग्निसस्कार करवामां आव्यो त्यां स्तूप करवामां आव्यो अने संवत १७४५ मां तेमनी पादुका प्रतिष्ठित करवामां आवी.

उपाध्यायजीए जेने संशोधित करी टिप्पणीथी विभूषित कर्यो छे ते धर्मसंग्रहना कर्ता पं. मानविजयजी गणिए तेनी प्रशस्तिमां लख्युं छे के "तर्क, प्रमाण अने नयना मुख्य विवेचन वडे पोताना ज्ञानथी जेमणे प्रथमना मुनिओनुं श्रुतकेवलिपणुं जणाव्युं छे एवा वाचक गणमां मुख्य

श्री यशोविजयजीए आ ग्रन्थना संशोधनादि वडे मारा उपर उपकार कर्यो छे"

आ प्रमाणे तेमना समान कालीन विद्वानोए पण तेओनी अत्यंत बहुमानपूर्वक स्तुति करी छे. भासना कर्ताए तो तेओने हरिभद्राचार्यना लघु बांधव तरीके ओळखावेल छे.

आ पुस्तकना संशोधनमां त्रण हस्तलिखित प्रतिओ अने एक भीमशी माणेक द्वारा भाषान्तर सहित प्रकाशित अपूर्ण पुस्तकनो उपयोग करवामां आव्यो हतो तेमां (१) राधनपुरना जैनशालाना ज्ञानभंडारनी वि. सं १७१६ मां ग्रन्थकर्ताना गुरु पं. नयविजयजीए जालोरमां लखेली प्रति, जेनी रा. ज्ञा. संज्ञा राखवामां आवी छे. ते प्रतिना पत्र ७१मां नीचे मुजब उल्लेख छे–**इति श्री वैराग्यकल्पलतायां मान-मृषावाद-जिह्वेन्द्रियवर्णनो नाम पंचमस्तवकः ॥ संवत् १७१६ वर्षे पं. श्री लाभविजय गणि शिष्य पं. नयविजयेन लिखितः स्वर्णगिरौ।** तेना पत्रनी प्रतिकृति आ साथे आर्ट पेपरमां छपावी मूकेली छे. ते प्रतिना पत्र ११३–१ मां पण आ प्रमाणे उल्लेख छे–"**इति श्रीवैराग्य-कल्पलतायां महामोह–परिग्रह–श्रवणेन्द्रियविपाकवर्णनो नामाष्टमः स्तवकः समाप्तः। संवत् १७१६ वर्षे जावालपुरे पं. नयविजयेन लिखितः। ग्रंथाग्रं**"

एटले आ प्रति पं. नयविजयजीए लखी छे. शिष्यो गुरुनी कृति बहु माननी दृष्टिथी के आवश्यकताने लीधे लखे, परन्तु शिष्यनी कृति गुरु लखे ए विरल प्रसंग नोधपात्र गणाय.

(२) बीजी हस्तलिखित डेहेलाना उपाश्रयनी प्रति जूनी अने शुद्ध छे. ते प्रति कइ सालमां लखायेली छे एवो तेना उपर लेखसंवत् नथी.

(३) त्रीजी पंन्यास कीर्तिमुनिजीनी हस्तलिखित प्रति अशुद्ध अने नवी लखायेली छे.

तेमां राधनपुर जैनशालाना भंडारनी पं. नयविजयजीनी हस्तलिखित प्रति वैराग्यकल्पलताना थोडा फोर्म छपाया बाद पाछी मोकलवी पडी. त्यार बाद घणा समये मारा मित्र राधनपुर निवासी त्रिकमलाल मगनलाल शाहना प्रयत्नथी फरीवार मळी एटले ते प्रतिनो पूरेपूरो उपयोग थइ शक्यो नथी. आ हस्तलिखित प्रतिओ आपनार ज्ञानमंडारना व्यवस्थापक तथा मोकलनारा महाशयोनो आ स्थळे आभार मानुं छुं.

उपरनी मुद्रित अने हस्तलिखित प्रति उपरथी आ ग्रन्थनुं संशोधन करवामां आव्युं छे, तो पण अज्ञान, भ्रम के मतिमान्द्यने लीधे तथा अक्षरयोजकना प्रमादथी के बीबांओ तूटी जवाथी जे अशुद्धि रही होय के थवा पामी होय तेने क्षम्य गणी सुधारी वांचवा विनंति छे.

शारदा भवन,
जैन सोसाइटी १५.
अमदावाद.

भगवानदास हर्षचंद्र दोशी.

खण्डितसीसकाक्षरजाताशुद्धीनां

शुद्धिपत्रम्

पत्र-पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४-१	१२	-सिद्ध	-सिद्धे
८-२	११	-शालिन	-शालिनः
९-२	४	फलकरूपे	फलैकरूपे
१३-१	८	महाराजः	महाराजः (महाराज्ञः?)
१४-१	१३	-सुश्रुपु-	शुश्रूपु-
१८-२	४	प्रोक्त योग्यायोयविभागं	प्रोक्तं योग्यायोग्यविभागं
२२-२	२	-कथापीयूप-	-कथा पीयूष-
४६-३	१	हिंसावश्वा-	हिंसाविश्वा
४७-१	१	कृपाणेनव	कृपाणेनेव
१६६-१	५	स्थैर्येण व	स्थैर्येण
१६६-१	१०	संसारस्य जीर्णगृहोपमा।	संसारस्य प्रदीपनकोपमा।

संवत् १७१६ वर्षे स्वर्णगिरौ (जालोरनगरे) प. नयविजयगणिहस्तलिखिताया श्रीमदुपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितवैराग्यकल्पलताया: प्रते: पत्रप्रतिकृति ।

विषयानुक्रमः।

खण्डितसीसकाक्षरजाताशुद्धीना

शुद्धिपत्रम्

पत्र-पृष्ठं	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४-१	१२	-सिद्ध	-सिद्धे
८-२	११	-शालिन	-शालिनः
९-२	४	फलकरूपे	फलैकरूपे
१३-१	८	महाराजः	महाराजः (महाराज्ञः?)
१४-१	१३	-सुश्रुपु-	शुश्रूपु-
१८-२	४	प्रोक्त योग्यायोयविभागं	प्रोक्तं योग्यायोग्य-विभागं
२२-२	२	-कथापीयूप-	-कथा पीयूष-
४६-३	१	हिंसावश्वा-	हिंसाविश्वा
४७-१	१	कृपाणेनव	कृपाणेनेव
१६६-१	५	स्थैर्येण च	स्थैर्येण
१६६-१	१०	संसारस्य जीर्णगृहोपमा।	संसारस्य प्रदीपन-कोपमा।

सं. १७१६ वर्षे स्वर्णगिरौ (जालोरनगरे) प. नयविजयगणिहस्तलिखितायाः श्रीमदुपाध्याययशोविजयगणिविरचितवैराग्यकल्पलतायाः प्रतेः पत्रप्रतिकृतिः ।

न्यायविशारद्–न्यायाचार्य–महोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयविरचिता

वैराग्यकल्पलता।



प्रथमः स्तवकः

ऐन्द्रीं श्रियं नाभिसुतः स दद्या–दद्यापि धर्मस्थितिकल्पवल्लिः। येनोप्तपूर्वा त्रिजगज्जनानां, नानान्तरानन्दफलानि सूते ॥१॥

मदोदयो हृद्गहनस्थिताना–मपि व्ययं यस्तमसां विधत्ते। जयत्यपूर्वो मृगलाञ्छनोऽसौ, श्रीशान्तिनाथः शुचिपक्षयुग्मः ॥२॥

चाणूरजिद्दर्पमहासमुद्र–व्यालोडनस्वर्गिगिरिबाहुवीर्यः। राजीमतीनेत्रचकोरचन्द्रः, श्रीनेमिनाथः शिवतातिरस्तु ॥३॥

यः सप्तविश्वाधिपतित्वसूचा–नूचानभोगीन्द्रफणातपत्रैः। विभाति देवेन्द्रकृतांह्रिसेवः, श्रीपार्श्वदेवः स शिवाय भूयात् ॥४॥

आस्वाद्य यद्वाक्यरसं बुधानां, पीयूषपानेऽपि भवेद् घृणैव। नमामि तं विश्वजनीनवाचं, वाचंयमेन्द्रं जिनवर्द्धमानम् ॥५॥

एतांस्तथाऽन्यान् प्रणिपत्य मूर्ध्ना, जिनाननुध्याय गुणान् गुरूणाम्। सारस्वतं च प्रणिधाय धाम, करोमि वैराग्यकथां विचित्राम्॥

सूक्तानि वैराग्यसुधारसेन, सिक्तानि तुष्टिं ददते यथाऽन्तः। तथा बुधानां न हि वेणुवीणा–मृदङ्गसंगीतकलाविलासाः ॥७॥

---

१ शिवतातिः–शिवङ्कर।

व्योम्नो यथेन्दुः सदनस्य दीपो, हारस्य सारस्तरलो यथा वा। वनस्य भूषा च यथा मधुश्री–र्ज्ञानस्य वैराग्यमतिस्तथैव ॥८॥
साधारणीर्ज्ञानविधोरशेषाः, शेषाः कलाः के कलयन्ति नोच्चैः। धत्ते पदं या भवमूर्ध्नि तां यः, प्रेक्षेत वैराग्यकलां स धन्यः ॥९॥
शमान्वितप्राष्टरसावशिष्टप्रकृष्टवैराग्यरसत्रं[1]तत्त्वम्। विनाऽस्त्युपायो भुवि कोऽपिचारु–र्न ज्ञानगर्वज्वरशान्तिहेतुः ॥१०॥
साम्राज्यमक्लेशवशीकृतोर्वी–जनप्रणीतस्तुतिलब्धकीर्तिं। ज्ञानादिरत्नैः परिपूर्णकोशं, वैराग्यरूपं हितकृन्न कस्य ॥११॥
आपातर[2]म्या परिणामरम्यां, सु[3]निर्मलांगीं [4]मलपात्रगात्रा। रुच्या बुधानां ललनाऽस्ति काऽपि, वैराग्यलक्ष्मीं न विना जगत्याम्॥
वैराग्यमित्रं कृतिनां पवित्रं, लब्धं प्रसादान्नृपसुस्थितस्य। प्रदर्शयत्येव विवेकरत्नं, विधाय वाचाटखलाक्षिबन्धम् ॥१३॥
नानाविधाध्यात्मिकभावरत्नप्रभाभरोद्भासितचित्तभित्तौ। परिस्फुरन्मूलगुणेन्दुकान्ताभिबद्धसत्कुट्टिमसन्निवेशे ॥१४॥
विसृत्वरैरुत्तरसद्गुणौघैः, प्रपञ्चितानन्तवितानशोभे। स्वकर्मरन्ध्राख्यगवाक्षलम्बिमुक्तावचूलोपमधीगुणौघे ॥१५॥
प्रधूपिते निर्मलवासनाभिः, सुसत्त्वकर्पूररजोऽभिरामे। विसृत्वरीभिः श्रुतधारणाभिः, कस्तूरिकाभिः सुरभीकृते च ॥१६॥
छायाभरैर्ध्वस्तसमस्तकर्म–धर्मप्रचारे स्वविलाससिद्धैः। नीते सदा शीतलतां च शील–लीलाभिधैः सांक्रमिकाम्बुयन्त्रैः ॥१७॥
वैराग्यसद्मन्यविकल्पतल्पे, स्थिता भृते संवरशुद्धिपुष्पैः। महानुभावाः सह धर्मपत्न्या, सुखं श्र[5]यन्ते समताख्यया ये ॥१८॥
तेषां मुनीनां खलु तात्त्विकीयं, गृहस्थताऽवस्थितिशर्मभूमिः। परे गृहस्थास्तु परिभ्रमन्तः, संसारकान्तारमृगस्वरूपाः ॥१९॥
षड्भिः कुलकम्

१–त्रतत्वं भी. मा.। २ रम्या भी. मा –डे. ज्ञा.। ३ सुनिर्मलागी भी. मा.। ४ मलगात्रपात्रा रा. ज्ञा.। ५ शयते भी. मा.

श्रद्धाधृतिक्षान्तिदयासुमेधा–मुख्याप्सरोभिर्विलसत्यजस्रम् । वैराग्यरूपे खलु नन्दने यः, शक्रोऽपि कस्तस्य मुनेः पुरस्तात् ॥२०॥
रसान्तरस्येह कथा तथालं, करोति भावैरुपनीयमानैः । बाह्यैः स्वमाभ्यन्तरशुद्धरूप–मेकैव वैराग्यकथोपधत्ते ॥२१॥
स्वतः सतामाचरगोचरत्वा–दस्यां खलानामरुचेर्न दोषः । न कल्पवल्लिः करभानभीष्टे–त्युपैत्यकीर्तिं विबुधोपसेव्या ॥२२॥
उपक्रमो धर्मकथाश्रयो न, त्याज्यः खलप्रीतिभिया प्रबुद्धैः । नो चेन्मलोत्पत्तिभिया जनानां, वस्त्रोपभोगोऽपि कथं घटेत ॥२३॥
अस्पृष्टपूर्वे तमसां समूहै–श्चारो यदि स्याद् गगने सुधांशोः । अदूषिते वर्त्मनि दुर्जनैः स्याद्, गतिस्तदा साधुजनस्य वाचाम् ॥२४॥
श्रव्ये खलानां नहि शास्त्रभावे, बुद्धिः परं मज्जति कूटदोषे । चञ्चूर्विहायैव हि पद्मखण्डं, सद्यः पुरीषे पतति द्विकानाम् ॥२५॥
न प्रत्ययार्हा प्रकृतिः खलानां, न चारुरूपं समुपैति किंचित् । संस्कारहीनामिति तामपेक्ष्य, को वा क्रियां साधयितुं यतेत ॥
गुणः खलस्याप्ययमप्य एव, यद्दोषचिन्तादहनाभिलीढम् । तदाऽस्य शाणे परिघृष्यमाणं, सतां वचःशस्त्रमुपैति दीप्तिम् ॥२७॥
पीयूषसृष्टिर्न सतां स्वभावात्, संसारसिन्धावधिकाऽस्ति धातुः । दोषैकदृष्टिव्यसनात् खलानां, न कालकूटस्य परा च सृष्टिः ॥
ग्रन्थाम्बुराशौ मथिते परीक्षा–मन्थाद्रिणा दोषविषं स्वकण्ठे । विरूपनेत्रेण धृतं खलेन, गुणग्रहश्रीः पुरुषोत्तमेन ॥२९॥
निघृष्यमाणोऽपि खलापवादैः, प्रकाशतां याति सतां गुणौघः । उन्मृज्यमाणः किमु भस्मपुञ्जै–र्न दर्पणो निर्मलतामुपैति ॥३०॥
कथाऽन्यथा स्यान्न खलप्रलापै–र्या सज्जनेनानुगृहीतभावा । प्रयाति विश्वेऽर्ककृतः प्रकाशो, न घूकपूत्कारपरम्पराभिः ॥३१॥
न दुर्जनैराकुलिता अपीह, भिन्नस्वभावाः सुजना भवन्ति । प्रपद्यते वज्रमणिर्न भेद–मयोघनैरप्युपभिद्यमानः ॥३२॥
निगूढभावान् विशदीकरोति, तमः समस्तं परिसंवृणोति । दोषोद्भवेऽप्यन्यगुणप्रदर्शि, धाम प्रदीपस्य सतां च वृत्तम् ॥३३॥

नीचोऽपि नूनं सदनुग्रहेण, क्षतिं विहायाभ्युपयाति कीर्तिम् । न निम्नगाऽपि प्रथिता सुराणां, नदीति किं शंकरमौलिवासात् ॥
सूर्योदये ध्वान्तभरादिवोच्चै-स्तापादिवेन्दोः किरणप्रचारे । अनुग्रहे साधुजनस्य भीति-र्न काऽपि नो दुर्जनदोषवादात् ॥३५॥
तस्मात् सदालम्बनतः खलाना-मुपेक्षणादक्षतशुद्धपक्षैः । अभङ्गवैराग्यसमृद्धिकल्प-वल्लीविवृद्धौ यतितव्यमार्यैः ॥३६॥
यथेह कालः सुख(प)मादिरूपः, कल्पद्रुमोत्पत्तिकृदभ्युपेतः । बुधास्तथाऽस्याः खलु पुद्गलाना-मावर्तमन्त्यं प्रवदन्ति हेतुम् ॥३७॥
अस्मिंस्तथाभव्यतया मलस्य, क्षयेण शुद्धः समुदेति धर्मः । यन्नान्यदा जन्तुरवैति हेयेतरादिभावान् हृदये यथास्थान् ॥३८॥
स्थिरान् यथार्थान् भ्रमणक्रियोत्थ-शक्त्या चलान् पश्यति संयुतोऽङ्गी । तथोग्रजन्मभ्रमशक्तियुक्तः, पश्यत्युपादेयतयैव हेयान् ॥३९॥
तच्छक्तिनाशस्त्विह तत्त्वतः स्यात्, कालानुभावाच्चरमे विवर्ते । हेत्वन्तरेणोपगतात् कथंचि-द्धेतुव्रजो येन मिथोऽनुबद्धः ॥४०॥
प्राहुस्तमेनं मुनयोऽत्र धर्म-तारुण्यकालं खलु चित्ररूपम् । ततोऽवशिष्टं भवबाल्यकाल-माच्छादिताभ्यन्तरभोगरागम् ॥४१॥
उत्पद्यते यस्त्वथ धर्मरागः, क्रमाद् व्यतीते भवबाल्यकाले । तमेव वैराग्यसमृद्धिकल्प-वल्ल्या बुधा बीजमुदाहरन्ति ॥४२॥
प्रवर्धमानाशुभभावधारा-कादम्बिनीध्वंसनचण्डवातः । सद्धर्मरागो गदितो गुणाना-मुत्पत्तिहेतुर्विपदां प्रमाथी ॥४३॥
दृष्ट्वा सदाचारपरान् जनान् या, शुद्धप्रशंसान्विततच्चिकीर्षा । सद्धर्मरागः स हि मोक्षबीजं, न धर्ममात्रप्रणिधानरूपः ॥४४॥
बाह्यान्युदाराणि जिनेन्द्रयात्रा-स्नात्रादिकर्माण्यत एव भक्त्या । बुधैः समालोककलोकबीजा-धानावहत्वादुपबृंहितानि ॥४५॥
अन्ये तु धर्मप्रणिधानमात्रं, बीजं जगुर्यन्न शिवाशयोऽपि । घने मलेऽनन्त्यविवर्तगे स्याद्, वाच्यं पुनः किं तदुपायरागे ॥४६॥
धर्मस्य येष्टा विषयस्वरूपा-नुबन्धनिष्ठा त्रिविधा विशुद्धिः । सर्वाऽपि मोक्षार्थमपेक्ष्य साक्षात्-परम्पराहेतुतया शुभा सा ॥४७॥

शुद्धक्रियेच्छाविषयोऽनुबन्धः, स्थानेऽङ्कुरस्याभिहितोऽत्र बुद्धैः। असज्जिहासासदुपायलिप्सा–बुद्धिद्विपत्रीपरिणामभाजः ॥४८॥
अन्वेषणा या तदुपायनिष्ठा, तत्त्वेक्षणव्यापृतयोगदृष्ट्या, असद्ग्रहोत्तीर्णविचारचारु–स्कन्धस्वरूपा प्रणिगद्यते सा ॥४९॥
ततः प्रवृत्तिः शमसंयुता या, वैराग्यहेतौ विविधे विचित्रा। सत्यक्षमाब्रह्मदयादिके सा, पत्रप्रवालादिसमा पवित्रा ॥५०॥
संपद्यते संभृतमत्र चेति, कर्तव्यताया उपनायकं यत्। भाग्योदयात् सद्गुरुधर्मबन्धु–योगादिकं पुष्पभरोपमं तत् ॥५१॥
मोहस्पृशां कुम्भकुटीप्रभात–न्यायेन या स्याद् विफला प्रवृत्तिः। फलावहां कर्तुमिमां समर्थः, सद्ज्ञानभानुर्गुरुरेव भानुः ॥५२॥
अज्ञानभाजां विनिपातहेतु–[1]श्छन्नोऽस्ति यो मोहमहापदन्धुः। हस्ते गृहीत्वा विनिवार्य तस्मा–ज्जनं नयत्यध्वनि धर्मबन्धुः ॥५३॥
ततश्च सद्धर्मपथोपदेशात्, सत्संगमाच्चोल्लसितस्ववीर्यात्। यो भावधर्मस्य रहस्यलाभः, [2]पेचेलिमं तत्फलमामनन्ति ॥५४॥
प्रोक्तो जिनेन्द्रैरयमेव मोक्ष–प्रसाधको निश्चयतोऽनुपाधिः। द्रव्यात्मको नीतिकुलादिभावी, धर्मस्तु दत्त्वाऽभ्युदयं प्रयाति ॥५५॥
बीजस्य संपत्तिरपीह न स्या–दपश्चिमावर्तविवर्तकाले। एषाऽपि येनातिशयेन चार्वी, भवाभिनन्दित्वनिवृत्तिलभ्या ॥५६॥
उप्तेऽपि चास्मिन् विशदत्वमेति, संसारिजीवस्य हि चित्तवृत्तिः। क्षोभं तदा गच्छति तामसानां, वर्गो महामोहचमूचराणाम् ॥५७॥
तदैव तेषां स्फुरतीति चित्ते, क्षोभाय यद्बीजमपीदृशं नः। वैराग्यवल्लिः फलिता दशां सा, कां कां न कर्तुं प्रभविष्यतीयम् ॥५८॥
अल्पश्रमेणादित एव नाशः, कर्तुं ततोऽस्याः खलु युज्यते नः। दुश्छेद्यतां यास्यति वर्धमाना, चारित्रधर्मादिभटाश्रितेयम् ॥५९॥
इत्थं समालोच्य निहत्य शक्त्या, निवारकानाशु शुभाशयादीन्। उत्खन्यते तैः शुचिवल्लिबीजं, चारित्रधर्मस्य बलेऽनुपेते ॥६०॥

१ अन्धु' कूपः। २ पचेलिमं स्वत. पक्वम्।

कुर्वन्ति ते दोर्बलदर्पभाजः ॥६१॥
संप्रेष्यते तत्र बलं यदा तु, चारित्रधर्मेण नरेश्वरेण । युद्धं तदा तेन सहाविमृश्य, तिष्ठन्ति ते कालमवेक्षमाणाः ॥६२॥
धाम्नाऽथ भानोरिव तेन तूर्णं, ध्वान्तप्रबन्धा इव दीर्यमाणाः । पलाय्य लीना गहनप्रदेशे, वैराग्यवल्लीं प्रविनाशयन्ति ॥६३॥
व्यग्रेऽथ चारित्रबले स्वकार्ये, भूयोऽपि ते लोकमुपद्रवन्ति । बीजाङ्कुराद्युत्खननक्रमेण, मर्मणि ताडयन्ति ॥६४॥
ज्ञात्वा प्रवृत्तिं पुनरागतास्तां, चारित्रधर्मस्य नृपस्य योधाः । पलायमानानपि तान् सुतीक्ष्णै-र्बाणैर्भृशं मर्मणि ताडयन्ति ॥६४॥
इत्थं छलात् ते कृतधर्मविघ्ना, बलाच्च चारित्रनृपस्य भग्नाः । निर्विद्य तिष्ठन्ति जनापकारा-न्नावृत्तिभाजस्तमसामिवौघाः ॥६५॥
इत्थं पुरे सात्त्विकचित्तसंज्ञे, गिरेश्च मूले गृहिधर्मदेशे । आटीकते यत् खलु मोहधाटी, वैराग्यवाटी न विवर्धते तत् ॥६६॥
बीजाङ्कुरस्कन्धदलाद्यवस्था-मुच्छिद्य पापाः खलु तस्करास्ताम् । गच्छन्ति तेषां न विवेकशैले, पुनः प्रचारो भटकोटिपूर्णे ॥६७॥
तथा च वैराग्यसमृद्धिकल्प-लतावितानैरभितः स शैलः । अलंकृतः शत्रुततेरगम्यो, धत्ते धृतिं चेतसि धर्मभाजाम् ॥६८॥
चारित्रधर्मस्य नृपस्य तस्य, साम्राज्यभाजः प्रबलप्रभावात् । स्थले स्थले तत्र वसन्ति लोका, वैराग्यवाटीसुखभग्नशोकाः ॥६९॥
शुद्धात्मनां तत्र विसारि दत्ते, तत्सौरभं हर्षभरं प्रकृत्या । अतुच्छमूर्च्छां कुरुते तदेव, व्यक्तं महामोहचमूभटानाम् ॥७०॥
लोकानतस्तत्र पराबुभूषु-[१]छलादुपेतोऽपि हि मोहसैन्यः । अमारितोऽपि म्रियते हतेन, घ्राणेन तेन प्रतिलब्धमूर्च्छः ॥७१॥
हेतोरतः पर्वतकल्पवल्ली-विसृत्वरामोदविशङ्कितास्ते । आयान्ति चौरा गृहिधर्मदेशे-ऽप्यालस्यवस्त्रेण निबध्य नासाम् ॥७२॥
तत्तादृगप्यद्रिसमृद्धिशर्म-चारित्रधर्मस्य मनःप्रसादम् । शत्रुप्रचाराप्रतिरोधदुःस्थं, दत्ते न पङ्कोपहतं यथाऽम्भः ॥७३॥
ततः स्वशैलस्य समृद्धिशर्म, स भूमिशक्रोऽबहु मन्यमानः । उपद्रवात् स्वाश्रितमण्डलानां, बोधः प्रतीत्थं सचिवं ब्रवीति ॥७४॥

दूर्वादिपक्षा इव कूटलक्ष्या, मलीमसाः प्राञ्जलमाश्रितं नः। निवार्यमाणा अपि मोहसैन्याः, पुनः पुनर्लोकमुपद्रवन्ति ॥७५॥
अस्मद्बलं तिष्ठति चित्तवृत्तौ, वैराग्यवल्लीं न विना प्रवृद्धाम्। छलान्विपस्ते च विनाशयन्ति, वीजाङ्कुरस्कन्धदशामपीमाम् ॥७६॥
निजाश्रितानामिति मानवाना-मुपद्रवोऽधस्तनमण्डलेषु। अयं प्रतापक्षतये भवेन्मे, रवेरिवाम्भोधरसन्निरोधः ॥७७॥
विचार्य मे ब्रूहि तदार्य ! तेषा-मात्यन्तिकं विघ्नविनाशहेतुम्। भूयान्मनीषा तव भूरिचिन्ता-महार्णवोत्तारकरी तरीव ॥७८॥
इतीरिते भूमिभुजा ब्रवीति, सद्बोधमन्त्री कलितोरुनीतिः। बलस्य कार्यं नहि तेषु राजं-स्त्राणं कला येषु पलायनस्य ॥७९॥
उपद्रवस्यास्य विनाशहेतुः, पूजाऽस्ति पूता परमेश्वरस्य। स्वसैन्यसंमर्दमृतेऽपि हन्त, हतो यया स्याद् द्विषतां प्रचारः ॥८०॥
तेषां रिपूणां पदशृङ्खलेयं, स्वमण्डलक्षेमविधानदक्षा। क्रन्दन्ति बद्धा ह्यनया नितान्तं, भवन्ति न स्पन्दितुमप्यलं ते ॥८१॥
उक्ता विशुद्धा त्रिविधा क्रमात् सा, प्रकृष्टमध्याधिकविघ्नहर्त्री। व्यापारसारा निजकायवाणी-मनोविशुद्धैरुरुचारभेदैः ॥८२॥
समन्तभद्रा प्रथमाऽत्र पूजा, प्रोक्ता द्वितीया खलु सर्वभद्रा। मरोर्भवस्याध्वनि सर्वसिद्धि-फला तृतीयाऽमृतदीर्घिकाभा ॥८३॥
तत्रादिमा सर्वगुणाधिकेषु, जिनेषु सर्वोत्तमवस्तुजातैः। कर्पूरपुष्पागुरुचन्दनाद्यैः, स्वयं वितीर्णैः परितोषमूला ॥८४॥
तेषां जनैरानयनेन वाचा-माचारसंचारपवित्रितेन। भवेद् द्वितीयाऽधिकतोषहेतुः, स्वशक्तिविस्फारितभूरिभक्तिः ॥८५॥
अनन्तसंतोषकरी तृतीया, स्वशक्तिसिद्धऽर्चनसंविधाने। भवत्यविश्रम्य सुरादिसाध्य-विधौ विधित्साप्रसरोऽपि यस्याम् ॥८६॥
आद्याऽऽदिमावञ्चकयोगतः स्यात्, सम्यग्दृशामुत्तरसद्गुणौघम्। युज्येत पूजा दधतां द्वितीया, द्वितीयतद्योगपवित्रितानाम् ॥८७॥
तथा तृतीयाऽतिशयात् तृतीयात्, संजायतेऽवञ्चकयोगरूपात्। श्राद्धस्य शुद्धस्य निजोचितस्य, श्रुतोदिताचारपरायणस्य ॥८८॥

योगा इहोक्तास्त्रिविधाश्च योग-क्रियाफलावञ्चकभेदभाजः। सत्साधुसंगात्परिणामभाग्भ्यां, क्रियाफलाभ्यां च तदाश्रयाभ्याम् ॥८९॥
सम्यक्त्वभाजां त्रिविधाऽपि सेय-मेकातपत्रप्रभुताविधात्री। मिथ्यात्वभाजामपि विघ्नहर्त्री, धर्मास्तिकृद् ग्रन्थिसमीपगानाम् ॥९०॥
भवस्थितेर्भङ्गकरीयमिष्टा, विशोधनी मोक्षमहापथस्य। जीवायसश्चाक्षयभावराग-रसायनात् काञ्चनभावकर्त्री ॥९१॥
आत्यन्तिकोपद्रववारणेन, तदेतया देव! जनास्त्वयाऽमी। संरक्षणीयास्तव काऽत्र चिन्ता, सर्वेऽप्युपायाः खलु यस्य वश्याः ॥
स्वीकृत्य सन्मन्त्रिवचस्तदेत-च्चारित्रधर्मो विनियोज्य लोकान्। पूजाविधौ तीर्थकृतां समग्र-मुपद्रवं शत्रुकृतं निहन्ति ॥९३॥
ततश्च तेषां निरुपद्रवत्वाद् वैराग्यवल्ली परिवृद्धिमेति। तदीयपुष्पोत्करसौरभश्रीः, सर्वत्र संमूर्च्छति चित्तवृत्तौ ॥९४॥
नितान्तभीता निखिला हताशा, व्रजन्ति दूरे रिपवस्तदानीम्। तत्रैव तिष्ठन्ति च धार्ष्ट्यतो ये, ते शृङ्खलायां निपतन्ति तस्याम् ॥
छायासु वैराग्यलताश्रयासु, बद्ध्वा निवासानथ सावधानाः। आगन्तुकोपद्रववारणाय, तिष्ठन्ति चारित्रनृपस्य योधाः ॥९६॥
छिन्दन्ति वासांश्च विपद्द्रुमांस्ते, पापात्मनां भावमहारिपूणाम्। ते भग्नवासा विषमेषु नंष्ट्वा, व्रजन्ति विच्छेदनगान्तरेषु ॥९७॥
चारित्रधर्मेण वशीकृताऽथ, सर्वाऽपि जन्तोरिह चित्तवृत्तिः। शुष्काटवीत्वं प्रविहाय लीला-रामत्वमेति प्रविसृत्वरश्रीः ॥९८॥
सर्वे हताशाः परिघर्षयन्तः, करौ स्वगेहस्थितिमात्रनाशात्। अथारयोऽस्य प्रतिकूलवृत्त्यै, कुर्वन्ति संभूय रहस्यवार्ताम् ॥९९॥
संकोचयन् यत्फलमब्जखण्डं, सूर्याश्रितं प्रातरुपैति चन्द्रः। उपद्रवद्भिर्महदाश्रितान्न, प्राप्तं किमस्माभिरतर्कितं तत् ॥१००॥
अतिप्रकाशादपि जृम्भमाण-मसंवृतं धाम किलोद्धतेषु। दीपाङ्कुरस्येव महानिलेषु, धीरस्य सद्यो निधनं प्रयाति ॥१०१॥
अथेदृशानामपि नः कथंचिद्, विचारयोगादवलम्ब्य धैर्यम्। निजं बलं स्फोरयितुं सुधांशु-समानकीर्त्यभ्युदयाय युक्तम् ॥१०२॥

क्षीणोऽपि संश्रित्य विचारपक्षं, शशीव शुक्लं खलु योऽभ्युदेति। सर्वाः प्रजास्तं प्रणमन्ति भक्त्या, कृतार्थपूजाः पुनराहिताशाः॥
जीवन् जनो मा स मदाभिमानी, वैराविशुद्धेः खलु योऽधमर्णः। निन्द्यः स पङ्कादपि मर्द्यमाना-न्मालिन्यकर्तुः परिमर्दकाङ्क्षः॥
मुग्धं विशुष्यत्यरतिश्च यस्या-मुदेति दाहः प्रसरीसरीति। तस्या धनुर्दर्पभृतां हि वैरा-प्रतिक्रियायाः परमो ज्वरः कः ॥१०५॥
दैवान्निलीयापि निशि स्थितं यत्, प्रोत्थाय भूयो द्विषतः पिनष्टि। तेजस्विजातौ गणनाऽधिकारे, तदेव धाम प्रथमं निमित्तम्॥
अस्माभिरोजस्विकुलप्रसूतै-र्वैरस्य शुद्धिस्तदियं विधेया। गन्तुं च शक्यं विषये न तस्मिन्, यत्र ध्रुवा सा पदशृङ्खला नः ॥१०७॥
अत्र स्थितैरेव परन्तु मन्त्र-प्रतिक्रिया काचन चालनीया। दूरस्थितानामपि या रिपूणा-मुच्चाटनात् तद्विधिघातिनी स्यात् ॥१०८॥
गर्वेऽपि संचिन्त्य हृदीत्थमुच्चै-रनाद्यविद्याख्यमहानिशायाम्। विपाकवस्त्राणि विहाय मिथ्या-संस्कारमन्त्रं प्रयता जपन्ति ॥१०९॥
पापानुरूपा जपमालिकाश्च, गृह्णन्ति पाणौ ददते दशांशे। रागप्रथाभिः पृथुगारवाख्य-त्रिकोणकुण्डे कणवीरहोमम् ॥११०॥
अमर्षणा जागरयन्ति रोप-भूमिश्मशानान्यभिचारकामाः। उत्कृत्य चोत्कृत्य निजाङ्गमेव, प्रेतप्रसत्त्यै बलिमुत्क्षिपन्ति ॥१११॥
सिद्धेऽथ तेषामभिचारमन्त्रे, स्याद् यातना सात्त्विकमानसादौ। विवेकशैलेऽपि विकल्पधारा-धूमः समुत्सर्पति दुर्निवारः ॥११२॥
व्रजन्ति वैराग्यलतासु तस्मात्, फलानि पुष्पाणि च कालिमानम्। निःश्रीकता गच्छति भावराज्ये, विभावराज्ये च यियासति श्रीः॥
उपद्रवं तं पुनरप्युदीक्ष्य, समुत्थितं स्मारितधूमकेतुम्। समाधिमन्त्रं पठति क्षितीश-श्चारित्रधर्मोऽथ रिपून् विजेतुम् ॥११४॥
सर्वां क्रियां स च पाठसिद्धः, सांस्कारिकीं हन्ति महारिपूणाम्। ततश्च नागा इव मन्त्रबद्धा, मूर्च्छन्ति तेऽन्तर्ज्वलिता मृताभाः॥
निजाश्रितानामपि दिव्यमन्त्रं, समाधिमाभ्यासिकमेष दत्त्वा। निवारयत्युग्रमुपद्रवं तं, विस्तारयत्युत्तमसौख्यलीलाम् ॥११६॥

इति प्रथाभाजि समाधिमन्त्रे, संसारिजीवः प्रभुतामुपैति । भवन्ति वैराग्यसमृद्धिकल्प-वल्लीविलासाश्च निरन्तरायाः ॥११७॥
नोत्पातमीष्टे प्रबलोऽपि शत्रु-र्मोहादिकः कोऽपि पुनर्विधातुम् । प्रक्षीणशक्तिर्विषमोऽपि कूटैः, शैलो यथा वज्रविलूनपक्षः ॥११८॥
चारित्रधर्मस्य नरेश्वरस्य, प्रतापभानुः प्रबलत्वमेति । दिक्चक्रमाक्रामति तद्यशश्च, प्रत्यर्थिचक्राक्रमणादुदीतम् ॥११९॥
मरुत्पथे दुन्दुभयो ध्वनन्ति, पुरः स्फुरन्त्येव च मङ्गलानि । उद्घोपयन्तो जयशब्दमुच्चैः, कुर्वन्ति देवाः शुचिपुष्पवृष्टिम् ॥१२०॥
गायन्ति रामा मधुरं सुराणां, नृत्यन्ति चित्राभिनयाभिरामाः । मुक्ताफलौघान् विकिरन्ति नम्राः, पाणिक्वणत्कंकणराजिकम्राः ॥
प्रतिक्रमन्यासममर्त्यसार्थाः, संचारयन्तः कनकाम्बुजानि । तदाश्रितायाः स्वरसाधिकत्वं, श्रियो नु भक्तेरनुमापयन्ति ॥१२२॥
हतातपक्लान्तिकमातपत्रं, तिष्ठन्ति धृत्वा शुचिमूर्धदेशे । क्षीराब्धिवीचीचलचारुकान्तीन्, सुचामरौघान् परिवीजयन्ति ॥१२३॥
इयं समृद्धिः सकला समाधि-प्रभावजन्येति जिनागमज्ञैः । अत्रैव कार्यः सुदृढप्रयत्नो, वैराग्यसर्वस्वमिदं विदन्ति ॥१२४॥
सिद्धं हि वैराग्यमिदं समाधि-सुधास्वरूपं जिनशासनाब्धौ । अस्योद्धृतैर्बिन्दुभिरेव शास्त्राण्यास्वाद्यतां यान्ति पराणि लोके ॥१२५॥
समुद्धृतं पारगतागमाब्धेः, समाधिपीयूषमिदं निपीय । महाशयाः पीतमनादिकालात्, कषायहालाहलमुद्वमन्तु ॥१२६॥
अनल्पसंकल्पविकल्पलोल-कल्लोलमालाकुलितस्य जन्तोः । ऐकान्तिकः कोऽपि विना समाधि-स्तैमित्यमन्यो[1] न हि तस्य हेतुः ॥१२७॥
परेषु न स्यात् परिणामयोगो, न जन्म तेषु ग्रहणं न तेषाम् । अखण्डसौख्यानुभवस्वभाव-श्चिन्मात्रमस्मीति समाधिवृत्तेः ॥१२८॥
रागादिभिः पल्लवितानविद्या-संस्कारसिक्तान् विषयान् विषद्रून् । छेत्तुं क्षमस्तीव्रविचारधारः, समाधिरूपः कठिनः कुठारः ॥

१ समाधिस्थैर्यम् ।

विना समाधिं परिशीलितेन, क्रियाकलापेन न कर्मभङ्गः। शक्तिं विना किं समुपाश्रितेन, दुर्गेण राज्ञो द्विषतां जयः स्यात् ॥
समाधिशुद्धे हृदये मुनीनां, शङ्कादिपङ्काविलता न जातु। न मिश्रमोहौघतमिस्रदृष्टि-र्न क्वापि मिथ्यात्वपुरीषगन्धः ॥१३१॥
न दोषदर्शिष्वपि रोषपोषो, गुणस्तुतावप्यवलिप्तता नो। न दम्भसंरम्भविधेर्लवोऽपि, न लोभसंक्षोभजविप्लवोऽपि ॥१३२॥
कंदर्पमन्यस्य न भूरि हास्य-क्रीडारुचिं कस्यचिदीरयन्ति समाधिभाजः कुदृशां मतेऽपि, स्वयं न हास्यप्रथने रताः स्युः ॥१३३॥
आक्रोशहास्यादिकमन्यधर्मे-ऽप्यपक्वभावं ब्रुवते समाधेः। निसर्गसंसारविचारदृष्टि-र्व्युत्थितिर्वा परिपाकरूपम् ॥१३४॥
शरीरसौन्दर्यविलोकनायां, वस्त्रादिनेपथ्यविधौ च रम्ये। रतिर्ध्रुवं पौद्गलिके न भावे, समाधिलब्धात्मरतिस्थितीनाम् ॥१३५॥
अन्तः समाधेः सुखमाकलय्य बाह्ये सुखे नो रतिमेति योगी। अटत्यटव्यां क इवार्थलुब्धो, गृहे समुत्सर्पति कल्पवृक्षे ॥१३६॥
नातिप्रहर्षश्च न वा विशिष्टा, निष्ठा प्रतिष्ठार्जनमात्र एव। रतिर्न वा स्वादरसक्रियादौ, समाहितानामणुशल्यरूपा ॥१३७॥
रतेः समाधावरतिः क्रियासु, नात्यन्ततीव्रास्वपि योगिनां स्यात्। अनाकुला वह्निकणाशनेऽपि, न किं सुधापानगुणाच्चकोराः ॥
विविच्य नैव प्रसरेदरत्या-नन्दावभासोऽपि समाधिशुद्धौ। श्यामत्वशोणत्वकृतो विभागः, स्वरूपशुद्धौ स्फटिकस्य किं स्यात् ॥
क्लेशेषु शीतातपदंशबुभुक्षा-दिकेषु वेद्योदयकल्पितेषु। शान्ताः समाधिप्रतिसंख्ययैव, त्यजन्ति ये रत्यरती स्तुमस्तान् ॥१४०॥
न रत्यरत्यभ्युदयाय दृष्टा, क्रिया यतीनामशनादिकाऽपि। अंगारधूमादिकदोषहाना-दिष्टा समाधिस्थितये तु शश्वत् ॥१४१॥
जनापवादेऽप्यसमे समाधि-रतं मनो नारतिमेति साधोः। तमिस्रगूढेऽपि भजेत मार्गे, दिव्याञ्जनोपस्कृतमक्षि नान्ध्यम् ॥१४२॥

१ निसर्गगर्न डे. ला. । २-र्व्युच्छितिर्वाऽ भी. मा. ।

ज्ञानक्रियाऽश्वद्वययुक्तसमाधि-रथाधिरूढः शिवमार्गगामी । न ग्रामपुःकण्टकजारतीनां, जनोऽनुपानत्क इवार्तिमेति ॥१४३॥
लाभेऽप्यलाभेऽपि सुखे च दुःखे, ये जीवितव्ये मरणे च तुल्याः । रत्याप्यरत्याप्यनिरस्तभावाः, समाधिसिद्धा मुनयस्त एव ॥
नोद्वेगवेगोऽप्यरतिर्न येषां, न चाप्यनेकाग्रतया चलत्वम् । समाहितांस्तान् लसदेकटण्को-त्कीर्णज्ञभावान् शरणं प्रपद्ये ॥१४५॥
इतस्ततो नारतिवह्नियोगा-दुड्डीय गच्छेद् यदि चित्तसूतः । समाधिसिद्धौपधमूर्छितः सन्, कल्याणसिद्धेर्न तदा विलम्बः ॥१४६॥
इतस्ततो भ्राम्यति चित्तपक्षी, वितत्य यो रत्यरतिस्वपक्षौ । स्वच्छन्दतावारणहेतुरस्य, समाधिसत्पञ्जरयन्त्रणैव ॥१४७॥
पुत्रात् कलत्राच्च धनाच्च मित्राद्, देहाच्च गेहाच्च विविक्तता मे । इति प्रसंख्याय समाधिभाजो, न शोकशङ्कुव्यथयाऽऽकुलाः स्युः ॥
इष्टप्रणाशेऽप्यनभीष्टलाभे, नित्यस्वभावं नियतिं च जानन् । संतापमन्तर्न समाधिवृष्टि-विध्यातशोकाग्निरुपैति साधुः ॥१४९॥
त्यक्तस्ववर्गः शरणानपेक्षः, क्रूरोपसर्गेऽप्यविलुप्तदृष्टिः । समाधितन्त्रोद्धृतशोकशल्यो, न ध्यानभङ्गादधृतिं प्रयाति ॥१५०॥
शोचन्ति न स्वं च परं च मन्यो-रन्योऽन्यकर्मव्यतिहारमग्नम् । शुद्धर्जुसूत्रक्षणमार्गणाभि-स्तपस्विनः प्राप्तसमाधिनिष्ठाः ॥१५१॥
गते न शोको न विमृश्यमेष्य-च्छुद्धश्च योगः किल वर्तमानः । साधोः समाधिः प्रथते यदेदृक्, तदाऽस्तु मन्योः क इवावकाशः ॥
अत्यन्तलूक्षव्रतयोगतुन्नाः, स्मृत्वाऽनुभूताद्भुतभोगलीलाम् । न वैमनस्यं मुनयः प्रयान्ति, समाधिमन्त्राहतशोकभूताः ॥१५३॥
उग्रे विहारे च सुदुष्करायां, भिक्षाविशुद्धौ च तपस्यसह्ये । समाधिलाभव्यवसायहेतोः, क्व वैमनस्यं मुनिपुंगवानाम् ॥१५४॥
समाधिभाजोऽपि विपद्दशायां, न यान्ति धीराः करुणास्पदत्वम् । जात्यस्य जायेत विवर्णभावः, किमग्नितापादपि काञ्चनस्य ॥

१ ज्ञात्वा । २ मन्यो –क्रोधस्य । ३–नुरूपाद्भुत–रा. ज्ञा. ।

अगाधया वेदनयाऽपि धीरा, रुदन्ति नात्यन्तसमाधिशुद्धाः । कल्पान्तकालाग्निमहार्चिषाऽपि, नैव द्रवीभावमुपैति मेरुः ॥१५६॥
समाधिविघ्नस्तभयाः श्मशाने, शून्यालये वा प्रतिमां प्रपन्नाः । दृष्ट्वाऽपि रूपाणि भयंकराणि, रोमापि नैवोद्गमयन्ति गात्रे ॥
महोपसर्गाश्च परीषहाश्च, देहस्य भेदाय न मे समाधेः । इत्थं विविच्य स्वपरस्वभावं, भयानुबन्धं मुनयस्त्यजन्ति ॥१५८॥
कुहेतुभिर्वा भयहेतुभिर्वा, न क्षोभमभ्येति समाहितात्मा । महीधराणां च महीरुहाणां, सर्वंसहा क्षुभ्यति किं नु भारैः ॥१५९
सुदुर्गदीर्घोच्चपदाधिरोहे, नान्तर्विषीदन्ति समाधिधुर्याः । शक्त्या विहीनास्तु जरद्गवाभा, भ्रश्यन्ति तस्मादसमाधिखिन्नाः ॥१६०॥
भीरुर्यथा प्रागपि युद्धकालाद्, गवेषयत्यद्रिलतावनादि । क्लीबास्तथाऽध्यात्मविषीदनेना–समाहिताश्छन्नपदेक्षिणः स्युः ॥१६१॥
पठन्ति शास्त्रं खलु ते कुतर्क–ज्योतिःकथावैद्यकनाटकादि । कुतोऽपि हेतोः पततां समाधे–राजीविकाऽनेन भविष्यतीति ॥१६२॥
रणाङ्गणे शूरपुरस्सरास्तु, पश्यन्ति पृष्ठं न हि मृत्युभीताः । समाहिताः प्रव्रजितास्तथैव, वाञ्छन्ति नोत्प्रव्रजितुं कदाचित् ॥१६३॥
श्रद्धां पुरस्कृत्य निनिर्गतो यां, तामेव सम्यक् परिपालयेद् यः । सिंहोत्थितः सिंहविहारचारी, समाहितोऽसौ न विषादमेति ॥
पन्थानमेनं प्रणता हि वीराः, क्लीबस्य गम्योऽस्ति कदापि नायम् । इत्थं समाधाय कदापि धीरो–दात्ताशयः खिद्यति नो महात्मा ॥
समुद्रगम्भीरमनाः स्वदर्पाद्, भिनत्ति मार्गं न समाहितात्मा । आत्माश्रितामेव कुठारतैक्ष्ण्या–च्छिनत्ति शाखां न तरोर्विपश्चित् ॥
उत्सर्गरुच्याऽप्यपवादरुच्या, विचित्रसाध्वाचरणापलापात् । स्वबुद्धिमात्रेण समाधिभाजो, न मार्गभेदं परिकल्पयन्ति ॥१६७॥
यन्नैव सूत्रे विहितं न चापि, निवारितं किंतु चिरप्ररूढम् । समाहिता मार्गभिदामियैव, तदप्यनालोच्य न दूषयन्ति ॥१६८॥
यथा यथा शिष्यगणैः समेतो, बहुश्रुतः स्याद् बहुसंमतश्च । समाधिमार्गप्रतिकूलवृत्ति–स्तथा तथा शासनशत्रुरेव ॥१६९॥

निरन्तरं दारुणकेशलोच-ब्रह्मव्रताभिग्रहभारखिन्नाः । च्युताः समाधेः कुमार्गभेदा, निन्दन्ति शास्तारमनन्तपानाः ॥१७०॥
उत्सूत्रलेशादपि मार्गभेद-भिया प्रकम्पेत समाहितात्मा । उत्सूत्रलक्षादपि नो नृशंस-स्वच्छन्दचारी तु बिभेत्यनीदृक् ॥१७१॥
भवेन्न सत्त्वाधिकमानसस्य, विभीषिका क्वापि समाहितस्य । भिन्नेभकुम्भस्थलमौक्तिकाङ्क-क्रमस्य सिंहस्य कुतोऽस्तु शङ्का ॥
समाधिसंतोषवतां मुनीनां, स्वप्नेऽपि न स्यात् परमार्गदृष्टिः । न मालतीपुष्परतः करीरे, बध्नाति रोलम्बयुवाऽभिलाषम् ॥१७३
कुत्सां मलक्लिन्नकलेवरेषु, कुर्वन्ति नो शुद्धसमाधिभाजः । व्रजन्ति नोद्वेगमनिष्टभावा-न्निवर्तयन्त्यक्षि नचाप्रशस्तात् ॥१७४॥
न मूत्रविष्ठापिठरीषु रागं, बध्नन्ति कान्तासु समाधिशान्ताः । अनङ्गकीटालयतल्पगर्त-मत्रस्य दौर्गन्ध्यभिया त्यजन्ति ॥१७५॥
सिताच्छपुष्पाधरपल्लवश्री-विशालवक्षोजफलाभिरामाम् । दृष्ट्वाऽपि नारीं न समाहितात्मा, मुह्येद् विदंस्तां विषवल्लिरूपाम् ॥१७६॥
कुचद्वये चन्दनपङ्किले च, स्मितप्रवाहे च मृगेक्षणानाम् । येषां न चेतः स्खलितं समाधे-र्नामापि तेषां दुरितानि हन्ति ॥१७७॥
कटाक्षबाणैः सुदृशां समाधि-वर्मावृता ये खलु नैव विद्धाः । प्राप्ताः स्वयं ते भवसिन्धुपार-मन्यानपि प्रापयितुं समर्थाः ॥१७८॥
अहं ममेति प्रथमानबुद्धि-र्बध्नाति कर्माण्यसमाहितात्मा । तस्यैव नाहं न ममेति बुद्धि-र्बन्धप्रमोक्षाय समाधिकाले ॥१७९॥
यो ब्राह्मणः क्षत्रियदारको वा, तथोग्रपुत्रोऽपि च भोगपुत्रः । गृहीतदीक्षः परदत्तभोजी, गोत्राभिमानी न समाहितोऽसौ ॥१८०॥
न तस्य जातिः शरणं कुलं वा, विद्यां चरित्रं च विना कदाऽपि । करोति निष्क्रम्य स गेहिचर्यां, भवेद् भवाब्धेस्तु न पारदृश्वा ॥
प्राप्ताः स्वयं कर्मवशादनन्ता,जातीर्भवावर्तविवर्तमानाः । विज्ञाय हीनोत्तममध्यमाः कः,समाधिभाग् जातिमदं विदध्यात् ॥१८२॥
अशुद्धशीले च विशुद्धशीले, प्रयोजनं शुद्धकुलस्य नेति । नौपाधिकश्लाघ्यतयान्वितेन, कुलेन माद्यन्ति समाधिभाजः ॥१८३॥

विनाशशीले कलुषेन पूर्णे, जरारुजां सद्मनि नित्यसेव्ये। रूपेऽस्तु कः शोणितशुक्रवीजे, मदावकाशः सुसमाधिभाजाम् ॥१८४॥
उपस्थिते मृत्युवले वलेन, समाधिभाग् माद्यति नो वलेन। आसाद्य चारित्रवलस्य निष्ठां, संसारकोटीमरणापहर्त्रीम् ॥१८५॥
निदाननित्यौ परिभाव्य लाभा-लाभौ स्वकर्मप्रशमोदयोत्थौ। मदं न लाभान्न च दीनभाव-मलाभतो याति समाहितात्मा ॥१८६॥
आजीविकागारवमेति भूयो, रूक्षोऽपि यो भिक्षुरकिंचनोऽपि। कुर्वन्निजोत्कर्षपरापवादौ, विपर्ययं याति भवे भवेऽसौ ॥१८७॥
यः साधुवादी कृतकर्मशुद्धि-रागाढबुद्धिश्च सुभावितात्मा। न सोऽपि हि प्राप्तसमाधिनिष्ठः, पराभवन्नन्यजनं स्वबुद्ध्या ॥१८८॥
अनन्तपर्यायविशुद्धियुक्तं, ज्ञानार्णवं पूर्वमहामुनीनाम्। समाधिमानाधुनिकोऽनधार्य, कथं स्वबुद्ध्या मदमेति साधुः ॥१८९॥
परस्य चाटुक्रियया किलासाद्, वाल्लभ्यकान्माद्यति यः स्वचित्ते। समाधिहीनो विगमे स तस्य, वाल्लभ्यकस्यातुलशोकमेति ॥
श्रुतस्थितेर्मापतुषस्य वार्तां, श्रीस्थूलभद्रस्य च विक्रियायाः। श्रुत्वा श्रुतं दर्पभिदेव लब्ध्वा, न तेन दृप्यन्ति समाधिभाजः॥१९१॥
प्रज्ञामदाद् वादमदाच्च पृथ्व्यां, योऽन्यं जनं पश्यति बिम्बभूतम्। मौनीन्द्रमार्गादसमाहितात्मा, भ्रश्यन्नधः कर्मगुरुः स याति ॥
नाहंक्रियां याति समाहितात्मा, नोकर्मभावैर्न च कर्मभावैः। भिन्नान् विदन् मिश्रितपुद्गलात्म-भावान्मिथः कर्तृभिदानिदानात् ॥
नाहं वपुर्नैव मनो न वाणी, कर्ता न नो कारयिता च तासाम्। न चानुमन्तेति समाधियोगाद् विदन्नहंकारमतिं क कुर्यात् ॥
हृद्वर्गणापुद्गलजन्यवृत्तिं, विकल्परूपां कलयन् विविक्ताम्। समाधिशुद्धो मननान्मनोऽह-मिति स्वयं को निदधीत योगी ॥१९५॥
कुमारतायौवनवार्धकादी-नुच्चत्वगौरत्वमृदुत्वमुख्यान्। स्वस्मिन् गुणान् को वपुषोऽधिरोप्य, समाहितोऽहंकुरुते मनस्वी ॥१९६॥

१ -तर्हिशुद्धि-रा. शा.

पदानि वर्णैर्विहितानि तैश्च, वाक्यानि वाक्यैरखिलः प्रबन्धः। इत्थं श्रयन्नैश्चयिकं समाधिं, ग्रन्थं करोमीत्यभिमन्यते कः ॥१९७॥
तथा तथा सन्निपतत्सु कर्म–स्कन्धेषु कूटस्थतया स्थितस्य। कर्तृत्वधीः स्यान्न समाहितस्य, चिन्मात्रनिर्मग्नसमग्रवृत्तेः ॥१९८॥
तन्त्वादिभावैः परिणामवद्भिः, पटादिभावान् जनितानवेत्य। न तेषु कर्तृत्वमतिं दधाति, गतस्मयो निश्चयधीः समाधेः ॥१९९॥
पराश्रितान् दानदयादिभावा–नित्थं समाधेर्मनसाऽप्यकुर्वन्। निजाश्रितानेव करोति योगी, विकल्पहीनस्तु भवेदकर्ता ॥२००॥
द्रव्येषु भिन्नेषु कदापि न स्या–न्ममत्ववार्ताऽपि समाधिभाजः। रागादिभावैर्विहितं ममत्वं, न तत्प्रमाणीकुरुते च योगी ॥२०१॥
साक्षीव पश्यन् स्वनिमित्तभावा–दुत्पत्तिसंबन्धजुषः पदार्थान्। तेषामगृह्णन् परिणामिभावं, दुःखाद् विमुच्येत समाहितात्मा ॥
यथा जनोऽन्यस्य सुखासुखेषु, तटस्थभावं भजते तथैव। विश्वस्य तेषु प्रशमी ममत्वा–हंकारमुक्तः सुसमाधिशाली ॥२०३॥
समाधिभाजां व्यवहारकाले, मैत्र्यादिरूपाऽपि हि चित्तवृत्तिः। एकान्तशुद्धौ त्वियमिद्धसिद्ध–ज्योतिः समापत्तिमयी प्रसिद्धा ॥२०४॥
[1]स्फुटीभवत्यागमवचोविमर्शात्, तद्वासनासंगतधर्मतो वा। क्षमादिरूपोऽपि दशप्रकारो, धर्मः समाधौ परिपाकभाजि ॥२०५॥
धर्मस्य मूलं हि दया दयायाः, क्षमेति संचिन्त्य भवन्ति सन्तः। कृतापराधेऽधि न कोपभाजः, क्षमासमाधानशमाभिरामाः ॥
गुणा विना नो विनयं कदाचि–दमार्दवे नो विनयप्रथेति। अनुन्नतानिश्रितनिर्निदानाः, समाहिता मार्दवशालिन स्युः ॥२०७॥
नानार्जवः शुद्ध्यति नाप्यशुद्धो, धर्मे स्थिरो धर्मऋते न मोक्षः। सुखं न मोक्षाच्च विनेति साधुः, समाधिमानार्जवमभ्युपैति ॥
यद् द्रव्यदेहोपधिभक्तपानाधिकारकं शौचमशुद्धिहानात्। समाधिनीरेण कृतं तदेव, पावित्र्यबीजं प्रयतात्मनां स्यात् ॥२०९॥

१ अयं श्लोको रा. शा. प्रतौ नास्ति।

त्यक्त्वाऽऽश्रवान् पञ्च निरुद्ध्य पञ्चे-न्द्रियाणि हत्वा चतुरः कषायान् । दण्डत्रयीजित् सुसमाधिरेति, द्राक् संयमं सप्तदशप्रकारम् ॥
समाहितो बन्धुधनाक्षशर्म-त्यागात् परित्यक्तभयप्रवाहः । नित्यं परित्यक्ततनुश्च राग-द्वेषौ त्यजेत् त्यागगुणान्महात्मा ॥२११॥
अजिह्मभावात् तनुचित्तवाचां, सत्यं विसंवादविपर्ययाच्च । चतुर्विधं चारुसमाधियोगा-श्चतुर्गतिच्छेदकृदाद्रियन्ते ॥२१२॥
आभ्यन्तरस्याभ्युदयाय बाह्य-माभ्यन्तरं बाह्यविशुद्धये च । तपः प्रकुर्वन्ति मनःसमाधे-र्धृत्वाऽऽनुकूल्यं जिनशासनस्थाः ॥२१३॥
ग्लानिर्न यत्रास्ति न चाक्षहानि-र्यत्रैधते ब्रह्म न रोषवार्ता । यस्मिन् जिनाज्ञैकवशंवदत्वं, समाधिशुद्धं कथितं तपस्तत् ॥२१४॥
त्यजन्ति कामान् मुनयोऽत्र दिव्या-नौदारिकांश्च त्रिविधांस्त्रिधा यत् । ब्रह्मैतदष्टादशभेदमुच्चैः, समाधिभाजः परिशीलयन्ति ॥२१५॥
ग्रामे कुले वा नगरे च देशे, न वा मनागप्युपधौ च मूर्छा । हतारतिव्याधिसमाधिभाजां, धर्मः परोऽकिंचनताऽभिधोऽयम् ॥
समाधिसंशुद्धदशप्रकार-धर्मावलम्बी परमार्थदर्शी । चरित्रदृग्ज्ञानतपःसमेतः, स्वाध्यायसद्ध्यानरतो महात्मा ॥२१७॥
रुक्षान्नपिण्डग्रहणेन यात्रा-मात्राधिकारो नवकोटिशुद्ध्या । समग्रशीलाङ्गसहस्रधारी, बन्धप्रमोक्षाय कृतप्रयत्नः ॥२१८॥
समाप्य मनं वचनस्य योग-मसङ्गयोगं स्वरसेन कुर्वन् । अशून्यभावाच्च विकल्पहानेः, सुप्तत्वजाग्रत्त्वदशोर्ध्वगामी ॥२१९॥
बुद्धः सुधीरैकविदेकरूपः, संछिन्नशोकश्च सुसंयतश्च । आत्मप्रवादोपगतः सुगुप्तो, रम्यः सुसामायिकभृत् समित्या ॥२२०॥
धर्मार्थवृत्तिर्न च कीर्तिपूजा-सत्कारलाभार्थितयाऽऽविलात्मा । अध्यात्मपूतो धुतपापकर्मा, धिया निर्यागप्रतिपत्तिमत्त्या ॥२२१॥
निःज्ञातभूयोभवसिन्धुदोषो, वैराग्यरङ्गामृतवासितात्मा । गाम्भीर्यसिन्धुर्जगतोऽपि बन्धु-र्मुक्तः पराशाभिधनागपाशात् ॥२२२॥

१–नानीं–रा. मा. । २ नियागो मोक्ष. ।

आसक्तिमानात्मगुणोद्यमेऽन्य-कथाप्रसङ्गे बधिरान्धमूकः । क्रियासहस्रासुलभं लभेत, निर्ग्रन्थमुख्यः स्वदयाविलासम् ॥२२३॥
विकल्पहीनां स्वदयां वदन्ति, वैकल्पिकीमन्यदयां तु धीराः । तत्रादिमोक्ता किल मोक्षहेतुः, परा पुनः स्वर्गसमृद्धिदात्री ॥२२४॥
रक्षामि जीवानिति हृद्विकल्पः, पुण्याय हन्मीति च पातकाय । तत्पुण्यपापद्वितयं च भाति, समाधिसिद्धौ स्फुटमेकरूपम् ॥
फलकरूपे भुवि पुण्यपापे, न संगिरन्ते व्यवहारमत्ताः । समाधिभाजस्तु तदेकभावं, जानन्ति हैमायसबन्धनीत्या ॥२२६॥
पुण्यस्य पापस्य च चिन्त्यमानो, न पारतन्त्र्यस्य फलस्य भेदः । समाहिताः पुण्यभवे सुखेऽपि दुःखत्वमेव प्रतियन्ति तेन ॥२२७॥
रम्यं सुखं यद्विपयोपनीतं, नरेन्द्रचक्रित्रिदशाधिपानाम् । समाहितास्तज्ज्वलदिन्द्रियाग्नि-ज्वालाघृताहुत्युपमं विदन्ति ॥२२८॥
समाहितस्वान्तमहात्मनां स्यात् , सुखेऽप्यहो वैपयिके जिहासा । को वा विपश्चिन्ननु भोक्तुमिच्छे-न्मिष्टान्नमप्युग्रविषेण युक्तम् ॥
किं काङ्क्षितैर्भोगसुखैरनित्यै-र्भयाकुलैरस्ववशैश्च तुच्छैः । अदभ्रनित्यस्ववशाभयोद्य-त्समाधिसौख्याय बुधा यतन्ते ॥२३०॥
अनेकयत्नैर्विपयाभिलापो-द्भवं सुखं यल्लभते सरागः । समाधिशाली तदनन्तकोटि-गुणं स्वभावाल्लभते प्रशान्तः ॥२३१॥
अनिष्टसंगेष्टवियोगदुःखं, सरागवन्नैति समाधिशाली । अङ्गीकृतैकान्तिकमुक्त्युपायः, प्रशान्तवेदारतिभीकषायः ॥२३२॥
ज्ञानी तपस्वी परमक्रियावान् , सम्यक्त्ववानप्युपशान्तिहीनः । प्राप्नोति तं नैव गुणं कदाऽपि, समाहितात्मा लभते शमी यम् ॥
सुरासुराणां मिलितानि यानि, सुखानि भूयो गुणकारभाञ्जि । समाधिभाजां समतासुखस्य, तान्येकभागेऽपि न संपतन्ति ॥२३४॥
नूनं परोक्षं सुरसद्मसौख्यं, मोक्षस्य चात्यन्तपरोक्षमेव । प्रत्यक्षमेकं समतासुखं तु, समाधिसिद्धानुभवोदयानाम् ॥२३५॥
वणिग् यथा रत्नपरीक्षया द्राक्, परीक्ष्य रत्नं लभते प्रमोदम् । ज्ञानी तथाऽऽप्नोति समाधिशुद्ध्या, ब्रह्मानुभूयोपशमैकराज्यम् ॥

प्राणप्रियप्रेमसुखं न भोगा-स्वादं विना वेत्ति यथा कुमारी। समाधियोगानुभवं विनैवं, न वेत्ति लोकः शमशर्म साधोः ॥२३७॥
निरुध्य लोकोऽपि विकल्पवृत्तीः, परीक्षते चेच्छमशर्म साधोः। शक्यं निराकर्तुमिदं तदा स्या-न्माधुर्यवन्नाविषयोऽपि वाचाम् ॥
ज्ञातं शिवं धर्मपदं समाधेः, शमोदयादेकमपि प्रदत्ते। भूयोऽपि नार्थप्रतिभासमात्रं, ज्ञानं हितं स्यादसमाहितानाम् ॥२३९॥
स्त्रैणे तृणे ग्राणि च काञ्चने च, शत्रौ च च मित्रे भवने वने च। भवे च मोक्षे समतां श्रयन्तः, समाधिभाजः सुखिता भवन्ति ॥
निरञ्जनाः शङ्खवदाश्रयन्तो-ऽस्खलद्गतित्वं भुवि जीववच्च। वियद्वदालम्बनविप्रमुक्ताः, समीरवच्च प्रतिबन्धशून्याः ॥२४१॥
शरत्सरोनीरविशुद्धचित्ता, लेपोज्झिताः पुष्करपत्रवच्च। गुप्तेन्द्रियाः कूर्मवदेकभाव-मुपागताः खड्गिविषाणवच्च ॥२४२॥
सदा विहङ्गा इव विप्रमुक्ता, भारुण्डपक्षीन्द्रवदप्रमत्ताः। शौण्डिर्यभाजो गजवच्च जात-स्थामप्रकर्षा वृषभा इवोच्चैः ॥२४३॥
दुर्धर्षतां सिंहवदब्धिवच्च, गम्भीरतां मन्दरवत् स्थिरत्वम्। प्राप्ताः सितांशूज्ज्वलसौम्यलेश्याः, सूर्या इवात्यद्भुतदीप्तिमन्तः ॥२४४॥
सुजातरूपास्तपनीयवच्च, भारक्षमा एव वसुंधरावत्। ज्वलत्त्विषो वह्निवदुल्लसन्ति, समाधिसाम्योपगता मुनीन्द्राः ॥२४५॥
गजाश्च सिंहा गरुडाश्च नागा, व्याघ्राश्च गावश्च सुरासुराश्च। तिष्ठन्ति पार्श्वे मिलिताः समाधि-साम्यस्पृशामुज्झितनित्यवैराः ॥
चरीकरीति प्रशमं समाधि-साम्यस्पृशां दृग्लहरी जनानाम्। पान्थस्य किं पद्मसरःसमीर-स्तापं न निर्वापयितुं क्षमः स्यात् ॥
जना मुदं यान्ति समाधिसाम्य-जुषां मुनीनां मुखमेव दृष्ट्वा। चन्द्रेक्षणादेव चकोरबालाः, पीतामृतोद्गारपरा भवन्ति ॥२४८॥
समाधिसाम्यादुदितान्मुनीनां, हर्षप्रकर्षो वचनाद् भवेद् यः। गुरुत्वमत्येति महानिधान-लाभेन सार्धं तुलितोऽपि नायम् ॥
स्थिरासनाऽशेषविकारशून्या, समाधिसाम्याद्भुतरङ्गभाजाम्। मुद्राऽपि मुद्राज्यसुधासमुद्रा-मुद्रामृतांशुद्युतिरङ्गभाजाम् ॥२५०॥

अपेक्षितान्तःप्रतिपक्षपक्षैः, कर्माणि बद्धान्यपि जन्मलक्षैः। प्रभा तमांसीव रवेः क्षणेन, समाधिसिद्धा समता क्षिणोति ॥२५१॥
संसारिणो नैव निजं स्वरूपं, पश्यन्ति मोहावृतबोधनेत्राः। समाधिसिद्धा समतैव तेषां, दिव्यौषधं दोषहरं प्रसिद्धम् ॥२५२॥
बबन्ध पापं नरकैकवेद्यं, प्रसन्नचन्द्रो मनसाऽप्रशान्तः। तत्कालमेव प्रशमे तु लब्धे, समाधिभृत् केवलमाससाद ॥२५३॥
षट्खण्डसाम्राज्यभुजोऽपि वश्या, यत्केवलश्रीर्भरतस्य जज्ञे। न याति पारं वचसोऽनुपाधि-समाधिसाम्यस्य विजृम्भितं तत् ॥
अप्राप्तधर्माऽपि पुरादिमार्ह-न्माता शिवं यद्भगवत्यवाप। समाधिसिद्धा समतैव हेतु-स्तत्रापि बाह्यस्तु न कोऽपि योगः ॥२५५॥
समाधिसाम्यास्तवपुर्ममत्वा, मत्वा स्वभावं धृतशुद्धसत्त्वाः। न सेहिरेऽर्तिं किमु तीव्रयन्त्र-निष्पीडिताः स्कन्दकसूरिशिष्याः ॥
लोकोत्तरं चारुचरित्रमेतद्, मेतार्यसाधोः समतासमाधेः। हृदाऽप्यकुप्यन्न यदार्द्रचर्म-बद्धेऽपि मूर्द्धन्ययमाप तापम् ॥२५७॥
स्त्रीभ्रूणगोब्राह्मणघातजात-पापादधःपातकृताभिमुख्याः। दृढप्रहारिप्रमुखाः समाधि-साम्यावलम्बात् पदमुच्चमापुः ॥२५८॥
कर्मक्षये हेतुरितीष्टमेक-मैकान्तिकं साधुसमाधिसाम्यम्। उदाहृतास्तीर्थकरैर्विचित्रा, दिग्दर्शनायास्य परे तु योगाः ॥२५९॥
रक्षन् शशं मेघकुमारजीव-द्विपो भवं यत् प्रतनूचकार। निर्दिष्टमव्यक्तसमाधिसाम्यं, तत्रापि मार्गाभिमुखत्वबीजम् ॥२६०॥
समाधिसाम्यक्रमतो हि योग-क्रियाफलावञ्चकलाभभाजः। आसादितात्यद्भुतयोगदृष्टि-स्फुरच्चिदानन्दसमृद्धयः स्युः ॥२६१॥
समाधिमाहात्म्यमिदं जनानां, पुरःस्फुरद्रूपमतो विधित्सुः। वक्ष्ये विचित्रां रुचिरोपमानैः, कथां पवित्रामनुसुन्दरस्य ॥२६२॥
कथा यदीया निजवाक्यभङ्गी-पुण्ड्रेक्षुयन्त्रोपमिता मितार्था। रसं यदुत्थं भविकाः पिबन्ति, विनाऽप्यपेक्षां खलु चर्वणायाः ॥२६३॥

१ अनाप्त-भी. मा.

मृद्वी तृणं याति गिता स्ववक्त्रे, द्राक्षाऽपि सा संकुचति ह्रियेव । विधोः सुधा च क्षयमेति भीता, मन्ये जिता यस्य कथारसेन ॥
निजां कथां यः कथयन् सभायां, निनाय सभ्यान् मणिदर्पणत्वम् । तेषु प्रपन्नाः प्रतिबिम्बभावं, भावाः समग्रा इति यत्कथोक्ताः ॥
कथा यथार्थेव मता मुनीन्द्रै–र्वैराग्यहेतुः किल कल्पिताऽपि । यत्पुण्डरीकाध्ययनं द्वितीये, प्रसिद्धमङ्गे परिकल्पितार्थम् ॥२६६॥

नेयं कथा गुणरथाध्वनि मत्कृताऽपि, स्थूलाऽपि यास्यति सतां किमनुग्रहेण ।
कर्पासजातिमपि किं न नृपोपभोग्यां, कुर्यात् सुशिल्पिघटना पटनामदात्री ॥२६७॥

नास्तिमिह निजगुणैश्च दोषैर्निखिलजनैरनुभूयते यदन्तः । श्रवणपुटसुधायतां बुधानां, बहिरुपमानपदार्पितं तदेव ॥२६८॥

यो यो भावो जनयति मुदं वीक्ष्यमाणोऽतिरम्यो, बाह्यस्तं तं घटयति सुधीरन्तरङ्गोपमानैः ।
मग्नस्येत्थं परमसमताक्षीरसिन्धौ यतीन्दोः, कण्ठाश्लेषं प्रणयति घनोत्कण्ठया द्राग् यशःश्रीः ॥२६९॥

इति श्रीवैराग्यकल्पलताया प्रस्तावनाख्यः प्रथमः स्तवकः संपूर्णः । ग्रन्थाग्रं ३७२



द्वितीयः स्तबकः ॥

अयमनुसुन्दरनृपतिः, कृपयैव समन्तभद्रसूरीणाम् । कृतनरकयोग्यकर्माऽप्यवाप सर्वार्थसिद्धिसुखम् ॥१॥
पूर्वभवेऽस्य च गुरुभिर्विहिता परिकर्मणा बहूपायैः । तत एव चित्तरत्नं कान्तिं स्वाभाविकीं लेभे ॥२॥
अन्येऽपि ये भवाम्बुधिमुत्तीर्णा विविधदुःखकल्लोलम् । गुरुचरणकृपैव तरी, तेषामपि सर्वशर्मकरी ॥३॥
इत्यादौ धर्मगुरोर्भविनो धर्मप्रदानविधिवार्ताम् । पापाणपल्लवोद्गमचमत्क्रियाकारिणीं वक्ष्ये ॥४॥
अस्तीह भवाह्वान[1], पुरमतुलमदृष्टमूलपर्यन्तम् । अन्यान्यजन्महट्टप्रविततबहुदुःखसुखपण्यम् ॥५॥
चित्राकुलसुगतादिकमतदेवकुलं कषायसकलकलम् । दृढमोहप्राकारं, तृष्णापरिखावृतमलङ्घ्यम् ॥६॥
इष्टवियोगाप्रियसंप्रयोगगम्भीरकूपबहुरूपम् । विस्तीर्णभोग[2]सरसीतनुकाननजाड्यगृहरम्यम् ॥७॥
अविवेकद्विपशालाविकल्पनवतुरगमन्दुरोद्दिसम् । निरवधिकाममनोरथरथप्रचारोन्मथितमार्गम् ॥८॥
आसीत् तत्र द्रमको, भवजन्तुस्तत्त्वतो विगतबन्धुः । शब्दादिविषयकदशनदुष्पूरमहोदरः पापः ॥९॥
विपरीतमतिस्तत्त्वातत्त्वग्रहणाद्धनादिलोभाच्च । दुःस्थश्चानुपलम्भात् सद्धर्मकपर्दकस्यापि ॥१०॥
कर्मारिध्वंसिबलाभावाद् गतपौरुषः क्षुधाक्रान्तः । विषयबुभुक्षानुगमात्, सर्वज्ञाऽभजनतोऽनाथः ॥११॥

---

१ भवचक्रपुरं नाम नगरम् । २ विषयसरसी-डे. ज्ञा. ।

दुष्कृतभूमीलुठनाद्, दलिताङ्गो बन्धधूलिदुर्ललितः । मोहाकुलाशुचिचीरश्चरणभूतां निन्द्यतां प्राप्तः ॥१२॥
निगयकदन्नागार्तरुचावचजन्मनामगेहेषु । भ्रान्त्वाऽऽदत्ते तुच्छां, स निजायुर्भाजने भिक्षाम् ॥१३॥
कुविकल्पास्तद्धेतुग्रन्थाश्च कुतीर्थिकाश्च तस्य तनुम् । तत्त्वाभिमुख्यरूपां जर्जरयन्तीह डिम्भगणाः ॥१४॥
तद्वेदनाविधुरितो, नानागतिदुःखशोकनिर्मग्नः । उच्चैः पूत्कुरुतेऽसौ, नतु शरणं कोऽपि तस्य स्यात् ॥१५॥
उन्मादो मिथ्यात्वं, सकलाकार्यप्रवर्तकश्चास्य । भवति महातापकरो, ज्वर इव रागोऽतिदुःखाय ॥१६॥
शमघर्षणकृतहर्षः, क्रोधः कण्डूर्विवेकदृग्घाती । अज्ञाननेत्ररोगो, हृद्ग्राहि द्वेषशूलं च ॥१७॥
भयशोकारतिजन्यं, दैन्यं चोद्वेजकं गलत्कुष्टम् । सत्कार्योत्साहहरो, जलोदराभः प्रमादभरः ॥१८॥
भक्ताश्रद्धाऽविरतिव्रतपथ्यरुचिप्रमाथिनी गहना । मूर्छा विभवाहंकृतिरुपहतहृद्वृत्तिसर्वस्वा ॥१९॥
निर्दलयन्निव हृदयं, संकल्पो वर्धते महाश्वासः । अर्शोऽङ्कुराश्च कामा, अवाच्यगूढार्तिपरिणामाः ॥२०॥
इत्यादिभावरोगैरार्तोऽसौ शमवतां कृपापात्रम् । हास्यः सरागदमिनामन्येषां क्रीडनस्थानम् ॥२१॥
प्रतिभवनमटन् भिक्षां, तल्लिप्साविह्वलः स तुच्छमतिः । खिद्यति कूटविकल्पैर्ध्यायन्नार्तं च रौद्रं च ॥२२॥ तथाहि–
यदि तां भिक्षां लप्स्ये, यास्यामि तदा तथाऽहमेकान्ते । न यथा द्रक्ष्यन्त्यन्ये, भोक्ष्ये च निराकुलस्तत्र ॥२३॥
अवशिष्टं तु निधास्ये, दास्ये म्रियमाणकोऽपि नार्थिभ्यः । ये लास्यन्ति बलात्तैः, सह बाढं योद्धुमारप्स्ये ॥२४॥
एवमलीकं ध्यायति, न पुनरवाप्नोति किमपि निष्पुण्यः । कथमपि कदन्नलेशप्राप्तौ तु जगत्तृणं वेत्ति ॥२५॥

कर्माजीर्णकरत्वात् , कदन्नतुल्यं धनादिकं लब्ध्वा । तुच्छविभवोऽपि मूढो, जन्तुः स्वं मन्यते शक्रम् ॥२६॥
रम्भीयति निजललनां, मानी निजमन्दिरं विमानीयन् । स्वर्गीयति स्वनगरं, त्रिदशीयति परिजनं च स्वम् ॥२७॥
महतो लब्ध्वा विभवं, मलिनः प्रायेण माति नो हृदये । स्थगयति जगज्जलधरो, जलराशेरात्तजलभारः ॥२८॥
तदसौ कदन्नलेशप्राप्त्या दृप्तः शृणोति विज्ञप्तिम् । नोग्रमदसन्निपातः, पश्यति न परं च मोहान्धः ॥२९॥
औद्धत्यकीलकहतो, न ग्रीवां नामयत्युपनतानाम् । गारवमरुद्विकारान्न भाषते स्तब्धजिह्व इव ॥३०॥
अनुगम्यमानपार्श्वो, महाजनैर्बद्धमुष्टिरस्तमतिः । न च पश्यति न च जल्पति, धनगर्वहतो मृतकतुल्यः ॥३१॥
अयमीदृग्गतपुण्यो, रङ्को ज्ञानादिरत्नविकलत्वात् । शोच्यो भवति मुनीनामिन्द्रोपेन्द्रादिरपि लोकः ॥३२॥
लब्ध्वा कदन्नलेशं, शक्रादपि शङ्कते स भुञ्जानः । भयमेति निःस्पृहादपि, पात्रात् क्षुद्रत्वदोषेण ॥३३॥
कार्यान्तरमपि कुर्वन् , वपुषा तद्रक्षणोद्यतो मनसा । अवधीरयति स धर्मं, न वेत्ति लोकद्वयविरुद्धम् ॥३४॥
तस्य द्रमकस्य ततस्तेन कदन्नेन पूरितेऽप्युदरे । वृद्धिमुपैति बुभुक्षा, न तु तृप्तिर्भवति भस्मकिनः ॥३५॥
ग्रीष्मे यथा दवानलतप्तस्य तृषार्दितस्य पथिकस्य । तृप्तिः स्वप्ने नाम्बुधिपानाद् विषयैस्तथैवास्य ॥३६॥
विषयकदन्नमनादौ, संसारेऽनन्तशोऽमुना भुक्तम् । नच हुङ्कृतं कदापि, क्षुत्क्षामेणोक्षितं शून्यम् ॥३७॥
लौल्येन भुक्तमेतत् , कुरुते कर्माणुसञ्चयाजीर्णम् । [1]तदुदयजीर्णं तस्य च, नरकादिविसूचिकां दत्ते ॥३८॥

१ तदुदयाजीर्णं भी. मा. ।

तथापि मन्यतेऽसौ, तथापि खलु भोजनं विपर्यासात् । स्वादं न तु वेत्ति महाकल्याणचारित्रभोज्यस्य ॥३९॥
भ्रान्तोऽसौ नगरेऽस्मिन्ननन्तशोऽदृष्टमूलपर्यन्ते । न च निर्विण्णः कथमपि, कदन्नविषयैकलुब्धमतिः ॥४०॥
तत्र च नगरे राजा, सुस्थितनामा त्रिलोकविद् भगवान् । सत्त्वानामुपकारी, कुरुते राज्यं सुखप्राज्यम् ॥४१॥
सदनमथास्य प्राप्तः, शासनमयमनभिदृष्टपूर्वश्चि । प्रावेशयत् कृपालुः, स्वकर्मविवरश्च तं द्वाःस्थः ॥४२॥
रागाद्योऽपि सन्ति, द्वाःस्थाः प्रतिबन्धकास्तु ते तत्र । शासनबाह्यो लिङ्गी, प्रवेशितस्तैर्यतोऽभिहितः ॥४३॥
यस्तु स्वकर्मविवरो, द्वाःस्थस्तत्र क्षयोपशमनामा । उद्घाट्य ग्रन्थिमसौ, प्रवेशकस्तत्त्वतो भवति ॥४४॥
तेन प्रवेशितोऽसौ, ददर्श शुचिमन्दिरं महाराजः । ज्ञानादिऋद्धिकलितं, चरित्रचन्द्रोदयोल्लसितम् ॥४५॥
जनितानन्दं लोकैः, सूनृतताम्बूलभृतमुखैः शमिनाम् । शुचिदर्शनकर्पूरं, शीलाङ्गसहस्रततकुसुमम् ॥४६॥
गुरुकरुणाऽगुरुधूपं, प्रसृमरतरभावनामृगमदाढ्यम् । ध्यानजलयन्त्रलहरीशमचन्दनलेपहततापम् ॥४७॥
दृष्टाश्च तेन लोकास्तत्र स्थगितान्धकूपमोहभराः । अपहस्तितमृत्युभया, निर्जितमिथ्यात्ववेतालाः ॥४८॥
दैन्यौत्सुक्यजुगुप्साऽरतिचित्तोद्वेगतुच्छतारहिताः । गाम्भीर्यौदार्यधृतिस्मृतिसहिताः सततानन्दाः ॥४९॥
गायन्तः स्वाध्यायैर्वैयावृत्यविधिना च नृत्यन्तः । वल्गन्तो जिनजन्माभिषेकयात्रादिहर्षभरात् ॥५०॥
उत्कृष्टसिंहनादं, प्रदर्शयन्तः प्रवादिनां विजयात् । आनन्दमर्दलगणं, प्रवादयन्तश्च धर्मदिने ॥५१॥ चतुर्भिः कलापकम् ।

१–चरित्र–रा. ना.–छे. ना. । २ प्रदर्शितोऽसौ भी. मा.

परहितकरणैकरतः, प्राह ततः प्रभुमहानसनियुक्तः। आचार्यः शिष्टा मे, प्रमाणमिति मन्यमानं तम् ॥७८॥
पाति पितेव पतन्तं, बन्धुरिवानयति मार्गमतिसरलम्। मित्रमिवादिशति हितं, धर्मो मातेव पुष्णाति ॥७९॥
मणिकनकरजतकूटाः, प्राप्यन्ते चाङ्गना जिताप्सरसः। सुरसदनशिवसुखान्यपि, जिनधर्मानुग्रहादेव ॥८०॥
गर्जद्द्रजराजिलसद्वाजिविराजितमुदारवारस्त्रि। राज्यं शर्मप्राज्यं, धर्मादेवाप्यते पुरुषैः ॥८१॥
अस्थापयदिति वाण्या, तमसौ भिक्षाचरोचिते देशे। चित्ताक्षेपाह्वाने, प्रथमाने मानसविलासैः ॥८२॥
विस्फारिताक्षियुगलः, समुन्नमत्कन्धरस्ततो द्रमकः। त्यक्तविकथाकषायो, भावितहृदयः स्मितास्योऽभूत् ॥८३॥
भिक्षां महानसपतिः, परिजनमादिष्टवानथो दातुम्। दानादिधर्मभेदं, समुचितशक्त्या कुरुष्वेति ॥८४॥
अथ च महाकल्याणं, परमान्नं पूर्णधर्ममतिसरसम्। दातुं तस्मै पुष्टिकृदुपस्थिता तद्दयादुहिता ॥८५॥
अत्रावसरे द्रमकस्तुच्छाभिप्रायकृतविपर्यासः। दध्यावेष सुवेषः, स्वयमाहूय क्व नेष्यति माम् ॥८६॥
नूनं विजने नीत्वा, भिक्षाया भाजनं भृतप्रायम्। उद्दालयिष्यति ममेत्यासीत् किंकार्यतामूढः ॥८७॥
क्षेत्रेषु नियोज्य धनं, संत्याज्य कलत्रपुत्रमित्रगणम्। दीक्षां ममैष दास्यति, हा मुषितोऽस्मीत्यसौ भीतः ॥८८॥
तावत् तृष्णावृद्ध्या, मूर्छातिशयान्मनोविशोषाच्च। संरक्षणानुबन्धान्निमीलिते लोचने तेन ॥८९॥
समरङ्कनृपेऽपि विदन् धर्माचार्ये द्विजातिवद्धौर्त्यम्। भद्रकभावत्यागादभूदसौ काष्ठकीलनिभः ॥९०॥

१ –ताक्षयुगल रा. ज्ञा.

तदयमलीकविकल्पैरासीद् गुरुसङ्गवर्जनैकरतः। भिन्नग्रन्थिरपि द्रागुदयान्मिथ्यात्वपुञ्जस्य ॥९१॥
आदन्वैति वदन्तीं, जानीते नैष गुरुदयाकन्याम्। तदसंभाव्यं दृष्ट्वा, दध्यौ च महानसनियुक्तः ॥९२॥
नास्याः खलु भिक्षाया, योग्योऽयमभद्रकप्रकृतिभावात्। यद्वाऽस्य नैष दोषो, दोषोऽयं रोगजालस्य ॥९३॥
यद्वन्महाज्वरार्तः, पथ्यान्नं भोक्तुमिच्छति न पापः। मिथ्यात्वमोहमूर्छाप्रनष्टबुद्धिस्तथा धर्मम् ॥९४॥
तत्कथमयमपरोगः, स्यादिति संचिन्त्य चेदमुदभावि। अस्ति मम भेषजत्रयमारोग्यविधौ क्षमं ह्यस्य ॥९५॥
प्रथमं विमलालोकं, तद् ज्ञानं सर्वनेत्ररोगहरम्। दूरव्यवहितसूक्ष्मातीतार्थोद्भासनपटिष्ठम् ॥९६॥
तत्त्वप्रीतिकरं च द्वितीयमिह तीर्थवारिसम्यक्त्वम्। तत् सर्वरोगतानवकारणमुन्मादविध्वंसि ॥९७॥
यच्च महाकल्याणं, तृतीयकं तदिदमेव परमान्नम्। अजरामरत्वहेतुश्चारित्रमशेषरोगहरम् ॥९८॥
परिमोचयामि रोगात्, तदेनममुनौषधत्रयेणापि। अनुकम्पया बलादपि, चित्ते तेनेति विन्यस्तम् ॥९९॥
तत आदाय शलाकां, विन्यस्याग्रे तदञ्जनं दिव्यम्। आधूनयतो ग्रीवां, तस्यानेनाञ्जिते नेत्रे ॥१००॥
तस्यानिन्त्यगुणत्वात् सद्योऽमुष्याथ चेतनाऽऽयाता। नेत्रे स्फुटमुद्घटिते, नष्टा इव तद्गदाः सर्वे ॥१०१॥
आह्लादितश्च स मनाक्, तथापि भिक्षैकरक्षणाकूतम्। प्रागभ्यासान्न गतं, तेन ततो नंष्टुकामोऽभूत् ॥१०२॥
नष्टविवेकस्यापि, प्रतिबोधमतिर्गुरोरिह शलाका। तद्दाक्षिण्यविधिभवं, सत्त्वं चाग्रेऽञ्जननिधानम् ॥१०३॥

१ उन्मादि-निन्दित धर्मबोधकरेणेत्यध्याहारः।

तत्र नृपा बहिरन्तः शान्ता दीप्ताश्च सूरयो दृष्टाः। मन्त्रिवरा ज्ञातारो, गूढार्थानामुपाध्यायाः ॥५२॥
[1]गीतार्था वरयोधाः, परेतभर्तुः पुरोऽपि भयरहिताः। भावापन्मग्नानामुद्धर्त्तारः कुलादीनाम् ॥५३॥
उपकारिणः [2]पदद्वयदक्षा गणचिन्तका नियुक्ताश्च। तलवर्गिकाश्च सामान्यभिक्षवो विहितगुर्वाज्ञाः ॥५४॥
आर्याः स्थविरा लोकाः, प्रमत्तललनानिवारणोद्युक्ताः। शुचिधर्मशीललीलाललनाश्च श्राविकावर्गाः ॥५५॥
श्राद्धगणा भटनिकरा, ध्यायन्तो जिनवरं महाराजम्। गुरुजननिर्देशपरा, नैमित्तिकनित्यकर्मकृतः ॥५६॥
पुण्यानुबन्धिपुण्यं, दत्ते वैराग्यकारणं भोगम्। इति ये दिव्या भोगा, दृष्टं तैः सदनमिदमिद्धम् ॥५७॥
सुस्थितनृपस्य शासनमन्दिरमीदृशं स संप्रेक्ष्य। विस्मयभयाद् विशेषं, सोन्मादतया तु नाज्ञासीत् ॥५८॥
जाते हि कर्मविवरे, जिज्ञासुर्भवति जिनमते जन्तुः। मिथ्यात्वांशोन्मादैर्नतु भवति विशेषसंवित्तिः ॥५९॥
पूते हृदयाकूते, स्फुरितं पुनरस्य लब्धबोधस्य। येन प्रदर्शितमिदं, स द्वाःस्थो मे महाबन्धुः ॥६०॥
जिज्ञासाऽपि ममेयं, मुदमियतीमस्य करुणया दत्ते। येऽत्र वसन्त्यतिमुदिता, धन्यास्ते धूततापभराः ॥६१॥
अथ सप्तरज्जुभूमिकलोकप्रासादशिखरनिष्ठेन। सुस्थितनृपेण स कृपादृष्ट्यैक्ष्यत चिन्तयन्नेवम् ॥६२॥
मार्गानुसारितायां, भद्रकभावे प्रवर्तमानस्य। भगवद्दर्शनमेतद्, भगवद्बहुमानभावेन ॥६३॥
भगवदवलोकनेयं, प्रोक्ता मार्गप्रणालिका सद्भिः। द्रव्यश्रुताद् विनैनां, स्थूलज्ञानं न चान्ध्यहरम् ॥६४॥

---

१ गीतार्थवरयोद्धा भी. मा। २ उत्सर्गापवादलक्षण पदद्वयं तत्र दक्षा.।

तां तत्र राजदृष्टिं, निपतन्तीं तन्महानसनियुक्तः । निरवर्णयदुपयोगादाचार्यो धर्मबोधकरः ॥६५॥
दध्यौ नायं चित्रं, किमिदं यद्दर्शनेन विश्वविभोः । भवति त्रिभुवनविभुता, बीभत्सोऽयं पुनर्द्रमकः ॥६६॥
दृष्टगुरुकर्मभारे, प्रोल्लसिताकाण्डसमुचिताचारे । पौर्वापर्यविरोधात्, सुगुरोश्चिन्तेयमुचितैव ॥६७॥
स तदाऽस्य निश्चिकाय च, हेतुद्वयमत्रभाविभद्रस्य । द्वाःस्थप्रवेशनमदो, दृष्टौ च मनःप्रमोद इति ॥६८॥
भवति प्रमुदितमन्तर्यस्यैतद् भवनमीक्षमाणस्य । अत्यन्तवल्लभोऽसौ, सम्राज इति प्रसिद्धमिदम् ॥६९॥
जातो मनःप्रमोदश्चास्य यदेतद्दिदृक्षयाऽनुकलम् । रोगार्ते अपि नेत्रे, प्रोन्मीलयतीव जिज्ञासुः ॥७०॥
प्रवचनलवेऽप्यधिगते, विकसितवदनो भवत्यदृश्योऽपि । धूलीधूसरिताङ्गं, रोमाञ्चयति क्रियालेशात् ॥७१॥
कर्मविवरप्रसादाज्जिनशासनपक्षपातभावाच्च । तदयं द्रमकोऽपि गमी, कल्याणपरंपरास्थानम् ॥७२॥
इति निश्चित्य स मार्गावतारणे भावतोऽभिमुखभावात् । तस्य समीपं गच्छति, दातुं भिक्षां तथाऽऽह्वयति ॥७३॥
लोकोऽयमनाद्यनन्तो, जीवस्तादृग्भवोऽस्य कर्मकृतः । तत् पुण्यपापभेदाद्, द्विविधं सुखदुःखयोर्हेतुः ॥७४॥
प्रयत्नेन तत्सुखार्थी, धर्मेऽधर्मात्पुनर्निवर्तेत । इदमुपदेशरहस्यं, भिक्षाह्वानोपमं ज्ञेयम् ॥७५॥
जगदसदिदमित्याद्या, वचनमिदं शृण्वतोऽस्य रोरस्य । क्षीयन्ते कुविकल्पा, अनादिदुर्वासनाजनिताः ॥७६॥
नष्टा विडम्बनपरास्तदमी दुर्दान्तडिम्भसङ्घाताः । जातोऽथाभिमुखोऽसौ, सुश्रुषुस्तद्वचः किंचित् ॥७७॥

१ -सुकृतम् भी. मा. । २ तत्-तत्र ।

परहितकरणैकरतः, प्राह ततः प्रभुमहानसनियुक्तः। आचार्यः शिष्टा मे, प्रमाणमिति मन्यमानं तम् ॥७८॥
पाति पितेव पतन्तं, बन्धुरिवानयति मार्गमतिसरलम्। मित्रमिवादिशति हितं, धर्मो मातेव पुष्णाति ॥७९॥
मणिकनकरजतकूटाः, प्राप्यन्ते चाङ्गना जिताप्सरसः। सुरसदनशिवसुखान्यपि, जिनधर्मानुग्रहादेव ॥८०॥
गर्जद्गजराजिलसद्वाजिविराजितमुदारवारस्त्रि। राज्यं शर्मप्राज्यं, धर्मादेवाप्यते पुरुषैः ॥८१॥
अस्थापयदिति वाण्या, तमसौ भिक्षाचरोचिते देशे। चित्ताक्षेपाह्वाने, प्रथमाने मानसविलासैः ॥८२॥
विस्फारिताक्षियुगलः[1], समुन्नमत्कन्धरस्ततो द्रमकः। त्यक्तविकथाकषायो, भावितहृदयः स्मितास्योऽभूत् ॥८३॥
भिक्षां महानसपतिः, परिजनमादिष्टवानथो दातुम्। दानादिधर्मभेदं, समुचितशक्त्या कुरुष्वेति ॥८४॥
अथ च महाकल्याणं, परमान्नं पूर्णधर्ममतिसरसम्। दातुं तस्मै पुष्टिकृदुपस्थिता तद्दयादुहिता ॥८५॥
अत्रावसरे द्रमकस्तुच्छाभिप्रायकृतविपर्यासः। दध्यावेष सुवेषः, स्वयमाहूय क्व नेष्यति माम् ॥८६॥
नूनं विजने नीत्वा, भिक्षाया भाजनं भृतप्रायम्। उद्दालयिष्यति ममेत्यासीत् किंकार्यतामूढः ॥८७॥
क्षेत्रेषु नियोज्य धनं, संत्याज्य कलत्रपुत्रमित्रगणम्। दीक्षां ममैष दास्यति, हा मुषितोऽस्मीत्यसौ भीतः ॥८८॥
तावत् तृष्णावृद्ध्या, मूर्छातिशयान्मनोविशोषाच्च। संरक्षणानुबन्धान्निमीलिते लोचने तेन ॥८९॥
समरङ्कनृपेऽपि विदन् धर्माचार्ये द्विजातिवद्धौर्त्यम्। भद्रकभावत्यागादभूदसौ काष्ठकीलनिभः ॥९०॥

१. –ताक्षयुगल. रा. ज्ञा.

तदयमलीकविकल्पगमीद् गुरुसङ्गवर्जनैकरतः। भिन्नग्रन्थिरपि द्रागुदयान्मिथ्यात्वपुञ्जस्य ॥९१॥
आदत्स्वेति वदन्तीं, जानीते नैष गुरुदयाकन्याम्। तदसंभाव्यं दृष्ट्वा, दध्यौ च महानसनियुक्तः ॥९२॥
नास्याः खलु भिक्षाया, योग्योऽयमभद्रकप्रकृतिभावात्। यद्वाऽस्य नैष दोषो, दोषोऽयं रोगजालस्य ॥९३॥
यद्वन्महाज्वरार्तः, पथ्यान्नं भोक्तुमिच्छति न पापः। मिथ्यात्वमोहमूर्छाप्रनष्टबुद्धिस्तथा धर्मम् ॥९४॥
तत्कथमयमपरोगः, स्यादिति संचिन्त्य चेदमुदभावि। अस्ति मम भेषजत्रयमारोग्यविधौ क्षमं ह्यस्य ॥९५॥
प्रथमं विमलालोकं, तद् ज्ञानं सर्वनेत्ररोगहरम्। दूरव्यवहितसूक्ष्मातीतार्थोद्भासनपटिष्ठम् ॥९६॥
तत्त्वप्रीतिकरं च द्वितीयमिह तीर्थवारिसम्यक्त्वम्। तत् सर्वरोगतानवकारणमुन्मादविध्वंसि ॥९७॥
यच्च महाकल्याणं, तृतीयकं तदिदमेव परमान्नम्। अजरामरत्वहेतुश्चारित्रमशेषरोगहरम् ॥९८॥
परिमोचयामि रोगात्, तदेनममुनौषधत्रयेणापि। अनुकम्पया बलादपि, चित्ते तेनेति विन्यस्तम् ॥९९॥
तत आदाय शलाकां, विन्यस्याग्रे तदञ्जनं दिव्यम्। आधूनयतो ग्रीवां, तस्यानेनाञ्जिते नेत्रे ॥१००॥
तस्याचिन्त्यगुणत्वात् सद्योऽमुष्याथ चेतनाऽऽयाता। नेत्रे स्फुटमुद्घटिते, नष्टा इव तद्गदाः सर्वे ॥१०१॥
आह्लादितश्च स मनाक्, तथापि भिक्षैकरक्षणाकूतम्। प्रागभ्यासान्न गतं, तेन ततो नंष्टुकामोऽभूत् ॥१०२॥
नष्टविवेकस्यापि, प्रतिबोधमतिर्गुरोरिह शलाका। तदाक्षिण्यविधिमत्रं, सत्त्वं चाग्रेऽञ्जननिधानम् ॥१०३॥

1 उग्भावि–चिन्तित भर्मबोधकरेणेत्यध्याहारः।

भद्र ! न कथमेहीति, प्रश्ने यद्व्यक्तवचनमेतस्य । न क्षमिको[1]ऽहं श्रमणास्तद्ग्रीवाधूननेन समम् ॥१०४॥
इत्थमपि मदनुरोधादागमनाभिग्रहस्त्वया ग्राह्यः । इति गुरुणोक्ते तस्योपगमो नेत्राञ्जनन्यासः ॥१०५॥
अथ गच्छतः प्रतिश्रयमनुदिनमनुपाधिमुनिगुणालोकात् । या भवत्यविवेककला,[2] सा नष्टा चेतनाऽऽयाता ॥१०६॥
नेत्रोद्घटनं चैतद्, या भूयो भवति धर्मजिज्ञासा । सा नेत्ररोगशान्तिः, प्रतिकलमज्ञानविलयो यः ॥१०७॥
आह्लादश्च ज्ञेयो, विलयादान्ध्यस्य शमलवानुभवः । विषयेषु तत्त्वबुद्धिर्भिक्षारक्षाशयानुगमः ॥१०८॥
व्यवहारश्रुतलाभेऽप्यधिगमसम्यक्त्वशुद्ध्यभावेन । प्रथमदशायां सम्यग्दृशोऽपि नच नैष संभवति ॥१०९॥
तेनातिचारविधुरो, मृगयिष्यन्ते नु मामिमे मुनयः । इति तान्न परिचिचीषति, तदुच्यते नंष्टुकामत्वम् ॥११०॥
पिब तत्त्वप्रीतिकरं, पय इति तं प्राह गुरुरथाञ्जनतः । संप्रेक्ष्य जातचेतनमिच्छति स तु न स्म तत्पातुम् ॥१११॥
कार्यं हितं बलादपि, जानन्नित्यथ कृपापरीतमनाः । चिक्षेप तस्य वदने, तत्सलिलं स स्वसामर्थ्यात् ॥११२॥
द्रव्यश्रुतसंप्राप्तौ, सम्यक्त्वगुणोपवर्णनं[3] सम्यक् । उदकनिमन्त्रणकल्पं, धर्माचार्यस्य विज्ञेयम् ॥११३॥
दृष्टत्यागाददृष्टाश्रयणाभ्यां किं स्ववञ्चनेन मम । इति या शङ्का श्रोतुस्तुच्छत्ववशादनिच्छेयम् ॥११४॥
तत्प्रतिबोधाय गुरुः, कथाप्रसङ्गेन वर्णयत्यर्थम् । कामं च तत्र हृष्यति, सोऽभ्यस्तार्थानुसंधानात् ॥११५॥
श्रवणाभिमुख्यकरणात् सफलोऽयं यत्न इति गुरुः प्रतियन् । कामार्थहेतुभूतं, धर्मं भावेन वर्णयति ॥११६॥

१ क्षणिको रा. ज्ञा. । २ भवति विवेककला रा. ज्ञा.-डे. ज्ञा. । ३-गुणोत्कीर्तनं भी. मा. ।

यस्तुल्यसाधनानां, फले विशेषोऽपहेतुको नाऽसौ। इति सुखदुःखनिदाने, धर्माधर्मौ दुरपलापौ ॥११७॥
तत्राखिलभावानां, हेतुरधर्मः किलाप्रशस्तानाम्। धर्मस्तु सुन्दराणां, तेनासावेव पुरुषार्थः ॥११८॥
अथ स प्राह न धर्मः, कथं न कामार्थवद् दृशोर्विषयः। गुरुराह भद्र! पश्यति, विवेक्यमुं नैव मोहान्धः ॥११९॥
त्रिविधो धर्मो हेतुस्वभावकार्यप्रभेदतो गदितः। सदनुष्ठानं हेतुस्तत्रेदं दृश्यते व्यक्तम् ॥१२०॥
द्विविधः पुनः स्वभावो, निर्दिष्टः साश्रवस्तदितरश्च। आद्यः सत्पुण्यात्मा, विनिर्जरात्मा द्वितीयस्तु ॥१२१॥
अस्मादृशाऽनुमेयो, द्विविधोऽप्ययमत्र योगिनां दृश्यः। कार्यं सुन्दरभावाः, प्रत्यात्मस्फुटतरास्ते च ॥१२२॥
शास्त्रानुभवज्ञानात् त्रयमिदमिह पश्यता न किं दृष्टम्। पश्यामीत्यभिलापे, तत्त्वं खलु विषयताभेदः ॥१२३॥
इतरद्द्वयसंपादकमिह सदनुष्ठानमेव चादेयम्। गृहियतिधर्मविभेदाद् द्विविधं सम्यक्त्वमूलं तत् ॥१२४॥
पुनराहासौ भगवन्! किं सम्यक्त्वं न तन्मया विधृतम्। गुरुराह भद्र! देवः, सर्वज्ञो ध्वस्तभावरिपुः ॥१२५॥
तदभिहिताश्च पदार्था, जीवाऽजीवादयो नवावितथाः। रत्नत्रयं च धर्मस्तदभिहितः शिवपुरस्याध्वा ॥१२६॥
तत्सारिणश्च गुरवो, वन्द्या इति बुद्धिरेव सम्यक्त्वम्। शङ्कादिदोषरहितं, गम्यं प्रशमादिभिर्लिङ्गैः ॥१२७॥
इति कथयता भगवता, तीर्थाम्भः पायितो बलेनासौ। मोहक्षयोपशमतो, नष्टप्रायस्तदोन्मादः ॥१२८॥
अथ निर्गतदाहार्तिर्दध्यौ हा कथमयं महात्माऽपि। वञ्चकबुद्ध्या दृष्टो, दृक्पटुतास्वास्थ्यहेतुर्मे ॥१२९॥

१–मिन्नाचे भी. मा.। २ इति तद्बुद्ध्य–भी. मा.। ३ मयाऽवधृत डे. ला.–भी. मा.।

याऽयोग्येऽपि मयि कृपा, योग्येष्विव भगवतोऽजनि प्रथिता। सर्वत्र वर्षतः खलु, जलमेषा जलमुचः प्रकृतिः ॥१३०॥
इति भावयन् विमुञ्चति, रौद्रत्वमसौ मदान्धतां त्यजति। ऋजुतां गच्छति रागं, शिथिलयति तनोति न द्वेषम् ॥१३१॥
अभिनिविशते च तत्त्वे, तत्त्वधियं त्यजति धनकलत्रादौ[1]। लक्षयति गुणविशेषं, स्मरति स्वाचारदोषं च ॥१३२॥
अभिसंस्कारप्रभवाः, कुविल्पास्तस्य कुसमयोल्लसिताः। चण्डपवनाद् घना इव गुरुसङ्गादेव परिगलिताः ॥१३३॥
ययुरधिगमसम्यक्त्वात् सहजाश्चाशङ्कनीयशङ्काद्याः। धनविषयादिषु मूर्छा, दिग्मोहसमा तु न निवृत्ता ॥१३४॥
यद्वशगोऽयं जीवः, शास्त्रार्थज्ञोऽपि मूर्खतां भजते। पश्यन्नपि च न पश्यति, कर्तुं शक्नोति न निवृत्तिम् ॥१३५॥
अथ तं कदन्नमूर्छितमभिवीक्ष्य मुहुर्मुहुर्दृशं ददतम्। निजपात्रे तद्भावं, ज्ञात्वाऽऽह स धर्मबोधकरः ॥१३६॥
कन्याप्रदीयमानं, नादत्से किं नु मूर्ख ! परमान्नम्। किंच कदन्ने गृद्धः, स्वयं स्ववैरित्वमाचरसि ॥१३७॥
अस्माद् भवनाद् बाह्याः, सत्त्वास्तिष्ठन्ति दुःखिता बहवः। न च ते प्रभुणा दृष्टा, इति नस्तेष्वादरो नास्ति ॥१३८॥
त्वं पुनरेतद् दृष्ट्वा, तुष्टस्तेनासि वल्लभो नृपतेः। तत्त्वयि दयालवः स्मो, भृत्या भर्तुर्मनोऽभिज्ञाः ॥१३९॥
प्रभुरयममूढलक्षो, नापात्रे दृग्विलासमाधत्ते। व्यभिचारितश्च मार्गावतारहेतुस्त्वयाऽस्माकम् ॥१४०॥
आदत्स्व ज्ञानफलं, तद्व्रतभिक्षां[2] त्यजाऽनघ ! कदन्नम्। पश्यसि किं न विमोहानिहापि शमिनः सुधातृप्तान् ॥१४१॥
इत्यभिहितः स बाढं, धृतविश्वासोऽपि रसवतीनाथे। भजते तस्य कदन्नत्याजनवचनेन विह्वलताम् ॥१४२॥

१ धनकलत्रादि डे. ज्ञा. । २ तद्वृत्त-भी. मा ।

दैन्यमवलम्ब्य स ततः, प्राह वचो भगवतां प्रमाणमिदम्। क्लेशेनार्जितमेतत्, त्यक्तुं तु न भोजनं शक्यम् ॥१४३॥

निर्वाहकमिदमशनं, मम भवतां त्वेकदिवसमुपयुक्तम्। तत सत्यस्मिन् देयं, यदि दित्सा भवति पूज्यानाम् ॥१४४॥

अथ गुरो धर्मगुरुर्दध्यौ ही मोहजृम्भितं दुष्टम्। यदयं कदन्नलुब्धः, परमान्नं मन्यते तृणवत् ॥१४५॥

तदपि तपस्विनमेनं, मोहापोहाय शिक्षयामि पुनः। पुनरेति तमःपटलं, रविरेव पुनर्विनाशयति ॥१४६॥

जीवस्य देशना खलु, योग्यत्वमनेकशः कृता कुर्यात्। मृत्कुम्भोऽपि शिलायां, पदमाधत्ते न किमुपायात् ॥१४७॥

ध्यात्वेति तेन भणितं, भद्र! न जानासि किं तव शरीरे। एतत्कदन्नमूला, रोगाश्चित्ते विपर्यासाः ॥१४८॥

स्वयमेव हास्यसीदं, स्वादं ज्ञास्यसि यदा मदन्नस्य। न हि मालतीरसज्ञो, भ्रमति भ्रमरः करीरवने ॥१४९॥

आश्चर्यकृत्तया किं, दृष्टाञ्जनसलिलयोर्न मे शक्तिः। मुञ्चेदं विस्रब्धस्तत्कल्याणं गृहाणेदम् ॥१५०॥

क्लेशार्जितमिदमिति या, त्यागाबुद्धिर्न साऽपि तव युक्ता। यदिदमत एव हेयं, क्लेशाङ्गं क्लेशरूपं च ॥१५१॥

वैषयिकसुखाभासे, चारित्रसुखं स्वभावजं त्यक्त्वा। बध्नाति रतिं न कृती, सुकृती यदुवाच वाचकराट् ॥१५२॥

भोगसुखैः किमनित्यैर्भयबहुलैः काङ्क्षितैः परायत्तैः। नित्यमभयमात्मस्थं, प्रशमसुखं तत्र यतितव्यम् ॥१५३॥

निर्वाहकत्वमुक्तं, प्रकृतिगतेर्यत्पुनः कदन्नस्य। कादाचित्कतया मत्परमान्नस्याऽतेथात्वं च ॥१५४॥

तदपि न युक्तमपथ्यं, निर्वाहे न पटु यत्कदन्नं ते। मम तु न कादाचित्कं, वीर्योल्लासेन परमान्नम् ॥१५५॥ युग्मम् ॥

१ अत्र नानाभिर्वाहित्वम्।

विगलितभवप्रपञ्चः, प्रशान्तवाही परीषहैरजितः। मुनिरुपचितस्ववीर्यो, निर्विघ्नं याति शिवसदनम् ॥१५६॥
तत्रानन्तं कालं, तिष्ठति भयखेदरोगनिर्मुक्तः। तत्प्रापकं मदन्नं, तस्मान्निर्वाहकमवेहि ॥१५७॥
इदमेव तुष्टिपुष्टिकृदतिवीर्यविवर्धकं गदच्छेदि। तदिदं गृहाण भूया भुक्त्वेदं नृपतिरिव सुखितः ॥१५८॥
स प्राह बलिवर्दो, गलिरिव पादप्रसारिकां कृत्वा। नाऽलं त्यागेऽस्याहं, सत्यस्मिन् दीयतां देयम् ॥१५९॥
ज्ञात्वा तन्निर्बन्धं, कृपापरो रसवतीपतिर्दध्यौ। सत्यप्यस्य कदन्ने, देयं देशोपरतिरन्नम् ॥१६०॥
पश्चाद् विज्ञातगुणः, स्वयमेव विहाय विषयभोगमसौ। लास्यति शुद्धं चरणं, न धैर्यकृद् विषयमाधुर्यम् ॥१६१॥
अपसिद्धान्तो न समाप्येवमुपाये प्रवर्तमानस्य। विनिरूप्य सर्वविरतिं, कथनीया देशविरतिर्यत् ॥१६२॥
प्राक् तत्कथने हि भवेत्, तत्प्रतिबद्धं दृढं मनः श्रोतुः। इत्थं चानुमतिः स्यात्, सूक्ष्मप्राणातिपातादौ ॥१६३॥
प्रददौ परमान्नलवं, ध्यात्वेदं संज्ञिता दया तेन। सत्येव तत्कदन्ने, भुक्तं तेनात्मनः पात्रे ॥१६४॥
तद्देशविरतिरूपं, परिणममानं गदक्षयं चक्रे। गलिता क्षुधाऽज्ञनजलोद्भवमजनि सुखं त्वनन्तगुणम् ॥१६५॥
अथ स प्रसृमरभक्तिर्नष्टभ्रान्तिर्बभाण भगवन्तम्। अनुपकृतोपकृतो मे, नाथा यूयं विनाथस्य ॥१६६॥
सूदः प्राह गुरुरथो, नाथः सर्वस्य जिनमहाराजः। अस्माभिस्तु तदाज्ञानुवर्तिभिर्भूयते सततम् ॥१६७॥
सामान्यतोऽपि येऽमुं, सेवन्ते ते क्रमेण शिवभाजः। ये तु विशिष्य भजन्ते, तेषामचिराद्भवति मुक्तिः ॥१६८॥

---

१ –तापनि–रा. श्रा. प्रतिप्रान्ते।

ये पापिष्ठाः सत्त्वा, जानन्ति न तेऽस्य नाममात्रमपि। नूनमिह भाविभद्रान्, स्वकर्मविवरः प्रवेशयति ॥१६९॥
योगानभ्रकृशक्त्या, त्वमपि विभुं वस्तुतः प्रपन्नोऽसि। इच्छामो योजयितुं, विशेपभक्तावथास्य त्वाम् ॥१७०॥
सा च गदतानवात् स्यात्, क्षणे क्षणे भेपजत्रयीभोगात्। तत्स्थेयमत्र भवता, भुञ्जानेन त्रयमिदानीम् ॥१७१॥
दास्यति च मद्या यत् तद्भुक्त्वा त्वं विशेपतो नृपतिम्। आराध्य तत्प्रभावाद् भवितासि नृपोत्तमप्रकृतिः ॥१७२॥
प्रमुदितमनास्ततस्तद्वचनैरतिकोमलैः प्रणयगर्भैः। प्रादुष्कृत्य स्वाशयमाह द्रमकोऽनु गुरुस्तदम् ॥१७३॥
नाल पापम्त्यक्तुं, कदन्नमिति तत्समादिशान्यदतः। स आह नैतदर्थो, यत्नो मे तेन मा भैपीः ॥१७४॥
अन्याजयं पुराऽहं, तवैव हितकाम्यया कदन्नमिदम्। तुभ्यं न रोचते चेद्, भुङ्क्ष्वान्नं सत्यपीह तदा ॥१७५॥
यत्र प्रागुपदिष्टं, तदत्र भवताऽवधारितं किंचित्। स प्राह नावधारितमतिमूर्छितमत्तसदृशेन ॥१७६॥
नालमनाद्यभ्यासाद् धनादिमूर्छां वदत्स्वपि भवत्सु। भक्षितदधिवृन्ताको, निद्रामिव हातुमहमासम् ॥१७७॥
उद्वेजिका तवाभूत्, प्रतिबोधनगीर्मम प्रसुप्तस्य। प्रांप्तं तन्माधुर्यं भावयतश्चान्तराह्लादम् ॥१७८॥
आहूतः पूर्वमहं, लास्यत्यन्नं ममायमिति भीतः। अञ्जितनेत्रस्तु बलान्नश्यामीत्याशयं धृतवान् ॥१७९॥
तीर्थाम्बु पायितः सन्, शैत्यं गमितो यदा पुनः पूज्यैः। परमोपकारकत्वं, युष्मासु तदा मयाऽवगतम् ॥१८०॥
परिहर कदन्नमिदमिति गदिते पर्याकुलः पुनर्जातः। स्वयमेप न लाति परं, त्याजयतीत्युत्तराशक्तः ॥१८१॥

१ सा न गदता न हि स्याद् भी. मा. । २ प्रासस्तन्माधुर्यं विभावयंश्चान्त–डे. श्रा. ।

सत्यस्मिन्मे भोज्यं देहीत्युक्ते त्वया दयाद्वारा। दापितमिदमतिहिततां, भुक्त्वाऽहं ज्ञातवान् भवतः ॥१८२॥

वक्ति हि तत्त्वेनासौ, शक्तोऽस्मि न मोचने कदन्नस्य। इति चिन्ताकुलितस्य च, भवद्वचो मे हृदि न लग्नम् ॥१८३॥

न त्याजयामि सांप्रतमिति वचनेन त्वनाकुलो जातः। तद् ब्रूत सांप्रतं यन्ममेदृशस्यापि कर्तव्यम् ॥१८४॥

इत्याकर्ण्य दयाढ्यः, प्राह स्वाञ्जनजलान्नमाहात्म्यम्। राज्ञा प्रोक्त योग्यायोग्यविभागं च तद्दाने ॥१८५॥

योग्येभ्य एव दत्तं, गुणाय खलु भेषजत्रयं भवति। दोषायायोग्यस्य तु, दत्तं तद्दुग्धमिव फणिनः ॥१८६॥

इह भवनेऽयोग्याश्च, स्वकर्मविवरप्रवेशिता न स्युः। दृष्ट्या पश्यति राजा, नायोग्यान् कथमपि प्राप्तान् ॥१८७॥

अक्लेशेन च येषां, मनसीदं भेषजत्रयं रमते। तेऽत्र सुसाध्या यत्नक्रमबोध्याः कृच्छ्रसाध्यास्तु ॥१८८॥

येभ्यो न रोचते तु, क्रमेण विनियोज्यमानमप्येतत्। द्वेष्टारो दातॄणां, नराधमास्ते किलासाध्याः ॥१८९॥

नृपदृष्टो लक्षणतस्तत्र त्वं कृच्छ्रसाध्य एवासि। बलिनस्तवाङ्गरोगा, गदक्षयो नातियत्नमृते ॥१९०॥

तद्वत्स ! प्रयतः सन्, निराकुलोऽत्रैव नृपगृहे तिष्ठ। लात्वा कन्याहस्ताद् भुञ्जानो भेषजत्रितयम् ॥१९१॥

तेन तथेत्युक्तेऽसौ, चक्रे परिचारिकां दयां तस्य। भुङ्क्ते तद्दत्तमयं, कदन्नरागान्न चाद्रियते ॥१९२॥

उपदंशतां व्रजति तन्मोहेन कुभोजनं तु बहु भुङ्क्ते। विनियुङ्क्ते च कदाचित्, तद्वचसैवाञ्जनं च जलम् ॥१९३॥

---

१ भवने योग्या–रा. ज्ञा.। २ उपदंशस्त्वदंशश्चक्षणं मद्यपाशनम् (अभि० का० ३ श्लो० ५७१। उपदश्यते पानरुचिजननार्थमुपदंश । खरविशदमभ्य-वहार्यमिति तट्टीका।

प्रतिदिनमेवाद्रियते, धनमाधनमन्तराऽन्तरा तु गृही। भजते गुरूपरोधाद् विरतिं ज्ञानं च सम्यक्त्वम् ॥१९४॥
भूरिमहाकल्याणं, संभ्रमतस्तदथ गुरुदयादत्तम्। निदधाति कर्परेऽसौ, भुक्त्वाऽल्पं हेलया शेषम् ॥१९५॥
याति तदन्नं वृद्धिं, तत्सान्निध्यात् प्रहृष्यति ततोऽसौ। तद्धेतुमनभिजानन्, त्रितये शिथिलादरो भवति ॥१९६॥
जाता रोगा याप्यास्त्रितयास्वादादनादरेणापि। बहुलापथ्याहारात्, क्वचिद्विकारोऽपि तस्यासीत् ॥१९७॥
शूलं दाहो मूर्छा, ज्वरः क्वचिच्छर्दिरेव जाड्यं च। हृत्पार्श्ववेदनाऽऽसीत्, क्वचिदुन्मादोऽप्यरोचकता ॥१९८॥
गृह्णाति मन्दवीर्यः, कानिचिदेव व्रतानि तीव्रधिया। गुरुदाक्षिण्यात्कानिचिदयमिह शेपस्य निक्षेपः ॥१९९॥
ईदृशमप्यनुग्रहात् तत्परमान्नं धनादिवृद्ध्यै स्यात्। सेयं कदन्नवृद्धिर्ज्ञेया परमान्नसंबन्धात् ॥२००॥
तद्धेनोरज्ञानं, धर्मानादरकृतो विपर्यासः। त्रितये शिथिलादरता, धनवृद्धौ बालवच्चेष्टा ॥२०१॥
मन्दादपि संवेगाद्, याप्यत्वं यच्च भावरोगाणाम्। सा प्रबलहेत्वयोगे, तनुताऽनाविष्कृतावस्था ॥२०२॥
तेषामेव विकारोऽभिव्यक्तिः प्रबलहेतुसंपर्कात्। धर्मोऽनादरविहितस्तत्र त्राणं न कस्यापि ॥२०३॥
व्यथयत्यपथ्यदोषादकाण्डशूलं धनव्ययविषादः। दहति परेर्ष्यादाहो, लुम्पति मूर्छाऽखिलस्वहृतिः ॥२०४॥
कामज्वरो ज्वरयति, छर्दिर्मर्दयति चोत्तमर्णकृता। धननिर्यातनचिन्ता, स्खलयति जाड्यं जनाभिभवः ॥२०५॥
संयोगवियोगार्तिर्दलयति हृत्पार्श्ववेदना हृदयम्। मिथ्यात्वकृतोन्मादः, प्रमादमूलोऽवसादयति ॥२०६॥
ग्लपयति मदनुष्ठाने, पथ्ये भृशतरमरोचको गहनः। इयतीं भुवमारूढेऽप्यहह विकारैर्न किं क्रियते ॥२०७॥

दृष्ट्वा गुरुस्तद्दया, कदाचिदथ तं विकारलुप्ताङ्गम् । आक्रन्दन्तं कृपया, प्रोवाच परोपकारपरा ॥२०८॥
रोगाः कदन्नमूलास्तव ये तातेन सौम्य ! निर्दिष्टाः । नैवं तेभ्यो मोक्षो, भेषजमफलं ह्यपथ्यभुजः ॥२०९॥
प्रसरति ममाप्यकीर्तिस्त्वत्तः परिचारिका तवाहमिति । न च वक्तुं शक्ताऽहं, हठवति न फलं वचस्तनुते ॥२१०॥
स प्राह महाभागे, त्यक्तुं नैवोत्सहे स्वयमपथ्यम् । वारय तेन तदिच्छां, कारय पथ्यादरं च दृढम् ॥२११॥
स्तोकस्तोकमपथ्यं, त्वद्व्यापाराद् भविष्यति त्यजतः । सर्वत्यागे शक्तिर्ममेति साऽप्येतदनुमेने ॥२१२॥
अथ साऽधिकं कदन्नं, भुञ्जानं तं भृशं निवारयति । तेन स्याद् गदतनुता, त्यजति यदा सा न तत्पार्श्वम् ॥२१३॥
सा च विनियोजिताऽस्ति, प्रागेवाशेषलोकबोधाय । पीड्यत एव विकारैरिति तस्यां दूरवर्तिन्याम् ॥२१४॥
दृष्ट्वाऽथ तं तथाविधमनुकम्पां प्राप धर्मबोधकरः । दध्यौ नायमनुन्नः, प्रवर्तते न च दयाऽव्यग्रा ॥२१५॥
प्रतिचारिकाऽस्य कार्या, तस्मादन्या सदैव सन्निहिता । इति मत्वा सद्बुद्धिं, प्रददौ परिचारिकां तस्मै ॥२१६॥
इति शिक्षितश्च सोऽस्यां, त्वया न वत्सादरो विमोक्तव्यः । नैषाऽलसे प्रसीदति, दुर्भग इव पण्डिता वनिता ॥२१७॥
अस्यां प्रसादितायां, वयं प्रसन्नास्तथा महाराजः । एषैव तत्प्रसाद्या, दास्यति मध्ये दयाऽपि हितम् ॥२१८॥
अथ बुद्ध्याऽनुगृहीतः, स्मरन्नसौ धर्मबोधकरवाचम् । पथ्याहाररतोऽभूत् , कदापि भुङ्क्तेऽन्यदभ्यासात् ॥२१९॥
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं, संसारं मन्यते हि सद्बुद्धिः । तप्तायःपददानन्यायाद् भुङ्क्तेऽपि विषयसुखम् ॥२२०॥
जाता चरणसुखाशा, तनुवाङ्मनसां व्यथा निरनुबन्धा । अहितेऽस्य गृद्ध्यभावान्नष्टं बीभत्सरूपत्वम् ॥२२१॥

सद्बुद्धेः सान्निध्यात्, कदन्नभुक्तौ स लज्जते बाढम् । हतदोषकामचारस्तदसौ जातः सदाचारः ॥२२२॥
पृष्टा तेन सुबुद्धिः, किमिवेदमकाण्डताण्डवं जातम् । साऽऽह स्तोककदन्नत्यागोपायस्य महिमाऽयम् ॥२२३॥
स जगौ ननु यद्येवं, त्यजामि तत्सर्वथा कदन्नमिदम् । सर्वाकुलतारहितं, येन प्राप्नोमि सुखमतुलम् ॥२२४॥
सा प्राह सर्वसङ्गत्यागः श्रेयान् परं सति विवेके । स्नेहच्छेदे फलवान्, विपरीतफलोऽन्यथा ह्येषः ॥२२५॥
वसतो गृहेऽप्यगृद्ध्या, यान्ति श्राद्धस्य याप्यतां रोगाः । कृतसर्वत्यागस्याप्यभिलाषवतस्तु विकृताः स्युः ॥२२६॥
शस्त्रमिव सुप्रयुक्तं, शत्रूच्छेदाय भवति चारित्रम् । अहिताय दुष्प्रयुक्तं, ग्राह्यं तत्सम्यगालोच्य ॥२२७॥
इति सद्बुद्धिविमर्शादीपद्दोलायितं मनस्तस्य । दध्यौ पतितमपि हितं, तरुपतनान्नोचमपि तु फलम् ॥२२८॥
अजनि कदालम्बनधीरनुवृत्तैरथ चरित्रमोहांशैः । पोष्यं कुटुम्बकं मे, किमनेनाकाण्डकलहेन ॥२२९॥
प्रव्रज्या बाहुभ्यां, जलनिधितरणं नभस्वता भरणम् । वस्त्रग्रन्थेः शिरसा, विदारणं पर्वतस्य तथा ॥२३०॥
चर्वणमयोयवानां, मानं पाथोनिधेः कुशाग्रेण । राधावेधविधानं, गमनं नद्यां प्रतिश्रोतः ॥२३१॥
शक्तोऽहं नैतस्यां, न विनाऽप्येनां समग्रसुखलाभः । तत् किं कुर्वे साम्प्रतमिति संदेहाकुलः सोऽभूत् ॥२३२॥
भूरिमहाकल्याणं, भुक्त्वाऽयमथान्यदा तपोनियमैः । भक्षितवानल्पतरं, प्रसंगतोऽर्थार्जनकदन्नम् ॥२३३॥
स ततः सदन्नरसैः, सद्बुद्धेः सन्निधेश्च तदपथ्यम् । अन्वभवत् क्वथितरसं, मलाविलं लज्जनीयं च ॥२३४॥

स्नेहच्छेदे के. प्रा.-भी. प्रा.

छित्त्वाऽथ रागतन्तून्, स्वजनादिभवं व्यलीकमनुचिन्त्य । प्रविहाय पूर्वपक्षं, पुनरभिलाषस्य दृढभावात् ॥२३५॥
लब्ध्वा राज्यं दासः, कः स्यादिति संयमे रतिं कुर्वे । यद्धान्यं तद्भवतादिति सिद्धान्तं स जग्राह ॥२३६॥युग्मम् ॥
अथ सद्बुद्धिः प्रोक्ता, तेनेदं क्षालयाधुना भद्रे । मम भाजनं कदन्नं, त्यजामि सर्वं हिताकाङ्क्षी ॥२३७॥
सा प्राह प्रष्टव्यः, कार्येऽस्मिन् चारुधर्मबोधकरः । कार्यतरुर्न विकारं, विचारपरिरक्षितो याति ॥२३८॥
निजनिश्चयप्रदर्शनपूर्वं पृष्टोऽथ धर्मबोधकरः । योग्यत्वं गीतार्थैः, सह पर्यालोच्य जानानः ॥२३९॥
अत्याजयत् कदन्नं, विमोचयंस्तं समस्तसङ्गेभ्यः । अक्षालयच्च भाजनमाजन्मालोचनासलिलैः ॥२४०॥
आलोचनाख्यसलिलक्षालनमाहात्म्यतश्च तत्पात्रम् । जातं तपनीयमयं, वाक्पारे दिव्यवस्तुगुणः ॥२४१॥
अन्यदसंयमजीवितमन्यच्च वदन्ति संयमायुष्कम् । इति गृहियतिवरभिक्षाभाजनभेदः समयसिद्धः ॥२४२॥
तच्च महाकल्याणकपूर्णं चक्रे महाव्रतारोपात् । जिनचैत्यसंघपूजामहोत्सवस्तद्दिने ववृधे ॥२४३॥
मेदस्विनी सुबुद्धिर्जाता मुदितश्च धर्मबोधकरः । उल्लसिता तस्य दया, प्रीतं नृपमन्दिरं निखिलम् ॥२४४॥
जातश्च यशोवादो, योऽयं राज्ञाऽवलोकितः सम्यग् । तत्स्वदस्याभिमतस्तद्दयया पालितो विधिना ॥२४५॥
सद्बुद्ध्याऽनुगृहीतस्त्यक्तापथ्यश्च तत्प्रभावेन । सद्भेषजसेवनया, विमुक्तकल्पश्च रोगौघैः ॥२४६॥
सोऽयं नो निष्पुण्यः, किन्तु महात्मा सपुण्यको नूनम् । न हि द्रारिद्र्यापादककर्महतश्चक्रवर्ती स्यात् ॥२४७॥
अथ तिष्ठतो नृपगृहे, तस्य दयाबुद्धिदलितदोषस्य । न भवति पीडा व्यक्ता, सूक्ष्मा प्राग्दोषतस्तु स्यात् ॥२४८॥

अथ सूक्ष्मभावदोषप्रतिघातपरायणः प्रशमपूर्णः । परिगलितलोकसंज्ञो, वैषयिकसुखे निराकाङ्क्षः ॥२४९॥

अक्ष्णोर्विमलालोकं, निदधात्यञ्जनमधीतपरमार्थः । तत्त्वप्रीतिकृदम्भः, पिबति च नित्यं पवित्रात्मा ॥२५०॥

विधिना भुङ्क्ते च महाकल्याणं चरणकरणचारुमतिः, धीर्धृतिरोजः स्वास्थ्यं, प्रस्फुरति ततो धामहर्षश्च ॥२५१॥

यः प्रेतः प्रागासीद्, देवः सोऽनेन सांप्रतं विहितः । इति धर्मबोधकयशोमहिमा जगति प्रसृमरोऽभूत् ॥२५२॥

प्रथमदशावैराग्यादित्थं स्फीताशयश्चरणमानी । स्वगुणासङ्गवनेऽसौ, क्रीडां कर्तुं कदापि ययौ ॥२५३॥

तत्रात्मसंस्तुतिलताः, परनिन्दाशल्यपल्लवाताम्राः । विस्फारगारवफलाः, पूजाकुसुमस्मिता दृष्टाः ॥२५४॥

तादृशलताभिरभितो, रमणीयं प्रेक्ष्य किल तदुद्यानम् । शयितस्तच्छायायां, व्ययितो यत्नोऽञ्जनादीनाम् ॥२५५॥

सुप्तोत्थितश्च तस्मिन् , पश्चेलिमं फलमपूर्वमालोक्य । आस्वाद्य गतः स्थाने, प्रस्तुतकार्यं पुनश्चक्रे ॥२५६॥

भुञ्जानस्यापि महाकल्याणकमथ समग्रविधियुक्तम् । प्रकुपित इव वेतालः, पुनरुन्मादोऽतुदद् गात्रम् ॥२५७॥

जाता ज्वरजर्जरता, मूर्छाकूपे च मानसं मग्नम् । दृष्ट्वेदृशं तमासीच्चिन्ताभाग् धर्मबोधकरः ॥२५८॥युग्मम् ॥

पृष्टं रोगनिदानं, तेनोपेक्षागतं न तत्प्रोक्तम् । विषफलभुक्तिर्गुरुणा, ज्ञाता मतिनाडिकागत्या ॥२५९॥

उक्तं च वत्स ! गारवविषफलभुक्तेरसौ विकारभरः । चारित्रसदन्नभुजामप्ययमतिदुःखकृद् भणितः ॥२६०॥

एतत्प्रतिक्रियां तद्गुणवैतृष्ण्याख्यपरमवैराग्यम् । सेवस्व येन न कदाऽप्येष विकारः समुद्भवति ॥२६१॥

---

१ अथ भोगो रा. शा. पुस्तके नास्ति ।

आद्यं खलु वैराग्यं, विषयत्यागाय विषयवैतृष्ण्यम् । ज्ञानादिविकारहरं, गुणवैतृष्ण्यं द्वितीयं तु ॥२६२॥
शिक्षामेनां लब्ध्वा, तत्प्रतिकारं विधाय जातोऽसौ । अविकृतनिजगुणपात्रं, परमान्नरसादथ स्वस्थः ॥२६३॥
एवं यो यो दोषो, यदा यदा बाधतेऽस्य सूक्ष्मोऽपि । तत्तत्प्रतिक्रियायां, प्रक्रमते धर्मबोधकरः ॥२६४॥
अथ कृतसमस्तदोषप्रतिकारः परिणतोरुगुरुशिक्षः[1] । वचनक्षमादिसिद्धेरधिगतधर्मक्षमादिरतिः ॥२६५॥
वचनक्रियाप्रकर्षाश्रयादसङ्गक्रियासु लब्धरसः । कर्ममलस्यापगमाच्छुक्लः शुक्लाभिजात्यश्च ॥२६६॥
खेदोद्वेगभ्रान्तिक्षेपोत्थानान्यमुद्रुजासङ्गैः । मुक्तश्च पृथक्चित्तैरष्टभिरष्टाङ्गयोगधरः ॥२६७॥
मदमदनमोहमत्सररोषविषादैरधर्षितः सततम् । तुल्यारण्यकुलाकुलकाञ्चनतृणशत्रुमित्रगणः ॥२६८॥
दृष्टिं स्थिरां च कान्तां, प्रभां परां च प्रसारयन् धर्मे । धर्मध्यानाभिरतः, शुक्लध्यानैकतानमनाः ॥२६९॥
श्लिष्टं विधाय चित्तं, सुलीनमपि संयमे वितन्वंस्तत् । आत्मारामः शून्यं, परभावविजृम्भितं पश्यन् ॥२७०॥
उल्लसितसहजवीर्यः, परिशुद्धसमाधिदृष्टपरमार्थः । जीवन्मुक्तः शर्माऽनुबभूव भवातिगं किंचित् ॥२७१॥सप्तभिः कुलकम् ॥
इत्थं द्रमकोऽपि महाराज इवाकारि धर्मबोधकरैः । गुरुभिस्तन्माहात्म्यं, वर्णयितुं नालमिन्द्रोऽपि ॥२७२॥
अनुभवसिद्धं चेदं, साक्षाद् द्रमकोपमोऽप्यहं सदयैः । गुरुभिः प्रवेशितो यज्जिनसमये शर्म किमपि लभे ॥२७३॥
विकलानुष्ठानादपि, शुद्धानुष्ठानतीव्रभावयुजः । मार्गप्रवेशनफलादलाघवं भावयामि भृशम् ॥२७४॥

१ परिणततनुगुरु-भी. मा.

विमलालोकात् तीर्थोदकाश्च यद्रोगतानवं भवति। सोऽयं गुरुप्रसादः, परमान्नलवस्य लाभश्च ॥२७५॥

एवं येषां गुरवो, भक्त्येकवशा भृशं प्रसीदन्ति। भव्या भवन्ति पुरुषास्ते सर्वश्रेयसां पात्रम् ॥२७६॥

किं तच्चित्रं गुरुरिह महाशास्त्रसंदर्भवेदी, न स्वायासं गणयति रतो नित्यमन्यार्थसिद्धौ।
अम्भोवाहो व्रजति जलधौ क्रामति व्योम विद्युत्, तापव्यापं वहति हृदये तत्र कः स्वार्थलोभः ॥२७७॥

जडमपि कृतिनं गुरुर्विधत्ते, कुटिलमपि प्रगुणीकरोति सद्यः। धवलयति धरातलं हिमांशुः, कुमुदवनस्य भिनत्ति मंक्षु मुद्राम् ॥

सूतेऽनम्बुधरोऽपि चंद्रकिरणैरम्भांसि चन्द्रोपल-स्तद्रूपं पिचुमन्दवृंदमपि च स्याचान्दनैः सौरभैः।
स्पर्शात् सिद्धरसस्य किं भवति नो लोहं च लोहोत्तमम्, प्राप्य श्रीगुरुपादपङ्कजकृपां मूर्खोऽपि सूरिर्भवेत् ॥२७९॥

जिज्ञासुताङ्कुरवती सुरुचिप्रवाला, ज्ञानादिपुष्पकलिता समताफलाढ्या।
हित्वा करीरवनतुल्यमुपायमन्यं, सेव्या सदा गुरुकृपात्रिदशद्रुवल्लिः ॥२८०॥

गुरुकृतगरिमप्रथापवित्रं, द्रमकचरित्रमिदं निशम्य सम्यक्। य इह वितनुते तदंह्रिसेवां, त्यजति न तं गुणरागिणी यशःश्रीः ॥

इति श्रीवैराग्यकल्पलतायां गुरुप्रभाववर्णनो नाम द्वितीयः स्तवकः समाप्त'। ग्रन्थाग्रं ३३५

तृतीयः स्तवकः ।

अथ प्रस्तूयते कीर्तिकथापीयूषवर्षिणी । अनुसुन्दरराजर्षेश्चन्द्रोज्ज्वलगुणश्रियः ॥१॥
जायते परबोधाय, स्वसंसारविडम्बनाम् । श्रद्धावान् कथयन् यद्वच्चक्रवर्त्यनुसुन्दरः ॥२॥
अस्ति स्वस्तिमती क्षेमपुरी सुरपुरीसमा । सुकच्छविजयस्थाने, प्राग्विदेहे मनोहरे ॥३॥
तत्रारिनारीनेत्राम्बुजातोज्ज्वलयशोम्बुजः । अभूद् युगन्धरो राजा, प्रतापजितभास्करः ॥४॥
तस्यासीन्नलिनी नाम महिषी नलिनेक्षणा । विजिता रूपपीयूषसरस्याऽप्सरसो यया ॥५॥
चतुर्दशमहास्वप्नसूचितो जनितस्तया । पुण्योदययुतः पुत्रः, सुधास्निग्धेन्दुसोदरः ॥६॥
जनकेन पुरो ज्ञातेः, सुतजन्मोत्सवक्रमात् । प्रतिष्ठितं च तन्नाम, यथाऽयमनुसुन्दरः ॥७॥
अथ प्रवर्धमानोऽसौ, कौमारे ग्राहितः कलाः । तातेन यौवनस्थश्च, यौवराज्ये निवेशितः ॥८॥
गतोऽस्तं तत्पिता भास्वान्, निलीना नलिनी तथा । राज्याभिषेकं तस्याथ, सामन्ताः कर्तुमुद्यताः ॥९॥
तावत् तत्र समुत्पन्नं, चक्ररत्नं ज्वलन्महः । आविर्भूतानि शेषाणि, सद्रत्नानि त्रयोदश ॥१०॥
गताः प्रत्यक्षतां यक्षाधिष्ठिता निधयो नव । चक्रवर्तीति स नृपैः, सुरैरिन्द्र इवार्चितः ॥११॥

१ इवार्जित. रा. ज्ञा.–डे. ज्ञा.

क्षेमपुर्यां स्थितेनैन, सकलं भूमिमण्डलम्। जितं तेनाम्बरस्थेन, भानुनेव प्रतापतः ॥१२॥
द्वात्रिंशद्भिः सहस्रैश्च, समा द्वादश भूभुजाम्। कृतो राज्याभिषेकोऽस्य, दिव्याभरणशालिभिः ॥१३॥
सहस्राणां चतुःषष्ट्या, रेमेऽसौ वरसुभ्रुवाम्। अशीतिं पूर्वलक्षाणां, चतुर्भिरधिकां सुखी ॥१४॥
गतोऽथ पश्चिमे काले, देशदर्शनकाम्यया। इष्टासौ दक्षिणावर्तं, प्राप्तः शङ्खाह्वयं पुरम् ॥१५॥
तत्र चित्तरमोद्यानं, नृपः कतिपयैर्युतः। ययौ स्वामीव देवानां, देवैरानन्दि नन्दनम् ॥१६॥
इतो हरिपुरस्वामी, विजये तत्र विश्रुतः। अभूद् भीमरथो राजा, सुभद्रा चास्य वल्लभा ॥१७॥
समन्तभद्रस्तनयस्तयोरासीन्महोदयः। तनया च महाभद्रा, महाभद्रानुकूलधीः ॥१८॥
पार्श्वे समन्तभद्रोऽथ, सुखोपमगुरोर्व्रतम्। जग्राह पितरौ पृष्ट्वा, द्वादशाङ्गधरोऽभवत् ॥१९॥
गुरुभिर्योग्यतां ज्ञात्वा, पदे स्वीये निवेशितः। महाभद्राऽपि संप्राप्ता, यौवनं स्मरकाननम् ॥२०॥
गन्धर्वपुरनाथेन, परिणीता दिवाकृता। दैवादसौ गतोऽस्तं सा, गुरुणा प्रतिबोधिता ॥२१॥
ललौ भागवतीं दीक्षां, जाता चैकादशाङ्गभृत्। प्रवर्तिनी कृता दक्षा, गीतार्था गुरुभिस्ततः ॥२२॥
अन्यदा विहरन्ती सा, पूज्या रत्नपुरं ययौ। चन्द्रज्योत्स्नेव ताराभिः, साध्वीभिः परिवारिता ॥२३॥
राजा मगधसेनोऽभूत्, तत्र देवी सुमङ्गला। पुरुषद्वेषिणी जाता, सुता सुललिता तयोः ॥२४॥

१ मगध सा. ना.।

भूरियं भूरितेजसाम् ॥५३॥

कोऽस्या वर्णयितुं शक्तो, गुणसंभारगौरवम् । महापुरुषरत्नानां, भूरियं भूरितेजसाम् ॥५३॥
एनां शास्ति नृपः कर्मपरिणामो महाबलः । नीतिमुल्लङ्घ्य यो विश्वं, तृणायापि न मन्यते ॥५४॥
स च केलिप्रियो दुष्टो, नर्तयत्यङ्गिनः सदा । तेऽपि तं नातिवर्तन्ते, तत्प्रतापप्रमर्दिताः ॥५५॥
स नारकादिरूपेण, नृत्यतो वेदनातुरान् । क्रन्दतः प्राणिनो दृष्ट्वा, प्राप्नोति विपुलां मुदम् ॥५६॥
अनार्यकार्यसज्जं च, लोकं दृष्ट्वा स माद्यति । नाटके दत्तधीश्चेष्टावेषादिविकृताशये ॥५७॥
रागद्वेषाख्यमुरजं, कुभावास्फालनोन्मदम्[1] । सूत्रधारमहामोहं, क्रोधमानादिगायनम्[2] ॥५८॥
आनन्दिभोगविस्तारनान्दीमङ्गलपाठकम् । विहितास्तोकबिब्बोक[3]कामनामविदूषकम् ॥५९॥
आनन्दिभोगविस्तारनान्दीमङ्गलपाठकम् । विहितास्तोकबिब्बोककामनामविदूषकम् ॥६०॥
वर्णकैश्चित्रलेश्याभिर्विलसत्पात्रमण्डनम्[4] । योन्याख्यप्रविशत्पात्रनेपथ्यव्यवधायकम् ॥६१॥
दीनताकिङ्किणीक्वाणैः, कुसंज्ञाकंसिकास्वनैः । उत्तालैः शठतातालै, रङ्गरागैश्च मत्सरैः ॥६२॥
दुष्टध्यानैरभिनयैश्रमिभिस्तत्त्वविप्लवैः । स्फुटैरर्धाक्षिविक्षेपैर्यथाभूतार्थनिह्नवैः ॥६३॥
मण्डपैश्चित्तसंकोचैरुल्लोचैर्विविधाश्रवैः । लोकाकाशोदरे रङ्गस्थाने विहितविस्मयम् ॥६४॥ सप्तभिः कुलकम् ॥
पुद्गलस्कन्धसंबन्धशेषोपस्करसंचयम् । कारयन्नाटकं लोकान्, लीलामनुभवत्यसौ ॥६५॥
तस्यासीद् भूपतेः कालपरिणत्यभिधा प्रिया । स्वाहा स्वाहाभुजो यद्वन्नियत्याद्यतिशायिनी ॥६५॥

१ –स्फालकोन्मद डे. ह्ला. २ –गायकम् भी. मा. ३ सौभाग्यगर्वादिष्टेऽपि वस्तुन्यनादरो बिब्बोक', सत्त्वजोऽलंकारविशेष. । ४–मंडलम् भी. मा. ।

अष्टव्या विषमे कार्ये, चित्तवृत्तिरिवास्य सा। पार्वतीव महेशस्य, वपुरर्धमधिष्ठिता ॥६६॥
मस्पृहं मन्त्रयत्येषा, पुरतो भर्तुरुन्मदा। योनिं जवनिकां त्यक्त्वा, पात्रैर्निर्गम्यतामितः ॥६७॥
गृह्यतां स्तन्यमम्बायाः, संहृत्य रुदितक्रियाम्। लुठ्यतां च पुनर्धूल्यां, शिक्ष्यतां पदचङ्क्रमः ॥६८॥
विण्मूत्रेर्भूयतां भूयो, मलिनैर्बालचापले। पठ्यतां पटु कौमारे, तारुण्ये भुज्यतां वधूः ॥६९॥
वलीपलितबीभत्सैर्वार्धके भूयतां पुनः। पुनः प्रविश्यतां योनौ, पुनर्निर्गम्यतामितः ॥७०॥
इत्येवं मन्त्रयित्वा साऽनन्तवारा विडम्बनाम्। करोति लोकपात्राणां, स्वाभीष्टार्थविधायिनी ॥७१॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥
तयोः प्रयान्ति दंपत्योर्वासराः स्नेहनिर्भराः। देवी प्रोवाच राजानमन्यदा रहसि स्थितम् ॥७२॥
ईहे पुत्रमुखं स्वामिन्नन्यूनमपरं तु मे। स प्राह सिद्धमेवेदमावयोराशयैक्यतः ॥७३॥
प्रीता भर्तृगिरा देवी, स्वप्ने प्रैक्षत साऽन्यदा। मुखे प्रविष्टो जठरान्निर्गतः सुन्दराकृतिः ॥७४॥
केनापि सुहृदा नीत, इति हर्षविषादभाक्। सन्ध्येवार्कतमोमिश्रा, तं स्वप्नं प्राह भूभुजे ॥७५॥
स प्राह ते सुतः श्रेष्ठो, भावी स्थाता तु नो चिरम्। धर्माचार्यवचोबुद्धः, स्वीयार्थं साधयिष्यति ॥७६॥
पुत्रोऽथ सुषुवे पूर्णशुभदोहदया तया। पित्राऽस्य भव्य इत्याख्या, कृता स्वप्नानुसारतः ॥७७॥
मात्रा सुमतिरित्यन्या, कृता सा दोहदाश्रयात्। योगोऽयं दक्षिणावर्तशंखेऽभूद् दुग्धसन्निभः ॥७८॥
भद्रे! स पुण्डरीकोऽयं, वर्ण्यते तनयोऽनयोः। देवीदेवाविमौ विश्वजनकौ तत्त्वतो यतः ॥७९॥

महापुरुषरत्नानां, भूरियं भूरितेजसाम् ॥५३॥
कोऽस्या वर्णयितुं शक्तो, गुणसंभारगौरवम् । नीतिमुल्लङ्घ्य यो विश्वं, तृणायापि न मन्यते ॥५४॥
एनां शास्ति नृपः कर्मपरिणामो महाबलः । तेऽपि तं नातिवर्तन्ते, तत्प्रतापप्रमर्दिताः ॥५५॥
स च केलिप्रियो दुष्टो, नर्तयत्यङ्गिनः सदा । क्रन्दतः प्राणिनो दृष्ट्वा, प्राप्नोति विपुलां मुदम् ॥५६॥
स नारकादिरूपेण, नृत्यतो वेदनातुरान् । नाटके दत्तधीश्चेष्टावेषादिविकृताशये ॥५७॥
अनार्यकार्यसज्जं च, लोकं दृष्ट्वा स माद्यति । क्रोधमानादिगायनम् ॥५८॥
रागद्वेषाख्यमुरजं, कुभावास्फालनोन्मदम्[1] । सूत्रधारमहामोहं, क्रोधमानादिगायनम्[2] ॥५८॥
आनन्दिभोगविस्तारनान्दीमङ्गलपाठकम् । विहितास्तोकविब्बोक[3]कामनामविदूषकम् ॥५९॥
वर्णकैश्चित्रलेश्याभिर्विलसत्पात्रमण्डनम्[4] । योन्याख्यप्रविशत्पात्रनेपथ्यव्यवधायकम् ॥६०॥
दीनताकिङ्किणीक्वाणैः, कुसंज्ञाकांसिकास्वनैः । उत्तालैः शठतातालै, रङ्गरागैश्च मत्सरैः ॥६१॥
दुष्टध्यानैरभिनयैर्भ्रमिभिस्तत्त्वविप्लवैः । स्फुटैरर्धाक्षिविक्षेपैर्यथाभूतार्थनिह्नवैः ॥६२॥
मण्डपैश्चित्तसंकोचैरुल्लोचैर्विविधाश्रवैः । लोकाकाशोदरे रङ्गस्थाने विहितविस्मयम् ॥६३॥
पुद्गलस्कन्धसंबन्धशेषोपस्करसंचयम् । कारयन्नाटकं लोकान्, लीलामनुभवत्यसौ ॥६४॥ सप्तभिः कुलकम् ॥
तस्यासीद् भूपतेः कालपरिणत्यभिधा प्रिया । स्वाहा स्वाहाभुजो यद्वन्नियत्याद्यतिशायिनी ॥६५॥

---

१ –स्फालकोन्मद डे ह्वा. २ –गायकम् भी. मा. ३ सौभाग्यगर्वादिष्टेऽपि वस्तुन्यनादरो विब्बोक', सत्त्वजोऽलंकारविशेष । ४–मंडलम् भी. मा.।

प्रष्टव्या विषमे कार्ये, चित्तवृत्तिरिवास्य सा। पार्वतीव महेशस्य, वपुरर्धमधिष्ठिता ॥६६॥
मस्पृहं मन्त्रयत्येषा, पुरतो भर्तुरुन्मदा। योनिं जवनिकां त्यक्त्वा, पात्रैर्निर्गम्यतामितः ॥६७॥
गृह्यतां स्तन्यमम्बायाः, संहृत्य रुदितक्रियाम्। लुठ्यतां च पुनर्धूल्यां, शिक्ष्यतां पदचङ्क्रमः ॥६८॥
विण्मूत्रैर्भूयतां भूयो, मलिनैर्बालचापले। पठ्यतां पटु कौमारे, तारुण्ये भुज्यतां वधूः ॥६९॥
वलीपलितबीभत्सैर्वार्धके भूयतां पुनः। पुनः प्रविश्यतां योनौ, पुनर्निर्गम्यतामितः ॥७०॥
इत्येवं मन्त्रयित्वा साऽनन्तवारा विडम्बनाम्। करोति लोकपात्राणां, स्वाभीष्टार्थविधायिनी ॥७१॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥
तयोः प्रयान्ति दंपत्योर्वासराः स्नेहनिर्भराः। देवी प्रोवाच राजानमन्यदा रहसि स्थितम् ॥७२॥
ईहे पुत्रमुखं स्वामिन्नन्यूनमपरं तु मे। स प्राह सिद्धमेवेदमावयोराशयैक्यतः ॥७३॥
प्रीता भर्तृगिरा देवी, स्वप्ने प्रैक्षत साऽन्यदा। मुखे प्रविष्टो जठरान्निर्गतः सुन्दराकृतिः ॥७४॥
केनापि सुहृदा नीत, इति हर्षविषादभाक्। सन्ध्येवार्कतमोमिश्रा, तं स्वप्नं प्राह भूभुजे ॥७५॥
स प्राह ते सुतः श्रेष्ठो, भावी स्थाता तु नो चिरम्। धर्माचार्यवचोबुद्धः, स्वीयार्थं साधयिष्यति ॥७६॥
पुत्रोऽथ सुषुवे पूर्णशुभदोहदया तया। पित्राऽस्य भव्य इत्याख्या, कृता स्वप्नानुसारतः ॥७७॥
मात्रा सुमतिरित्यन्या, कृता सा दोहदाश्रयात्। योगोऽयं दक्षिणावर्तशंखेऽभूद् दुग्धसन्निभः ॥७८॥
भद्र! स पुण्डरीकोऽयं, वर्ण्यते तनयोऽनयोः। देवीदेवाविमौ विश्वजनकौ तत्त्वतो यतः ॥७९॥

अभूतां जननीतातौ, तच्चिन्तादग्धमानसौ। श्रुत्वा मान्यां महाभद्रामागतां हृदि नन्दितौ ॥२५॥
गतावादाय तनयां, तां प्रणन्तुमुपाश्रये। धर्मलाभस्तया दत्तः, प्रदत्ता धर्मदेशना ॥२६॥
तद्वचोऽवुध्यमानापि, तस्यां स्नेहमुपागता। पूर्वाभ्यासात् सुललिता, तन्मुखन्यस्तलोचना ॥२७॥
प्रवृद्धस्नेहकल्लोलाक्रान्तचित्ताऽथ सा ततः। स्थास्याम्येनां विना नाहमित्यभिग्रहमग्रहीत् ॥२८॥
अतिकष्टाद् वचस्तस्याः, पितृभ्यां तत्प्रतिश्रुतम्। स्वीकारितं च न ग्राह्या, प्रव्रज्याऽस्मदपृच्छया ॥२९॥
अथ साऽनु महाभद्रां, विजहार तमोभिदम्। निशेव शशिनो ज्योत्स्नामेकनिर्बन्धबन्धुरा ॥३०॥
कर्मोदयान्न बोधोऽस्यां, जायते च स्फुटः परम्। प्रकाश इव चन्द्रस्य, मेघाच्छादनतो दिवि ॥३१॥
महाभद्रा शङ्खपुरे, समागत्यान्यदा स्थिता। नन्दस्य श्रेष्ठिनो यंघशालायां शिलशालिनी ॥३२॥
श्रीगर्भस्तत्र राजाऽस्ति, नलिन्याख्या च तत्प्रिया। उपचारानपत्यार्थं, साऽनपत्याऽकरोद् बहून् ॥३३॥
उत्पन्नः पुण्यवान् जीवस्तस्याः कुक्षावथैक्षत। निशि प्रसुप्ता सा स्वप्ने, यथा कोऽपि सुविग्रहः ॥३४॥
प्रविश्य मे मुखेनाङ्गे, निर्गत्य च गतः क्षणात्। नरेण केनचित् सार्धं, भर्त्रे स कथितस्तया ॥३५॥
तेनोक्तं ते सुतो भावी, केवलं प्रव्रजिष्यति। शीघ्रं कश्चिद् गुरुं प्राप्य, तच्छ्रुत्वा सा दधौ मुदम् ॥३६॥
जातस्तृतीयमासेऽस्याः, शुभकर्ममनोरथः। संपूरितोऽसौ श्रीगर्भराजेनातुलसंपदा ॥३७॥
असूत सा सुतं पूर्णे, काले रुचिरलक्षणम्। संतुष्टोऽचीकरद्राजा, तस्य जन्ममहोत्सवम् ॥३८॥

गुरुः समन्तभद्राख्यो, जातनिर्मलकेवलः । इतः समागतोऽत्रैव, स्थितश्चित्तरमे वने ॥३९॥
इतः सुललिताऽज्ञाता, वन्दितुं तं प्रवर्तिनी । गता कथंचित् तत्राभूद्, वार्ता पुत्रस्य भूभुजः ॥४०॥
उक्तं भगवताऽभ्यस्तसत्कर्मा बहुशो ह्ययम् । न स्थास्यति गृहे दीक्षां, लात्वा भावी श्रुतार्थवित् ॥४१॥
तदाकर्ण्य महाभद्रा, हृष्टा स्वोपाश्रये गता । इतश्च राजपुत्रस्य, तस्य नाम प्रतिष्ठितम् ॥४२॥
पुण्डरीक इति स्पष्टं, कृतस्तत्करणोत्सवः । इतश्च सा सुललिता, कुतूहलपरायणा ॥४३॥
विचरन्ती वने तत्र, गता सूरिं स पश्यति । वर्णयन्तं गुणान् भाविभद्रभूपात्मजन्मनः ॥४४॥त्रिभिर्विशेषकम् ॥
शुभेन कर्मणा कालपरिणत्याऽनुकूलया । अयं हि नृगतौ पुर्यां, जातः श्रेयांसि लप्स्यते ॥४५॥
अयं हि भव्यपुरुषः, सुमतिश्चेति सुन्दरम् । सर्वमत्रोचितं योगः, क्षीरे खण्डस्य खल्वयम् ॥४६॥युग्मम् ॥
तदाकर्ण्य जनास्तुष्टा, दध्यौ सुललिता परम् । भेदोऽयं जनकादेः कः, कथं भावि च वेत्त्यसौ ॥४७॥
इति शङ्कापरा गत्वा, वसतिं सा प्रवर्तिनीम् । पप्रच्छ साऽतिमुग्धां तां, ज्ञात्वाऽवादीत् सविस्तरम् ॥४८॥
अस्तीह लोकविख्याता, नृगतिर्नगरी शुभा । अन्याः सर्वा नगर्योऽस्यां, मग्नाः सिन्धाविवापगाः ॥४९॥
अस्यां देवकुलाकारास्तुङ्गा मेर्वादयो नगाः । पर्वतः सर्वतः सालो, विशालो मानुषोत्तरः ॥५०॥
वर्षाचलपरिक्षिप्ताः, पाटका भरतादयः । विदेहरूपो हट्टाख्या, विजयापणपङ्क्तिभृत् ॥५१॥
लवणोदधिकालोदौ, महाराजपथाविह । पाटकौघास्त्रयो जम्बूधातकीपुष्करार्धकैः ॥५२॥

कोऽस्या वर्णयितुं शक्तो, गुणसंभारगौरवम्। महापुरुषरत्नानां, भूरियं भूरितेजसाम् ॥५३॥
एनां शास्ति नृपः कर्मपरिणामो महाबलः। नीतिमुल्लङ्घ्य यो विश्वं, तृणायापि न मन्यते ॥५४॥
स च केलिप्रियो दुष्टो, नर्तयत्यङ्गिनः सदा। तेऽपि तं नातिवर्तन्ते, तत्प्रतापप्रमर्दिताः ॥५५॥
स नारकादिरूपेण, नृत्यतो वेदनातुरान्। क्रन्दतः प्राणिनो दृष्ट्वा, प्राप्नोति विपुलां मुदम् ॥५६॥
अनार्यकार्यसज्जं च, लोकं दृष्ट्वा स माद्यति। नाटके दत्तधीश्चेष्टावेपादिविकृताशये ॥५७॥
रागद्वेषाख्यमुरजं, कुभावास्फालनोन्मदम्[1]। सूत्रधारमहामोहं, क्रोधमानादिगायनम्[2] ॥५८॥
आनन्दिभोगविस्तारनान्दीमङ्गलपाठकम्। विहितास्तोकबिब्बोक[3]कामनामविदूषकम् ॥५९॥
वर्णैश्चित्रलेश्याभिर्विलसत्पात्रमण्डनम्[4]। योन्याख्यप्रविशत्पात्रनेपथ्यव्यवधायकम् ॥६०॥
दीनताकिङ्किणीक्वाणैः, कुसंज्ञाकंसिकास्वनैः। उत्तालैः शठतातालैः, रङ्गरागैश्च मत्सरैः ॥६१॥
दुष्टध्यानैरभिनयैर्भ्रमिभिस्तत्त्वविप्लवैः। स्फुटैरधोक्षिविक्षेपैर्यथाभूतार्थनिह्नवैः ॥६२॥
मण्डपैश्चित्तसंकोचैरुल्लोचैर्विविधाश्रवैः। लोकाकाशोदरे रङ्गस्थाने विहितविस्मयम् ॥६३॥
पुद्गलस्कन्धसंबन्धशेषोपस्करसंचयम्। कारयन्नाटकं लोकान्, लीलामनुभवत्यसौ ॥६४॥ सप्तभिः कुलकम् ॥
तस्यासीद् भूपतेः कालपरिणत्यभिधा प्रिया। स्वाहा स्वाहाभुजो यद्वन्नियत्याद्यतिशायिनी ॥६५॥

१ —स्फालकोन्मद डे. ज्ञा. २ —गायकम् भी. मा ३ सौभाग्यगर्वादिष्टेऽपि वस्तुन्यनादरो बिब्बोक', सत्त्वजोऽलङ्कारविशेष.। ४—मंडलम् भी. मा.।

प्रष्टव्या निपमे कार्ये, चित्तवृत्तिरिवास्य सा। पार्वतीव महेशस्य, वपुरर्धमधिष्ठिता ॥६६॥
मस्पृहं मन्त्रयत्येषा, पुरतो भर्तुरुन्मदा। योनिं जवनिकां त्यक्त्वा, पात्रैर्निर्गम्यतामितः ॥६७॥
गृग्यतां स्तन्यमम्बायाः, संहृत्य रुदितक्रियाम्। लुठ्यतां च पुनर्धूल्यां, शिक्ष्यतां पदचङ्क्रमः ॥६८॥
विण्मूत्रैर्भूयतां भूयो, मलिनैर्बालचापले। पठ्यतां पटु कौमारे, तारुण्ये भुज्यतां वधूः ॥६९॥
वलीपलितबीभत्सैर्वार्धके भूयतां पुनः। पुनः प्रविश्यतां योनौ, पुनर्निर्गम्यतामितः ॥७०॥
इत्येवं मन्त्रयित्वा साऽनन्तवारा विडम्बनाम्। करोति लोकपात्राणां, स्वाभीष्टार्थविधायिनी ॥७१॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥
तयोः प्रयान्ति दंपत्योर्वासराः स्नेहनिर्भराः। देवी प्रोवाच राजानमन्यदा रहसि स्थितम् ॥७२॥
ईहे पुत्रसुखं स्वामिन्नन्यूनमपरं तु मे। स प्राह सिद्धमेवेदमावयोराशयैक्यतः ॥७३॥
प्रीता भर्तृगिरा देवी, स्वप्ने प्रैक्षत साऽन्यदा। मुखे प्रविष्टो जठरान्निर्गतः सुन्दराकृतिः ॥७४॥
केनापि सुहृदा नीत, इति हर्षविषादभाक्। सन्ध्येवार्कतमोमिश्रा, तं स्वप्नं प्राह भूभुजे ॥७५॥
स प्राह ते सुतः श्रेष्ठो, भावी स्थाता तु नो चिरम्। धर्माचार्यवचोबुद्धः, स्वीयार्थं साधयिष्यति ॥७६॥
पुत्रोऽथ सुषुवे पूर्णशुभदोहदया तया। पित्राऽस्य भव्य इत्याख्या, कृता स्वप्नानुसारतः ॥७७॥
मात्रा सुमतिरित्यन्या, कृता सा दोहदाश्रयात्। योगोऽयं दक्षिणावर्तशंखेऽभूद् दुग्धसन्निभः ॥७८॥
भद्रे! स पुण्डरीकोऽयं, वर्ण्यते तनयोऽनयोः। देवीदेवाविमौ विश्वजनकौ तत्त्वतो यतः ॥७९॥

अथागृहीतभावार्था, जगौ सुललिता पुनः। अनयोस्तनयो जातः, कथं निर्बीजवन्ध्ययोः ॥८०॥
ततः प्रवर्तिनी प्रज्ञाविशाला प्राह तामिदम्। मुग्धे ! तत्त्वानभिज्ञाऽसि, परमार्थमतः शृणु ॥८१॥
इमौ हि तत्त्वतोऽनन्ताऽपत्यावप्यनपत्यकौ। ख्यापितावविवेकादिदृग्दोषाशङ्किमन्त्रिभिः ॥८२॥
इदानीं तत्कथं ताभ्यां, पुत्रजन्म प्रकाशितम्। मुग्धां तामिति पृच्छन्तीं, पुनराह प्रवर्तिनी ॥८३॥
अस्यामेवास्ति पुर्यां मे, धर्माचार्यः सदागमः। रहस्यमनयोः सर्वं, स जानाति महाशयः ॥८४॥
स चान्यदा मया पृष्टो, हृष्यन् हर्षस्य कारणम्। निर्बन्धप्रेरितः प्राहः, शृणु भद्रे ! कुतूहलम् ॥८५॥
विज्ञप्तो नृपतिः कालपरिणत्या रहःस्थया। क्षाल्यतामावयोर्वन्ध्याऽबीजत्वभवदुर्यशः ॥८६॥
अलीकोऽप्यपवादो हि, महिमानं क्षयं नयेत्। कलङ्कीति श्रुतश्चन्द्रस्तातेनापि बहिष्कृतः ॥८७॥
अपत्यान्यात्मनीनानि, परेषां ख्यापितानि यैः। प्रष्टुमर्हन्ति तेऽत्रार्थे नाविवेकादिमन्त्रिणः ॥८८॥
प्रतिश्रुतमिदं देव्या, वचो राज्ञा यतो हितम्। [1]समक्षं सर्वलोकानां, पुत्रजन्म प्रकाशितम् ॥८९॥
सोऽयं भव्यो ममाभीष्ट, इति हृष्यामि धीमति !। मयोक्तं युज्यते पूज्याः, स्थाने हर्षोऽयमेष वः ॥९०॥
अतः सुललिते ! पात्रं, पुण्डरीकोऽयमुत्तमम्। पुत्रः प्रकाशितो देवीदेवयोरनुकूलयोः ॥९१॥
गुणैरनन्यसामान्यैर्दृष्टहेत्वतिवर्तिनी। सृष्टिर्निगद्यते पुण्याददृष्टस्य हि महात्मभिः ॥९२॥

१ समस्त रा. ज्ञा.

जगौ सुललिता पूज्ये, संशयः प्रथमो हतः । त्वया समर्थयत्या मे, गुरूक्तामर्थपद्धतिम् ॥९३॥
एष वेत्ति कथं वार्तां, भविष्यत्कालभाविनीम् । इत्येनमर्हसि च्छेत्तुं, द्वितीयमपि संशयम् ॥९४॥
अथ प्राह महाभद्रा, भद्रे ! यो वीक्षितस्त्वया । सोऽयं सदागमो नाम, पुरुषो धर्मदेशकः ॥९५॥
करामलकवद् वेत्ति, पदार्थान् जगतामयम् । परेषामर्थकथने, व्यसनं चास्य जृम्भते ॥९६॥
अन्येऽप्यभिनिबोधाद्याश्चत्वारः पुरुषा इह । तादृशाः सन्ति न परं, समर्थाः परबोधने ॥९७॥
ततः सुललिता मुग्धा, प्राह किं राजदारकः । असौ सदागमस्येष्टः, प्रत्युवाच प्रवर्तिनी ॥९८॥
भद्रे ! परोपकारैकप्रवणः प्रकृतेरयम् । इन्दुः कुवलयोल्लासे, किं कारणमपेक्षते ॥९९॥
पापिष्ठास्त्वस्य वचने, न वर्तन्ते द्विषन्त्यमुम् । हसन्ति केऽपि दौःशील्यादुपेक्षन्ते च केचन ॥१००॥
तदुक्ताकरणाशक्तिं, भाषन्ते केचिदात्मनः । प्रतारकोऽयमित्येनं, शङ्कन्ते केऽपि दुर्धियः ॥१०१॥
आदावेव न बुध्यन्ते, तद्वचः केऽपि बालिशाः । श्रद्दधत्येव नो केचित्, केऽपि तत्र श्लथादराः ॥१०२॥
अयोग्यत्वादतस्तेषां, गाढोद्विग्नः सदागमः । नोपकाराय घूकानां, तिग्मांशुरिव जायते ॥१०३॥
अयं तु भव्यपुरुषः, सुमतिश्चेति पात्रताम् । ज्ञात्वा स्वज्ञानसंक्रान्तेरत्र तुष्टः सदागमः ॥१०४॥
पुनः सुललिता प्राह, का नु शक्तिः सदागमे । न बोधयति पापिष्ठान्, यदि लोकान् प्रसह्य सः ॥१०५॥
जगाविथ महाभद्रा, सुरेन्द्रैरपि दुर्जयः । यः कर्मपरिणामोऽयं, तं हुङ्कारेण नाशयन् ॥१०६॥

पादौ प्रदाप्य तन्मौलावनन्तान् मोचयत्ययम् । प्रवर्तते परं तस्य, कुपात्रेष्ववधीरणा ॥१०७॥
उपेक्षिताश्च ते तेन, कदर्थ्यन्तेऽत्र कर्मणा । ये त्वत्र भक्तिमन्तोऽपि, कुर्वते विकलक्रियाम् ॥१०८॥
कुर्वते भक्तिमात्रं वा, नाम वा लान्ति केवलम् । सन्मार्गे पक्षपातं वा, दधत्यस्यानुरागतः ॥१०९॥
एतन्नामाऽप्यजानानाः, प्रकृत्या भद्रकाश्च ये । सर्वेऽपि ते ह्यभिप्रेताः, सदागममहात्मनः ॥११०॥
तान् कर्मपरिणामस्तन्न बाढं बाधितुं क्षमः । किन्तु दत्ते श्रियस्तास्ताः, सदागमवशंवदः ॥१११॥
भद्रे ! तन्नास्य माहात्म्यं, कोऽपि वर्णयितुं क्षमः । कुठारो दोषवृक्षाणामसौ गुणवनाम्बुदः ॥११२॥
अथ मग्ना सुललिता, मुग्धा संदेहवारिधौ । क्वैतावान् गुणसंदोहः, स्तुतिः परिचयादियम् ॥११३॥
आह प्रज्ञाविशालां सा, नूनं मग्नाऽस्मि संशये । तत् त्वयाऽसौ मदुद्धृत्यै, दर्शनीयः सदागमः ॥११४॥
सा प्राह सुन्दरं ह्येतद् , द्रष्टव्यः सेव्य एव सः । गते द्वे अपि तन्मूलं, दृष्टश्चासौ महाशयः ॥११५॥
शुष्कस्तद्दर्शनादेव, तस्याः संदेहकर्दमः । दिनानि यान्त्यथ तयोर्लीलया तस्य सेवया ॥११६॥
अथानेन महाभद्रा, प्रोक्ता विहरताऽन्यदा । क्षीणजंघाबलाऽसि त्वं, तत् तिष्ठात्रैव धीमति ! ॥११७॥
कर्तव्यो नृपपुत्रोऽसावाबाल्यात् स्नेहनिर्भरः । त्वयि संजातविश्रम्भः, प्रयाति मम वश्यताम् ॥११८॥
प्रज्ञाविशालया तस्य, तत्प्रपन्नं वचस्तया । आवर्ज्य जननीचित्तं, लालितो राजबालकः ॥११९॥
क्रमेण वर्द्धमानोऽसौ, तस्यां स्नेहं परं दधौ । पुनः सूरिरथायातस्तत्पार्श्वे तं निनाय सा ॥१२०॥

स तं सदागमं वीक्ष्य, परं हर्षमुपागतः । श्रुत्वाऽस्तपापस्तद्वाचं, चिन्तयामास चेतसि ॥१२१॥
धन्येयं नगरी यस्यां, वसत्येष सदागमः । स्याद् यद्ययमुपाध्यायः, पठाम्यस्यान्तिके श्रुतम् ॥१२२॥
अयं प्रज्ञाविशालाया, भावस्तेन निवेदितः । आपृच्छय पितरौ साऽथ, तं तच्छिष्यमचीकरत् ॥१२३॥
ततो दिने दिने याति, सह प्रज्ञाविशालया । पार्श्वे सदागमस्यार्थं, जिज्ञासुः स महाशयः ॥१२४॥
अन्यदा भव्यपुरुषः, पुण्डरीकः सदागमम् । महाभद्रा मुदा प्रज्ञाविशाला च निषेवते ॥१२५॥
स्थिताऽगृहीतसंकेता, श्रोतुं सुललिता गिरम् । ददात्याचार्यवर्यश्च, देशनां क्लेशनाशिनीम् ॥१२६॥
अत्रान्तरे श्रुतश्चक्रिवलकोलाहलो महान् । जाता चोत्कर्णिता पर्षद् , विस्मितं जनमानसम् ॥१२७॥
ततः सुललिता प्राह, महाभद्रां किमित्यदः । सा प्राह नास्मि जानामि, जानाति भगवान् परम् ॥१२८॥
अथ प्रभुः सुललितापुण्डरीकावबुद्धये । इमं रूपकगूढार्थमाचचक्षे विचक्षणः ॥१२९॥
महाभद्रे ! न जानीषे, ख्यातेयं नृगतिः पुरी । महाविदेहरूपोऽयं, हट्टमार्गश्च विस्तृतः ॥१३०॥
चौरः संसारिजीवोऽत्र, सलोप्त्रो दाण्डपाशिकैः । राज्ञे क्रूराशयैः कर्मपरिणामाय दर्शितः ॥१३१॥
तेन वध्यतयाऽऽज्ञप्तः, पृष्ठ्वा भार्यां च बान्धवान् । महाकोलाहलैः सोऽयं, वेष्टितो राजपूरुषैः ॥१३२॥
बहिः पुर्या विनिःसार्य, हट्टमार्गस्य मध्यतः । नीत्वा वध्यस्थले पापिपञ्जरे मारयिष्यते ॥१३३॥
श्रूयते कर्णनिर्घाती, सोऽयं कोलाहलो महान् । प्राप्ता सुललिताऽऽश्चर्यं, तच्छ्रुत्वाऽऽह प्रवर्तिनीम् ॥१३४॥

नृगतिर्नगरी नेयं, ननु शङ्खपुरं ह्रदः। वनं चित्तरमं चेदं, हट्टमार्गो न विस्तृतः ॥१३५॥
न कर्मपरिणामोऽत्र, राजा श्रीगर्भ एव तु। अबद्धं भगवान् बुद्धे, किमित्येवं प्रभाषते ॥१३६॥
भगवानाह जानीषे, परमार्थं न मे गिराम्। भद्रेऽगृहीतसंकेता, ततस्त्वमसि निश्चिता ॥१३७॥
सा दध्यौ ही ममाप्यन्या, कृता भगवताऽभिधा। स्थितेति विस्मिता तत्त्वं, महाभद्रा त्वलक्षयत् ॥१३८॥
नूनमेष महापापो, निर्दिष्टो नरकं गमी। जीवो भगवता तस्याः, संजाता महती कृपा ॥१३९॥
पप्रच्छ भगवन्तं सा, मुच्येतासौ कथंचन। स प्राह दर्शनात् तेऽस्य, मोक्षः स्याच्छ्रयणाच्च नः ॥१४०॥
महाभद्राऽऽह भगवंस्तद्गच्छाम्यस्य संमुखम्। भगवानाह गच्छाशु, सफलोऽयं तवोद्यमः ॥१४१॥
गताऽथ कृपयाऽभ्यर्णं, साऽनुसुन्दरचक्रिणः। चौर्यमाफलमाख्यातं, यथा भगवतोदितम् ॥१४२॥
तद्दर्शनानुभावेन, प्रबुद्धश्चक्रिपुङ्गवः। अन्तरङ्गं निजं चौर्यं, बुद्ध्वा भीतो भृशं हृदि ॥१४३॥
ततः प्राह महाभद्रा, भगवन्तं सदागमम्। शरणं प्रतिपद्यस्व, यथा ते न भयं भवेत् ॥१४४॥
प्रबुबोधयिषुश्चौर्यं, प्रभूक्तं प्राणिनां ततः। वैक्रियर्द्ध्या निजं चक्री, चौररूपमचीकरत् ॥१४५॥
भस्मना लिप्तगात्रोऽथ, दत्तगैरिकहस्तकः। व्याप्तस्तृणमषीपुञ्जैः, कणवीरस्रजावृतः ॥१४६॥
शराव[1]मालाबीभत्सो, जरत्पिठर[2]खंडभृत्। बद्धलोप्त्रो गले त्रस्तः, स्थापितो रासभोपरि ॥१४७॥

१ –साला–डे. श्रा. २ जरत्पिटक–डे. श्रा जरत्पटक–भी. मा.

समन्ताद्राजपुरुषैर्वेष्टितो विकृताशयैः । प्रकम्प्रः कान्दिशीकोऽसौ, ययौ भगवदन्तिकम् ॥१४८॥
दृष्ट्वा सदागमं किंचिज्जाताश्वास इवाथ सः । अनाख्येयां दशां प्राप्तः, पतितो धरणीतले ॥१४९॥
लब्ध्वा चैतन्यमुत्थाय, सदागममथावदत् । त्रायस्व नाथ ! मां भीतं, मा भैषीरित्युवाच सः ॥१५०॥
आश्वासितः स तेनाथ, शरणं तस्य संश्रितः । प्रत्यक्पदैरपसृतास्तद्भिया राजपूरुषाः ॥१५१॥
अथागृहीतसंकेता, तमपृच्छदनाविलम् । केन व्यतिकरेण त्वं, गृहीतो राजपूरुषैः ॥१५२॥
सोऽवोचदलमेतेन, वक्तुं व्यतिकरो ह्ययम् । न शक्योऽमुं विविच्यासौ, वेत्ति स्वामी सदागमः ॥१५३॥
ततः सदागमेनोक्तं, भद्रास्याः कौतुकं महत् । अतस्तदपनोदार्थं, कथय त्वं क्षतिर्न ते ॥१५४॥
स प्राहाज्ञा प्रमाणं ते, केवलं स्वविडम्बनाम् । समक्षं सर्वलोकानां, वक्तुं शक्तोऽस्मि न प्रभो ! ॥१५५॥
सदागमेङ्गितं ज्ञात्वा, पर्षद् दूरं गताऽथ सा । स्थितौ प्रज्ञाविशाला च, भव्यश्च भगवद्गिरा ॥१५६॥
अथागृहीतसंकेतामुद्दिश्य स्फुटमब्रवीत् । संसारिजीवः पुरतश्चतुर्णामपि शृण्वताम् ॥१५७॥
अस्तीह लोके विख्यातमनादिममयस्थिति । पुरमव्यवहाराख्यमनन्तजनसंकुलम् ॥१५८॥
तत्रानादिवनस्पतिनामानः कुलपुत्रकाः । वसन्त्याज्ञावशात्, कर्मपरिणामस्य भूभुजः ॥१५९॥
महाऽज्ञानबलाध्यक्षतीव्रमोहमहत्तमौ । सदा प्रभवतस्तत्र[1], तस्य संबन्धिनौ ध्रुवम् ॥१६०॥

१ प्राभवतः डे. सा.

यावन्तस्तत्र नगरे, लोकाः सर्वेऽपि ते कृताः। शून्यास्ताभ्यां नृपादेशात्, सुप्तमूर्छितमत्तवत् ॥१६१॥
न भाषन्ते न चेष्टन्ते, छेदं भेदं न जानते। ते निगोदापवरकक्षिप्ताः सर्वे मृता इव ॥१६२॥
कंचिदन्यं च ते लोकव्यवहारं न कुर्वते। पुरमव्यवहाराख्यमतस्तद् गीयते बुधैः ॥१६३॥
संसारिजीवोऽभूवं तद्वास्तव्योऽहं कुटुम्बिकः। स्थितौ तत्रान्यदाऽऽस्थाने, बलाध्यक्षमहत्तमौ ॥१६४॥
अत्रान्तरे प्रतीहारी, नाम्नाऽनादिविचित्रता। एत्य विज्ञपयामास, नत्वेति रचिताञ्जलिः ॥१६५॥
व्यवहारनियोगाख्यो, दूतो द्वार्येष तिष्ठति। प्रेषितः सत्वरं कर्मपरिणामेन भूभुजा ॥१६६॥
युवां प्रमाणमत्राथ, प्रवेश्योऽयं मया न वा। ताभ्यामुक्तं प्रवेश्योऽसौ, तयाऽप्याशु प्रवेशितः ॥१६७॥
तेनापि तौ नतौ भक्त्या, ताभ्यां दापितमासनम्। उक्तं च सुखिनो देवाः, किमर्थं प्रेषितो भवान् ॥१६८॥
स प्राह सुखिनो देवा, निश्चिन्ता वोऽधिकारतः। यः पुनः प्रेषणे हेतुर्मम सोऽयं निगद्यते ॥१६९॥
जयत्यचिन्त्यमाहात्म्या, लोकस्थितिरनश्वरी। भगिनी देवपादानां, साऽत्रार्थेऽधिकृता च तैः ॥१७०॥
अस्त्यस्माकं सदा शत्रुर्दुरुच्छेदः सदागमः। हला सोऽस्मद्बलं कांश्चिल्लोकान्नयति निर्वृतौ ॥१७१॥
एवं च विरलीभूते, लोके संपत्स्यतेऽयशः। अस्माकं तत् त्वया कार्यमिदं लोकस्थितेऽनघे ॥१७२॥
मद्भुक्तेर्यान्ति यावन्तः, पुरादव्यवहारतः। तावन्त एव निष्काश्यास्त्वयेत्थं न क्षतिर्भवेत् ॥१७३॥
महाप्रसाद इत्येवं, सोऽधिकारोऽनया धृतः। सदागमेन दृष्टाश्च, केचित् सम्प्रति मोचिताः ॥१७४॥

तावदानयनायेति, प्रहितोऽहं तया जवात् । अहं च देवभृत्योऽपि, तदाज्ञैकवशंवदः ॥१७५॥
स्वीकृतं तद्वचस्ताभ्यां, पूज्या भगवती हि सा । तस्यासंव्यवहारस्थलोकमानं च दर्शितम् ॥१७६॥
असंख्यगोलकगृहेष्वसंख्यास्तत्र दर्शिताः । निगोदाख्यापवरकास्तेष्वनन्ता जनाः पृथक् ॥१७७॥
आहतुर्विस्मितं तं च, दत्त्वा तौ करतालिकाम् । कां करिष्यति हानिं भोः, स्थिते ह्येवं सदागमः ॥१७८॥
एतावताऽपि कालेन, ये सदागममोचिताः । एकापवरकस्यास्य, भागेऽनन्ततमे हि ते ॥१७९॥
लोकनिर्लेपचिन्तेयं, देवानां का तदुच्चकैः । दूतोऽवादीदिदं वक्ष्ये, त्वरा कार्ये विधीयताम् ॥१८०॥
समजीवितमृत्यूनां, प्रवाहादादिवर्जितात् । समकाहारनिर्हारोच्छ्वासनिःश्वासरागिणाम् ॥१८१॥
ततो निर्यास्यतां संख्यापूरणायाक्षमाविमौ । चिन्ताव्याकुलितौ जातौ, परस्परमुखेक्षिणौ ॥१८२॥
इतश्चास्ति भटः साक्षाद् भार्या मे भवितव्यता । मन्त्रयन्तीति कर्तव्यं, ममान्येषां च संश्रिनाम् ॥१८३॥
स्वेष्टमर्थं करोत्येषा, क्वापि नान्यमपेक्षते । तां परेऽप्यनुवर्तन्ते, हेतवो यदुदाहृतम् ॥१८४॥
बुद्धिरुत्पद्यते तादृग्, व्यवसायश्च तादृशः । सहायास्तादृशा ज्ञेया, यादृशी भवितव्यता ॥१८५॥
अस्तीयं भवतो भद्रेत्युक्ते शक्रोऽपि हृष्यति । न भद्रेयमिति प्रोक्ते, कम्पते भयविह्वलः ॥१८६॥
सा कर्मपरिणामेनार्चिता सा सृष्टिनाशकृत् । सा जागर्ति प्रसुप्तेषु, तमस्यपि विजृम्भते ॥१८७॥

---

१ गहणो रा. ना. डे. ना.

सर्वोपायविदं मत्वा, तामथो पृच्छत, स तौ। साऽऽह प्रस्थापनायोग्यो, मद्भर्ताऽन्ये च तादृशाः ॥१८८॥
तावूचतुः प्रमाणं त्वं, कार्येऽस्मिन् व्याप्रियस्व तत्। अहमन्ये च मत्तुल्यास्तया प्रस्थापितास्ततः ॥१८९॥
सह ताभ्यां तया नीता, एकाक्षनिलयेऽथ ते। वर्तन्ते नगरे तत्र, महान्तः पञ्च पाटकाः ॥१९०॥
मामेकं पाटकं तत्र, तीव्रमोहः प्रदर्शयन्। आह संसारिजीव ! त्वं, तिष्ठास्मिन्नेव पाटके ॥१९१॥
यतोऽसंव्यवहारेण, तुल्यो बहुतरं ह्यसौ। गोलकैश्च निगोदैश्च; जनैस्तावद्भिरेव च ॥१९२॥
भेदो लोकव्यवहृतेरन्यत्र च गमागमात्। किंचानादिवनस्पतिवनस्पत्यभिधाकृतः ॥१९३॥
इत्युक्त्वा स्थापितस्तस्मिन्नेकापवरके ह्यहम्। अन्ये तु केऽपि मन्नीत्या, स्थापिताः केऽपि चान्यथा ॥१९४॥
अथानन्तं स्थितः कालं, तत्राहं मत्तमूर्छितः। ततः प्रत्येकचारित्वं, भवितव्यतया कृतम् ॥१९५॥
तादृशः स्थापितोऽसंख्यं, कालमत्रैव पाटके। ददौ सा गुटिकां तत्र, नानाकारप्रकाशिकाम् ॥१९६॥
सा कर्मपरिणामेन, जन्मवासं प्रतीष्टकृत्। दत्तैकभववेद्यास्याः, प्रागेव श्रान्तिशान्तये ॥१९७॥
पूर्वस्यां परिजीर्णायां, दत्तवत्यपरापराम्। तामसंव्यवहारे सा, सूक्ष्ममेवाकरोद् वपुः ॥१९८॥
एकाक्षनिलये त्वेषा, तया गुटिकयाऽकरोत्। पर्याप्तकमपर्याप्तं, क्वचित्सूक्ष्मं च बादरम् ॥१९९॥
साधारणं च प्रत्येकं, फलपुष्पाङ्कुरादिकम्। मूलत्वक्स्कन्धशाखादि, मूलबीजलतादिकम्[1] ॥२००॥

[1] तथा बीज-भी. मा.

छिन्नो भिन्नश्च लूनोऽहं, लोकैः पिष्टश्च तादृशः । दृष्टोऽप्युपेक्षितो हन्त, भवितव्यतया तया ॥२०१॥
साऽथान्त्यगुटिकायां मां, जीर्णायां क्षितिपाटके । दत्त्वाऽन्यामनयत् तत्राऽसंख्यकालमहं स्थितः ॥२०२॥
सूक्ष्मादिभेदभाक् तत्र, चूर्णितो दलितो जनैः । एवं जलाग्निपवनेष्वेकाक्षनिलये धृतः ॥२०३॥
स्थानाजीर्णमथैच्छन्मेऽपनेतुं भवितव्यता । विकलाक्षनिवासाख्ये, नगरेऽहं तया धृतः ॥२०४॥
नियुक्तो भूभुजा तत्र, द्वीन्द्रियादित्रिपाटके । त्राताऽस्ति शल्यसंपर्को, मायापरिणतिप्रियः ॥२०५॥
प्रथमे पाटके तत्र, भार्यया द्वीन्द्रियाभिधे । मनाक् विस्पृष्टचैतन्यः, कृमिरूपोऽशुचिः कृतः ॥२०६॥
मूत्रान्त्रक्लिन्नजठरे, विलुठन्तं च वर्चसि । मां दृष्ट्वा कृमिभावेन, सा दुर्भार्या प्रहृष्यति ॥२०७॥
जलूकाभावमापाद्य, गुटिकायाः प्रभावतः । विडम्बितस्तया रोगिरक्ताकर्षणकर्मणा ॥२०८॥
छेदितो गुटिकादानाच्छङ्खं कृत्वाऽथ शांखिकैः । नर्तितः पूतरीकृत्य, बहुधैवं विडम्बितः ॥२०९॥
कुलानां कोटिलक्षेषु, पाटके सप्तसु स्थितः । तत्रासंख्यैरहं रूपैरटन् बहुतरं रटन् ॥२१०॥
अथान्यगुटिकादानान्नीतोऽहं त्रीन्द्रियाभिधे । पाटके भ्रामितो रूपैरसंख्यैस्तत्र भार्यया ॥२११॥
कुलानां कोटिलक्षेषु, तत्राष्टसु पृथग्जनैः । पिपीलिकादिरूपेण, पिष्टो दग्धश्च मर्दितः ॥२१२॥
ततश्च गुटिकादानात् तृतीये पाटके धृतः । कुलानां कोटिलक्षेषु, नवस्वतिविडम्बितः ॥२१३॥
पतंगमक्षिकादंशवृश्चिकाकारधारकः । तत्राहं चतुरक्षः सन्नन्वभूवं विडम्बनाम् ॥२१४॥

अथ प्रहृष्टा मम सा, दयिता भवितव्यता । प्रस्थापनाय गुटिकां, प्रायुङ्क्त नगरान्तरे ॥२१५॥
यत्पञ्चाक्षपशुस्थानं, शल्यसंपर्कपालितम् । अस्ति सार्धत्रिपञ्चाशत्कोटीलक्षकुलं पुरम् ॥२१६॥
पञ्चाक्षा गर्भजास्तत्र, जलस्थलनभश्चराः । सम्मूर्छिमाश्च विद्यन्ते, तेष्वहं भ्रामितस्तया ॥२१७॥
रटितोऽहं विना कार्यं, दर्दुराकारधारकः । मत्स्यरूपं दधच्छिन्नश्छिन्नो दग्धश्च धीवरैः ॥२१८॥
शशशूकरसारङ्गरूपो व्याधैः कदर्थितः । गोधाऽहिनकुलाकारो, दुःखितो भक्षणान्मिथः ॥२१९॥
काकोलूकादिरूपेषु, सोढं दुःखं मयाऽतुलम् । असंख्यजनसंकीर्णे तत्र पर्यटितश्चिरम् ॥२२०॥
अथान्यदा मृगो जातो, यूथमध्ये स्थितः सुखम् । नादाक्षिप्तः शरेणोच्चैर्व्याधेन निहतो मृतः ॥२२१॥
जातोऽथ करियूथेशो, विचरन् [1]शल्लकीवने । श्रितः करेणुवृन्देन, निर्मग्नः सुखसागरे ॥२२२॥
[2]संत्रस्तकरियूथं च, धूमं चाद्राक्षमुत्थितम् । अश्रौषं वेणुविस्फोटरवं च नवमन्यदा ॥२२३॥
सम्भ्रान्तोऽहं ततः पश्चाल्लग्नो भूभागमीक्षितुम् । उत्तानः पतितः कूपे, सम्प्राप्तस्तीव्रवेदनाम् ॥२२४॥
यूथत्राणासमर्थस्य, ममेदं युक्तमागतम् । इति भावयता दुःखं, सप्तरात्रं तितिक्षितम् ॥२२५॥
अनेन शुभभावेन, तुष्टा मे भवितव्यता । पुरुषं सुन्दराकारमेकं प्रादर्शयत् पुरः ॥२२६॥
उवाच च महाभाग, नरः पुण्योदयो ह्ययम् । सहायोऽयं मया दत्तो, भवतः परितुष्टया ॥२२७॥

१ शल्यकी रा. शा. २ सत्रस्तं क-डे. शा.

तावदानयनायेति, प्रहितोऽहं तया जवात् । अहं च देवभृत्योऽपि, तदाज्ञैकवशंवदः ॥१७५॥
स्वीकृतं तद्वचस्ताभ्यां, पूज्या भगवती हि सा । तस्यासंव्यवहारस्थलोकमानं च दर्शितम् ॥१७६॥
असंख्यगोलकगृहेष्वसंख्यास्तत्र दर्शिताः । निगोदाख्यापवरकास्तेष्वनन्ता जनाः पृथक् ॥१७७॥
आहतुर्विस्मितं तं च, दत्त्वा तौ करतालिकाम् । कां करिष्यति हानिं भोः, स्थिते ह्येवं सदागमः ॥१७८॥
एतावताऽपि कालेन, ये सदागममोचिताः । एकापवरकस्यास्य, भागेऽनन्ततमे हि ते ॥१७९॥
लोकनिर्लेपचिन्तेयं, देवानां का तदुच्चकैः । दूतोऽवादीदिदं वक्ष्ये, त्वरा कार्ये विधीयताम् ॥१८०॥
समजीवितमृत्यूनां, प्रवाहादादिवर्जितात् । समकाहारनिर्हारोच्छ्वासनिःश्वासरागिणाम् ॥१८१॥
ततो निर्यास्यतां संख्यापूरणायाक्षमाविमौ । चिन्ताव्याकुलितौ जातौ, परस्परमुखेक्षिणौ ॥१८२॥
इतश्चास्ति भटः साक्षाद् भार्या मे भवितव्यता । मन्त्रयन्तीति कर्तव्यं, ममान्येषां च संज्ञिनाम् ॥१८३॥
स्वेष्टमर्थं करोत्येषा, क्वापि नान्यमपेक्षते । तां परेऽप्यनुवर्तन्ते, हेतवो यदुदाहृतम् ॥१८४॥
बुद्धिरुत्पद्यते तादृग्, व्यवसायश्च तादृशः । सहायास्तादृशा ज्ञेया, यादृशी भवितव्यता ॥१८५॥
अस्तीयं भवतो भद्रेत्युक्ते शक्रोऽपि हृष्यति । न भद्रेयमिति प्रोक्ते, कम्पते भयविह्वलः ॥१८६॥
सा कर्मपरिणामेनार्चिता सा सृष्टिनाशकृत् । सा जागर्ति प्रसुप्तेषु, तमस्यपि विजृम्भते ॥१८७॥

१ मदर्ना रा. ना. डे. रा.

सर्वोपायविदं मत्वा, तामथो पृच्छत. स तौ। साऽऽह प्रस्थापनायोग्यो, मद्भर्ताऽन्ये च तादृशाः ॥१८८॥
तावूचतुः प्रमाणं त्वं, कार्येऽस्मिन् व्याप्रियस्व तत्। अहमन्ये च मत्तुल्यास्तया प्रस्थापितास्ततः ॥१८९॥
सह ताभ्यां तया नीता, एकाक्षनिलयेऽथ ते। वर्तन्ते नगरे तत्र, महान्तः पञ्च पाटकाः ॥१९०॥
मामेकं पाटकं तत्र, तीव्रमोहः प्रदर्शयन्। आह संसारिजीव ! त्वं, तिष्ठास्मिन्नेव पाटके ॥१९१॥
यतोऽसंव्यवहारेण, तुल्यो बहुतरं ह्यसौ। गोलकैश्च निगोदैश्च; जनैस्तावद्भिरेव च ॥१९२॥
भेदो लोकव्यवहृतेरन्यत्र च गमागमात्। किंचानादिवनस्पतिवनस्पत्यभिधाकृतः ॥१९३॥
इत्युक्त्वा स्थापितस्तस्मिन्नेकापवरके ह्यहम्। अन्ये तु केऽपि मन्नीत्या, स्थापिताः केऽपि चान्यथा ॥१९४॥
अथानन्तं स्थितः कालं, तत्राहं मत्तमूर्छितः। ततः प्रत्येकचारित्वं, भवितव्यतया कृतम् ॥१९५॥
तादृशः स्थापितोऽसंख्यं, कालमत्रैव पाटके। ददौ सा गुटिकां तत्र, नानाकारप्रकाशिकाम् ॥१९६॥
सा कर्मपरिणामेन, जन्मवासं प्रतीष्टकृत्। दत्तैकभववेद्यास्याः, प्रागेव श्रान्तिशान्तये ॥१९७॥
पूर्वस्यां परिजीर्णायां, दत्तवत्यपरापराम्। तामसंव्यवहारे सा, सूक्ष्ममेवाकरोद् वपुः ॥१९८॥
एकाक्षनिलये त्वेपा, तया गुटिकयाऽकरोत्। पर्याप्तकमपर्याप्तं, क्वचित्सूक्ष्मं च बादरम् ॥१९९॥
साधारणं च प्रत्येकं, फलपुष्पाङ्कुरादिकम्। मूलत्वक्स्कन्धशाखादि, मूलबीजलतादिकम् ॥२००॥

१ तथा बीज-भी. मा.

छिन्नो भिन्नश्च लूनोऽहं, लोकैः पिष्टश्च तादृशः । दृष्टोऽप्युपेक्षितो हन्त, भवितव्यतया तया ॥२०१॥
माऽथान्यगुटिकायां मां, जीर्णायां क्षितिपाटके । दत्त्वाऽन्यामनयत् तत्रासंख्यकालमहं स्थितः ॥२०२॥
सूक्ष्मादिभेदभाक् तत्र, चूर्णितो दलितो जनैः । एवं जलाग्निपवनेष्वेकाक्षनिलये धृतः ॥२०३॥
स्थानाजीर्णमथैच्छन्मेऽपनेतुं भवितव्यता । विकलाक्षनिवासाख्ये, नगरेऽहं तया धृतः ॥२०४॥
नियुक्तो भूभृजा तत्र, द्वीन्द्रियादित्रिपाटके । त्राताऽस्ति शल्यसंपर्कों, मायापरिणतिप्रियः ॥२०५॥
प्रथमे पाटके तत्र, भार्यया द्वीन्द्रियाभिधे । मनाक् विस्पृष्टचैतन्यः, कृमिरूपोऽशुचिः कृतः ॥२०६॥
मूत्रान्त्रक्लिन्नजठरे, विलुठन्तं च वर्चसि । मां दृष्ट्वा कृमिभावेन, सा दुर्भार्या प्रहृष्यति ॥२०७॥
जलूकाभानमापाद्य, गुटिकायाः प्रभावतः । विडम्बितस्तया रोगिरक्ताकर्षणकर्मणा ॥२०८॥
क्लेदितो गुटिकादानाच्छङ्खं कृत्वाऽथ शांखिकैः । नर्तितः पूतरीकृत्य, बहुधैवं विडम्बितः ॥२०९॥
कुलानां कोटिलक्षेषु, पाटके सप्तसु स्थितः । तत्रासंख्यैरहं रूपैरटन् बहुतरं रटन् ॥२१०॥
अथान्यगुटिकादानान्नीतोऽहं त्रीन्द्रियाभिधे । पाटके भ्रामितो रूपैरसंख्यैस्तत्र भार्यया ॥२११॥
कुलानां कोटिलक्षेषु, तत्राष्टसु पृथग्जनैः । पिपीलिकादिरूपेण, पिष्टो दग्धश्च मर्दितः ॥२१२॥
ततश्च गुटिकादानात् तृतीये पाटके धृतः । कुलानां कोटिलक्षेषु, नवस्वतिविडम्बितः ॥२१३॥
पतंगमक्षिकादंशवृश्चिकाकारधारकः । तत्राहं चतुरक्षः सन्नन्वभूवं विडम्बनाम् ॥२१४॥

अथ प्रहृष्टा मम सा, दयिता भवितव्यता। प्रस्थापनाय गुटिकां, प्रायुङ्क्त नगरान्तरे ॥२१५॥
यत्पञ्चाक्षपशुस्थानं, शल्यसंपर्कपालितम्। अस्ति सार्धत्रिपञ्चाशत्कोटीलक्षकुलं पुरम् ॥२१६॥
पञ्चाक्षा गर्भजास्तत्र, जलस्थलनभश्चराः। सम्मूर्छिमाश्च विद्यन्ते, तेष्वहं भ्रामितस्तया ॥२१७॥
रटितोऽहं विना कार्यं, दर्दुराकारधारकः। मत्स्यरूपं दधद्भिन्नश्छिन्नो दग्धश्च धीवरैः ॥२१८॥
शशशूकरसारङ्गरूपो व्याधैः कदर्थितः। गोधाऽहिनकुलाकारो, दुःखितो भक्षणान्मिथः ॥२१९॥
काकोलूकादिरूपेषु, सोढं दुःखं मयाऽतुलम्। असंख्यजनसंकीर्णे तत्र पर्यटितश्चिरम् ॥२२०॥
अथान्यदा मृगो जातो, यूथमध्ये स्थितः सुखम्। नादाक्षिप्तः शरेणोच्चैर्व्याधेन निहतो मृतः ॥२२१॥
जातोऽथ करियूथेशो, विचरन् शल्लकीवने[1]। श्रितः करेणुवृन्देन, निर्मग्नः सुखसागरे ॥२२२॥
संत्रस्तकरियूथं[2] च, धूमं चाद्राक्षमुत्थितम्। अश्रौषं वेणुविस्फोटरवं च नवमन्यदा ॥२२३॥
सम्भ्रान्तोऽहं ततः पश्चाल्लग्नो भूभागमीक्षितुम्। उत्तानः पतितः कूपे, सम्प्राप्तस्तीव्रवेदनाम् ॥२२४॥
यूथत्राणासमर्थस्य, ममेदं युक्तमागतम्। इति भावयता दुःखं, सप्तरात्रं तितिक्षितम् ॥२२५॥
अनेन शुभभावेन, तुष्टा मे भवितव्यता। पुरुषं सुन्दराकारमेकं प्रादर्शयत् पुरः ॥२२६॥
उवाच च महाभाग, नरः पुण्योदयो ह्ययम्। सहायोऽयं मया दत्तो, भवतः परितुष्टया ॥२२७॥

१ शल्यकी रा. ज्ञा. २ सत्रस्तं क-डे. ज्ञा.

जीर्णाऽथ पूर्वदत्ता मे, गुटिकाऽन्यां ददौ च सा। छन्नः पुण्योदयो भूत्यै, भूयादित्याशिषं ददौ ॥२२८॥

इति कथयति तस्मिन् धीविशालां बभाषे, वचनमविदितार्थं शङ्कमानोऽथ भव्यः ॥
स्फुटमकथयदर्थं साऽपि सामान्यरूपं, प्रथनकृतविलम्बः श्रव्यशोभां निहन्ति ॥२२९॥

भवति हि भवजन्तुः सर्व एवैकनामा, भवविलसितभेदं याति चावर्तमानः ॥
तदखिलमुपपन्नद्रव्यपर्यायरूपं, कलयति सुमतिर्यस्तं वृणीते यशःश्रीः ॥२३०॥

इति श्रीवैराग्यकल्पलताया तिर्यग्गतिविपाकवर्णनो नाम तृतीयः स्तवकः समाप्तः। ग्रन्थाग्रं ३३५



चतुर्थः स्तबकः ।

अथ संसारिजीव उवाच—

इतश्च पुर्यां नृगतौ विशाले, सत्पाटके यद्भरताभिधाने । जयस्थलं नाम पुरं तदीशः, पद्माभिधोऽभून्मघवा पृथिव्याः ।।१।।
जगन्मनोरोपितहर्षकन्दा, नन्दाभिधा तन्महिषी बभूव । प्रवेशितोऽहं प्रियया तयाऽस्याः, कुक्षौ सपुण्यः समये प्रसूतः ।।२।।
ननन्द नन्दा तनयो ममाभूदिति प्रवृद्धादभिमानसौख्यात् । प्रमोदकुम्भाभिधदासवाक्याद् , राजाऽपि तुष्टः प्रददौ वसूनि ।।३।।
विनिर्मितो जन्ममहोत्सवो मे, व्यधायि नन्द्युत्तरवर्धनाख्या । तिरोहिता प्रागभिधा ततश्च, ममाऽप्यभूत् तत्तनयाभिमानः ।।४।।
सिञ्चन्निवाक्ष्णोरमृतं विलासैस्तातस्य मातुश्च तथा जनानाम् । धात्रीभिरुच्चैरथ लाल्यमानस्त्रिवार्षिकोऽभूवमनूनशर्मा ।।५।।
इतश्च याऽन्तःपरिवारमध्ये, बभूव मे धात्र्यविवेकिताख्या । असूत मज्जन्मदिने सुतं सा, कृतं च वैश्वानरनाम तस्य ।।६।।
विषादवैराततनिम्नपादो, द्रोहाभ्यसूयाकठिनोरुजङ्घः । अक्षान्तिचित्तानुशयासमोरुः, प्रलम्बपैशुन्यकटिप्रदेशः ।।७।।
मध्यं[1] दधानः परमर्मभेदसंज्ञं च कोष्ठाकलितप्रमाणम् । उरःस्थलेनातिविसंकटेन, तापेन[2] दीप्तो दृढदुर्नयांसः ।।८।।
क्षारत्वमात्सर्यविरूपबाहुः क्रूरत्वदीर्घोच्चशिरोधराभृत् । असभ्य[3]भाषादिविकीर्णदन्तः, चण्डत्वनिर्भर्त्सनशून्यकर्णः ।।९।।

१ मध्ये रा. ज्ञा. २ तातेन रा. ज्ञा. ३ असत्य भी. मा.

हास्यो दधानश्चिपिटां च नासां, स्थानाकृतिं तामसभावसंज्ञाम् । रौद्रत्वनैर्घृण्यसुरक्तनेत्रस्त्रिकोणदुष्टाचरणाख्यशीर्षः ॥१०॥
अगन्तापिङ्गलकेशभागो, विराधनासूत्रधृतत्रितन्तुः । मया प्रदृष्टोऽथ स विप्रसूनुर्दौःशील्यलीलानिरतः कुनीतिः ॥११॥
निरीक्षिते तत्र बभूव पूर्वाभ्यासेन मे स्नेहविलासि चेतः । अपेक्षते स्वीयबलप्रकर्षान्न संस्तवस्नेहविधौ विशेषम् ॥१२॥
वशंवदं स्वस्य स मामवेक्ष्य, जहाति पार्श्वं न कदापि दुष्टः । स्ववैरिसंसर्गमवेक्ष्य साक्षात् , पुण्योदयो मित्रमतीव रुष्टः ॥१३॥
दध्यौ च नामावुपदेशयोग्यो, हिताभिधानादहिते विमूढः । करालमद्यापि न कालकण्ठो, व्यालावलीनां वलयं जहाति ॥१४॥
न चाश्रितोऽसौ मम हातुमर्हो, विनैव वेलां गुणवर्जितोऽपि । अक्षुब्धगम्भीरमहाशयस्य, तृणादिसङ्घात इवाम्बुराशेः ॥१५॥
इदं विचिन्त्य स्तिमितस्वभावो, रुष्टोऽपि तस्थौ स ममान्तरेव । ततश्च वैश्वानरतश्च भास्वन्मणिः फणीन्द्रो विषवानभूवम् ॥१६॥
अवारितस्तेन तथैव वैश्वा–नरेण दाहप्रकृतिः कृतोऽहम् । अक्षालितः शैल इवाम्बुदेन, जातो यथा दाहकरः श्रितोऽपि ॥१७॥
प्रक्रीडतो भीतिभृतोऽथ मत्तो, बालाः कुलीना अपि रोषपूर्णात् । भजन्ति मामेष महाप्रभावः, पुण्योदयस्यापि परस्य बुद्धः ॥१८॥
निर्णीततेजोमतिधैर्यवीर्य–वैश्वानरप्रेमपरोऽथ पित्रा । दत्तोऽहमाचार्यवरस्य भाग्याद् , विनोद्यमं शिक्षितवान् कलौघम् ॥१९॥
सहेतुकं वाप्यहेतुकं वा, समस्तबालैः कलहायमानः । वैश्वानरालिङ्गितमूर्तिरुच्चैः, खेदाय तेषां च गुरोश्च जातः ॥२०॥
प्रतिब्रुवाणो गुरुरप्यलम्भि, मया तिरस्कारपदं परे के । महीभृतः पुत्र इति प्रतीते, तथापि मय्येष जहौ न रागम् ॥२१॥
वैश्वानरस्यैव गुणोऽखिलोऽय–मितीह रागो विधृतो मयोच्चैः । असावपि प्राणसमाय मह्यं, रसायनं क्रूरमनो ददौ द्राक् ॥२२॥

१ पं.? ? रा. ला. २ श्रितोऽपि रा. ला. डे. ला.

जगौ च मच्छक्तिभवं किलैतद्, बलस्य वृद्ध्यै वितताय्युपथ्य । गृहाण तत्त्वं परिभुङ्क्ष्व काले, फलेग्रहिः स्नेहतरुर्ममास्तु ॥२३॥
अत्रान्तरे कश्चिदवोचतेदं, स्थानं त्वयाऽसौ गमितो ह्यनेन । वैश्वानरेणास्य विचारितोऽर्थो, भाव्येष गत्वा नरके ततायुः ॥२४॥
गृहीतमेतन्मयकाऽस्य हस्ता-दङ्गीकृता तस्य च चारुशिक्षा । भक्ष्या त्वयैकैकगुटी किलास्मात्, संज्ञाप्यमानेऽवसरे मयेति ॥२५॥
अथो नियुक्तो विदुरो मदीयं, न्यवेदयद् दुर्ललितं नृपाय । सर्वं कलाचार्यकुलीनबाल-कदर्थनाद्यं स ततोऽतिदूनः ॥२६॥
पप्रच्छ चाकार्य कलागुरुं मे, कलाः कुमारः कीयतीरभाणि । स प्राह सर्वोऽपि कलाकलापो, वश्योऽस्य जातो न किमप्यथोनम् ॥
अपि प्रकृत्याऽमलमस्य रूपं, न भाति वैश्वानरसंगतस्तु । इन्दोः कलङ्कादिव कर्दमाभा-न्महोत्पलस्येव च कण्टकौघात् ॥२८॥
द्रुमा इवास्याप्रशमप्रवाहै-रुत्खातमूलाः क्षयिणो गुणौघाः । तन्नैष यतः फलवानितीदं, श्रुत्वा परं तापमवाप राजा ॥२९॥
आह्वास्त वैश्वानरपापमित्र-त्यागाय मामेष च वेदकेन । स प्राह राजन्नपि हापितोऽस्य, गतिः स वैश्वानर एव नूनम् ॥३०॥
अयं हि वैश्वानरपापमित्र-सङ्गेन वैश्वानर एव जातः । बलादतो मोचयितुं न शक्यो, मृग्यः परं शान्तिविधावुपायः ॥३१॥
श्रुत्वा नृपो वेदकवाचमेनां, गुरोर्मतां हृद्गहने निमग्नः । जगावथोच्चैर्विदुरोऽस्त्युपाय-ज्ञाताऽत्र जैनो नृपसिद्धपुत्रः ॥३२॥
हृष्टस्तमाकार्य नृपोऽथ हेतुं, पप्रच्छ पुत्रस्य कुसंगमुक्तेः । बुद्ध्या स विज्ञाय जगौ य एको, हेतुस्तमत्रावहितो ब्रवीमि ॥३३॥
विनिर्गतोपद्रवराशिचेतः-सौन्दर्यमत्रास्ति पुरं प्रसिद्धम् । लोकं वसन्तं किल भाविभद्रं, न तत्र मुष्णन्ति कषायचौराः ॥३४॥
अनारतं विस्तृतसौरभं तत्, कल्याणवल्लीकुसुमैर्गुणौघैः । अलंकृते शीतलशीलगेहै-र्न तत्र तापो लभतेऽवकाशम् ॥३५॥
विवेकभानोरुदयाविरामात्, कदाऽपि तस्मिन् न तमःप्रचारः । अक्षीणसद्बोधनिधावशोके, न तत्र दारिद्र्यकथाऽपि लोके ॥३६॥

भूमीपतिस्तत्र शुभाशयाख्यो, बिभर्ति राज्यं जितराजराजिः । सतां हिताप्तावहितव्यये च, कृतोद्यमो दुष्टविनिग्रहे च ॥३७॥
अलंकरोत्येष कलङ्कमुक्तः, क्रीडावशेनापि हि यं प्रदेशम् । ततः प्रणश्यन्त्यरयोऽन्तरङ्गा, मृगारिसंसर्गिवनादिवेभाः ॥३८॥
धृतिस्मृतिह्रीकरुणाशमाद्यैः, कोशोऽस्य पूर्णो गुणरत्नवृन्दैः । विशालशीलाङ्गरथैरजस्रं, प्रवर्धतेऽस्याप्रतिपन्थिलक्ष्मीः ॥३९॥
गुणगुरुत्रणमहाविलासा-प्रकम्प्यचित्तेऽपि हि साधुलोके । आसक्तिदात्री स्थिरताऽभिधाऽस्य, सौन्दर्यलक्ष्मीनिधिरस्ति देवी ॥४०॥
भाति प्रतीकेऽपि निरूपितेऽस्या, भस्मेव रूपं सुरसुन्दरीणाम् । प्रतिप्रतीकं तु निरूपितेयं, वेद्यान्तरं शून्यमिवातनोति ॥४१॥
पुत्री तयोरस्ति निधिर्गुणाना-मुत्पत्तिभूमिर्बहुविस्मयानाम् । सुधौघवन्निर्मिततापशान्तिः, क्षान्तिर्गतभ्रान्तिरुदारकान्तिः ॥४२॥
निरीक्षणस्यापि हि मूल्यमस्या-श्चिन्तामणिर्नार्हति भूरितेजाः । आलिङ्गनं यस्तु विधास्यतेऽस्याः, स शक्रचक्रादपि पीनपुण्यः ॥
स्नेहाश्रिता दृग्लहरी यदस्या-श्चरीकरीति प्रशमस्थितानाम् । शैत्यं सुधाचन्दनचन्द्रमुख्यैर्न जायते तत्किल तापभाजाम् ॥४४॥
बिभर्ति चेयं नृपते ! स्वभावाद्, वैश्वानरेण प्रतिपक्षभावम् । इमां कुमारः परिणीय कन्या-मनोदितो हास्यति पापमित्रम् ॥४५॥
उक्त्वेति संमुद्रितवाचि तत्र, दृष्टे मुखे बुद्धिधनस्य राज्ञा । बहिर्विवाहव्यवसायमस्य, प्रोद्धर्तुमाह स्म निमित्तवेदी ॥४६॥
अलं तवानेन नृप ! श्रमेण, शक्तो विधौ न ह्ययमन्तरङ्गे । कन्यां स्वयं कर्मविलासनुन्नः, शुभाशयो दास्यति ते सुताय ॥४७॥
कार्यो विषादो न तदत्र राजन्, ग्राह्या किलैका भवितव्यतैव । अर्थे ह्यशक्ये खलु यः प्रयासं, करोत्यसौ यास्यति हास्यभावम् ॥
कृत्स्नोऽपि पुण्याभ्युदयोऽस्य शश्वद्, वैश्वानरानर्थमपाकरोति । मणिर्यथा मुष्टिधृतस्तदेत-दवेहि खेदस्य च भेषजं ते ॥४९॥

१-शासन ? ना.

वाचेति नैमित्तिकपुंगवस्य, पूर्वं विषण्णो मुदितश्च पश्चात् । निर्वापितो वारिमुचा पिता मे, दवानलप्लुष्ट इवाद्रिरासीत् ॥५०॥
ज्ञात्वाऽथ मां भूपतिरप्यशक्य-प्रतिक्रियं दीप्तदुरन्तमोहात् । परीक्षितव्यो भवता कुमार इति प्रतीतो विदुरं युयोज ॥५१॥
दिने द्वितीयेऽथ स मामुपेतो, किं नागतो ह्यस्त्वमितीरितश्च । परीक्षितुं मां स्वविलम्बहेतुं, जगौ श्रुतं दुर्जनसंगदोषम् ॥५२॥
उक्तं मया वर्णय तं ममापि, श्रवःसुधापारणमार्यवर्य । इतीरितः स्पर्शनदुर्जनस्य, दोषप्रबन्धं विदुरो बभाषे ॥५३॥
क्षितिप्रतिष्ठे नगरेऽत्र कर्म-विलासराजोऽस्ति महाप्रतापः । उभे महिष्यौ पुनरस्य मुख्ये, एका शुभश्रीरशुभालिरन्या ॥५४॥
तदङ्गजौ द्वौ च मनीषिबालौ, जातौ कुमारौ प्रविलेसतुस्तौ । दृष्टोऽन्यदा देहवनेऽथ ताभ्यां, कश्चित्पुमान् पाशकबद्धदेहः ॥५५॥
छित्त्वाऽथ बालेन तदीयपाशं, पृष्टः स वार्तामसुखस्य तस्य । कृच्छ्राज्जगौ मे भवजन्तुरासी-दाद्यः सुहृत् स्पर्शनसंज्ञकस्य ॥५६॥
अभून्मयि स्निग्धतरः सदाऽसौ, चकोरकश्चन्द्र इवानुकूलः । प्रतारयामास सदागमस्तं, भाग्ये कदाचिन्मम मान्द्यभाजि ॥५७॥
ततः प्रभृत्येष न मन्यते मां, सदागमस्यैव करोति संगम् । बिभर्ति शुद्धोञ्छपरीषहौघ-जयादिना मत्प्रतिकूलवृत्तिम् ॥५८॥
कृतव्यलीकेऽपि न तत्र मेऽभूद्, विपर्ययः स्नेहविजृम्भितस्य । मनागसावप्यनुयाति मां च, सदागमासन्निहितः कदाचित् ॥
अथान्यदा तेन सदागमस्य, वचः पुरस्कृत्य कदर्थितोऽहम् । यास्याम्यगम्यं भवतः पदं द्राग्, इतीरयित्वा स जगाम मोक्षम् ॥
मित्रस्य तस्याहमसौ वियोगा-न्मर्तुं प्रवृत्तोऽस्म्यसुखात्ययाय । इतीरिते स्पर्शनपूरुषेण, बालोऽब्रवीत् तं प्रतिबन्धहेतोः ॥६१॥
निदर्शनं त्वं किल सज्जनानां, स दुर्जनानां भवजन्तुरेव । प्रतारकाणां च सदागमोऽसा-विति त्वयि स्नेहपरोऽस्मि बाढम् ॥६२॥
तेनापि मैत्र्यं प्रतिपन्नमस्य, विचिन्तयामास पुनर्मनीषी । सदागमस्त्याजयितुं यतेत, हातुं न मित्रं सहजं सुधीश्च ॥६३॥

तत्स्पर्शनोऽयं ननु कूटभाषी, बालेन बालोचितमेव तेने । ध्यात्वैवमेतेन दधौ स मैत्री-माभासमात्रान्न तु चित्तभावात् ॥६४॥
न्यगादि ताभ्यामिदमाशु पित्रो-र्वृत्तं पिता प्राह शुभं व्यधायि । सदातनः स्पर्शननिर्मितेऽर्थे, तस्य स्वभावः प्रतिकूलवृत्तिः ॥
ततस्तदासङ्गपरं स बालं, क्षिप्नुः कुविद्यागहने जहर्ष । तद्वर्जनोपायपरं परंतु, संयोजयिष्यन् गुणधोरणीभिः ॥६६॥
बालस्य माता तु तुतोष यस्मात्, सा स्पर्शनाधीननिजेष्टसिद्धिः । मनीषिमाता तु बभार खेदं, स्मृत्वा चिरं तद्विहितव्यलीकम् ॥
अव्यक्तभावं परमङ्गजस्या-नुमाय तस्मिन् धृतिमाप चित्ते । मुखस्य नेत्रस्य तथा विकारैः, पुनर्विकल्पांश्च बहूंश्चकार ॥६८॥
बालस्ततः स्पर्शनबद्धरागो, हृदा सदाऽऽस्ते चकितो मनीषी । सुखं न विश्रम्भविनाकृतं स्यादि-दित्यङ्गरक्षं स जगाद बोधम् ॥
त्वयाऽस्य कार्याऽनघमूलशुद्धि-र्यथा भवेन्मे वितथोऽवभासः । तेनाथ मुक्तः प्रणिधिः प्रभावो, भ्रान्त्वा स देशानवदत् समेतः ॥
बाह्येषु देशेषु मया प्रवृत्ति-र्नाप्ता गतेनेति गतोऽन्तरङ्गे । देशे महापातकसंज्ञ तत्र, दृष्टं पुरं राजसचित्तनाम ॥७१॥
अश्रेयसां राजपथः पृथूनां, कल्याणमार्गाचलवज्रपातः । लुण्टाकचूडामणिरुग्रवीर्य-स्तत्रेक्षितो रागमृगेन्द्रराजः ॥७२॥
परानपेक्षोऽभिमतप्रवृत्तौ, जगद्वशीकर्तुमलम्भविष्णुः । पापप्रकाशे पटुधीरमात्यो, दृष्टोऽस्य जिष्णुर्विषयाभिलाषः ॥७३॥
अत्रान्तरे च ध्वनदभ्रकर्षि, मिथ्याभिमानादिरथप्रथाढ्यम् । गर्जन्ममत्वादिगजं प्रधाव-दसंयमाद्युद्धतवाजिराजि ॥७४॥
मदातिरेकोरुमुकचापलादि-पदातिकन्दर्पकृताग्रयानम् । विलासहासादिविचित्रतूर्य-कोलाहलं तन्मिलितं बलं द्राग् ॥७५॥युग्मम्॥
पृष्टोऽत्र हेतुं पुरुषो विपाको, निर्बन्धबद्धो निजगाद मन्त्री । स्वमानुपाणि प्रजिघाय पञ्च, प्राक् स्पर्शनादीनि जगद्विजेतुम् ॥७६॥
काष्ठा परा साहसिकाग्रिमाणां, दुर्दान्तवर्गस्य निदर्शनं च । अवार्यधैर्याणि परं परीक्षा-स्थानं ध्रुवं तानि च वञ्चकानाम् ॥७७॥

जगज्जितप्रायममीभिरुच्चै-रत्रान्तरे तानभिभूय चौरः। सन्तोषनामा कतिचित् प्रसह्य, मुक्तौ नगर्यां मनुजान्निनाय ॥७८॥
श्रुत्वेति संतोषजयाय राजा, प्रगल्भतेऽसौ परिवारयुक्तः। पराभवं स्वस्य भटाः पदाते-स्तेजोऽभिरामाः कतमे सहन्ते ॥७९॥
नन्तुं महामोहनृपस्य पाद-मूलं गतोऽसौ स्वपितुर्नृपोऽथ। दृष्टः स तेनासमलम्बमान-रजस्तमोभ्रूयुगलाभिरामः ॥८०॥
सितासितास्र(श्म)श्रुधरः प्रकम्प्रा-विद्याजराजीर्णशरीरयष्टिः। विशालतृष्णाभिधवेदिकायां, महाविपर्याससुविष्टरस्थः ॥८१॥युग्मम् ॥
पृष्टं शरीरे कुशलं नतेन, प्रोक्ता च तेन प्रकृतप्रवृत्तिः। जगौ महामोहनृपोऽथ युक्तो, ममैव वृद्धस्य रणाभियोगः ॥८२॥
यशःप्रवाहेन रणे हि धीराः, प्रक्षालिताशक्तिकलङ्कपङ्काः। दीप्तिं परां यान्ति धनुर्भृतस्तत्, प्रस्थानमस्थानसुखं ममेदम् ॥८३॥
इदं महामोहनृपोऽभिधाय, रागादियुक्तश्चलितो रणाय। कोलाहलोऽयं तदिति प्रतीहि, गच्छाम्यहं चाग्रबले नियुक्तः ॥८४॥
लब्ध्वा ततः स्पर्शनमूलशुद्धिं, समागतोऽहं भवतः समीपम्। सतोषमाकर्ण्य सदागमस्य, स्थाने तु वर्ते हृदि संशयालुः ॥८५॥
इदं निशम्यैव जगाम बोधः, सह प्रभावेण मनीषिपार्श्वे। वृत्तान्तमाचष्ट यथोपनीतं, तुष्टिं च पुष्टिं ययौ ततोऽसौ ॥८६॥
पृष्टोऽन्यदा स्पर्शन एव तेन, सदागमेनैव कदर्थितस्त्वम्। स प्राह वाचैव स मेऽपकारी, व्यापार्य सन्तोषमतीवदुष्टम् ॥८७॥
अथास्तशङ्को विषयाभिलाष-भृत्यं जगद्वञ्चनसावधानम्। जानन्नसौ स्पर्शनमन्वतिष्ठत्, स्वार्थाय विश्रम्भमनेन बाह्यम् ॥८८॥
अथान्यदा देहमनुप्रविश्य, बालस्य बाढं निजयोगशक्त्या। स स्पर्शनोऽवाच्यरसानुविद्धां, वाञ्छां मृदुस्पर्शगतां वितेने ॥८९॥
मनीषिणस्त्वेष तथा न चक्रे, स्वभावभेदाकलनाद् विकारम्। दाहावहो भस्मकवज्जनानां, लौल्यं हि दोषो न धृतिस्तु भोगे ॥९०॥

१ द्रुत रा. ज्ञा.

प्रदर्शिता धीर्भवता ममेति, बालस्य वाचा स दधौ प्रमोदम् । मनीषिणस्त्वक्षरसां निशम्य, हीणस्तदानीमुपचारवाचम् ॥९१॥
निशम्य बालस्य तुतोष माता, विजृम्भितं स्पर्शनयोगशक्तेः । मनीषिणः खेदमियाय किन्तु, माध्यस्थ्यमालक्ष्य शुशोच नोच्चैः ॥
श्रुत्वाऽथ बाले कुपितः परस्मि-स्तुष्टश्च तत् कर्मविलासराजः । जहाति बालोऽथ कुलस्य लज्जां, दिवानिशं स्पर्शनबद्धरागः ॥९३॥
गम्यामगम्यां च न वेत्ति काञ्चि-न्नारीषु गृद्धो न बिभेत्यनीतेः । नापेक्षते चैष गुरूपदेशं, स्वहास्यतां नाकलयत्यशङ्कः ॥९४॥
निराग्रयिष्यन्नहितप्रसङ्गं, कृपापरः स्पर्शनमूलशुद्धिम् । जगौ मनीषी पुरतोऽस्य तत्तु, गतं लुठित्वा किल पार्श्व एव ॥९५॥
दृष्टार्थरागी करभो न वेत्ति, रसं ह्यदृष्टार्थकथासितायाः । बालेरणायासमिति प्रहाय, तूष्णीं स्थितः स्वार्थपरो मनीषी ॥९६॥
अथागतः कर्मविलासराज-सामान्यरूपातनयोऽन्यदेशात् । तं स्पर्शनस्तौ च समालिलिङ्गु-र्बालेरितः स्पर्शनमेष भेजे ॥९७॥
तेनापि निम्मापितमस्य चेतो, जगौ मनीषी पुनरस्य दोषम् । फलानुभूतेरविशङ्क्यभावाद्, द्वयोः स वाक्येऽजनि संशयालुः ॥
अम्बां स पप्रच्छ विशिष्य तत्त्वं, जिज्ञासमानोऽथ जगाद साऽपि । द्वयानुरोधादविरोधभाजा, ग्राह्यस्त्वयेद्धोऽवसरे हि पक्षः ॥
अर्थद्वये मेदिनि संशयालुः, कुर्वीत यः कालविलम्बपक्षम् । मनोरथः सिद्ध्यति तस्य नूनं, सिद्धो यथोच्चैर्मिथुनद्वयस्य ॥१००॥
शत्रोर्नृपस्य प्रगुणाख्यदेव्याः, पुत्रोऽस्ति मुग्धः स्मरतुल्यरूपः । तस्यास्ति भार्याऽकुटिलाभिधाना, पुलोमपुत्रीरतिरूपजेत्री ॥
मुग्धोऽन्यदा नूतनचूतवल्ली-विलासरम्ये विपिनं वसन्ते । गतः सभार्यः कुसुमोच्चयाय, प्राक्सूर्यपूर्त्यागमनं नियम्य ॥१०२॥
इतश्च कालज्ञविचक्षणाख्यं, तत्रागतं व्यन्तरयुग्ममाशु । कालज्ञचेतोऽकुटिलां निरीक्ष्य, क्षुब्धं तदासीद्धृतकामफेनम् ॥१०३॥

१ इन्द्रो दीक्ष. । २ नखागार स्त-डे. भा.

विचक्षणाया अपि मुग्धरूपे, कूपे मनो ददुरवन्निमग्नम्। द्वाभ्यां द्वयोर्वञ्चनतत्पराभ्यां, [1]रूपं परावृत्य मुदोऽनुभूताः ॥१०४॥
गृहागत तन्मिथुनद्वयं च, स्नेहाब्धिबिम्बोदयवद्दिदीपे। अयं प्रसादो वनदेवताया, इति प्रतीत्यर्जुरवाप तोषम् ॥१०५॥
सर्वोऽपि हर्षं प्रगुणादिवर्गः, केलिप्रियः कालविदप्यवाप। विचिन्त्य भार्याचरणं विरूपं, तां हन्तुमैच्छत् स च दुष्टशीलाम् ॥
पुनः स दध्यौ ननु तुल्यशीला-वावां हतायां च मयाऽङ्गनायाम्। रक्ता नृशंसेऽकुटिला मयि स्या-न्नेत्याश्रितः कालविलम्बपक्षम् ॥
विचक्षणाऽप्येवमवेत्य तस्था-वुभौ मनुष्याचरणे प्रवृत्तौ। अथान्यदा मोहलयाभिधाने, सूरिर्वने बोधरतिः समेतः ॥१०८॥
राजा गतस्तत्पदवन्दनार्थं, श्रोतुं निविष्टो वचनामृतं च। कालज्ञमुख्या अपि तं प्रणम्य, तुष्टा यथास्थानमथोपविष्टाः ॥१०९॥
दुरन्तदोषं विषयानुषङ्गे, त्यागे च सौख्यातिशयं गुरूक्तम्। श्रुत्वा विलीने घनमोहजाले, सद्दर्शनं व्यन्तरयुग्ममाप ॥११०॥
विनिर्गतैर्द्रागथ तद्वपुर्भ्यां, श्यामैश्च रक्तैर्घटिताणुपुञ्जैः। दूरे स्थिता कापि पराङ्मुखी स्त्री, ज्वालेव धूमैर्मलिना कृशानोः ॥१११॥
विपद्य कालज्ञविचक्षणाभ्यां, दुःशीलभावानुशयोद्गताऽऽश्रु। शुद्धिः कथं नौ भवितेति पृष्टः, प्रकृष्टयोगो भगवानुवाच ॥११२॥
अयं हि भद्रौ! युवयोर्न दोषः, स्वरूपतो निर्मलयोः सदैव। अस्याः परं दूरमवस्थितायाः, नार्या अनार्याचरणे रतायाः ॥११३॥
पृष्टोऽथ ताभ्यां भगवन्नियं का, दुष्टाऽथ स प्राह महानुभावः। प्रवर्तिका दोषगणस्य धर्म-निवर्तिकेयं ननु भोगतृष्णा ॥११४॥
करालकालानलकालमेघ-संमूर्छितेव प्रलयस्य वृत्तिः। रजस्तमोभ्यामवगुण्ठितेयं, भयाय केषां न विवेकभाजाम् ॥११५॥
तावाहतुर्मुक्तिरनिष्टशक्ते-रस्याः सकाशात् कथमावयोः स्यात्। ज्ञानी जगावन्यभवे भवित्री, मोहोल्बणत्वान्न पुनर्भवेऽस्मिन् ॥

[1] तद्रूपमास्थायेत्यर्थ

अस्याः परं निर्दलनाय वज्रं, सम्यक्त्वमात्तं सुदृढं भवद्भयाम् । उद्दीपनीयं मुहुरेतदेवं, तनूभवित्री खलु भोगतृष्णा ॥११७॥
श्रुत्वैतदाश्रमुपागतौ ता-वथ स्वदुष्टाचरणानुतापात् । ऋजुर्महीशः प्रगुणा च देवी, यान्ति स्म मुग्धोऽकुटिला च खेदम् ॥११८॥
अथो चतुर्णामपि विग्रहेभ्यो, विनिर्गतं पाण्डुरडिम्भरूपम् । यूयं मयोच्चैः परिरक्षितानि, भयं न युष्माकमिति ब्रुवाणम् ॥११९॥
पश्चात् ततोऽन्यन्निरियाय कृष्णा-मन्यत्ततः कृष्णतरं विरूपम् । प्रवर्धमानं च निवार्य दध्रे, शुक्लेन तद्धस्ततलप्रहारात् ॥१२०॥
तदाह सिद्धान्तरहस्यवेदी, न तत्त्वशुद्धेषु भवत्सु दोषः । किन्तु द्वितीयं खलु डिम्भरूपं, निबन्धनं दूषणसन्ततीनाम् ॥१२१॥
अज्ञानमेतद् घनकष्टरूपं, प्रवर्तकं मोहपरिच्छदस्य । न भोगतृष्णाऽपि तनोति मूला-ज्ञानं विना दुष्टतरां प्रवृत्तिम् ॥१२२॥
अपारसंसारसमुद्रमध्ये, गले शिलेयं पततां जनानाम् । इदं हि साक्षान्नरकस्य कुण्डं, छन्नः शिवाध्वन्ययमन्धकूपः ॥१२३॥
इतश्च यत्कृष्णतरं द्वितीयं, विनिर्गतं तत्खलु पापनाम ॥ संसारचक्रे वसतां जनानां, संक्लेशजालस्य तदेव मूलम् ॥१२४॥
शुक्लेन डिम्भेन निवारितं तत् , प्रवर्धमानं पुनरार्जवेन । इदं हि शुद्धाशयहेतुभूतं, पापानुबन्धं नियमान्निहन्ति ॥१२५॥
ऋते यदेतत् परिरक्षितानि, मयैव यूयं तदतः प्रमाणम् । अज्ञानजं पापमपोह्य यस्मा-न्मार्गानुसारित्वमिदं विधत्ते ॥१२६॥
अनार्जवं दुष्कृतजन्मभूमि-रजन्मभूमिस्तु विपर्ययोऽस्य । अनार्जवं संयमधूमकेतु-र्विशुद्धिहेतुर्ध्रुवमार्जवं तु ॥१२७॥
किं भोगदावानललब्धदाहैः, किंवा कृतज्ञानसुधावगाहैः । भाव्यं मनुष्यैरिह यद्धितं वो, भृशं भजध्वं तदृजुस्वभावाः ॥१२८॥
आप्या गतां का परिणामताप-संस्कारदुःखैर्गहनेऽत्र लोके । समूलमुन्मूलितदुःखवल्लिः, सदा सुखी साधुजनं विना कः ॥१२९॥
इदं निशम्यर्जुमुखाः प्रबुद्धा, ययाचिरे चारुदिनं व्रताय । तदेव चादर्शि मुनीश्वरेण, तत्रैव दीक्षां जगृहुस्तदा ते ॥१३०॥

॥३६॥

तेभ्यः प्रण(न)ष्टे शितिडिम्भरूपे, शुक्रं पुनस्तत्तनुषु प्रविष्टम् । तद्वन्यतां चात्मविपर्ययं च, दध्यौ तदा व्यन्तरयुग्ममन्तः ॥१३१॥
गुरून् मुनींश्च प्रणिपत्य तुष्टौ, सम्यक्त्वमात्रादथ दम्पती तौ । स्थानं गतौ स्वं वपुषोः प्रविष्टा, तयोस्तदानीं खलु भोगतृष्णा ॥
परं न[1] दोषस्य विवृद्धयेऽभूत्, तच्चेतसोर्दर्शनशुद्धिभाजोः । पूर्वप्रवृत्ताऽपि कृतौषधस्य, रुजेव पथ्यान्नभुजः शरीरे ॥१३३॥
अथान्यदा तौ रहसि स्थितौ प्राग्, दुश्चिन्तिते कालविलम्बपक्षम् । संमानयन्तौ स्म मिथोऽभिलापाद् वित्तः स्वनाम्नोश्चरितार्थभावम् ॥
सामान्यरूपाऽऽह तदङ्गजासौ, संदिग्धपक्षद्वितये विलम्बः । एकार्थसिद्धिं प्रति पर्यवस्यँ-स्तयोरिव स्ताद् भवतो हिताय ॥१३५॥
वचांसि बालस्य मनीषिणश्चा-न्तराऽन्तराऽसावनुवर्तमानः । प्रमाणयन् मातृवचो बभार, क्षोभस्वभावस्थितिसिन्धुसाम्यम् ॥१३६॥
माताऽथ बालस्य तनौ प्रविष्टा, स्वयोगशक्त्या सुखकारणाय । स्फुटत्रिदोषः स निसर्गदुष्टो, बभूव दुष्टद्वयसंक्रमेण ॥१३७॥
असौ ततः कामयते कुविन्द-मातङ्गनारीरपि मुक्तलज्जः । उपेक्षमाणेन जनापवादं, त्यक्तं न तेनात्र किमप्यकृत्यम् ॥१३८॥
निवारयन्तं च भियाऽपवादान्, मनीषिणा वेत्ति स मध्यबुद्धिम् । प्रतारितं स्नेहपरं परं स्वं, सामग्र्यमुद्वीक्ष्य न माति चित्ते ॥
ज्ञातं ततो मध्यमबुद्धिनाऽपि, फै[2]लाय नास्मिन्नुपदेशशक्तिः । कृतप्ररोहाश्चितकृष्णभूमिः, शिलातले किं कुरुतेऽम्बुवृष्टिः ॥१४०॥
गृह्णन् व[3]लिं किंशुकमांसपेशीर्विकीर्णपुष्पालिरजाः प्रजानाम् । उन्मादको भूत इवोपतस्थेऽन्यदा वसन्तः पिकगीतमत्तः ॥१४१॥
बालस्तदा स्पर्शनमातृयुक्तः, क्रीडापरो मध्यधियाऽन्वितः सन् । लीलाधरं नाम वनं जगाम, ददर्श तत्र स्मरचैत्यमुच्चैः ॥१४२॥
त्रयोदशीनाम्नि दिनेऽर्थिलोकै-र्महामहे तत्र विधीयमाने । कुतूहली तत्र गतः स चैत्ये, ददर्श गुप्तं स्मरवासहर्म्यम् ॥१४३॥

१ न सा दोषवि-डे. ज्ञा. भी. मा. ॥ २ न क्रामतेऽस्मिन् डे. ज्ञा. भी मा. ॥ ३ वलिकिं-रा. ज्ञा.

द्वारेऽथ संस्थाप्य वयस्यमेको, मध्ये प्रविष्टः सहसैव बालः । पस्पर्श तत्राब्जमृणालमृद्वीं, प्रसुप्तकन्दर्परतिं स शय्याम् ॥१४४॥
इतश्च देवी रिपुमर्दनस्य, तत्रागता मन्मथकन्दली द्राक् ॥१४५॥
प्रसून्वरस्पर्शनमात्रदोषः, सुष्वाप तत्राथ विहाय भीतिम् । साऽप्यर्चयन्ती सुविलेपनेन ॥१४६॥
असौ स्थितः काष्ठमिवाथ लीनो, लज्जाभयाभ्यां प्रविलुप्तचेष्टः । पस्पर्श बालं रतिकामयुग्मं, तत्रैव निःश्वासततीर्मुमोच ॥१४७॥
तप्तायसि क्षिप्त इवाथ मीन-स्तं स्पर्शमासाद्य स तापमाप । इयं क्व लभ्येति मुहुः शुशोच, कार्यं किमित्युत्थितसंभ्रमोर्मिः ॥
अस्यां गतायामपि कामदेव-पूजां विधाय क्षितिपालपत्न्याम् । निर्याति बालो न बहिः करोति, देवाश्रिता रूपवतीव माता ॥
मध्ये गतो मध्यमधीरथोच्चैः, शय्यासुखस्पर्शहृतोऽपि दध्यौ । सतां न गम्या सुखदाऽपि शय्या, तद्व्यन्तरोऽथ प्रचुकोप तस्मै ॥१५०॥
जगौ च बालं ननु देवशय्या-स्वापो न युक्तस्तव मित्ररूप । उपेक्षितं तस्य वचोऽपि तेन, स्वान्तेन सर्वैरपि गर्हितोऽसौ ॥१५१॥
बद्ध्वा कृतस्तेन स कण्ठगासुः, प्रमोचितो मध्यमबुद्धिनाऽथ । भृशं पतित्वा पदयोर्दयोच्च-विपद्द्रुमेऽस्मिन्न हितं विचिन्त्यम् ॥१५२॥
शिक्षाऽमहं कर्मविलासराजस्तं दुर्विनीतं परिभाव्य रुष्टः । अवारयत् स्वं परिवारमेवं, चित्ते परं मन्मथकन्दली या ॥१५३॥
पृष्टोऽन्यदा मध्यमबुद्धिनाऽसौ, कच्चिन्निराबाधमिदं वपुस्ते । स प्राह बाधा न शरीरके मे,

दध्यावथो मध्यमधीर्मनोऽस्य, स्थाने यदेषाऽतिशयस्य भूमिः ।
द्वारि स्थितोऽस्याः सुखमन्वभूवं, स्पर्शस्य यत् क्वापि हि तन्न लभ्यम् ॥१५४॥
परं परस्त्रीगमनं कुलस्य, कलङ्क इत्येनमवारयत् सः । स प्राह नायुर्मम तां विनेष्टं, मौनं ततो मध्यमधीश्चकार ॥१५५॥

१ ॰॰॰ रा. ता. के. ता. २ गा भी. मा.

अथ प्रदोषे स्वगृहान्निरीय, गन्तुं प्रवृत्तो रिपुमर्दनस्य । बालो गृहं प्रत्यनु तं जगाम, स्नेहानुबन्धेन च मध्यबुद्धिः ॥१५६॥
निनाय कश्चित् पुरुषो मयूर-बन्धेन बद्ध्वा गगनेऽथ बालम् । रोषोद्धतो मध्यमबुद्धिरुच्चै-राकृष्टखड्गश्च तमन्वधावत् ॥१५७॥
नासादितोऽसौ गतया निशाऽपि, तथापि न स्नेहवशान्निवृत्तः । दिनानि बभ्राम स सप्त पृच्छन्, बालस्य वार्तामतिदुःखितोऽपि ॥
जीर्णेऽन्धकूपेऽथ कुशस्थलस्य, बहिःप्रदेशे स पुरस्य दुःखात् । पातं विधित्सुः किल नन्दनेन, विलोकितः क्ष्मापतिपूरुषेण ॥
विमोचितोऽसौ व्यवसायतोऽस्मात्, पृष्टश्च को भद्र ! तवात्र हेतुः । तेनोदिता बालवियोगवार्ता, स प्राह खेदं कुरु माऽत्र कार्ये ॥
दास्यामि ते भ्रातरमेष बालं, यमाशु मांसास्रहुतीः प्रदातुम् । विद्याधरः शत्रुविनाशिविद्या-सिद्ध्यै हरिश्चन्द्रनृपस्य जह्रे ॥१६१॥
ममार्पितोऽसावधुनैव राज्ञा, तवैव भाग्यादिति याहि नीत्वा । उक्त्वेति गत्वा स गृहे ददौ द्रा-गानीय बालं करुणापरोऽस्मै ॥
सम्प्रीणयन् क्वाप्यशनादिदानात्, क्वचित्प्रदेशेऽम्बु च पाययंस्तम् । निनाय गेहेऽथ स मध्यबुद्धि-र्मनाक् स जातः सबलः क्रमेण ॥
पृष्टोऽथ दुःखं तव कीदृगासी-ज्जगावसावष्टशते जपानाम् । दिनानि सप्ताहुतयः प्रदत्ताः, पृथक् पृथक् मे पलशोणिताभ्याम् ॥
मां प्रेक्ष्य राजा करुणं रटन्तं, दन्तैर्दयालुर्मयि शीच्चकार । विद्याभृताऽवार्यत नैष कल्प-स्तेनार्पितं मे नरकस्य दुःखम् ॥१६५॥
समागतः प्रष्टुमुदन्तमस्य, लोकानुवृत्त्याऽथ मनीषिनामा । शुश्राव तां मुग्ध इव प्रवृत्ति-मवारयत् स्पर्शनसंगमं च ॥१६६॥
आधूय मूर्धानमथाह बालो, महार्थसिद्धौ क इवान्तरायः । दुःखं कियन्मे यदि तां लभेऽहं, प्राणैः क्रयं साऽर्हति तद्वदिष्टा ॥
तं कालदष्टं परिभाव्य हस्ते, धृत्वा ययौ मध्यधियं मनीषी । जगौ च लोहेऽत्र निविश्य मूढ, कथं तितीर्षस्यसुखाम्बुराशिम् ॥
स प्राह सम्यग् विहितं त्वयेदं, ममालमेतेन तवामतेन । तातादयोऽर्थं किमिमं विदन्ति, जगौ मनीषी जगदेव वेत्ति ॥१६९॥

तत् कीदृशं चित्तमभूदिहार्थे, तातस्य मातुश्च तवेति पृष्टः । जगौ मनीषी मम निर्गुणेऽभूद्, बालेऽत्र माध्यस्थ्यमबालभावात् ॥
संक्लिश्यमाने न दया तवात्म-न्यास्था ममात्मन्यपमित्रहानात् । हर्षो गुणाढ्ये भवजन्तुधीरे, तातस्य चैकः परिदीर्घहासः ॥१७१॥
सम्पद्यते यन्मयि कोपिते तद्, बालो ह्यपेति जहर्ष तातः । सामान्यरूपा तु पराभवौघे, गतः क्व पुत्रेति शुशोच बाढम् ॥
प्रीता मदम्बा तनयस्य मेऽभू-न्नापाय इत्याप परं तु हर्षम् । बालस्य दुःखात् करुणां त्वदर्तेर्गुणानुरागं मयि दुःखहानेः ॥१७३॥
श्रुत्वेत्यदो मध्यमबुद्धिरन्त-र्विचारयामास हहाऽस्य दुःखे । क्षारः क्षते विश्वजनापवादो, ममाप्युपेक्ष्योऽयमतोऽस्तु नित्यम् ॥
सस्पर्शनाऽम्बा मुदिताऽथ बालं, प्रोत्साहयामास न साधुखिन्नः । मनीषिवत् सुष्ठु न वञ्चितोऽसि, भोगान्न भीतोऽसि गिरा जनानाम् ॥
अथ प्रदोषे गत एव बालोऽ-वधीरितो मध्यमबुद्धिनाऽपि । अलक्षितो राजगृहे प्रविष्टो, ददर्श राज्ञीं तनुमण्डनोत्काम् ॥१७६॥
शय्यां स शून्यां सुखमध्यशेत, दैवात् तदा भूपतिराजगाम । कदर्थयामास निशां स पूर्णां, क्रूरैर्नरैस्तं नरकाभदुःखैः ॥१७७॥
संभ्राम्यमाणो दिवसे त्रिकादौ, नृपाज्ञयाऽसौ खरपृष्ठनिष्ठः । उल्लम्बितस्तुङ्गतरोः शिखायां, दिनात्ययेऽगान्नगरं च लोकः ॥१७८॥
दैवात् तदानीं त्रुटितश्च पाशः, पपात भूम्यां च मुमूर्छ बालः । लब्ध्वा च संज्ञां पवनान्निशैक-यामे गते स्वीयगृहं जगाम ॥
वृत्तान्तमाकर्ण्य मनाक् तमासीत्, प्रेम्णो लवान्मध्यधियो विषादः । मनीषिवाक्यस्मरणप्रभावा-च्चित्तेऽस्य माध्यस्थ्यमथोल्ललास ॥
अथान्यदा स्वीयविलाससंज्ञे, सूरिर्वने ज्ञानरतिः समेतः । तृष्णालतायाः परशुर्मनीषा-चक्रस्य नाभिर्नयसिन्धुचन्द्रः ॥१८१॥
और्वानिलो लोभमहार्णवस्य, महौषधिः क्रोधभुजंगमस्य । वज्रं स्मयाद्रेरनवद्यविद्या-वतारतीर्थं निकृतिद्रुमाग्निः ॥१८२॥
अत्रान्तरे स्पर्शनसंग्रहातु-र्मनीषिणः कर्मविलासराजः । इच्छन् प्रदातुं कुशलानुबन्धं, व्यापारयामास भृशं तदम्बाम् ॥१८३॥

दध्यौ च यद्यप्ययमेति नित्यं, भोगानभिष्वंगसुखं तथापि। छायैकदानादिव मे सुरद्रो-र्नासाद् यशस्तेन बहु प्रदेयम् ॥१८४॥
अधिष्ठितोऽसौ निजयोगशक्त्या, मात्राऽथ पित्रा विहितप्रसादः। सिक्तोऽमृतेनेव वने प्रवृत्तो, गन्तुं गुरोरागमनं निशम्य ॥१८५॥
आकारयामास स मध्यबुद्धिं, नृपेण तस्यापि च संज्ञिताऽम्बा। सा तुल्यवीर्येति विचित्रकार्या, तनौ तदा मध्यधियः प्रविष्टाः ॥
ऐच्छत् ततः सोऽपि च तत्र गन्तुं, बालो बलामोटिकया प्रवृत्तः। त्रयोऽपि तत्रोपगता विशालं, प्रमोदमौलिं ददृशुर्जिनौकः ॥१८७॥
जिनेन्द्रबिम्बं प्रणिपत्य तत्र, मनीषिणा दक्षिणभागनिष्ठः। आगामिभद्रेण गुरुर्ववन्दे-ऽनुरोधतो मध्यधियाऽपि तस्य ॥१८८॥
बालः पुनः स्पर्शनमात्रदोषात्, तत्स्थावनम्रोऽथ मुदा समीयुः। सुबुद्धिमन्त्री रिपुमर्दनश्च, राजा च देवी स्मरकन्दली च ॥१८९॥
तेषूपविष्टेषु विधेः प्रणम्य, धर्म्यां गिरं ज्ञानरतिर्दिदेश। उत्सर्पिसिद्धान्तसमुद्रवेला-स्फुटीभवद्भूरिनयोर्मिलीलाम् ॥१९०॥
अत्रान्तरे प्राह महीमहेन्द्रः, स्वामिन्! किमादेयमिहास्ति लोके। सूरिर्बभाषेऽनघ! धर्म एव, सतामुपादेयतया प्रसिद्धः ॥१९१॥
तत् किं न सर्वेऽपि सृजन्ति धर्म-मिति ब्रुवाणं पुनराह सूरिः। हितेऽपि दुष्टेन्द्रियमोहितत्वात्, प्रवर्तते न स्वरसेन लोकः ॥
उन्मत्तमासाद्य भृशं प्रहृष्यन्नुद्धूलयन् भूतिमुदारशक्तिः। अलंकृतो भोगिभिरिन्द्रियौघो, नृणां स्फुटं शंकर एव भाति ॥
पथप्रवृत्तानपि शास्त्रपाठ-कशाप्रहारानवधीरयन्तः। हृत्वा जनानिन्द्रियशूकलाश्वा, नयन्ति संसारवनं दुरन्तम् ॥१९४॥
धृत्वा किलाग्रेषु कराङ्गुलीनां, ये दण्डवत् क्ष्मामपि नाटयन्ति। तेऽपीन्द्रियैर्नाटितमिन्द्रमुख्या-नात्मानमुद्धर्तुमहो समर्थाः ॥१९५॥
तस्मान्महाराज! सुदुर्जयानां, मन्तुः समग्रोऽप्ययमिन्द्रियाणाम्। उपेयवाञ्छाविपरीतवृत्ति-र्नृणामुपायेष्विह या प्रवृत्तिः ॥१९६॥

१ दुर्विनीतस्तु शूकल. (अभि० का० ४-३०१)

उवाचेति सामान्यत एव सूरि-र्मनीषिबोधाय जगौ विशिष्य । दूरे किलान्यानि जगज्जयाय, राजन्नलं स्पर्शनमेकमेव ॥१९७॥
इदं हि तीक्ष्णेषुरिवाङ्गभाजां, हृदि प्रविश्यैव भिनत्ति मर्म । व्याप्यैव देहं प्रवितीर्णदाहं, प्रत्याहृतेर्दुर्लभतां तनोति ॥१९८॥
राजाऽऽह किं सन्ति न सन्ति वा त-ज्जये समर्था जगतीह लोकाः । गुरुर्जगौ सन्ति परंतु तेऽत्र, स्तोका मनुष्याः शृणु तत्र हेतुम् ॥
चतुर्विधाः सन्ति जघन्यमध्यो-त्कृष्टास्तथोत्कृष्टतमाश्च लोकाः । अत्युत्तमास्तत्र च ते निरस्तं, यैरेतदाप्तागमवासनाभिः ॥२००॥
ते ब्रह्मचर्यं रता गृहेऽपि, दीक्षां पुनर्भागवतीमवाप्य । भूस्वापलोचादिविशिष्टकष्टै-र्निर्धूय तन्मोक्षसुखं लभन्ते ॥२०१॥
आकर्ण्य कर्णामृततुल्यमेतद्, वचो विचारं विदधे मनीषी । गुरुर्जगौ स्पर्शनमीदृगेव, बोधप्रभावो निजगाद यादृग् ॥२०२॥
नूनं तदेतत्पुरुषच्छलेन, प्रतारणायोपनतं जनानाम् । चिक्षेप यश्चैतदसंगयन्त्रे, महोत्तमोऽसौ भवजन्तुरेव ॥२०३॥
इत्युक्तमाचार्यमसत्रमग्रे, शुश्रूषया विस्मितमीक्षमाणः । मनीषिणं मध्यमधीर्बभाषे, किं तत्त्वमुत्प्रेक्ष्य सुभावितोऽसि ॥२०४॥
स प्राह मित्रायमगूढ एव, भावश्चमत्कारकरो न किं स्यात् । यद्दुर्जयं यच्च दुरन्तदोषं, तवैव तत् स्पर्शनमित्रमुक्तम् ॥२०५॥
चमत्कृतो मध्यमधीरपीदं, श्रुत्वा स्म बालस्तु न वेद किंचित् । दत्तैकदृष्टिर्मनुजेशपत्न्या-माचार्यवाक्यश्रुतिविस्मितायाम् ॥२०६॥
विलासपूरे घनकेशपाश-ध्वान्ते च मग्नं स्तनपर्वतेऽस्याः । भग्नं च भिन्नं च कटाक्षबाणै-र्मनोऽस्य पर्याकुलतां जगाम ॥२०७॥
न ब्रह्मणो ब्रह्मविदः किलेयं, स्मरस्य शृंगारविदस्तु सृष्टिः । अर्धेक्षितैर्मामियमीक्षमाणा-ऽभिवाञ्छतीत्येष मृषाऽभिमेने ॥२०८॥
सूरिर्विभागे कथितं स्वरूप-मत्युत्तमानां तदथोत्तमानाम् । ब्रवीमि यैः स्पर्शनमेतदाप्य, मानुष्यकं शत्रुतयाऽवबुद्धम् ॥२०९॥

१-मनः मी. मा.

बोधप्रभावेन च मूलशुद्धिं, विधाय तस्मिन् चकिता भवन्ति। उपेक्षितायोग्यजनाश्च मार्गा-वतारनिष्ठाश्च निजाश्रितानाम् ॥२१०॥
स्थित्यै तनोस्तत्प्रियमाचरन्तो-ऽप्यपास्तलोभा भृशमुत्तमास्ते। स्वस्मिन् मनीषी श्रुतमेनमर्थ-मयोजयन्मध्यमधीश्च तस्मिन् ॥
स्वरूपमुच्चैरथ मध्यमानां, जगौ गुरुः स्पर्शननोदिता ये। मुह्यन्ति संसारसुखे विचित्रे, संशेरते पण्डितनोदिताश्च ॥२१२॥
दधत्यलं भेदिनि योगिभोगि-मतद्वये कालविलम्बपक्षम्, स्पर्शानुयाता अपि लोकलज्जा-गुणान्न कुर्वन्त्यतिनिन्द्यकर्म ॥२१३॥
बुद्ध्वाऽपि वाक्याद् विदुषां विशेष-मदृष्टदुःखा न तथाऽऽचरन्ति। अकीर्तिभाजश्च जघन्यसंगात्, कुर्वन्ति विद्वद्वचनानुवृत्तिम् ॥
ते मध्यमा मध्यमबुद्धयः स्यु-रितीदमाकर्ण्य स मध्यबुद्धिः। स्वस्मिन् स्वसंवेदनतो युयोज, सर्वं मनीषी तु विविच्य तस्मिन् ॥
गुरुर्बभाषेऽथ जघन्यरूपं, यैः स्पर्शनं बन्धुतयाऽवबुद्धम्। कुप्यन्ति ये च प्रियभाषकाय, येऽनार्यकार्याद् भुवि न त्रपन्ते ॥२१६॥
दुःखादखिन्ना गलिगोस्वभावा-न्मुखं मुहुर्ये विषये क्षिपन्ति। असद्ग्रहग्रस्तधियस्तपस्वि-प्रत्यर्थिनस्तेऽत्र जना जघन्याः ॥२१७॥
मनीषिणा मध्यमबुद्धिना च, विनिश्चितं वाक्यमिदं निशम्य। जघन्यवृत्तं स्फुटमेव बाले, बालस्तु नाबुध्यत शून्यचित्तः ॥
सूरिर्जगावत्र नृपोदिता ये, जना जघन्या बहुलास्त एव। स्तोकास्तदन्ये क्षिति नैव सर्वे, धर्मं सृजन्तीति हि युक्तमुक्तम् ॥२१९॥
अत्रान्तरे प्राह सुबुद्धिमन्त्री, श्राद्धः किमेतेषु पुनर्निमित्तम्। गुरुर्जगौ मातृविभेद एव, यतः शुभश्रीसुत उत्तमः स्यात् ॥२२०॥
सामान्यरूपातनयश्च मध्य-स्थितो जघन्यस्त्वशुभालिजन्यः। त्रयोऽप्यमी कर्मविलासपुत्राः, सर्वोत्तमस्तु स्वविलासभावी ॥२२१॥
पुनर्जगौ मन्त्रिवरः किमेते, सदास्थिता वा परिवृत्तिभाजः। गुरुर्जगौ कर्मविलासक्लृप्त-विवृत्तिभाजोऽपि विनाऽन्त्यमन्ये ॥२२२॥

१ येऽस्मिन् डे. ज्ञा.। २ निजाश्रवानाम् रा. ज्ञा. डे. ज्ञा.

मनीषिणाऽचिन्त्यत मावृतात-विजृम्भितं नो घटमानमेतत्। सुबुद्धिना पृष्टमथो महात्मन् , केन स्युरुत्कृष्टतमा मनुष्याः ॥२२३॥
गुर्व्वभाषे न विनाऽस्ति हेतुः सर्वोत्तमत्वे निजवीर्यलाभम्। अन्यः सुसाधोः स च भागवत्या, प्रव्रज्ययैव प्रथतेऽनुपाधिः ॥
दध्यौ मनीषी मम सैव युक्ता, लातुं कृतं शेषविडम्बनाभिः। व्रतग्रहेच्छेति मनीषिणोऽभू-दशक्यधीर्मध्यधियश्च योगे ॥२२५॥
पुनः सुबुद्धिर्निजगाद किं त-द्धर्मो न नस्तादृशवीर्यहेतुः। गुरुर्जगौ मध्यमवर्गयोग्यः, परंपराहेतुरसौ प्रसिद्धः ॥२२६॥
क्लेशौघनिर्ध्वंसकरी हि दीक्षा, गृहेऽपि धर्मो भवतानवाय। श्रुत्वेत्यदो मध्यमधीः स्वशक्ति-योग्यं ग्रहीतुं गृहिधर्ममैच्छत् ॥
इतश्च बालो निहतः सरासै-रभिप्रियां धावति भूभृतः स। तद्भूलिलुसाक्षतया न दृष्टा, सभाऽपि तेनोग्रतमोमयेन ॥२२८॥
क एष इत्याशु नृपेण दृष्टो, दृष्ट्या प्रकोपारुणया स भीतः। सरज्वरः शान्तिमियाय तस्य, संज्ञागमात् प्रादुरभूच्च दैन्यम् ॥
नंष्टुं प्रवृत्तः शिथिलाङ्गसन्धिर्भूमौ स निर्भग्नगतिः पपात। द्राक् स्पर्शनोऽगाच्च बहिस्तदङ्गा-न्निरीय गुर्वाश्रितसत्प्रदेशात् ॥
शान्तोऽथ पप्रच्छ गुरुं महीशः, केयं प्रवृत्तिर्भगवन्नवाच्या। स प्राह वैगुण्यममुष्य नैतद्, बहिःस्थितस्यैव तु पापमूर्तेः ॥२३१॥
अयं खलु स्पर्शननामधेयो, दुष्टो रिपुर्गात्रमनुप्रविश्य। माताऽशुभालिश्च यदेनमित्थ-मनाटयत् तत्र किमस्तु चित्रम् ॥२३२॥
महात्मनोऽप्येति न संनिधानात्,स्वकर्म शान्तिं निरुपक्रमं च। जिनेऽपि बध्नन्ति न किं कुतीर्थ्याः,सिद्धेन्द्रजालादिविकल्पमालाम्।[1]
राज्ञाऽथ पृष्टोऽयमतः परं किं, करिष्यतीति स्फुटमाह सूरिः। लोके गते कोल्लकसन्निवेशे, गन्ता ह्ययं स्पर्शनयुक्तगात्रः ॥२३४॥
पिपासितो द्रक्ष्यति कर्मपूरग्रामान्तिके श्रान्तिहतस्तटाकम्। तत्र प्रविष्टः श्वपचाङ्गनां च, लीनां भिया स्प्रक्ष्यति पद्मखण्डे ॥२३५॥

१ प्रत. रा. रा.

प्रसह्य तामेष रिरंसुरेत्य, वनाच्च तस्याः श्वपचेन शब्दैः । यास्यत्यवश्यं नरके हतः सं-स्ततः कुयोनीर्भवचक्रवाले ॥२३६॥
अथाह राजा भगवन् ! विपाको-ऽशुभावलेः स्पर्शनपाप्मनश्च । सुदारुणोऽयं गुरुराह बाढं, ततः सुबुद्धिः सुकृती बभाषे ॥२३७॥
एतौ किमस्यैव भदन्त ! दुष्टौ,गात्रे परेषामपि वा प्रविष्टौ । स प्राह सर्वत्र गतौ किलैतौ,व्यक्तानभिव्यक्ततया विचित्रौ ॥२३८॥
अथ स्फुटं मन्त्रिणमाह भूपः । पापाविमौ नो विषये प्रविष्टौ । निष्पीडनीयौ दृढलोहयन्त्रे, दयाऽनयोर्नो भवता विधेया ॥२३९॥
मन्त्री स दध्यौ ननु विस्मृतं तद्, हिंसाविधौ यन्मम नो नियोगः । राज्ञोऽथवाऽसौ प्रतिबोधहेतुर्गुरोर्भविष्यत्यधिगत्य वाचम् ॥
अथाह सूरिर्विधुशुभ्रभूरि-दन्तद्युतिद्योतितदिग्विभागः । न लोहयन्त्रं तव भावशत्रु-निष्पीडनाय क्षितिपाल ! शक्तम् ॥२४१॥
व्रतातिचारान् परिशोधयन्ति, ये वर्तयन्ते निरवद्यवृत्त्या । पराक्रमन्तेऽलमभिग्रहेषु, न लङ्घयन्ति स्थितिमात्मनीनाम् ॥२४२॥
न लोकमार्गे प्रणयन्ति सङ्गं, गुरून् पुरस्कृत्य सृजन्ति धर्मम् । श्रुतं प्रयत्नेन विभावयन्ति, द्रव्यापदादावुपयन्ति धैर्यम् ॥२४३॥
आलोचयन्त्येष्यदपायजाल-मजातयोगेषु दृढं यतन्ते । चित्तस्य विश्रोतसिकां त्यजन्ति, योगोपचारान् परिशीलयन्ति ॥२४४॥
परं पुमांसं कलयन्ति चित्ते, बध्नन्ति तत्रैव धृतिं पवित्राम् । बहिश्च विक्षेपरतिं त्यजन्ति, कुर्वन्ति तत्प्रत्ययतानमन्तः ॥२४५॥
बाढं यतन्ते शुचियोगसिद्धौ, ध्यानं च शुक्लं परिपूरयन्ति । पश्यन्ति देहादिविविक्तरूपं, स्थिरं लभन्ते परमं समाधिम् ॥२४६॥
तैरुत्तमैः संयतपुण्डरीकै-र्दृढीकृतं तत्तदुपायविद्भिः । यदप्रमादाभिधमन्तरङ्गं, यन्त्रं तदन्तर्द्विषतः पिनष्टि ॥२४७॥
अनेन सूरेर्वचसाऽनिलेन, वृद्धोऽथ शुद्धाध्यवसायवह्निः । मनीषिणः कर्मवनं ददाह, दीक्षां स तं क्लेशहरीं ययाचे ॥२४८॥
जगाद भूपोऽथ ममापि युद्ध-क्रुद्धारिसंमर्दनलम्पटस्य । क्षोभाय याऽऽदित्सति तां महात्मा, दीक्षां महाराज्यवदाशु कोऽयम् ॥

सूरिर्विभाणे विदितः शुभश्रीकुक्ष्युद्भवः कर्मविलासपुत्रः। गुणाकरोऽयं तव विस्मृतं किं, जगद्दृगासेचनकः शशीव ॥२५०॥
अत्रान्तरे मध्यमधीर्ययाचे, सुश्राद्धधर्मं तदनु क्षितीशः। यथास्थितं लक्षणतस्तमुक्त्वा, तयोर्ददौ निःस्पृहसार्वभौमः ॥२५१॥
प्रणम्य राज्ञाऽथ मनीषिदीक्षा-दानोद्यतः सूरिरिदं ययाचे। अनेन दीक्षा कलितैव भावा-न्ममानुजानीहि मनोऽनुरूपम् ॥२५२॥
ततः सुबुद्धिर्निजगाद राजन्, द्रव्यस्तवे जोषमुपैति साधुः। फलोपदेशादनुमन्यते तु, तदत्र कार्यं स्वयमेव युक्तम् ॥२५३॥
अथार्थयित्वा समयप्रतीक्षां, विलम्बशाली प्रणयान्मनीषी। अकारयत स्नात्रमुदारचैत्य-बिम्बस्य भूपेन महोत्सवेन ॥२५४॥
यः स्नात्रकुम्भादुदपादि तेन, धर्मः स पीत्वाऽस्य भवाम्बुराशिम्। यशांसि कुम्भोद्भवताभवानि, ततान कुन्देन्दुसितानि लोके ॥
आरोपितोऽसौ जयकुञ्जरेऽथ, स्वयं नृपश्छत्रधरोऽस्य जातः। शुभश्रियाऽध्यस्ततनुर्जगाम, पुरं स लोकैरभिनूयमानः ॥२५६॥
असङ्गभावाद् बुभुजे सुखानि, राज्ञोपनीतान्यथ राजहर्म्ये। मुमोच मुख्यः कृतिनां गुणौघैः, क्रीतो हि राजाऽस्य न भृत्यभावम् ॥
स्थितोऽन्यदोद्दिश्य सुबुद्धिमाह, नृपः पुरस्कृत्य मनीषिराजम्। मनीषिणो वृत्तमचिन्त्यमेव, मध्योऽपि बुद्ध्यैष ममोपकारी ॥
आश्वासितः संयमकातरोऽहं, जिघृक्षता येन गृहस्थधर्मम्। मन्त्री बभाषे तव युक्तमेव, समानशीलेऽत्र नरेन्द्र! सख्यम् ॥२५९॥
दध्यौ नृपोऽहं गणितो नु मध्यो, मृषा सयोऽभूत् पुरुषोत्तमत्वे। मनीषिणं तादृगपेक्ष्य वाऽसि, करीव दंष्ट्रोग्रमपेक्ष्य सिंहम् ॥
अथाह राजा ननु तादृशेऽपि, चैत्ये कथं साऽजनि बालचेष्टा। स प्राह चित्रं पुरुषाद्यपेक्ष्य, फले वनं तत्स्वविलासनाम ॥२६१॥
त्रिधाप्यमानं विषयानुषङ्गं, मनीषिणो मन्त्रिवरोऽथ मत्वा। जगाद राजानमुदारबुद्धिः, स्नेहस्तवायं न नरेन्द्र! युक्तः ॥२६२॥

१-ष्ठितवु-भी. मा.

प्रशस्तरागोऽपि परार्थभङ्गप्रसङ्गतोऽनर्थविधायकः स्यात्। सच्छायवृक्षोऽपि कृशानुदग्धः, करोति किं नेह वनस्य दाहम् ॥२६३॥
नृपो बभाषे विधृतो मयाऽयं, दीक्षासहाऽनेन ममोचितेति। अतः परं त्वद्वचसा विसृष्टः, कर्तव्यमर्हं(र्हे) त्वधुना विधेयम् ॥२६४॥
ततः प्रशस्तं दिनमाकलय्य, सप्तग्रहाङ्के वृपलग्नयोगे। रथस्थितो मन्त्रिगिरोत्सवौघै-र्नृपेण नीतः स गुरोः समीपम् ॥२६५॥
रथादथोत्तीर्णममुं महीशः, परीक्षते स्म क्षितिपौघयुक्तम्। विकारहेतावपि तस्य चित्त-मलक्षयन्मृत्पुटपाकशुद्धम् ॥२६६॥
भृशं दिदीपेऽस्य शरीरमन्त-र्दीप्तस्य सज्ज्ञान्मनसस्तथोच्चैः। यथा पुरःस्थो ददृशे नृपौघः, सूर्यप्रभाच्छादिततारकाभः ॥२६७॥
विलीनमोहोऽथ नृपस्तदीय-गुणप्रकर्षे बहुमानभावात्। अभ्युत्थितः संयममाशु लातुं, तथैव देवी च सुबुद्धिमन्त्री ॥२६८॥
तान् दीक्षयामास गुरुः सहर्षान्, प्रसह्य सर्वानपि शास्त्रनीत्या। ददौ च तेषामनुशिष्टिमुच्चैः, संवेगवल्लीवनवारिधाराम् ॥२६९॥
न बालवृत्तं विदुषा विधेयं, मनीषिवृत्तं परिशीलनीयम्। अनुष्ठितादेव मनीषिवाक्यात्, स्युस्तादृशा मध्यमबुद्धयोऽपि ॥२७०॥
कार्यो न सङ्गः सह पापमित्रै-स्तत्सङ्गतो मृत्युमवाप बालः। सदैव तत्त्यागपरो मनीषी, धर्मं च सौख्यं च यशश्च लेभे ॥२७१॥
गुणावहः सज्जनसङ्गमः स्या-दनर्थहेतुः खलसङ्गमश्च। स्फुटं द्वयं तत्खलु मध्यबुद्धौ, विमृश्य यच्चारु तदेव कार्यम् ॥२७२॥
एतां समाकर्ण्य मुनीन्द्रवाचं, बुद्धास्तदानीं बहवो मनुष्याः। क्रमाद् ययौ मोक्षपदं मनीषी, दिवं परे मध्यमबुद्धयश्च ॥२७३॥

स्पर्शनकथानकं समाप्तम्। अथ विदुर उवाच-

इमां समाकर्णयतः कथां मे, गतं दिनं तेन न वः समीपे। समागतो ह्योऽभिदधे मयाऽपि, श्रव्या कथेयं खलसङ्गहाने ॥२७४॥
वचोऽवकाशं विदुरोऽथ जानन्, मामाह मा भूत् खलसङ्गमस्ते। वैश्वानरोऽचकितस्तदानीं,प्रोक्तं भूमयाऽसौ न ममास्ति कोऽपि॥

प्रनिश्य कर्णेऽथ स मां बभापे, वैश्वानरोऽप्यस्ति खलस्वभावः। परीक्षणीयस्तदसौ विशिष्य, मा भूदितोऽनर्थपरंपरेति ॥२७६॥
तर्द्यमानो वचनैस्तदानीं, वैश्वानरेण स्फुटमीक्षितोऽहम्। तत्संज्ञया क्रूरमनःप्रणीतां, भुक्त्वा गुटीं भूतवदुत्थितो द्राक् ॥२७७॥
करालवक्त्रेण मया कपोल-भेत्री चपेटा विदुरस्य दत्ता। प्रवृद्धतापः फलकं गृहीत्वा, पुनः प्रहर्तुं च समुद्यतोऽहम् ॥२७८॥
ततश्च नंष्ट्वा स गतः प्रकम्प्र-स्तातस्य पार्श्वं कथिता प्रवृत्तिः। वैश्वानरत्यागविधावयोग्यं, ततः स मां चेतसि निश्चिकाय ॥२७९॥
अथ स्थितः पूर्णकलाविलासो, रम्ये गृहेऽहं सुखसिन्धुमग्नः। कान्तः कलापेन शिखीव नारी-नेत्रोत्सवाहो नवयौवनेन ॥२८०॥
तताम्बादिनतिं कृत्वा, प्रभातेऽहमथान्यदा। समागतः स्वभावेन, निविष्टो विष्टरे सुखम् ॥२८१॥
इतश्चाकाण्ड एव द्रागुत्थितो राजमन्दिरे। कोलाहलस्ततश्चाहं, जातः सम्भ्रान्तमानसः ॥२८२॥
धवलाख्यस्तदागत्य, मां बलाधिकृतो जगौ। देवः समादिशत्येवमागन्तव्यं त्वया जवात् ॥२८३॥
तातापमानादायातः, कुशावर्तपुरेशितुः। राज्ञः कनकचूडस्य, सुतः कनकशेखरः ॥२८४॥
तं बन्धुं तेऽभिगच्छामि, विलम्बस्तव मा च भूत्। इति श्रुत्वा द्रुतं गत्वा, मिलितोऽहं पितुर्बले ॥२८५॥
पृष्टो मयाऽथ धवलः, कथं कनकशेखरः। अस्माकं बन्धुरथ स, प्राह कोमलया गिरा ॥२८६॥
भ्राता कनकचूडः स्यान्नन्दायाः सुन्दराकृतिः। तेन मातुलसूनुस्ते, भ्राताऽयं भ्रातृवत्सल ॥२८७॥
आनीतोऽथ प्रमोदेन, पित्रा कनकशेखरः। प्रासादस्तस्य दत्तश्च, मदीयभवनान्तिके ॥२८८॥
संजातो निर्भरः स्नेहस्तस्य तत्र मया सह। तातापमानवृत्तान्तस्तस्य पृष्टो मयाऽन्यदा ॥२८९॥

स प्राह मित्रवृन्देन, युक्तः केलिपरोऽन्यदा । शमावहं वनं प्राप्तस्तत्राद्राक्षमहं मुनिम् ॥२९०॥
प्रणम्य चरणौ तस्य, पृष्टो धर्मं महाशयः । स साधुधर्ममाख्याय, श्राद्धधर्ममचीकथत् ॥२९१॥
तदा मया मुनेः पार्श्वे, वयस्यैः सह हर्षतः । सम्यक्त्वमूलो जगृहे, श्राद्धधर्मसुरद्रुमः ॥२९२॥
गतः स मुनिरन्यत्र, धर्मं पालयतोऽथ मे । श्राद्धसंसर्गतो जाता, व्युत्पत्तिर्जिनशासने ॥२९३॥
अन्यदा पुनरायातः, स साधुर्वन्दितो मया । पृष्टश्चेदं महाभाग, किं सारं जिनशासने ॥२९४॥
मुनिराह दया ध्यानं, रागादीनां च निग्रहः । साधर्मिकानुरागश्च, सारमेतज्जिनागमे ॥२९५॥
मयाऽज्ञायि दया क्व स्यान्महारम्भस्य मादृशः । स्थिरचित्ततया साध्यो, ध्यानयोगः कुतस्तराम् ॥२९६॥
विषयामिषगृद्धस्य, क्वत्यो रागादिनिग्रहः । साधर्मिकानुरागस्तु, कर्तव्यो मेऽवशिष्यते ॥२९७॥
इति ध्यात्वा मुनेः पार्श्वे, गृहीतस्तदभिग्रहः । गृहे गत्वा मया नत्वा, तातानुज्ञा च याचिता ॥२९८॥
संगान्मम पिताऽप्यासीद् भद्रको जिनशासने । स्वाभिप्रेतं कुरुष्वेति, निःशङ्कं सोऽन्वमन्यत ॥२९९॥
ततः प्रभृति सर्वोऽपि, बन्धुत्वेन मयेक्षितः । कुलजात्यादिहीनोऽपि, नमस्कारधरोऽपि यः ॥३००॥
जैननामभृतो देशे कृतारुचाकरदा मया । विहिता च विशेषेण, सपर्या [1]नवधर्मणाम् ॥३०१॥
तदा प्रोज्जृम्भितं जैनैः, सूर्योदय इवाम्बुजैः । अमात्यो दुर्मुखो द्वेषं, ययौ कौशिकवत् परम् ॥३०२॥

१ नवधर्मिणाम् भी. मा. नवधारणा डे. ज्ञा.

ततो रहसि तातस्य, प्रोक्तं तेन दुरात्मना । लोकः सर्वः कुमारेण, राजन्नुच्छृंखलीकृतः ॥३०३॥
कुमारस्य प्रसादार्थी, भूयान् जैनो जनोऽजनि । करहीने जने चैवमाज्ञा वाङ्मात्रमेव ते ॥३०४॥
अलौकिकं कुमारस्य, वृत्तमेतन्न सुन्दरम् । अनीतिकवचस्याङ्गे, प्रविशन्ति द्विपच्छराः ॥३०५॥
पिता प्रोवाच यद्येवं, त्वया सर्वं निवेद्यताम् । स्वयमेव कुमाराय, नाहं तं भाषितुं क्षमः ॥३०६॥
मामुपेत्याथ स प्राह, राजा लोकोपरि स्थितः । प्रतापी भानुवल्लोकवशोऽधस्ताच्च धूलिवत् ॥३०७॥
लोकान्निरङ्कुशीकृत्य, राजधर्मव्यतिक्रमात् । नालीकधर्मवात्सल्यं, युक्तं ते नीतिगामिनः ॥३०८॥
मया प्रोक्तं भवेद् दोषः, स्याद् दुष्टे चेन्ममाग्रहः । नीतिव्यतिक्रमः को वा, पूजया गुणशालिनाम् ॥३०९॥
अथासौ मदभिप्रायं, लब्ध्वाऽलीकमभाषत । साधु धर्मे स्थिरोऽसि त्वं, परीक्षेयं मया कृता ॥३१०॥
इत्युक्त्वाऽसौ मदभ्यर्णान्निर्गतश्चिन्तितं मया । न ज्ञायते महादुष्टः, पापोऽयं किं करिष्यति ॥३११॥
तदस्य प्रणिधिद्वारा, भावो ज्ञेयो मयाऽखिलः । ज्ञातः स्यात् किल दोषाय, न दुष्टग्रहवत् खलः ॥३१२॥
इति प्रयुक्तश्चतुरो, दारकः प्रणिधिर्मया । तत्स्वरूपं परिज्ञाय, मम तेन निवेदितम् ॥३१३॥
आहूयासौ महाश्राद्धान्, रहस्येवमभाषत । प्रच्छन्नो मे करो देयो, भवद्भिः सुखमिच्छुभिः ॥३१४॥
तातेनापि च तद् ज्ञातं, कृता गजनिमीलिका । श्रुत्वेदं प्रणिधेर्बुद्धिर्धृताऽपक्रमणे मया ॥३१५॥
यदि तातानभिप्रेतमकरिष्यदयं कुधीः । तदाऽदास्यं फलं तस्य, पिता तु दुरतिक्रमः ॥३१६॥

कस्याप्यकथयित्वेदं, गूढमालोच्य चेतसा। सह स्वमित्रवर्गेण, तूर्णमत्र समागतः ॥३१७॥
इत्युक्त्वा विरते तत्र, मयोक्तं साध्वनुष्ठितम्। युक्तो न मानिनां वासो, मानम्लानिकरैः सह ॥३१८॥
तमसामुदयं दृष्ट्वा, सूर्यः कालं प्रतीक्षते। गगने तावदेवास्ते, यावन्न स्वोदयक्षतिः ॥३१९॥
इत्थं मद्वचसा तुष्टः, स्थितः कनकशेखरः। दशरात्रं व्यतीयाय, मिथः प्रेमरसालसम् ॥३२०॥
अत्रान्तरे समाहूतावावां तातान्तिके गतौ। मन्त्रिणस्तत्र चायाता, नताः कनकशेखरम् ॥३२१॥
अथाह तातस्तं भद्र, त्वत्पित्रा प्रहिता इमे। प्राप्तो मृत्यूपमं दुःखं, त्वद्वियोगात् पिता तव ॥३२२॥
ज्ञात्वाऽथ चतुरद्वारा, सकारणमपक्रमं। जयस्थले च संभाव्य, स्थितिं तव मुदं दधौ ॥३२३॥
अयमेवास्य पापात्मा, जातोऽनर्थस्य कारणम्। इति निर्वासितो देशाद्, दुर्मुखः कुलसंयुतः ॥३२४॥
इतश्च तत्रैव दिने, दूतः प्राह समागतः। अस्ति राजा विशालायां, नन्दनः शत्रुगोत्रभित् ॥३२५॥
उभे तस्य महादेव्यौ, पुण्यलावण्यभाजने। एका प्रभावती नामापरा पद्मावती तथा ॥३२६॥
तयोः पुत्र्यौ च विमलानना रत्नवती क्रमात्। इतश्च शास्ति कनकपुरं राजा प्रभाकरः ॥३२७॥
स च भ्राता प्रभावत्यास्तस्य बन्धुमती प्रिया। तयोर्विभाकरः पुत्रः, संजातः पुण्यपेशलः ॥३२८॥
प्रभाकरप्रभावत्योः, संकेतोऽयमभूत् पुरा। देयौ यदावयोरन्यतमपुत्रीसुतौ मिथः ॥३२९॥
विभाकरस्य विमलानना दत्ता तदाशयात्। अन्यदा श्रुतवत्येपा, गुणान् कानकशेखरान् ॥३३०॥

ततः सा तद्गुणाकृष्टा, गुणातीतं जगत्रयम् । ध्यायन्ती योगिनीवास्थात्, त्यक्तनिःशेषकौतुका ॥३३१॥
सदा सन्निहितत्वेन, रत्नावत्या तदाशयः । लब्धः प्रोक्तश्च ताताय, तेनापीदं विचारितम् ॥३३२॥
दत्ता विभाकरायेयं, तथाप्यस्या दृढाग्रहे । अपूर्णे जीवितं न स्यादिति कुर्वे स्वयंवराम् ॥३३३॥
ततः सपरिवारैव, प्रहिता विमलानना । रत्नवत्या च विज्ञप्तं, स्नेहलाऽस्यामहं पितः ॥३३४॥
सापत्न्यं स्नेहनाशायेत्येतदिष्टसुहृत्प्रिया । भविष्याम्यनुजानीहि, तन्मां गन्तुं महानया ॥३३५॥
ततः प्रस्थापिता पित्रा, स्नेहात् साऽपि तया सह । उभे ते बहिरुद्याने, स्थिते स्तः प्रहितोऽस्म्यहम् ॥३३६॥
तद्दूतवाचा कनकचूडो हर्षविषादभाक् । कन्यावासकदानार्थं, सूरसेनं न्ययोजयत् ॥३३७॥
दध्यौ च सुमहोऽप्येष, कुमारविरहानले सर्पिःक्षेपसमो जात इत्येतान् प्राहिणोदिह ॥३३८॥
व्यजिज्ञपन्निदं ह्येते, प्रेष्यः कनकशेखरः । रत्नवत्या वरो योग्यस्तथाऽयं नन्दिवर्धनः ॥३३९॥
भद्रौ ! यद्यपि वर्तेऽहं, युष्मद्विरहकातरः । महाप्रयोजनं मत्वा, तथाऽपीदं निगद्यते ॥३४०॥
यातं तूर्णं कुशावर्ते, राज्ञो जनयतं मुदम् । मिथोऽवियोगबुद्ध्या तदावाभ्यां स्वीकृतं वचः ॥३४१॥
दत्ता तातेन सैन्यौघमावां प्रस्थापितौ तदा । मया सहागतौ वैश्वानरपुण्योदयावपि ॥३४२॥
दत्तं प्रयाणकं मार्गो, लङ्घितश्च कियानपि । बाढं प्रणयिनं कर्तुमैच्छद् वैश्वानरोऽथ माम् ॥३४३॥
वर्तते पुरमितश्च कुतश्चित्, पिण्डितैः कृतमवद्यसमूहैः । रौद्रचित्तमनभीष्टततीनां, जन्मभूर्नरकवर्त्मविशालम् ॥३४४॥

सन्ति तत्र भुवनत्रयताप-प्रापणैकरसिकाः खलु लोकाः । ज्वालजालजटिलज्वलनाभा, ये परं स्वमुपदाह्य दहन्ति ॥३४५॥
तत्र शत्रुरनवद्यमतीनां, चौरसंग्रहपरो हतनीतिः । चेतसाऽस्ति विषमः स्मयनिद्रा-घूर्णितो दुरभिसन्धिनरेन्द्रः ॥३४६॥
तत्प्रतापदहनस्य न तापं, केऽपि सोढुमिह सन्ति समर्थाः । नोन्मिषत्यखिलदेहभृतां य-द्धूमपुञ्जभृतमीक्षणयुग्मम् ॥३४७॥
पापकर्मकुशला परपीडा-ज्ञानशून्यहृदया पतिभक्ता । तस्य निष्करुणताऽभिधदेवी, पूतनाकृतिरपूततमाऽस्ति ॥३४८॥
सा नितान्तमलिनाऽपि हि पत्यु-र्दुर्द्धियो बहुमतेति न चित्रम् । पापकर्ममतासमतायाः, शूकरी किमु न शूकररुच्या ॥३४९॥
तत्सुताऽस्ति विकटस्फुटरूपा, कालकूटपुटसंघटितेव । तत्पुरस्य च पितुश्च जनन्या, वृद्धिकृत् स्वजननादपि हिंसा ॥३५०॥
नाममात्रकलनादपि तस्या-स्त्रासमेति जनता घनतापा । स्याच्च दिक्षु निहितातुरनेत्र-स्तामुदीक्ष्य भुवि को न विविक्षुः ॥३५१॥
तादृशी न भुजगेन्द्रफणाली, नान्तरात्रिरपि नो यमजिह्वा । नापि चण्डपवनक्षुभितोच्चै-र्भीषणा प्रलयवारिधिवेला ॥३५२॥
रक्षतोऽथ पुरतामसचित्तं, द्वेषसिन्धुरपतेः प्रियपत्नी । गर्भिणी निजपुरात्समुपेता, रौद्रचित्तनगरे मम धात्री ॥३५३॥
तन्नृपाग्रहसुखादथ तस्थौ, सा कियन्तमपि तत्र च कालम्, द्वेषसिन्धुरपतिप्रतिबद्धो, यत्सदा स हि नृपस्तदभिन्नः ॥३५४॥
आजगाम नृगतौ समुपेतं, मामसौ समधिगम्य ततोऽपि । स्नेहला निजसुताय च सर्वं, वह्वये स्वजनवर्गमवादीत् ॥३५५॥
लब्धतद्व्यतिकरस्य च तस्य, प्रोल्ललास मनसोऽभिनिवेशः । दापयामि यदुत द्रुतमस्मै, कन्यकां दुरभिसन्धिनृपेण ॥३५६॥
मामथैष गगनार्थमवादीत् , तत्र बाह्यपरिवारविमुक्तम् । तद्गिराऽहमपि तत्र गतस्ता-मागतश्च परिणीय बले स्वे ॥३५७॥
अथ गच्छन्नहं हिंसावेश्वानरयुतः पथि । दीप्तो दंष्ट्रामहाफालकराल इव केसरी ॥३५८॥

अथ वैश्वानरः प्राह, कृतकृत्योऽस्म्यहं सखे । कीर्तिप्रासादमारूढो, योग्यां योग्येन योजयन् ॥३५९॥
कर्तव्योऽस्याः प्रसादाय, सागसां चाऽप्यनागसाम् । वधस्त्वयाऽविमृश्यैव, मम वाक्यानुयायिना ॥३६०॥
मत्तोऽप्यभ्यधिकं तेजः, प्रसन्नेयं प्रदास्यति । यस्य ब्रह्माण्डभाण्डेऽपि, द्युतिर्भवति तापतः ॥३६१॥
तथेति प्रतिपद्याथ, गच्छता मयका पथि । हरिणाद्या हता हन्त, वन्या जीवाः सहस्रशः ॥३६२॥
ततः सांस्कारिकं तेजो, हिंसया मे प्रसन्नया । दत्तं वैश्वानरगिरां, जातः सुप्रत्ययस्ततः ॥३६३॥
इत्थं कनकचूडस्य, देशाभ्यर्णे वयं गताः । तत्र चैकोऽस्ति विषमकूटो नाम महागिरिः ॥३६४॥
तस्मिन् कनकचूडस्य, मण्डलोपद्रवे रताः । अम्बरीषाभिधाः सन्ति, लुण्टाकाः कुटिलाशयाः ॥३६५॥
पूर्वं कनकचूडेन, बहुशस्ते कदर्थिताः । तैर्वर्त्म रुद्धमेष्यन्तं ज्ञात्वा कनकशेखरम् ॥३६६॥
प्रत्यासन्ने बलेऽस्माकं, ते चौरा द्रागुपस्थिताः । व्याला इव महामन्त्रकुण्डलीकृतमण्डले ॥३६७॥
लग्ने युद्धे रिपुभ्योऽस्मत्सैनिका दुद्रुवुस्ततः । व्यालेभ्यो मन्त्रविध्यर्थस्खलिता मान्त्रिका इव ॥३६८॥
प्रमर्षिण्याऽथ लुण्टाकसेनया म्लानतां ययौ । छाययेव शशी राहोः, सद्यः कनकशेखरः ॥३६९॥
अत्रान्तरे च प्रवरसेनश्चरटनायकः । मामभ्यापतितो मेघमुन्नतं शरभो यथा ॥३७०॥
संजितोऽहं तदा वैश्वानरेणायोधनोद्यतः । क्रूरचित्तगुटीमेकां, भुक्त्वा जातोऽतितापवान् ॥३७१॥
संरम्भो भीषणः सोऽभूद्, द्वयोर्युद्धं प्रकुर्वतोः । क्षणमुत्क्षिप्तकरयोर्वन्ययोर्द्विपयोरिव ॥३७२॥

सुरदत्तवरस्यापि, चरटेशस्य नेषवः । बाधाकृतो ममाभूवन् , पुण्योदयसुवर्मणः ॥३७३॥
अथासौ चरटाधीशो, हताश्वश्छिन्नकार्मुकः । गलिताम्बुतडिद्धीनमेघतुल्यो मया कृतः ॥३७४॥
स्यन्दनादवतीर्यासौ, करवालं करे दधत् । रेजे समापतन्नद्रेरुद्दंष्ट्र इव केसरी ॥३७५॥
हिंसावैश्वानरोग्रेण, छिन्नमस्य मया शिरः । अर्धचन्द्रेणाद्रिशृङ्गं, वज्रेणेव बिडौजसा ॥३७६॥
स्फुटितेव तदा शुक्तिः शक्तिः सा परिमोषिणाम् । तन्मुक्तालिरिवामर्त्यैः, पुष्पवृष्टिः कृता मयि ॥३७७॥
प्रपन्नः सर्वचरटैस्ततश्च हतनायकैः । स्वामित्वेनाहमसुरैः, सुरेन्द्र इव कान्तिमान् ॥३७८॥
तदेतत् सकलं हिंसावैश्वानरबलं मया । भावितं न तु यत्तथ्यं, पुण्योदयविजृम्भितम् ॥३७९॥
ततो लब्धजयाः प्राप्ताः, कुशावर्तपुरे वयम् । तुष्टः कनकचूडोऽथ, विहितश्चोत्सवो महान् ॥३८०॥
उपयेमेऽथ कनकशेखरो विमलाननाम्[1] । मया रत्नवती पाणौ, गृहीता प्रेमनिर्भरम् ॥३८१॥
गते ते कौतुकाक्षिप्ते, व्यतीतेऽथ दिनत्रये । चूतचूचुकमुद्यानं, क्रीडितुं नः किलाज्ञया ॥३८२॥
हृते ते केनचिदिति तदा कोलाहलोऽजनि । गतं तदनुमार्गेण, सज्जमस्मद्बलं ततः ॥३८३॥
प्राप्ता परचमूः खिन्ना, सोत्साहेन बलेन नः । करिणीव करीन्द्रेण, श्येनेनेव कपोतिका ॥३८४॥
श्रुत्वा विभाकरं तत्र, तच्चौरं तमवादयम् । पुरुषो भव युद्धाय, रे पापिष्ठ ! क्व गच्छसि ॥३८५॥

१ च रा. ज्ञा.।

प्रवाहा इव गंगायास्त्रयस्तद्बलनायकाः । ततो ववलिरेऽस्माकं, संमुखं योद्धुमिच्छवः ॥३८६॥
अहं कनकचूडश्च, तथा कनकशेखरः । त्रयोऽप्यशिवदुद्दीप्तास्त्रीनमून् हन्तुमुद्यताः ॥३८७॥
इतश्च नन्दनोर्वीशदूतोऽभ्यर्णस्थितो मया । पृष्टो विकट ! जानीषे, क एते नायकास्त्रयः ॥३८८॥
स प्राह वामपार्श्वे यः, सेनायाः स कलिंगराट् । ख्यातः समरसेनाख्यो, विभाकरपितुः पतिः ॥३८९॥
आस्ते त्वत्संमुखः सोऽयं, मध्ये सैन्यस्य यः स च । प्राप्तः कनकचूडं तंन्मातुलो वङ्गराट् द्रुमः ॥३९०॥
सैन्यदक्षिणभागस्थश्चायं साक्षाद्विभाकरः । अदूर एव कुपितः प्राप्तः कनकशेखरम् ॥३९१॥
वदत्येवेति विकटे, लग्नं युद्धं सुदारुणम् । वृष्टिभिः शरधाराणां, छन्नं मार्तण्डमण्डलम् ॥३९२॥
युद्धक्रुद्धभटच्छिन्नकुम्भिकुम्भस्थलोद्गतैः । असद्भावः खपुष्पाणामपास्तस्तत्र मौक्तिकैः ॥३९३॥
बाणवृष्ट्या भटच्छिन्नमातङ्गास्रप्रवाहतः । खड्गविद्युद्विलासैश्च, प्रावृट्कालस्तदाऽजनि ॥३९४॥
भग्नमस्मद्बलं सर्वं, लग्ने युद्धेऽथ तादृशे । तर्कपाठ इव स्वान्तमव्युत्पन्नस्य कर्कशे ॥३९५॥
पराङ्मुखं न चलिता, नायकास्तु त्रयो वयम् । अभ्यागताः परेऽप्यस्मांस्त्रयीविद इवार्हतान् ॥३९६॥
भुक्त्वाऽथ भास्कराङ्गेन, क्रूरचित्ताभिधां गुटीम् । मया सांक्षेपमाहूतो, योद्धुं समरसेनराट् ॥३९७॥
वर्षन्नस्त्राणि सोऽप्यागात् , प्रलयाम्भोदसोदरः । पुण्योदयप्रभावात्तु, मयि प्रभवति स्म न ॥३९८॥

---

१ तस्य विभाकरस्य मातुल.। २ -स्त्यक्षेप-डे. शा.

हिंसावश्वानरोग्रेण, मया शक्त्या हतोऽथ सः । निर्नायकं बलं तस्य, काकनाशं पलायितम् ॥३९९॥
लग्नः कनकचूडेन, मयाऽथाभिहितो द्रुमः । गोमायुनेव सिंहस्य, त्वया तातस्य को रणः ॥४००॥
युक्तयुद्धेऽसि धीरश्चेन्ममाभिमुखमेहि तत् । छिन्नः समरसेनाद्रिस्तवच्छेदे न मे श्रमः ॥४०१॥
इत्याक्षिप्तोऽतिवेगेन, स मामभ्यापतद् द्रुमः । निशितेनार्धचन्द्रेण, विद्युद्दण्डेन पातितः ॥४०२॥
पतितेऽथ द्रुमे तस्य, सैनिकाः शकुना इव । स्वस्थानभङ्गशोकार्ताः, प्रोड्डिनाः प्रसरद्रुताः ॥४०३॥
विभाकरोऽथ कनकशेखरेण रणोद्यतः । छिन्नास्त्रस्तदुपर्यस्त्राण्याग्नेयादीन्यमूमुचत् ॥४०४॥
तान्यवारयदाप्याद्यैः, प्रतिशस्त्रैरसावपि । कृपाणं स्यन्दनाद् बिभ्रदथोत्तीर्णो विभाकरः ॥४०५॥
रथस्थस्य न मे युद्धं, भूस्थेनानेन युज्यते । हरेर्दरीस्थस्येवेति, दध्यौ कनकशेखरः ॥४०६॥
सोऽपि भूमाविति ध्यात्वा, स्थितः खड्गलतासखः । चक्राते करणन्यासं, नृत्यन्ताविव तावुभौ ॥४०७॥
उत्क्षिप्तखड्गावन्योन्यं, वल्गन्तौ तौ विरेजतुः । कल्पान्तपवनक्षुब्धावुद्वेलाविव वारिधी ॥४०८॥
अपातयत् समाहत्य, ततः कनकशेखरः । विभाकरं गतो मूर्च्छां, स निद्रां श्रमजामिव ॥४०९॥
आश्वासितोऽथ कनकशेखरेण विभाकरः । वायुदानादिना स्वीयकीर्त्यायुर्वृद्धिहेतुना ॥४१०॥
उक्तश्च साधु पृथ्वीश, न त्यक्तं पौरुषं त्वया । पूर्वपूरुषसिंहानां, ध्रुवं कुलमलंकृतम् ॥४११॥
गाहमानेन युद्धाब्धिं, दैन्यं न स्वीकृतं त्वया । उत्थाय पुनरप्युच्चैस्तद्भवान् योद्धुमर्हति ॥४१२॥

ततो दिवाकरः प्राह, युद्धेनालमतःपरम् । जितोऽसि चरितेनापि, कृपाणेनेव न त्वया ॥४१३॥
ततो निवेशयामास, रथे कनकशेखरः । तं समाह्लादयामास, बन्धुवत् स्निग्धया गिरा ॥४१४॥
समानीयाथ विमलाननां रत्नवतीं तथा । जित्वा कनकचूडोऽरीन्, प्रविवेश पुरं निजम् ॥४१५॥
तदा च पथि लोकानां, समुल्लापः श्रुतो मया । जगत्यप्रतिमल्लोऽय, प्रतापी नन्दिवर्धनः ॥४१६॥
इमं समस्तेनं च, यो जिगायैकहेलया । तस्य धैर्यं च वीर्यं च, को वा वर्णयितुं क्षमः ॥४१७॥
एतेनोग्रप्रतापेन, श्लाघ्यं नगरसम्पदः । भानुनेव नभोभागः, स्फुरत्किरणराजिना ॥४१८॥
अस्य कल्याणयोगस्य, हेतू ज्ञातौ मया ततः । हिंसावैश्वानरौ क्रूरौ, शान्तः पुण्योदयस्तु न ॥४१९॥
रथस्थो हट्टमार्गेण, गच्छन् रत्नवतीयुतः । प्राप्तो राजकुलाभ्यर्णमितश्चाहं कृताद्भुतः ॥४२०॥
अथास्ति कुशनाथस्य, दुहिता जयवर्मणः देवी कनकचूडस्य, नाम्ना मलयमञ्जरी ॥४२१॥
क्रीडन्मन्मथताम्राश्रलावण्यद्रुममञ्जरी । अस्ति तस्याः सुता धन्या, कन्या कनकमञ्जरी ॥४२२॥
विलोकते स्म गच्छन्तं, सा मां वातायनस्थिता । जघान मन्मथव्याधो, मृगीमिव तदैव ताम् ॥४२३॥
ममापि लीलया दृष्टिस्तत्र वातायने गता । अमूमुहन्मां दृष्टाऽपि, ततः सा मदिरेक्षणा ॥४२४॥
पश्यन्ती मम दृष्टिं सा, प्राप गाढं स्मरज्वरम् । सिस्वेद च चकम्पे च, संमुमोह च तद्दशा ॥४२५॥
आवयोर्दृष्टिसंयोगाद् व्यक्तचिह्नादलक्षयत् । तेतलिः सारथिर्भावं, कन्दर्पद्रुमदोहदम् ॥४२६॥

दध्यौ चायमसौ योगो, रतिमन्मथयोरिव । युक्तोऽवाच्यः परमिति, स्मित्वा रथमचालयत् ॥४२७॥
दृष्टिः कथंचिदाकृष्टा, ततो लज्जागुणान्मया । तस्यां मनस्तु लावण्यदीर्घिकायां स्थितं मम ॥४२८॥
अथ प्राप्तो निजावासं, क्रिया चक्रे दिनोचिता । निशायां तद्विकल्पौघैः, शून्यचित्त इवाभवम् ॥४२९॥
तदद्वैतोपनिषदः, स्मरो मां यदपीपठत् । विना तदाशां तेनाशाः, सर्वाः शून्या मयेक्षिताः ॥४३०॥
लावण्यामृतपूर्णायां, तस्यां मग्ने ममेक्षणे । अहो तत्यजतुर्नैव, स्मरतप्ते अपि श्रुतिम् ॥४३१॥
सा मन्मनोरथारूढा, श्रान्तश्चित्रं तथाऽप्यहम् । गतोऽपि तन्मयीभावं, निःश्वासौघममूमुचम् ॥४३२॥
तद्रोचैर्विकल्पौघैर्दूरापहृतचेतसः । कोटियामेव वितता, त्रियामा सा ममाभवत् ॥४३३॥
तथाऽहं तापितः शय्यागतस्तद्विरहाग्निना । निद्रयाऽपि तथा त्यक्तस्तापसंक्रमभीतया ॥४३४॥
उदितेऽर्के गतेऽप्यर्धप्रहरे शून्यमानसः । स्थितस्तेतलिना दृष्टः, प्रणामायाभ्युपेयुषा ॥४३५॥
दुःखस्य कारणं पृष्टं, भक्तिप्रह्वेन तेन मे । संगोप्यैव मया प्रोक्तो, वृत्तान्तोऽथ तदग्रतः ॥४३६॥
हट्टमार्गमतिक्रम्य, यदानीतस्त्वया रथः । धृतो राजकुलाभ्यर्णे, ततो जातमिदं मम ॥४३७॥
सर्वाङ्गाणि विलीयन्ते, मनस्तापः प्रवर्धते । न रोचन्ते जनोल्लापाः, शून्यायन्ते दिशोऽखिलाः ॥४३८॥
श्रुत्वेदं तेतलिः प्राह, चक्षुर्दोषोऽत्र कारणम् । करिष्याम्यौषधं चास्य, नरशार्दूल ! मा शुचः ॥४३९॥

१ श्रुतम् डे. ज्ञा. । २–प्यर्धे डे. ज्ञा ।

ज्ञात्वा तमथ भावज्ञं, मयोक्तं सुष्ठु दृष्टवान् । भवान्निदानमधुना, भेषजं वक्तुमर्हति ॥४४०॥
स प्राह लवणोत्तारः, कार्यतां बध्यतां करे । औषधी जाप्यतां मन्त्रो, यथा दोषो विनश्यति ॥४४१॥
यद्येवमपि दोषस्य, विनाशो न भविष्यति । बाढं निर्भर्त्सयिष्यामि, चक्षुर्दोषकरीं तदा ॥४४२॥
ततः स्मित्वा मया प्रोक्तं, कृतं हासेन तेतले ! । मद्दुःखविगमोपायं, निश्चितं कथयाधुना ॥४४३॥
स प्राह परिहासोऽयं, विहितः खेदशान्तये । ममार्धप्रहरो लग्नस्तवैवार्थं प्रकुर्वतः ॥४४४॥
आस्ते मलयमञ्जर्या, मनोविश्रम्भभाजनम् । प्रगल्भा मत्परिचिता, वृद्धवेश्या कपिञ्जला ॥४४५॥
गृहे प्रविश्य शयनात्, प्रागेवोत्तिष्ठतो मम । वयस्य रक्षरक्षेति, प्रकामं पूच्चकार सा ॥४४६॥
ससंभ्रमं मया प्रोक्तं, कुतो भीस्ते कपिञ्जले ! । सा प्राह मित्र ! कन्दर्पाद् दर्पाद् दलयतो जगत् ॥४४७॥
अश्रद्धाय वचस्तच्च, मयोपहसितं तदा । कुङ्कुमापिङ्गपलितचिताज्वालालिभासुरम् ॥४४८॥
भीष्मं शब्दायमानास्थिपञ्जरोरुशिवारवैः । उल्लम्बितशवाकारलुलितस्तनमण्डलम् ॥४४९॥
महाश्मशानतुल्यं ते, वपुर्वीक्ष्य पलायते । नितान्तं कातरः कामः, कुतस्तव ततो भयम् ॥४५०॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥
ना जगौ मे त्वया भावो, दुर्विदग्ध ! न लक्षितः । स्वामिन्यास्तनया मेऽस्ति, कन्या कनकमञ्जरी ॥४५१॥
निर्दयं सा च कामेन, वराकी पीडयतेऽधुना । या भीस्तस्यास्ततः सैव, मय्यारोप्य निवेदिता ॥४५२॥

१ -[illegible]-रा. प्रा.

मयोक्तं किंनिमित्तोऽसौ, तस्याः स मदनज्वरः। सा प्राह तस्या जातोऽसौ, नन्दिवर्धनदर्शनात् ॥४५३॥
सुधामग्नेव दृष्टाऽसौ, पश्यन्ती नन्दिवर्धनम्। तस्मिन् दृष्टिपथातीते, विषमग्नेव चाजनि ॥४५४॥
ज्ञात्वा मलयमञ्जर्या, तामकस्माज्ज्वरातुराम्। उपचाराः कृताः शीतास्तालवृन्तानिलादिभिः ॥४५५॥
गतोऽस्तं तरणिस्तावदुदितः शर्वरीपतिः। विस्तृता पञ्चबाणास्त्ररजोराजीव चन्द्रिका ॥४५६॥
शायिता सा ततो हर्म्ये, चन्द्रचन्दनशीतले। कृतायां मृदुशय्यायां, प्रवालनलिनीदलैः ॥४५७॥
न च तस्या गतस्तापः, प्रत्युताभ्युदयाद् विधोः। खादिराङ्गारसंसर्गादिव प्रावर्धताधिकम् ॥४५८॥
प्रवृद्धतापां तां दृष्ट्वा, जगौ मलयमञ्जरी। दीर्घं निःश्वस्य पुत्र्या मे, भविता किमतः परम् ॥४५९॥
राजमार्गे श्रुतः शब्दस्तदाऽकस्मात् समुत्थितः। वेला विलम्बते काचित्, सिद्धमेव प्रयोजनम् ॥४६०॥
बुद्धः स्वामिनि! शब्दार्थो, मयोक्तं हृष्टया तदा। स्पन्दते वामनेत्रं मे, सिद्धमेव प्रयोजनम् ॥४६१॥
अत्रान्तरे च भगिनी, ज्येष्ठाऽस्या मणिमञ्जरी। निषण्णा हर्म्यमारुह्य, हृष्टा साऽऽगत्य नोऽन्तिके ॥४६२॥
मयोक्ता सा च वत्से! त्वं, कठोरा दृषदोऽप्यसि। दृश्यते सविषादासु, यदस्मासु प्रमोदभाक् ॥४६३॥
सा प्राह किं करोम्येष, हर्षहेतुर्ममाचलः। भवद्विषादहस्तेन, नैव गोपयितुं क्षमः ॥४६४॥
क एष इत्यभिहिते, सा जगावधुना ह्यहम्। ताताभ्यर्णे गता तेन, निजोत्सङ्गे निवेशिता ॥४६५॥
तदा च पितुरभ्यर्णे, स्थितः कनकशेखरः। सुधामधुरया वाचा, पिता तं प्रत्यभाषत ॥४६६॥

द्रुमः समरसेनश्च, निहतौ येन लीलया। अतिदुष्प्रतिकारोऽसौ, महात्मा नन्दिवर्धनः ॥४६७॥
तनये मम कीर्तिते, जीवितादपि वल्लभे। ज्येष्ठभ्रात्रेऽस्य दत्तैव, तत्रेयं मणिमञ्जरी ॥४६८॥
दीयतामधुना नेयमस्मै कनकमञ्जरी। चारुमन्त्रितमित्याह, ततः कनकशेखरः ॥४६९॥
गिरा निहितमिदं श्रुत्वा, ततश्चाहमिहागता। सुललिप्यावहे सार्धं, भगिन्याविति मे मुदः ॥४७०॥
तदा मलयमञ्जर्या, प्रोक्तं पश्य कपिञ्जले!। स्फुटं निमित्तसंवादं, दैवीयं वाग् मयोदितम् ॥४७१॥
धैर्यमापादिता किंचित् ततः कनकमञ्जरी। पतिभक्तकथालापै, रजनी चातिवाहिता ॥४७२॥
अस्याः मारकृतस्तापो, न चाद्याप्युपशाम्यति। कुमारदर्शनं शक्यो, विना शामयितुं च न ॥४७३॥
अतो विज्ञपयामि त्वां, कुमारस्यातिवल्लभम्। त्रायस्व तां कुमारस्य, दर्शनेन प्रसेदुषः ॥४७४॥
मयोक्तं ननु यद्येवं, तदा विज्ञपयाम्यहम्। स्थातव्यं भवतीभ्यां च, रतिमन्मथकानने ॥४७५॥
ततः कपिञ्जला प्रीता, गता स्वौकस्यहं पुनः। समागतोऽत्र तदिदं, प्राप्तं त्वद्गदभेषजम् ॥४७६॥
तदात्मीयतलेरियं, हारो वक्षसि रोपितः। मया तद्भुजयोर्बद्धाः केयूराद्याश्च हर्षतः ॥४७७॥
समेत्य भूपप्रहितो, विमलाख्यो महत्तमः। अत्रान्तरे जगौ देवो, वदत्येवं ममाग्रहात् ॥४७८॥
तयेष्ट मत्सुता ग्राह्या, पाणौ कनकमञ्जरी। तेतलिप्रेरितेनास्य, स्वीकृतं तद्वचो मया ॥४७९॥
गतेऽहं निमिले प्रातस्तेतलिप्रेरितो वनम्। भ्रमताऽपि न दृष्टा च, नानास्थानेषु तत्र सा ॥४८०॥

अत्रान्तरे लताकुञ्जे, श्रुतः सन्नूपुरध्वनिः । गहनं तेतलेः पार्श्वादपसृत्य तदीक्षितम् ॥४८१॥
प्रतीतमेतद्युष्माकं, शृण्वन्तु वनदेवताः । अत्र तेतलिना तस्यानयनं प्रत्यपद्यत ॥४८२॥
प्रतार्य तेतलिर्यातो, न चासौ दृश्यते जनः । अन्वेषयामि तमिति, गता धूर्ता कपिञ्जला ॥४८३॥
तदलं जीवितव्येन, प्रसादाद् वः स एव तु । भर्ता जन्मान्तरे भूयादित्युक्त्वा तत्र दुःखिता ॥४८४॥
तमालतरुशाखायां, बद्धा पाशे शिरोधराम् । मोक्तुं शरीरमुद्युक्ता, दृष्टा कनकमञ्जरी ॥४८५॥
तत्र मा साहसमिति, ब्रुवाणोऽहं जवाद् गतः । धृता सा पाशकं छित्त्वा, शीतैराश्वासिता जलैः ॥४८६॥
उक्तं च देवि ! किमिदमारब्धमसमञ्जसम् । विषादो युज्यते नेयान्, स्वाधिने मयि किंकरे ॥४८७॥
मद्दर्शनेन जाताऽसावनेकरसनिर्भरा । विलिखन्ती भुवं तस्थौ, विलसद्दशनद्युतिः ॥४८८॥
क्रीतः सद्भावमूल्येन, दासोऽहं तव वल्लभे ! । कठोरो नास्म्यहं वेधाः, कठोरस्तु विलम्बकृत् ॥४८९॥
इदं मम वचः श्रुत्वा, सुधासिक्तेव साऽभवत् । इतश्च तेतलिं प्राप्ता, पर्यटन्ती कपिञ्जला ॥४९०॥
साऽब्रवीत् क कुमारोऽस्ति, तेनोक्तं गहने पुरः । आवयोर्मिथुनं ताभ्यामागताभ्यामथेक्षितम् ॥४९१॥
जातस्तयोर्महान् हर्षो, योग्ययोगनिरीक्षणात् । यौगन्धरस्तदायातः, कन्याऽन्तःपुरकञ्चुकी ॥४९२॥
तेनोक्तमाह्वयत्येनां, पिता कनकमञ्जरीम् । श्रुतेयं निश्चयपद्धती, तदस्याः सुखमिच्छति ॥४९३॥
प्रस्थिता साऽथ कनकमञ्जरी सकपिञ्जला । पुनः पुनः स्मरन्नेतामहं स्वभवनं गतः ॥४९४॥

अपरेद्युः समागत्य, जगौ कदलिकाऽनघम् । विवाहदिनमद्यैव गोधूल्यां तव शुद्ध्यति ॥४९५॥
देवः समादिशत्येवं, श्रुत्वेति मुदितं मया । विवाहयज्ञो महता, विमर्देन ततः कृतः ॥४९६॥
पुनः कनकमञ्जर्या, हर्म्ये सुरगृहोपमे । विलासैर्मान्मथैर्दिव्यैः, सुखमन्वभवं ततः ॥४९७॥
कृतो व्रणप्ररोहेण, प्रगुणोऽथ विभाकरः । जातस्तेन सह स्नेहो, मम विश्रम्भनिर्भरः ॥४९८॥
स्वस्थाने प्रहितः सोऽथ, बहुमानपुरस्सरम् । राज्ञा कनकचूडेन, स्वपरिच्छदसंयुतः ॥४९९॥
तेऽप्यम्बरीषनामानश्चौरास्तन्नायके हते । दासत्वं प्रतिपन्ना मे, मया तेऽपि विसर्जिताः ॥५००॥
पुनः कनकमञ्जर्या, रतिवत्या च भोगभाक् । प्राप्तोऽहं सुषमां गङ्गागौरीभ्यामिव शङ्करः ॥५०१॥
हिंसावैश्वानरौ मत्वा, प्राणेभ्योऽप्यधिकं परम् । पापर्धिव्यसनाज्जातो, जन्तुसन्तानघातकः ॥५०२॥
तदा मां तादृशं प्रेक्ष्य, दध्यौ कनकशेखरः । अहो किमिदमेतस्य, चरित्रमसमञ्जसम् ॥५०३॥
महाढ्यः कुलीनोऽपि, विद्यावान् रूपवानपि । हिंसावैश्वानराश्लिष्टो, न श्लाघ्यो नन्दिवर्धनः ॥५०४॥
उपेक्षितुं न युक्तोऽयं, नैव मे हितकारिणः । वर्तेत यदि मद्वाक्ये, स्यादस्य हितमुत्तमम् ॥५०५॥
त्यजेदस्य दाक्षिण्यं, न तातसहितस्य मे । इति तातान्तिके स्थित्वा, शिक्षयाम्येनमञ्जसा ॥५०६॥
अथ भृशं गृहीतार्थं, चक्रे कनकशेखरः । अन्यदा मां समीपस्थं, प्रशशंस महीपतिः ॥५०७॥
तदा प्रोवाच कनकशेखरस्तात! वर्ण्यते । यादृशस्तादृगेवास्ति, स्वभावान्नन्दिवर्धनः ॥५०८॥

परमस्य कुसंसर्गाद्गुणौघो याति दुष्टताम् । परमान्नं सुधास्वादं, गरलस्येव संक्रमात् ॥५०९॥
हेतुः स्वान्योपतापानां, निखिलानर्थजन्मभूः । सुहृद्वैश्वानरो ह्यस्य, प्राणेभ्योऽप्यस्ति वल्लभः ॥५१०॥
श्रूयमाणाऽपि नाम्नैव, जगतस्त्रासकारिणी । हिंसा नाम्नी च भार्याऽस्य, विद्यतेऽवद्यमन्दिरम् ॥५११॥
इत्यस्य दुष्टसंसर्गाद्, गुणवत्ताऽपि निष्फला । पुष्पवत्तेव नो याति, श्लाघ्यतामवकेशिनः ॥५१२॥
नृपतिः प्राह यद्येवं, श्रेयांस्त्यागस्ततस्तयोः । स्वीयोऽपि मलवत्त्याज्यः, स्वमालिन्यकरो हि यः ॥५१३॥
अनेन वचसा बाढं, हुताशेनेव सर्पिषा । मया प्रज्वलितेनाग्रे, तयोर्धगधगायितम् ॥५१४॥
उक्तं च रे दुरात्मानौ ! युवां मत्तोऽपि पण्डितौ । येनैवं मातृमुखवन्मां शिक्षयितुमुद्यतौ ॥५१५॥
मया ययोः प्रभावेन, युष्मद्राज्यं सुरक्षितम् । हिंसावैश्वानरौ किं तौ, युवयोर्हीनै निन्दतोः ॥५१६॥
तौ स्मितास्यावुभौ जातौ, वाचमाकर्ण्य तां मम । ज्ञात्वाऽनादरकर्तारावाकृष्टा क्षुरिका मया ॥५१७॥
उक्तं च भवतं गेहेनर्दिनौ द्रागुदायुधौ । दर्शयाम्येष भवतोर्वीर्यं वैश्वानरस्य वै ॥५१८॥
उत्क्षिप्तक्षुरिकं दृष्ट्वा, मां नष्टमथ राजकम् । चलितौ न परं धीरौ, भूभृत्कनकशेखरौ ॥५१९॥
पुण्योदयस्य सान्निध्यात्, तयोस्तीव्रप्रतापयोः । अदत्त्वैव प्रहारं द्रागास्थानादहमुत्थितः ॥५२०॥
गतः स्ववेश्मावमतस्ताभ्यामपि ततः परम् । परस्परं च विच्छिन्नो, व्यवहारोऽपि लौकिकः ॥५२१॥
दारुणाख्योऽन्यदा दूतः, समायातो जयस्थलात् । स मया प्रत्यभिज्ञातो, निजगादेति चारुगीः ॥५२२॥

१ दारुका-डे. ज्ञा.

कुमार ! जगदाधार, प्रहितोऽस्मि महत्तमैः । मयोक्तं कुशली तातस्तातेन प्रहितो न किम् ॥५२३॥
तेनोक्तं कुशली देवो, वङ्गाद् यवनः परम् । स्थितोऽस्ति नगरं रुद्ध्वा, तेनाभूदाकुलो नृपः ॥५२४॥
आकार्यतामिदानीं द्राक्, कुमारो नन्दिवर्धनः । यथा स्यान्नगरत्राणमित्यमात्यैर्विचारितम् ॥५२५॥
तदा मतिधनेनोक्तं, देवाय ज्ञाप्यतामिदम् । धीविशालो जगौ ज्ञाप्यं, न देवायातिरागिणे ॥५२६॥
नाप्यमन्त्रितमित्याह, मन्त्री प्रज्ञाकरस्तदा । प्रच्छन्नस्तेन तैर्दूतः, संभूय प्रहितोऽस्म्यहम् ॥५२७॥
प्रहितोऽहमिति श्रुत्वा, हिंसावैश्वानरेरितः । सहैव मणिमञ्जर्याऽऽयाता कनकमञ्जरी ॥५२८॥
गतो जयस्थलाभ्यर्णमथाच्छिन्नप्रयाणकैः । क्रूरचित्तप्रभावेन, साक्षाद्वैश्वानराकृतिः ॥५२९॥
सद्रूप एव जातोऽस्मि, तदा वैश्वानरो जगौ । तव सात्म्यं गतैवैषा, हिंसापीति न संशयः ॥५३०॥
दृष्टो तावदेतौ मैः, प्रौढं परबलं मया । आगतं मद्बलं दृष्ट्वा, सन्नद्धाभिमुखं च तत् ॥५३१॥
गजेन्द्रजबलं वलगदश्ववारकदम्बकम् । तद्देवायोधनं लग्नमुद्वेलाम्बुधिसन्निभम् ॥५३२॥
प्रनष्टा मद्भटाः सर्वे, यवनस्य बलात् ततः । अहं त्वभिमुखं योद्धुं, गतः सत्वरमेककः । ॥५३३॥
स्वयं यवनराजोऽथ, सह योद्धुं मयाऽऽगतः । रथौ चातीव मिलितौ, रभसादुभयोस्ततः ॥५३४॥
पतितोऽहं रथे तस्य, द्रुतमुत्पत्य सिंहवत् । शीर्षं तस्य स्वहस्तेन, त्रोटितं पुष्पवृन्तवत् ॥५३५॥
बलं मम परावृत्य, तदायातं मदन्तिकम् । पपात पुष्पवृष्टिश्च, सुरैर्मुक्ता ममोपरि ॥५३६॥

आयातोऽथ पुरात् तातो, नतं मूर्ध्नि चुचुम्ब माम् । शमयन्ती वियोगाग्निमम्बा च प्रमदाश्रुभिः ॥५३७॥
बन्दिभिर्गीयमानोऽथ, मात्रा तातेन चान्वितः । प्रविष्टोऽहं पुरं स्वीयं, मुदितैर्नागरैः स्तुतः ॥५३८॥
गतोऽथ स्वीयमावासं, स्थित्वा राजकुले क्षणम् । कृत्वा दैवसिकं कृत्यं, निशि सुप्तः सुखालसः ॥५३९॥
अथैवं चिन्तयामि स्म, तत्त्वज्ञानपराङ्मुखः । अहो वैश्वानरस्यायं, प्रभावो भुवनाद्भुतः ॥५४०॥
यत्प्रभावान्मया लोके, लब्धा जयपताकिका । अहो प्रभावो हिंसाया, या दुर्द्धर्षं चकार माम् ॥५४१॥
एते मे परमे बन्धू, एते परमदेवते । ध्रुवं मे निन्दकः शत्रुः, सुहृत् श्लाघाकृदेतयोः ॥५४२॥
तातास्वादीनपृष्ट्वैव, रात्रिशेषे ततो गतः । अटव्यां मारयामि स्म, सत्त्वान् पापर्धिबद्धधीः ॥५४३॥
कृत्वा खेटकमायातः, सन्ध्यायां भवने निजे । नायातः किं कुमारोऽद्य, पिताऽथ विदुरं जगौ ॥५४४॥
स जगौ जग्मुषा तस्य, गेहं परिजनाच्छ्रुतम् । मया निश्येव पापर्द्ध्यै, कुमारः कानने गतः ॥५४५॥
पुनः पृष्टं कुमारः किमद्यैव मृगयाधिया । गतोऽटव्यां किमथवा, यात्येष प्रतिवासरम् ॥५४६॥
तदा परिजनेनोक्तं, हिंसापाणिग्रहोत्तरम् । पापर्द्धिमन्तरा क्वापि, दिने न धृतिमेत्ययम् ॥५४७॥
तातोऽथ प्राह विदुर ! कुमारस्य न युज्यते । मृगयाव्यसनं पापमसद्भिश्चैरनादृतम् ॥५४८॥
भार्याऽपसार्या हिंसेयं, तत् कुमारस्य पापभूः । विदुरः प्राह सा वैश्वानरवन्निरुपक्रमा ॥५४९॥
अथवा श्रूयते जैनः, पुरेऽत्र पुनरागतः । नैमित्तिकः स एवात्र, प्रष्टव्योऽर्थे रहस्यवित् ॥५५०॥

ततो राजा स आहूतः, प्रतिपत्तिः कृतोचिता । पृष्टं कथं कुमारोऽयं, हिंसां त्यक्ष्यति मे वद ॥५५१॥

जगाद नैमित्तिकपुङ्गवोऽथ गां, पुरा गुणा यस्य मयोपवर्णिताः । शुभाशयस्यास्य महीपतेः प्रिया, पुरा यथाऽभूत् स्थिरतोपवर्णिता ॥

तथा प्रिया तस्य परा पराजिता, जगद्वधूरूपगुणेन वर्तते । महातमोग्रन्थिविदारणोद्यता, प्रशान्तता नाम महोदयावहा ॥५५३॥

इयं जनानां हितकारिणी परा, परार्थसंपादनबद्धशुद्धधीः । प्रसादमस्या न विना क्रिया सतां, फलान्विता स्याद् ध्रुवमिक्षुपुष्पवत् ॥

इयं हि लक्ष्मीः पुरुषोत्तमोचिता, श्रुताम्बुराशेर्मथनात् किलोत्थिता । न सङ्गमस्यास्तदुपैत्यभाग्यभृत् , क्व हारहूरारतिभाक् क्रमेलकः ॥

इमां विना संसृतिपारदायिनो, न लोकलोकोत्तरशास्त्रविभ्रमाः । कलां विना किं करनर्तनश्रमाः, सुशिक्षितां नृत्यरहस्यपारदाः ॥

तमोभयद्रोहशठत्वमत्सरै-र्विषादपैशुन्यविपर्ययानृतैः । प्रभेव भानो रजनीतमोभरैः, कदापि नैषाऽत्र सहावतिष्ठते ॥५५७॥

दयाऽभिधाऽस्या दुहिता हितावहा, महाव्रतादिस्वकबन्धुसन्ततेः । जयत्यविद्यावनवह्निसन्निभाऽनवद्यविद्याम्बुनिधौ विधुप्रभा ॥

अदः कटाक्षादपि रूपमाप्यते, जनैः शचीलोचनभृङ्गलोभकृत् । सहस्रजिह्वोऽपि कथं नु वर्णयेत् , तदेतदङ्गाद्भुतरूपसंपदम् ॥

विशालमस्या विजितेन्दुमण्डलं, विभाति सत्त्वाभयदानमाननम् । नितान्तदीर्घं च सरोजसुन्दरं, विवेकबोधाभिधमीक्षणद्वयम् ॥

सुदानदुःखप्रणिघातसंज्ञितौ , स्तनावमुष्या द्रढिमानमाश्रितौ । शमाभिधानं जघनस्थलं दमस्थितिश्च नाभिस्तनुते जगन्मुदम् ॥

अधर्मधर्मार्थपरीक्षणाभिधं, मनोज्ञमस्यास्ततमूरुयामलम् । अगण्यलावण्यसुधाऽस्य वर्ण्यतां, कियत्यभेदानुभवं विना बुधैः ॥

सदाऽङ्गदोषैः परिवर्जिताऽप्यसा-वनङ्गदुष्टा न कदापि वीक्ष्यते । अचिन्त्यशक्तिर्जगदद्भुतावहा, गतातिचाराऽपि शिवाध्वधाविनी ॥

यदैष धीरः परिणेष्यति प्रिया-मिमां कुमारः कमनीयविग्रहः । विधाय वक्त्रं मलिनं किलान्तिकात्, तदाऽस्य हिंसा स्वयमेव यास्यति॥

इयं हि पापा धृतदाहसाहसा, स्वभावतः सा हिमशीतलाऽमला। विरोधनिष्ठा तदिहानयोर्ध्रुवा, सदातनी तोयहुताशयोरिव ॥५६५॥
विरोधमैकाधिकरण्यमुद्रणामपि व्यतिक्रम्य बिभर्ति साऽनया। न वैरितां सिद्धदयावतां मिथो, व्रजन्ति पार्श्वेऽपि हि हिंस्रजन्तवः ॥५६६॥
तदाह तातः परिणेष्यति प्रियां, कदा दयां तां वद नन्दिवर्धनः। निमित्तवित् प्राह यदा शुभाशयः, प्रदास्यति प्राप्स्यति तामयं तदा॥
कदा स दातेति नृपेण भाषिते, जगावयं दापयिता यदा स्वयम्। विचारयन् कालपरिणतिप्रिया-धियाऽथ पृष्ठा भगिनीं जनस्थितिम्॥
स्वभावसंज्ञाय महत्तमाय च, प्रकाश्य चास्यैव सदाऽनुयायिनीम्। प्रसाद्य गूढां भवितव्यतां प्रियां, स्ववर्गमुच्चैरनुगम्य कर्मराट्॥५६९॥
ततः किमेतर्हि विगर्हिताशये, विधेयमित्याहितवाचि पार्थिवे। निमित्तवित् प्राह किलाधुना हिता, भवत्युपेक्षा भवतां च मौनिता॥५७०॥

श्रुत्वेति पित्रा संपूज्य, प्रहितोऽथ निमित्तवित्। गतेषु केषुचिज्जाता, दिनेषु च पितुर्मतिः ॥५७१॥
युवराजं करोम्येनमानन्दी नन्दिवर्धनम्। महत्तमानामथ तद्, ज्ञापितं स्वीकृतं च तैः ॥५७२॥
कृताभिषेकसामग्री, समाहूतोऽहमञ्जसा, अत्रान्तरे प्रतीहारी, प्रणिपत्य व्यजिज्ञपत् ॥५७३॥
देवारिदमनस्यास्ति, स्फुटवाक्यो महत्तमः। द्वारि तत्र निदेशः कस्तातेनोक्तं प्रवेशय ॥५७४॥
ततः प्रवेशितः प्राह, स तातं विदितो गुणैः। अस्ति राजाऽरिदमनः, शार्दूलपुरनायकः ॥५७५॥
रतिचूला महादेवी, तस्यास्ति रतिजित्वरी। तस्या मदनमञ्जूषा, दुहिताऽस्ति गुणोदधिः ॥५७६॥
तया लोकप्रवादेनाकर्णितो नन्दिवर्धनः। गुणाढ्य इति रागोऽस्या, ववृधेऽस्मिन्नकृत्रिमः ॥५७७॥
स्वाशयो रतिचूलायै, तया मात्रे निवेदितः। नृपायोक्तस्तया तेन, दित्सुना प्रहितोऽस्मि ताम् ॥५७८॥

तातेन प्रतिपन्नं तद्, वचनं मन्त्रिणो गिरा। मयाथोक्तमितः स्थानात्, कियद्दूरे पुरं तव ॥५७९॥
स्फुटवाक् प्राह सार्धं तद्, योजनानां शते स्थितम्। मयोक्तमेवं मा वादीर्गव्यूतोने वदाथ तत् ॥५८०॥
जगौ सोऽथ कुमार! त्वं, न तथ्यं ज्ञातवानसि। त्वया बाल्ये श्रुतं भावि, मया भूयो विनिश्चितम् ॥५८१॥
मामलीकं करोत्येष, इति चिन्तयतोऽथ मे। वैश्वानरेणोल्लसितं, हसितं हिंसया तदा ॥५८२॥
प्रयुज्य ते योगशक्तिं, तनौ विविशतुर्मम। प्रलयाग्निरहं जातः, समाकृष्टोऽसिरुच्चकैः ॥५८३॥
पुण्योदयस्तदा दध्यौ, मम पूर्णोऽधुनाऽवधिः। अतः परं न मत्संगयोग्योऽयं नन्दिवर्धनः ॥५८४॥
इतोऽपक्रमणं श्रेय इति ध्यात्वा स निर्गतः। मया हाहारवं कुर्वन्, स दूतो द्विदलः कृतः ॥५८५॥
ततो हा पुत्र! किमिदमकर्तव्यमनुष्ठितम्। वदन्निति पितोत्थाय, मम संमुखमागतः ॥५८६॥
ध्यातं मयाऽयमप्येतद्रूप एव दुराशयः। मामकार्यकृतं ब्रूते, हन्तव्योऽयमपि द्रुतम् ॥५८७॥
इति निस्मृत्य तातत्वमज्ञात्वा स्नेहपूर्णताम्। उपकारित्वमध्यात्वाऽनालोच्य दुरितागमम् ॥५८८॥
कर्मचण्डालतां भृत्वा, तातोऽपि दलितोऽसिना। आक्रन्दन्ती ततो माता, ग्रहीतुमसिमागता ॥५८९॥
छिन्ना साऽपि च खड्गेन, वैरिणीति धिया मया। अथ त्रीण्यपि लग्नानि, युगपद्भुजयोर्मम ॥५९०॥
अन्याय्यं किंकृतमिति, पूत्कुर्वन् शीलवर्धनः। निवारणोद्यता रत्नवती च मणिमञ्जरी ॥५९१॥
एकैकेन प्रहारेण, हतानि त्रीण्यपि क्षणात्। अधावच्चेदमाकर्ण्य। द्रुतं कनकमञ्जरी ॥५९२॥

मयाऽनुध्यातमेषापि, पापा मद्वैरिरागिणी। विस्मृत्याकृत्रिमस्नेहं, साऽपि छिन्नाऽसिना ततः ॥५९३॥
अत्रान्तरे च संरम्भाद्, गलितं मत्कटीतटात्। परिधानं निपतितमुत्तरीयं महीतले ॥५९४॥
कीर्णकेशस्ततो नग्नो, जातोऽहं प्रेतसन्निभः। तादृशं मां समुद्वीक्ष्य, जहसुर्डिम्भपङ्क्तयः ॥५९५॥
निषेद्धुं स्वजना लग्नास्तद्धातायोद्यतं च माम्। तान् सर्वानपि निघ्नंश्च, गतः स्तोकामहं भुवम् ॥५९६॥
गृहीतो भूरिभिर्लोकैः, पातयित्वा श्रमे ततः। प्रोद्दामो वन्यहस्तीवोद्दालितश्च करादसिः ॥५९७॥
बद्ध्वा क्षिप्तोऽपवरके कपाटपुटसंकटे। मस्तकं स्फोटयंस्तत्र, स्थितः क्षामो बुभुक्षया ॥५९८॥
दंदह्यमानस्तापेन, निद्रामप्राप्नुवन्निशि। मासमात्रं स्थितः कालं, नारकोपमवेदनः ॥५९९॥
निद्रा समागता काचिदर्धरात्रे ममान्यदा। मूषकैर्बन्धनं छिन्नं, जातोऽहं मुत्कलस्ततः ॥६००॥
सुप्तं राजकुलं दृष्टं, निर्गतेन बहिर्मया। वैरीदं सर्वमेवेति, हिंसावैश्वानरेरितः ॥६०१॥
अग्निकुण्डाद् गृहित्वाऽग्निं, ततः प्रक्षिप्य सर्वतः। कथंचिद्दह्यमानोऽपि, भीकम्प्रोऽहं पलायितः ॥६०२॥
चलितोऽथ महारण्ये, विद्धः कीलककण्टकैः। पतितोऽधोमुखो निम्नप्रदेशे चूर्णिताङ्गकः ॥६०३॥
चौरैस्तत्रागतैर्दृष्टस्तैरुक्तं गृह्यतामयम्। महाकायादतो लाभः, परकूले भविष्यति ॥६०४॥
हृल्लीनोऽथ तदाकर्ण्योद्भूतो वैश्वानरो मम। विरूपं मां ततो ज्ञात्वा, बबन्धुस्तस्करा द्रुतम् ॥६०५॥
पल्लीमथोपकनकपुरं भीमनिकेतनाम्। तैर्नीतो रणधीराय, तत्पतेश्च प्रदर्शितः ॥६०६॥

बभाषे सोऽथ विक्रेतुमेनं पोपयताधुना । चौरेणाहं ततो नीतः, स्वधामैकेन पापभुक् ॥६०७॥
गालीस्तेन ददानोऽथ, हतो दण्डादिभिर्भृशम् । दापितं तुच्छमशनं, व्यतीयुः केऽपि वासराः ॥६०८॥
पृष्टोऽथ रणधीरेण, स कीदृक् स पुमानभूत् । स जगौ न श्रयत्योजस्तत्रैव निहितस्ततः ॥६०९॥
कनकाख्यपुराद्दण्डश्चौरेपूपस्थितोऽन्यदा । नष्टाश्चौरा हता पल्ली, वन्द्यो नीताः सहस्रशः ॥६१०॥
गतोऽहमपि तन्मध्ये, वन्द्यो राज्ञेऽथ दर्शिताः । विभाकराय मां प्रेक्ष्य, स तत्र हृदि विस्मितः ॥६११॥
दग्धस्थाणुसमोऽप्येष, दृश्यते नन्दिवर्धनः । आकृत्याऽत्र कुतो वाऽसौ, विचित्रा वा विधेर्गतिः ॥६१२॥
इत्थं चिरं विमृश्यासौ, प्रत्यभिज्ञाय मां स्फुटम् । आलिलिङ्ग समुत्थाय, नृपः सिंहासनान्मुदा ॥६१३॥
तदा किमेतदित्युच्चैर्विस्मितं राजमण्डलम् । पप्रच्छोदन्तमखिलं निवेश्यार्धासने स माम् ॥६१४॥
मयाऽपि चरिते स्वीये, प्रोक्ते प्राह विभाकरः । त्वया नानुष्ठितं सुष्ठु, हा कष्टं कर्म निर्घृणम् ॥६१५॥
पश्य पुष्पममुष्यैव, क्लेशमत्रैव जन्मनि । अमुत्र लप्स्यसे चास्य, फलं नरकवेदनाम् ॥६१६॥
हिंसावैश्वनरालर्कविकारादित्यसौ वदन् । मया प्रत्यर्थिवद् बुद्धो, निबद्धाऽस्य वधाय धीः ॥६१७॥
परं न शकितो हन्तुं, कृतं नु श्याममाननम् । तेन मद्भावववह्निं च, धूमेनानुमियाय सः ॥६१८॥
ततोऽहं रक्षितस्तेन, छन्नो माध्यस्थ्यभस्मना । अन्तः प्रज्वलितुं लग्नो, हन्म्येनमिति सर्वदा ॥६१९॥
मम नोपशमायासन्, स्नानमानादिसत्क्रियाः । तत्कृता वारिधेरापो, वडवाग्नेरिवाखिलाः ॥६२०॥

स्थितेष्वास्थानशालायामस्मासु मतिशेखरः । एकदा प्राह स ययौ, दिवं देवः प्रभाकरः ॥६२१॥
परं दुःखं ततश्चक्रे, साश्रुनेत्रो विभाकरः । मां प्रति प्राह सौहार्दाद्, भुङ्क्ष्व राज्यमिदं पितुः ॥६२२॥
वैश्वानरविकारेण, स्थितोऽहं मौनवांस्तदा । स्नेहादेकत्र शय्यायां, निशि सुप्तो मयाऽथ सः ॥६२३॥
विश्रब्धोऽप्यतिदुष्टेन, समुत्थाय निपातितः । पलायितोऽहं त्वरया, परिधानद्वितीयकः ॥६२४॥
क्लेशात् प्राप्तः कुशावर्त्तोद्यानं द्रष्टुं, जनाननात् । तत्रागतः सजनकः, श्रुत्वा कनकशेखरः ॥६२५॥
पृष्टेनैकाकिताहेतुर्नोक्तोऽरुचिभयान्मया । ममापि किं गोप्यमिति, जगौ कनकशेखरः ॥६२६॥
मयोक्तं गोप्यमेवास्ति, निर्बन्धं स ततोऽकरोत् । अवश्यं वाच्यमेवेति, ततोऽहं ज्वलितो हृदि ॥६२७॥
गिरं नाद्रियते मेऽसाविति तस्य कटीतटात् । असिपुत्रीं समाकृष्य, निहन्तुं तं समुत्थितः ॥६२८॥
जातः कोलाहलः स्तब्धो, वनदेवतया परम् । उत्क्षिप्तो व्योममार्गेण, जनानामथ पश्यताम् ॥६२९॥
सन्धिदेशेऽम्बरीषाणां, नीतोऽहमथ तस्करैः । उद्गीर्णक्षुरिकस्तत्र, दृष्टो नाग इवोत्फणः ॥६३०॥
चरटाः प्रत्यभिज्ञाय, पादयोर्मम तेऽपतन् । पृष्टस्तैरथ वृत्तान्तो, वक्तुं न शकितं मया ॥६३१॥
शकितं नोपवेष्टुं च, तदानीतासने ततः । देवतोत्तम्भयामास, दैन्यं प्राप्तेषु तेषु माम् ॥६३२॥
पृष्टे पुनर्व्यतिकरे, तैरहं ज्वलितो भृशम् । अलीकवत्सलैर्लोकैरासितुं न लभे क्वचित् ॥६३३॥
तान्मुहुः पृच्छतः क्रोधादलब्धवचनानहम् । हन्तुं प्रवृत्तो बद्धस्तैर्गतोऽस्तमथ भास्करः ॥६३४॥

भवानेव जगन्नेत्रपद्मोल्लासी दिवाकरः ॥६४८॥
अस्य शङ्कान्धकारस्य, कर्तुं प्रलयमर्हति । बद्धवक्त्रं तिरश्चीनबाहुबन्धनियन्त्रितम् ॥६४९॥
सूरिराह महाराज ! पश्यस्येनं सभान्तिके । जयस्थलप्लोपकरः, कोऽयमित्याह भूधनः ॥६५०॥
राजाऽऽह सुष्ठु पश्यामि, सूरिराहायमेव हि । सर्वोदन्तमथ प्राह, सूरिस्तं जातसंभ्रमम् ॥६५१॥
गुरुराह तवैवासौ, जामाता नन्दिवर्धनः । हृदि सिद्धान्तयामास, कृपार्हो नैप पापधीः ॥६५२॥
अथैनं मुत्कलीकर्तुं, भूपतिः पूर्वपक्षयन् । श्रुतो बहुगुणो ह्येप, कृतवान् कथमीदृशम् ॥६५३॥
ततः पप्रच्छ भूपालः, केवलज्ञानिनं गुरुम् । वर्तते गुणवानेप, स्वरूपान्नन्दिवर्धनः ॥६५४॥
बभापे सूरिरुर्वीश ! नास्य दोपस्तपस्विनः । दोपोऽस्यैव समस्तोऽयं, राज्ञा सुष्ठु तदीक्षितम् ॥६५५॥
यदेतद् दृश्यते दूरे, मलिनं मानुपद्वयम् । पृष्टवांस्तत्स्वरूपं च, जगदे गुरुणा नृपः ॥६५६॥
दृष्टश्चैको नरस्तत्र, नारी चान्या मपीप्रभा । एपोऽविवेकिताजातः, पुमान् वैश्वानराभिधः ॥६५७॥
सूनुर्द्वेपगजेन्द्रस्य, महामोहस्य पौत्रकः । गुणैर्वैश्वानर इति, प्रियनाम जनैः कृतम् ॥६५८॥
अस्य प्राक् क्रोध इत्याख्या, जनकाभ्यां प्रतिष्ठिता । अन्तरङ्गात् परिचयात् सबन्धोऽस्यानयोः पुनः ॥६५९॥
हिंसेयं निष्करुणता, दुराशयसुताङ्गना । अनयोरेव संबन्धाद् , विपर्यस्यत्यसौ भृशम् ॥६६०॥
ज्ञानदर्शनचारित्रवीर्यात्मगुणभूरपि । नृपो जगौ मित्रभार्ये, नास्तां प्रागस्य किं न्विमे ॥६६१॥
एतद्दोपादनर्थालीमवाप्नोत्येप निश्चितम् ।

आनन्दितं यदाऽनेन, पद्मभूमीपतेः कुलम् । वर्धितौ कोशदण्डौ भूः, प्रतापेन वशीकृता ॥६६२॥
निर्जिताः शत्रवः सर्वे, प्राप्ता जयपताकिकाः । सिंहायितं च सर्वत्र, गाहितः सुखसागरः ॥६६३॥
गुरुराह महाराज, तदाऽप्यास्तामिमे स्फुटम् । पुण्योदयेन सख्यात् तु, कृतास्तास्ताः समृद्धयः ॥६६४॥
महामोहवशात् तेन, गुणस्तस्य न लक्षितः । हिंसावैश्वानरकृतं, वुद्धमैश्वर्यजृम्भितम् ॥६६५॥
ततोऽयमविशेषज्ञ इति मत्वा स निर्गतः । प्रस्तावे स्फुटवाक्यस्य, ततो जातोऽयमीदृशः ॥६६६॥
भवजन्तुरयं राजन् ! पद्मराजसुतो मृपा । वास्तव्योऽव्यवहारस्य, नगरस्य च निश्चितम् ॥६६७॥
लोकस्थितेस्तथा कर्मपरिणामस्य चाज्ञया । भवितव्यतया स्वीयभार्यया प्रेरितस्ततः ॥६६८॥
स्वेच्छावशादथान्यान्यस्थानेपु परिधार्यते । अन्येपामपि तुल्येयं, गतिः प्रायेण देहिनाम् ॥६६९॥
अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेनैकेन्द्रियादिपु । भ्रमद्भिर्भवकान्तारं, मानुष्यं दुर्लभं जनैः ॥६७०॥
निधिलाभसमे तत्राप्युत्तिष्ठन्त्यनभीष्टदाः । हिंसाक्रोधादयः क्रूरा, वेतालास्तैः कुतः सुखम् ॥६७१॥
मूढास्तिष्ठन्त्विमे नन्दिवर्धनाद्यास्तपस्विनः । कदर्थ्यन्ते कपायाद्यैरप्यर्हन्मतवेदिनः ॥६७२॥
विपयामिपगृद्धानां, सन्मार्गाद् दूरवर्तिनाम् । नन्दिवर्धनवत् तेपामनन्ता दुःखसन्ततिः ॥६७३॥
लब्ध्वाऽपि शासनं जैनं, यः क्रोधादिपु रज्यते । स हारयति काचेन, मूढश्चिन्तामणिं हहा ॥६७४॥
हिंसाक्रोधादिसंसक्ताद् धर्मो दूरेण नश्यति । न मोक्षमार्गलेशेन, युज्यते तद्विवर्जितः ॥६७५॥

आनन्दितं यदाऽनेन, पद्मभूमीपतेः कुलम् । वर्धितौ कोशदण्डौ भूः, प्रतापेन वशीकृता ॥६६२॥
निर्जिताः शत्रवः सर्वे, प्राप्ता जयपताकिकाः । सिंहायितं च सर्वत्र, गाहितः सुखसागरः ॥६६३॥
गुरुराह महाराज, तदाऽप्यास्तामिमे स्फुटम् । पुण्योदयेन सख्यात् तु, कृतास्तास्ताः समृद्धयः ॥६६४॥
महामोहवशात् तेन, गुणस्तस्य न लक्षितः । हिंसावैश्वानरकृतं, बुद्धमैश्वर्यजृम्भितम् ॥६६५॥
ततोऽयमविशेषज्ञ इति मत्वा स निर्गतः । प्रस्तावे स्फुटवाक्यस्य, ततो जातोऽयमीदृशः ॥६६६॥
भवजन्तुरयं राजन् ! पद्मराजसुतो मृषा । वास्तव्योऽव्यवहारस्य, नगरस्य च निश्चितम् ॥६६७॥
लोकस्थितेस्तथा कर्मपरिणामस्य चाज्ञया । भवितव्यतया स्वीयभार्यया प्रेरितस्ततः ॥६६८॥
स्वेच्छावशादथान्यान्यस्थानेषु परिधार्यते । अन्येषामपि तुल्येयं, गतिः प्रायेण देहिनाम् ॥६६९॥
अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेनैकेन्द्रियादिषु । भ्रमद्भिर्भवकान्तारं, मानुष्यं दुर्लभं जनैः ॥६७०॥
निधिलाभसमे तत्राप्युत्तिष्ठन्त्यनभीष्टदाः । हिंसाक्रोधादयः क्रूरा, वेतालास्तैः कुतः सुखम् ॥६७१॥
मूढास्तिष्ठन्त्विमे नन्दिवर्धनाद्यास्तपस्विनः । कदर्थ्यन्ते कषायाद्यैरप्यर्हन्मतवेदिनः ॥६७२॥
विषयामिषगृद्धानां, सन्मार्गाद् दूरवर्तिनाम् । नन्दिवर्धनवत् तेषामनन्ता दुःखसन्ततिः ॥६७३॥
लब्ध्वाऽपि शासनं जैनं, यः क्रोधादिषु रज्यते । स हारयति काचेन, मूढश्चिन्तामणिं हहा ॥६७४॥
हिंसाक्रोधादिसंसक्ताद् धर्मो दूरेण नश्यति । न मोक्षमार्गलेशेन, युज्यते तद्विवर्जितः ॥६७५॥

जानन्नपि ततस्तत्त्वं, महामोहवशीकृतः। निमज्जति भवाम्भोधौ, यथाऽयं नन्दिवर्धनः ॥६७६॥
नृपतिः प्राह भगवन्, स्वानुभूतेन नैव किम्। इयताऽपि प्रबन्धेन, बुद्ध्यते नन्दिवर्धनः ॥६७७॥
गुरुराह महाराज! न परं नावबुध्यते। प्रत्युतास्य महोद्वेगश्चित्ते भवति मद्विरा ॥६७८॥
प्राह भूपोऽस्त्यभव्यः किं, भव्य एव गुरुर्जगौ। हन्त्यनन्तानुबन्धोऽस्य, क्रोधो धर्मरुचिं परम् ॥६७९॥
अस्य वैश्वानरोऽद्यापि, दुःखं दास्यत्यनन्तशः। तदस्य परमः शत्रुरयमेव न संशयः ॥६८०॥
परमेप सुहृत्त्वेन, भासतेऽस्य महाभ्रमात्, सति भावज्वरेऽस्मिंस्तद्धर्मपथ्यरुचिः कुतः ॥६८१॥
नृपः प्राह किमस्यैव, परेषां वाऽप्यसौ सुहृत्। गुरुराह महाराज! शृणु तत्त्वमिह स्फुटम् ॥६८२॥
त्रीणि त्रीणि कुटुम्बानि, सर्वेषां सन्ति देहिनाम्। तत्राद्यं क्षान्तिसंतोषज्ञानसत्यशमादिकम् ॥६८३॥
द्वितीयं क्रोधशोकार्तिमानमायाभयादिकम्। तृतीयमङ्गं तद्धेतुस्त्रीनरौ तत्कुलं तथा ॥६८४॥
आद्यं स्वाभाविकं तत्र, कुटुम्बमविनश्वरम्। आविर्भावतिरोभावधर्मकं मोक्षदायकम् ॥६८५॥
औपाधिकं द्वितीयं च, स्वाभाविकधिया धृतम्। अनाद्यन्तमभव्येषु, भव्येष्वस्तादि चान्तवत् ॥६८६॥
आविर्भावतिरोभावधर्मकं भवकारणम्। एकान्ताहितशीलं च, प्रकृत्याऽधोगतिप्रदम् ॥६८७॥
तृतीयं सादि सान्तं च, याद्दच्छिकमुपाधिजम्। अन्तःकुटुम्बपोषेण, भवनिर्वाणकारणम् ॥६८८॥
सर्वसंसारिणां तस्माद् द्वितीयेऽत्र कुटुम्बके। सुहृद्वैश्वानरोऽवश्यं, हिंसा भार्या च निश्चिता ॥६८९॥

आद्यं स्वाभाविकं मुक्त्वा, द्वितीये कथमादरः । जीवानामथ जिज्ञासुर्जगदे सूरिणा नृपः ॥६९०॥
अभिभूतं द्वितीयेन, नित्यमाद्यकुटुम्बकम् । तेन तद्दर्शनाभावात् तद्गुणानादरो नृणाम् ॥६९१॥
आविर्भूतं सदैवास्ति, द्वितीयं च कुटुम्बकम् । पुरः स्फुरति तत्रोच्चैर्नृणां तत्प्रेम वर्धते ॥६९२॥
विश्रब्धास्तत्र पश्यन्ति, न दोषान् जानते गुणान् । शत्रुबुद्ध्या च पश्यन्ति, तद्दोषस्य प्रकाशकम् ॥६९३॥
भूपः प्राहानयोः श्रेष्ठा, तत् किं तत्त्वविशेषधीः । गुरुर्जगौ तदर्थं नो, यतोऽयं देशनाविधेः ॥६९४॥
विना स्वयोग्यतां शक्यं, तत्त्वं ज्ञापयितुं तु न । उदास्महे त्वयोग्येषु, तद्योग्येषु यतामहे ॥६९५॥
नृपो जगावयोग्यानां, भगवंश्चिन्तया कृतम् । मया बुद्धो विशेषोऽयं, सिद्धं मम समीहितम् ॥६९६॥ यतः—
परोपकारः कर्तव्यः, सत्यां शक्तौ मनीषिणा । परोपकारासामर्थ्ये, कुर्यात् स्वार्थे महादरम् ॥६९७॥
भगवानाह पृथ्वीश ! न त्राणं ज्ञानमात्रतः । श्रद्धाक्रियान्वयादेव, तदभीष्टार्थसाधकम् ॥६९८॥
तत्र श्रद्धानमस्त्येव, विस्तारि तव सर्वतः । क्रियां तु यदि शक्तोऽपि, कर्तुं तत्सिध्यति हितम् ॥६९९॥
परं तन्निर्गुणं वर्ग, नृपतिः प्राह कीदृशम् । गुरुर्जगाद कुर्वन्ति, मुनयो यदनारतम् ॥७००॥
अनादिभ्रमसंनद्धं, द्वितीयं यत् कुटुम्बकम् । आद्येन योधयन्त्युच्चैर्घोराघोरबलेन तत् ॥७०१॥
द्वितीयस्य कुटुम्बस्य, मूलोत्पत्तिनिबन्धनम् । घातयन्ति विवेकेन, महामोहपितामहम् ॥७०२॥
चूर्णयन्तो न खिद्यन्ते, रागं वैराग्ययन्त्रतः । एतत्कुटुम्बाधिकृतं, महाबलमहारथम् ॥७०३॥

घ्नन्ति मैत्रीशरेणोच्चै रागस्यैव सहोदरम् । द्वेषं न हृदये जातु, पश्चात्तापं च कुर्वते ॥७०४॥
पाटयन्तः क्रोधबन्धुं, क्षमया क्रकचेन च । उल्लसन्ति तथा मानं, निघ्नन्तो मार्दवासिना ॥७०५॥
मायामार्जवदण्डेन, निघ्नन्ति जरतीमपि । संतोषाग्नौ क्षिपन्त्युच्चैर्लोभं बालमपि क्षणात् ॥७०६॥
कामं च ब्रह्महस्तेन, मर्दयन्तीव मत्कुणम् । घ्नन्ति शोकं धिया शक्त्या, चित्तधैर्येषुणा भयम् ॥७०७॥
हास्यं रतिं जुगुप्सां चारतिं चानादिवत्सलाम् । पञ्चाक्षभ्रातृभाण्डानि, दलयन्ति दमेषुणा ॥७०८॥
इत्थं कृत्वा द्वितीयस्य, कुटुम्बस्य क्षयं क्षणात् । प्रथमस्य कुटुम्बस्य, वर्धयन्ति बलं सदा ॥७०९॥
बले चाद्यकुटुम्बस्य, प्रवृद्धे भग्नपौरुषम् । अमीषां बाधकं न स्यात्, तद् द्वितीयं कुटुम्बकम् ॥७१०॥
तृतीयं पोषकं ज्ञात्वा, द्वितीयस्य त्यजन्ति ते । जेतुं द्वितीयमत्यक्ते, तृतीये नैव शक्यते ॥७११॥
अतो यद्यस्ति ते चित्तं, निर्वाणसुखलालसम् । राजंस्तन्निर्घृणं कर्म, मयोक्तमिदमाचर ॥७१२॥
परं स्वशक्तिरालोच्या, मध्यस्थेनान्तरात्मना । शक्यं कर्तुं कृताभ्यासैर्योगिभिः कर्म निर्घृणम् ॥७१३॥
न द्रष्टुमपि शक्यं तु, कर्मबन्धुदयालुना । क्लीबा दृष्ट्वाऽपि कम्पन्ते, करणं दूरतः स्थितम् ॥७१४॥
परमेतदनुष्ठाय, याता यास्यन्ति यान्ति च । शिवस्थानमनाबाधं, सिद्धानन्तचतुष्टयम् ॥७१५॥
राजाऽऽह यो न शक्तः स्याद्, द्वितीयस्य निबर्हणे । तृतीयस्य परित्यागात्, किमवाप्नोत्यसौ फलम् ॥७१६॥

१ तृतीय(स्य)फलत्यागात् रा. ज्ञा. ।

गुरुराह नृशार्दूल ! यो न हन्ति द्वितीयकम् । तृतीयस्य परित्यागस्तस्य नूनं विडम्बना ॥७१७॥
चित्तेऽन्तर्ग्रन्थगहने, बहिर्निर्ग्रन्थता वृथा । त्यागात्कञ्चुकमात्रस्य, भुजगो न हि निर्विषः ॥७१८॥
राजाऽऽह ननु यद्येवं, तदा युष्मदनुग्रहात् । द्वितीयं च तृतीयं च, त्यजाम्यद्य कुटुम्बकम् ॥७१९॥
जगौ गुरुरिदं भूप ! सुष्ठूक्तं क्षत्रियोचितम् । तदा भूपेन विमलमतेर्वदनमीक्षितम् ॥७२०॥
त्याज्यं राज्यं मयेत्युक्ते, स जगौ मन्त्रिपुङ्गवः । न तवैवोचितं ह्येतदुचितं पर्षदोऽप्यदः ॥७२१॥
केचिद् भीतास्तदाकर्ण्य, बलात्प्रव्राजनाभिया । प्रद्विष्टा गुरुकर्माणो, नीचाश्चाशु पलायिताः ॥७२२॥
मुदिता लघुकर्माणः, प्रपन्नं तद्वचश्च तैः । प्रमोदवर्धने चैत्ये, ययुः सर्वेऽन्तिकस्थिते ॥७२३॥
कृता भगवतां पूजा, तत्रोदारा यथाविधि । प्रवर्तितानि दानानि, कारितं बन्धमोचनम् ॥७२४॥
आकार्य तनयं स्वं च, नगरात् श्रीधराभिधम् । राज्यं दत्त्वा नृपस्तस्मै, ललौ दीक्षां सहाखिलैः ॥७२५॥
दत्ता निर्वेदजननी, गुरुणा देशना तदा । गता देवादयः स्थानमानन्दभृतमानसाः ॥७२६॥
सुधाभमपि तत्सूरेर्वचः परिणतं न मे । प्रत्युतान्तिकमायातौ, हिंसावैश्वानरौ तदा ॥७२७॥
प्रविष्टौ मम गात्रे तौ, मोचितश्चास्मि बन्धनात् । नियुक्तै राजपुरुषैः, सर्वबन्धविमुक्तये ॥७२८॥
चिन्तितमहमेतेन, सभामध्ये विगोपितः । तदत्र किं स्थितस्यास्य, श्रमणस्यान्तिके मम ॥७२९॥

---

१ चिन्तितमाद्-रा ला. डे. शा.।

ततो गतोऽहं विजयपुराभिमुखमध्वनि। दृष्टश्च प्रातिपथिकोऽन्तरा नाम्ना धराधरः ॥७३०॥
मत्कल्पः सोऽपि विजयपुरान्निष्काशितः सुतः। राज्ञा शिखरिणा हिंसावैश्वानरकलङ्कितः ॥७३१॥
पृष्टो मयाऽथ विजयपुराध्वानं न सोऽवदत्। व्याकुलत्वान्न शुश्राव, मद्वचोऽनादरात् ततः ॥७३२॥
हिंसावैश्वानरोग्रेण, समाकृष्टा कटीतटात्। असिपुत्री मया सद्यः, खङ्गस्तेनाऽपि तादृशा ॥७३३॥
प्रहारौ समकं दत्तौ, द्वाभ्यां गात्रविदारिणौ। जीर्णैकभववेद्या च, समकं गुटिका द्वयोः ॥७३४॥
ततोऽपरे वितीर्णे ते, भवितव्यतया द्वयोः। पुर्यां पापनिवासायां, नीतौ सप्तमपाटके ॥७३५॥
त्रयस्त्रिंशत्सागरायुर्भुक्त्वा तत्र मिथोहती। गुटिकान्तरमाहात्म्यान्मत्स्यौ जातौ मिथो द्विषौ ॥७३६॥
ततोऽपि पाटके षष्ठे, द्वाविंशत्यर्णवायुषौ। परस्पराभिघातेन, धृतावत्यन्तदुःखितौ ॥७३७॥
पञ्चाक्षपशुसंस्थाने, भवितव्यतया ततः। कृतौ गर्भजसर्पौ द्वौ, वैरावेधकृताहती ॥७३८॥
ततः पापनिवासायां, धृतौ पञ्चमपाटके। गतं मिथो घ्नतोरायुर्द्वयोः सप्तदशार्णवाः ॥७३९॥
ततः सिंहावुभौ जातौ, तीव्रवैरानुबन्धिनौ। दशार्णवायुषौ पापे, चतुर्थे पाटके ततः ॥७४०॥
सोढस्तत्र मिथो घातः, श्येनौ जातावुभौ ततः। ततोऽप्यधः स्फुरद्वैरौ, तृतीये पाटके गतौ ॥७४१॥
त्रिविधा वेदना तत्र, सोढा सप्तार्णवायुषा। ततश्च नकुलौ जातौ, मिथोगात्रप्रहारिणौ ॥७४२॥
त्रिदुःखौ त्र्यर्णवायुष्कौ, द्वितीये पाटके ततः। भ्रान्तोऽहमेवमन्यान्यान्तरस्थानेष्वनन्तशः ॥७४३॥

संसारिजन्ताविति भाषमाणे, प्रज्ञाविशाला विदधे विचारम् । अहो दुरन्तौ विषमौ च हिंसावैश्वानरौ यत्फलमेतदस्य ॥७४४॥

अहह कुमतिरादावेव वैश्वानरोग्र-स्तदनु विहितहिंसोद्वाहसंजातदर्पः ।

नर इह नरिनर्ति व्यक्तकापेयलीलः, कपिरिव कपिकच्छूवल्लिसंश्लिष्टगात्रः ॥७४५॥

उग्रौ मूर्च्छाज्वरौ वा सममुत मिलितौ शाकिनीभूतदोषौ, हालाहालाहले(लौ) वा ग्रहविषमदशादुर्निमित्तागमौ वा ।

रुण्टोष्ट्राशोपितृष्णातपतपनकरव्यापतापोद्भवौ वा, हिंसावैश्वानरौ द्वौ जगति तनुभृतां द्विप्रदोषावहौ स्तः ॥७४६॥

हिंसावैश्वानराभ्यां निविडजडधियः कुर्वते संस्तवं ये, पीनप्रौढप्रभावौ हृदयगतदयाशान्तभावौ विहाय ।

हास्यास्ते कस्य न स्युर्जगति सुरगवीकामकुम्भौ त्यजन्त-स्तन्मूल्येनानयन्तः सपदि निजगृहे रासभीभश्मपात्रे ॥७४७॥

स वह्निरन्यो गलितप्रतापः, स्थले प्रविध्यायति पिच्छले यः। अयं तु वैश्वानरनामधेयः, स्निग्धेऽपि रूक्षेऽपि समप्रवृत्तिः ॥

हहा न वैश्वानरहिंसयोर्गतिं, विदन्त्यपि स्वानुभवाश्रितां जनाः । इमेऽपि यास्यन्ति दशां तमोमयीं, जडो यथाऽयं ननु नन्दिवर्धनः ॥

संसारिजीवोऽथ प्राह, नीतः श्वेतपुरे ततः । कृतश्चाभीररूपोऽहं, भवितव्यतया तया ॥७५०॥

तद्रूपस्य सतो गतो मम शमं वैश्वानरः किञ्चन, छन्ना निर्घृणतामतिः प्रववृते दाने च यादृच्छिकी ।

नाभ्यस्तं तु विशिष्टशीलमधिको धर्मश्च नासेवितो, जातो मध्यगुणस्तदा भवसरित्सङ्कट्टवर्पादहम् ॥७५१॥

मामालोक्य तथाविधं गुणकलाभोगप्रदानोन्मुखी, संजाता भवितव्यता शुचिफलासन्नप्रसन्नाशया ।

ऊचे साम्प्रतमार्यपुत्र ! सुयशःश्रीसिद्धिशर्माशया, त्वं सिद्धार्थपुरे व्रज प्रकटितः पुण्योदयस्ते सखा ॥७५२॥

इति परिणतिं हिंसावैश्वानरप्रसरोद्भवां, पटुतरमतिः श्रुत्वा दुष्टत्वगिन्द्रियजामपि ।
विहितविषयप्रत्याहारः स्थिरोपशमक्षमो, भवति भुवि यः प्राप्स्यत्युच्चैः स एव यशःश्रियम् ॥७५३॥

इति श्रीवैराग्यकल्पलताया चतुर्थः स्तबकः समाप्तः ॥

पञ्चमः स्तबकः ।

अथ सिद्धार्थनगरे, भूपोऽभून्नरवाहनः । गन्धवाह इव द्वेषियशःकर्पूरगन्धहृत् ॥१॥
यस्य दानगुणेनाधःकृताः सर्वे सुरद्रुमाः । ऊर्ध्वं गताः परीक्षार्थं, तुलाधृतिवशाद्विधेः ॥२॥
आसीत् तस्य महादेवी, गुणसौरभमालती । सदालिसेव्या सुभगा, नाम्ना विमलमालती ॥४॥
तस्याः पुत्रोऽहमुत्पन्नो, व्यक्तश्छन्नस्तदैव च । पुण्योदयः सहचरो, जातो मे चन्द्रनिर्मलः ॥४॥
मम जन्मोत्सवश्चक्रे, पित्रा प्रमदनिर्भरः । क्रमात् प्रतिष्ठितं नाम, यथाऽयं रिपुदारणः ॥५॥
नन्दिवर्धनकाले या, ममासीदविवेकिता । सा धात्री पुनरायाता, द्वेषसङ्गेन गर्भिणी ॥६॥
मज्जन्मकाले साऽसूत, वदनाष्टकधारकम् । पुत्रमुत्कन्धरं दुष्टं, सुदुर्द्धर्षं महोदरम् ॥७॥
अष्ट प्रेक्ष्यास्य शीर्षाणि, कूटानि सुगिरेरिव । चकार नाम सा व्यक्तं, शैलराज इति स्फुटम् ॥८॥
तस्या धात्र्याश्च तत्सूनोः, सङ्गमोऽनादिरेव मे । आभूर्वतस्तदा मेऽसौ, तिरोभूतोऽन्यदा परम् ॥९॥

पञ्चपेष्वथ वर्षेषु, दृष्टमात्रो मयाऽथ सः। ब्रह्मणोऽप्यधिको मेने, द्विगुणो यत् ततो मुखैः ॥१०॥
यशोऽयमिति मां प्रेक्ष्य, सोऽपि स्मेराननोऽभवत्। आलिलिङ्ग च मद्देहं, भावज्ञस्य शिरोमणिः ॥११॥
तदालिङ्गनतः शक्तिरनिर्वाच्या ममाभवत्। त्रैलोक्यमतिवृत्त्योर्ध्वमहमाशु धृतो यया ॥१२॥
कुलजात्यादिविषयः, स्वोत्कर्षो मम पप्रथे। तत्सक्तहृदये शश्वत् तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥१३॥
न मातुर्नापि तातस्य, प्रणामो विहितो मया। शैलराजप्रसङ्गेन, शैलराजत्वमीयुषा ॥१४॥
न नताः कुलदेव्यश्च, न देवा लौकिका अपि। मम नाखण्डयद् भावं, ज्ञात्वाऽनम्रं पिताऽपि माम् ॥१५॥
अन्येषामपि पित्रोक्तं, कार्याऽऽज्ञैवास्य सर्वदा। अकाण्डविघ्नरं कर्ता, नो चेन्मानधनो ह्ययम् ॥१६॥
ततो दासत्वमापन्नं, राजकं सर्वमेव मे। न कोऽपि मानमग्नस्य, ममाज्ञामतिवर्तते ॥१७॥
पुण्योदयविधोरेव, महिमाऽसौ महोज्ज्वलः। मया तु मूढचित्तेन, मानराहोर्विभावितः ॥१८॥
ध्यातं मयैष बन्धुर्मे, देवानामपि दुर्लभः। शैलराजोऽखिलश्रेयःसन्ततीनां विधायकः ॥१९॥
असौ निवेदितस्तस्य, स्वाभिप्रायो मयाऽन्यदा। न्यवेदि मे परं गुह्यं, स्ववशं प्रेक्ष्य तेन माम् ॥२०॥
ममास्ति स्तब्धचित्ताख्यं, स्ववीर्योत्थं विलेपनम्। प्रतिक्षणं त्वया देयं, हृदये तत् सुखाशया ॥२१॥
वाचामगोचरस्तस्य, वक्ष्यत्यनुभवः फलम्। इत्युक्त्वा स ददौ तन्मे, हृदि दत्तं मयाऽपि तत् ॥२२॥
तत्प्रभावादहं जातः, स्तब्धः कीलितकन्धरः। सुतरां प्रणता लोका, विश्वासोऽभूद्विलेपने ॥२३॥

गतोऽन्यदाऽहं नगरेऽन्तरङ्गे, संक्लिष्टचित्तेऽखिलदुःखवासे। तृष्णाऽनिलान्दोलितकृष्णनीलकापोतलेश्याविलसत्पताके ॥२४॥
असंख्यदुर्ध्यानरथप्रचारलोकप्रवाहाभिधराजमार्गे। विकल्पसंचित्रितचित्तसंज्ञाकपोतपालीकृतकौतुकौघे ॥२५॥
अद्राक्षमसिन्नतुलप्रतापमुत्पत्तिभूमिं बहुदूषणानाम्। निबद्धवैरं सह बोधराज्ञा, पत्येव राहुग्रहमौषधीनाम् ॥२६॥
क्लिष्टाशयं नाम नृपं प्रमादप्रपञ्चसंसूत्रणसूत्रधारम्। सद्भूतवादद्विपपञ्चवक्त्रं, विघ्नं च वेतालमिवेष्टसिद्धेः ॥२७॥ युग्मम् ॥
प्रिया मया तस्य च हीनताख्या, दृष्टा निकृष्टाशयवर्गसेव्या। प्रवर्तिका निन्द्यतरक्रियाणां, तमोमयी कालनिशेव साक्षात् ॥२८॥
तयोर्मृषावाद इति प्रसिद्धः, सद्बोधशैले दृढवज्रपातः। स्नेहद्रुमोच्छेदकुठारकल्पः, संकल्पवल्लीवनवारिवाहः ॥२९॥
सुतः समस्ताङ्गिहितोपलोपी, कुतश्चिदप्यक्षतबाहुवीर्यः। अनायि नेत्रातिथितां कुमार्गोपदेशदक्षः कृतमोहपक्षः ॥३०॥
मया महामोहविमोहितेन, न लक्षितं किंचन तत्स्वरूपम्। अहं समालिङ्गितवांस्तदैव, दृष्ट्वा परं तं हितबन्धुबुद्ध्या ॥३१॥
स्वस्थानमानीय मया शरीरादभिन्नरूपोऽभिमतः स बन्धुः। सर्वत्र कार्येऽधिकृतश्च गूढं, स्थितं न नौ किञ्चन रागभाजोः ॥३२॥
असच्च सद्भूतमसत् सदेव, कृतं मयाऽध्यक्षमपि प्रसह्य। तस्य प्रसादान्न ममापराधगन्धोऽपि लग्नो निहितः परेषु ॥३३॥
जातस्ततोऽहङ्कृतशैलराजमहामृषावाददृढप्रसंगः। भयङ्करोऽम्भोधिरिव प्रनृत्यत्तिमिङ्गिलो भीमभुजङ्गराजः ॥३४॥
शैलराजमृषावादसङ्गाद् दोषा भवन्ति ये। पुण्योदयप्रभावेन, प्रलीयन्ते च तेऽखिलाः ॥३५॥
स्वप्नेऽपि न मया ज्ञातमेतत् तस्य विजृम्भितम्। शैलराजमृषावादौ परं ज्ञातौ गुणावहौ ॥३६॥

१–रतप्र–टी. श्रा.।

कलाग्रहणकालेऽथ, कलाचार्यं विधानतः । सम्पूज्य पित्रा तस्याहं, प्रथितोत्सवमर्पितः ॥३७॥
उक्तश्चाहं त्वया पुत्र, समाराध्योऽयमादरात् । विद्यार्थिना कलाचार्यः, प्रणिपातविधायिना ॥३८॥
मयोक्तं किं विजानीते, वराकोऽयं ममाग्रतः । तवानुरोधाद् गृह्णामि, कलाः कुर्वे नतिं तु न ॥३९॥
रहःस्थितं ततस्तातः, कलाचार्यमभाषत । नोद्वेगोऽस्य त्वया कार्योऽविनयं प्रेक्ष्य मानिनः ॥४०॥
तद्वचोऽसौ प्रतिश्रुत्य, दध्यौ बाल्यविजृम्भितम् । मानोऽस्य शास्त्रबोधेऽयं, स्वयं नम्रो भविष्यति ॥४१॥
ततोऽसौ सर्वयत्नेन, प्रवृत्तो मम पाठने । पठन्ति तत्र चान्येऽपि, विनीता राजदारकाः ॥४२॥
शैलराजः प्रवृद्धः स्यादादरेणाथ मे गुरोः । ततो जात्यादिनाऽऽचार्यं, हीलयामि प्रतिक्षणम् ॥४३॥
दध्यौ तदा कलाचार्यो, नास्य शास्त्रश्रमाद्गुणः । यथाऽम्लभोजनात् क्षीणतनोः श्वयथुवर्धनात् ॥४४॥
ज्ञानदानमपात्रस्य, कन्यादानमिवाहितम् । त्यक्तस्तेनेत्यहंभावाद्, बहिर्द्वेषो न दर्शितः ॥४५॥
राजडिम्भा अपि प्रेक्ष्य, मामभूवंस्तथाविधम् । विरक्ताः केवलं पुण्यान्न पराभवितुं क्षमाः ॥४६॥
बहिर्गतेऽन्यदाऽऽचार्ये, मयाऽध्यस्तं तदासनम् । तद् दृष्ट्वा राजडिम्भा मां, प्रोचुर्नेदं तवोचितम् ॥४७॥ यतः—
गुर्वासने निविष्टानां, मालिन्यं स्यात्कलङ्कजम् । वर्धते चायशःपापे, क्षरणं चायुषो भवेत् ॥४८॥
मयोक्तं शिक्षणार्होऽहं, बालिशाः ! किं भवादृशाम् । यात स्वकुलशिक्षार्थं, तेऽपि तूष्णीं स्थितास्ततः ॥४९॥
कलाचार्याय तत् प्रोक्तं, चरित्रं राजदारकैः । क्रुद्धेन तेन पृष्टोऽहं, सासूयं भाषितं मया ॥५०॥

अहोऽविमृश्य भाषितमहो ते शास्त्रकौशलम् । असत्यवादिभिर्ब्रूषे, मामेवं यत् प्रतारितः ॥५१॥
ततो महामतिर्दध्यौ, न मृषा राजदारकाः । ब्रुवतेऽयं परं पापस्तद् दृष्ट्वा शिक्षयाम्यहम् ॥५२॥
अन्यदा छन्नदेशस्थः, स मां वेत्रासनस्थितम् । दृष्ट्वा ददावुपालम्भं, कृतस्तन्निह्नवो मया ॥५३॥
ततो रहसि विज्ञप्तं, गुरवे राजदारकैः । अद्रष्टव्यो ह्ययं युक्तो, मध्ये स्थापयितुं न नः ॥५४॥
तेनापि चिन्तितं सत्यं, वदन्त्येते तपस्विनः । पापोऽनुचित एवाऽयं, सत्सङ्गे रिपुदारणः ॥५५॥ तथाहि—
कुपितं मधुरैर्वाक्यैरर्थदानेन लोभिनम् । विनयेन जनं स्तब्धमविश्वासेन मायिनम् ॥५६॥
चौरं रक्षणयत्नेन, सद्बुद्ध्या पारदारिकम् । वशीकुर्वन्ति सुधियो, मूर्खं चित्तानुवृत्तितः ॥५७॥
न तु कोऽपि प्रतीकारो, विद्यते भुवनत्रये । असत्यवादिनः पुंसः, कालदष्टः स उच्यते ॥५८॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।
स्वभावादथवा दुष्टो, नास्त्ययं रिपुदारणः । मृषावादान्मृषा ब्रूते, स्तब्धः स्याच्छैलराजतः ॥५९॥
कुर्याद् यद्येतयोस्त्यागं, तदा स्याद्धितमुत्तमम् । शिक्षयामि तदर्थं तदित्याचार्यो जगाद माम् ॥६०॥
कुमार ! नोचितं स्थानं, मच्छालायां किलेदृशाम् । शैलराजमृषावादौ, पापमित्रे ततस्त्यज ॥६१॥
मयोक्तं स्थानमेतत् त्वं, यच्छ पित्रे विनाऽप्यदः । विना च त्वां वयं शास्त्रं, भणिष्यामोऽन्यतः सुखम् ॥६२॥
तर्जयित्वेत्थमाचार्यं, स्तब्धचित्तविलेपनात् । उत्कंधराननो मृद्नन्निजाङ्गं निर्गतस्ततः ॥६३॥
प्राप्तस्तातान्तिके पृष्टस्तेन पाठोऽवशिष्यते । कियांस्तव मया प्रोक्तं, न न्यूना काऽपि मे कला ॥६४॥

तातः प्राह तथाऽप्युच्चैः, पूर्वाधीतं स्थिरीकुरु । विद्यायां ध्यानयोगे च, संतोषो नोचितः सताम् ॥६५॥
भृतं धनैः पुनर्वेश्म, कलाचार्यस्य भूभृता । मा भूत् खेद इति प्रोक्तं, तेन मच्चरितं तु न ॥६६॥
कलाचार्यगृहे स्थेयं, भवताऽभ्यासशालिना । अतः प्रभृति तातेनेत्युक्तं तत्स्वीकृतं मया ॥६७॥
निर्गतेन मृषावादस्ततः पृष्टो वयस्य ! ते । दक्षता किमुपज्ञं यद्वशान्मेऽभूदयं महः ॥६८॥
स जगौ राजसे चित्ते, राजाऽऽस्ते रागकेसरी । सरीसृपाणां शत्रूणां, त्रासने विनतासुतः ॥६९॥
तस्यास्ति मूढता देवी, कुक्षिक्षिप्तगुणोच्चया । मायाऽभिधाऽस्ति तत्पुत्री, छायाछन्नजगत्त्रया ॥७०॥
प्रतिपन्ना मया प्रेम्णा, भगिनी सा महत्तमा । साऽपि छायेव मां मुक्त्वा, कदापि क्वापि याति न ॥७१॥
प्राप्तं तदुपदेशेन, मया कौशलमिदृशम् । मयोक्तं दर्शनीया सा, ममाप्यात्मस्वसा त्वया ॥७२॥
तथेति स्वीकृतं तेन, ततो विलसितं मया । शालासु द्यूतकाराणां, पणस्त्रीणां च वेश्मसु ॥७३॥
इत्थं द्वादश वर्षाणि, कलौघोपार्जनच्छलात् । लङ्घितानि कुमार्गेण, मया तातमपश्यता ॥७४॥
मिथ्यावातरिजःपुञ्जे, मयि धूमभ्रमाद्गिरौ । पूर्णज्ञानाग्निसद्भावो, लोकैरनुमितस्ततः ॥७५॥
अथाहं यौवनं प्राप्तः, कामिनीमृगवागुराम् । मानद्विरदविन्ध्याद्रिं, स्मरभृङ्गसरोरुहम् ॥७६॥
इतश्चाशेषपूःस्वामिनरकेसरिभूपतेः । देव्या वसुन्धरायाश्च, सुताऽस्ति नरसुन्दरी ॥७७॥
तयोश्चानया चित्तेऽभिनिवेशोऽयमाहितः । वरणीयो मया नूनं, मत्तोऽधिकगुणो वरः ॥७८॥

नरकेसरिणा ज्ञात्वा, तद्भावमिति चिन्तितम् । अस्याः समर्गलः स्याचेत् स एव रिपुदारणः ॥७९॥
ततोऽसौ तां गृहीत्वैव, वरविद्यां परीक्षितुम् । सिद्धार्थनगरं प्राप्तः, पित्रा प्रीत्या प्रवेशितः ॥८०॥
दत्तं चावासकस्थानं, सज्जीकृत्याथ मण्डपम् । पतिंवरावरगुणान् , सभा चक्रे परीक्षितुम् ॥८१॥
राजान्वितः स्थितस्तातस्तन्मध्ये सपरिच्छदः। समाहूतौ कलाचार्यस्तत्राहं च समागतौ ॥८२॥
इतः पुण्योदयस्याभून्मद्दुश्चेष्टितचिन्तया । तेजोमान्द्यमिति स्फुर्तिंगता प्रातर्विधोरिव ॥८३॥
प्रस्तुतार्थोऽथ तातेन, कलाचार्याय भाषितः । जातो हर्षातिरेको मे, जहासान्तः कलागुरुः ॥८४॥
अत्रान्तरे समायातो, भूपतिर्नरकेसरी। तदुत्तरं सभामध्ये, प्रविष्टा नरसुन्दरी ॥८५॥
लावण्यामृतपूरेण, प्लावयन्ती जगन्मनः । स्निग्धसिन्दूरभृत्केशजितसन्ध्यारुणाम्बरा ॥८६॥
द्योतयन्ती दिशां चक्रं, दीप्तेन वदनेन्दुना । कटाक्षैः पूरयन्तीव, न्यस्तशस्त्रस्मरेषुधिम् ॥८७॥
तरन्ती स्तनकुम्भाभ्यां, शृङ्गाररसवारिधिम् । उन्मादयन्ती जघनपुलिनेन स्मरद्विपम् ॥८८॥
चटुलैर्मन्मथोल्लापैर्हसन्ती कोकिलध्वनिम् । अलङ्कारैर्मुनीनामप्याक्षिपन्ती च मानसम् ॥८९॥
जजृम्भे शैलराजोऽथ, तां दृष्ट्वा मे ततो मया। चिन्तितं परिणेतुं मां, विनैनां क इवार्हति ॥९०॥
नरकेसरिराज्ञाऽथोऽभिहिता नरसुन्दरी । प्रश्नयैनं कलामार्गे, यथेच्छं रिपुदारणम् ॥९१॥
सा प्राह मे गुरुजनाध्यक्षं प्रश्नो न युज्यते । तदुद्ग्राहयतु व्यक्तमार्यपुत्रोऽखिलाः कलाः ॥९२॥

तत्र गुह्ये मया पृष्टे, निर्वाहं च करोत्यसौ । तुष्टाः सर्वे तदाकर्ण्य, पिता प्राह ततश्च माम् ॥९३॥
उद्गृहाण कलाः पुत्र ! राजपुत्र्या सुमन्त्रितम् । तदा विज्ञानशून्यस्य, स्तब्धा मम तु भारती ॥९४॥
महामतिः कलाचार्यस्ततः पित्रा निरीक्षितः । कुमारस्य दशा केयमिति कर्णेऽस्य भाषितम् ॥९५॥
कर्णे तेन शनैः प्रोक्तं, देवक्षोभोऽयमान्तरः । पिता प्रोचे कुतो न्वेष, बभाषेऽथ महामतिः ॥९६॥
अर्थाज्ञानादयं क्षोभः, कुमारस्य तवाजनि । वागायुधा हि वाग्युद्धे, क्षुभ्यन्ति ज्ञानमन्तरा ॥९७॥
तातः प्राह कुतोऽज्ञानं, कुमारस्यास्य युज्यते । अयं प्राप्तप्रकर्षो हि, श्रुतः सर्वकलाविधौ ॥९८॥
ततः प्राह कलाचार्यो, दक्षोऽयं कलयोर्द्वयोः । शैलराजमृषावादकृतयोर्न कलान्तरे ॥९९॥
तातः प्राह कले के ते, कलाचार्यो जगावथ । एको विनयविध्वंसो, द्वितीयं कूटभाषणम् ॥१००॥
ततः सर्वोऽपि वृत्तान्तो, भाषितस्तेन मूलतः । राजाऽऽह तत् कथं जानन्नेनं प्रावीविशः सभाम् ॥१०१॥
महामतिर्जगौ देव, न मयेह प्रवेशितः । मद्गृहान्निर्गतस्यास्य, गता द्वादशवत्सरी ॥१०२॥
अकस्माद्भवतो देवाह्वानादहमिहागतः । कुतश्चिदन्यतः स्थानादयमप्यत्र चागतः ॥१०३॥
पिता प्राहार्य ! यद्येवमपात्रं रिपुदारणः । इयन्तं कालमासीत् तत् कुतोऽभूद्भाजनं श्रियः ॥१०४॥
महामतिर्जगावस्य, सुहृत् पुण्योदयोऽस्ति यः । दत्ता तेनेयती लक्ष्मीः, क्षीणोऽथास्यैष दोषतः ॥१०५॥
ततो दुष्प्रतिकारं मद्विकारं चिन्तयन् पिता । राहुग्रस्तेन्दुतुल्यास्यो, जातो ज्ञाता जनैः क्षतिः ॥१०६॥

ग्लानोऽभूत् परिवारो मे, विषण्णा नरसुन्दरी। हसिताः सर्वतः पिङ्गा, विस्मितो नरकेसरी ॥१०७॥
ताताचार्यरहोजल्पाद् विकल्पो मम चोत्थितः। जल्पयिष्यत एतौ मां, प्रसह्येति करोमि किम् ॥१०८॥
कण्ठनाड्यस्ततः स्तब्धा, भूरिभीतिविकारतः। श्वासोच्छ्वासपथो रुद्धो, जाता मृत्यूचिता दशा ॥१०९॥
ततः किमेतदित्यङ्के, लग्ना विमलमालती। आकुलः परिवारोऽभूद्, विस्मिता सकला सभा ॥११०॥
विसृष्टाऽथ सभा पित्रा, कुमारापाटवच्छलात्। जहसुर्मम पाण्डित्यं, मानवा मिलिता बहिः ॥१११॥
नरकेसरिणा ध्यातं, प्रस्थातव्यं मया प्रगे। सुभोज्यमिव शास्त्रार्थो, ह्यंशेनैव परीक्ष्यते ॥११२॥
कष्टेन तद्व्यतीतं च, दिनं तातस्य चिन्तया। कथञ्चन विना निद्रां, गता सुप्तस्य शर्वरी ॥११३॥
इतश्च मे सुहृत् पुण्योदयो ह्रीणो व्यचिन्तयत्। किं तस्य जन्मना यस्मिन्, सति स्यादाश्रितक्षतिः ॥११४॥
रक्षति स्वाश्रितं यो न, स लघुः पवनादपि। पवनोऽपि यतो धत्ते, मज्जन्तं दृतिमम्भसि ॥११५॥
यायात् सुतामदत्त्वैव, यद्यसौ नरकेसरी। ततः कुमारसान्निध्यकारिणो मेऽयशो ध्रुवम् ॥११६॥
अयोग्यायापि तेनास्मै, दापयामि सुलोचनाम्। इति ध्यात्वा पितुः स्वप्नं, निशाशेषे ददावसौ ॥११७॥
दृष्टस्तत्र वदन् कश्चित्, पुरुषः कुन्दसुन्दरः। दापयिष्याम्यहं कन्यां, कुमारायेति मा शुचः ॥११८॥
तेन स्वप्नेन मुदितस्तातः प्रातरबूबुधत्। पुण्योदयस्तदा चक्रे, नरकेसरिणो धियम् ॥११९॥
नरवाहनराजोऽयं, गुणैः ख्यातो जगत्त्रये। हेतुर्ममागमस्यात्र, ज्ञातो राज्यान्तरेष्वपि ॥१२०॥

ततः कन्यामदत्त्वैव, गमनं मे न शोभनम् । यथाकथञ्चिद् देयाऽसौ, नो चेत् पक्षद्वयक्षतिः ॥१२१॥
तं भावं नरसुन्दर्यै, प्रोवाच नरकेसरी । तथेति प्रतिशुश्राव, साऽपि पुण्योदयाज्ञया ॥१२२॥
नरकेसरिराजोऽथ, तातस्यैवमभाषत । कुमारायैव कन्या मे, कृतं बहुविकत्थनैः ॥१२३॥
प्रतिशुश्राव तातस्तत्प्रशस्ते वासरे ततः । परिणीता मया तुच्छैरुत्सवैर्नरसुन्दरी ॥१२४॥
नरकेसरिराजोऽथ, मुदितः स्वाश्रयं गतः । विनोदैर्नरसुन्दर्या, गतः कालः कियान् मम ॥१२५॥
आवयोः प्रेमसम्बन्धं, दृढं पुण्योदयोऽकरोत् । मिथोविश्लेपरहितं, चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥१२६॥
तं दृष्ट्वा सुहृदाभासौ, परमार्थेन वैरिणौ । शैलराजमृषावादौ, परं क्रोधमुपागतौ ॥१२७॥
खलः खेदं प्रयात्येव, दृष्ट्वा सत्संगमोदयम् । पद्मोल्लासे कृतेऽर्केण, किं न खिद्यति कौशिकः ॥१२८॥
ततस्तौ द्वौ वियोगाय, जातौ नौ कृतनिश्चयौ । मया तु तां समासाद्य, तृणवद्गणितं जगत् ॥१२९॥
तदाऽहं चिन्तयामि स्म, स्तब्धचित्तविलिप्तहृत् । मत्तुल्यः कोऽपि नास्तीह, यस्य भार्येयमीदृशी ॥१३०॥
पुण्योदयस्तु मां दृष्ट्वा, तादृशं क्षीयतेऽनिशम् । स्फुरद्विचिमदोन्मादं, राकेन्दुरिव सागरम् ॥१३१॥
ततो मां तादृशं दृष्ट्वा, हसन्ति निखिला जनाः । पश्यताहो विधेरीदृगस्थानविनियोजनम् ॥१३२॥
स्त्रीरत्नमीदृगेतेन, मूर्खेण विनियोजयन् । स्वापवादं स्वहस्तेन, तेने वेदजडो विधिः ॥१३३॥
करिणीव खरे कल्पलतेवैरण्डपादपे । अस्मिन्नियोजिता ह्येषाऽपकीर्तिर्विश्वरेतसः ॥१३४॥

जाड्यान्धः प्रागभूदेष, गर्वेणान्धोऽधुनाऽजनि। कपेस्तदेतत्कापेयं, दष्टस्य वृषणेऽलिना ॥१३५॥
जिज्ञासमाना सद्भावमन्यदा नरसुन्दरी। अज्ञानजं मनःक्षोभं, जानानैव जगाद माम् ॥१३६॥
आर्यपुत्र! सभायां ते, कीदृगासीदपाटवम्। योगशक्त्या तदाविष्टो, मृषावादो मदानने ॥१३७॥
ततो मयोक्तं हृदये, कलाः सर्वाः स्फुरन्ति मे। नास्वस्थोऽपि तदाऽभूवं, पितृभ्यां त्वाकुलीकृतः ॥१३८॥
व्यलीकभावं श्रुत्वैतज्जगाम नरसुन्दरी। दध्यावहो विलज्जत्वमहो प्रत्यक्षनिह्नवः ॥१३९॥
सा प्रत्युवाच यद्येवं, ततो मे कौतुकं महत्। अद्यापि श्रोतुमिच्छामि, कीर्त्यमानां कलां त्वया ॥१४०॥
मया ध्यातं हसत्येषा, स्वपाण्डित्यमदेन माम्। तत् पराभवकृत् पापा, न स्थाप्या दृष्टिगोचरे ॥१४१॥
स्तब्धचित्तविलिप्तात्महृदयेनाथ भाषितम्। गच्छ रे दृष्टिमार्गान्मे, नेह स्थातुं तवोचितम् ॥१४२॥
पण्डिता त्वमहं मूर्खः, सङ्गो नावसमञ्जसः। तद्योग्यसङ्गमेनैव, स्वं पाण्डित्यं कृतार्थय ॥१४३॥
ज्ञात्वा प्रसादनायोग्यं, ततः सा मां मदोद्धतम्। मन्त्राहता भुजङ्गीव, करिणीवाङ्कुशक्षता ॥१४४॥
वल्लीवोन्मूलिता चान्द्री, ज्योत्स्नेव घनसंहता। सर्वथा दीनवदना, साध्वसक्षीणमानसा ॥१४५॥
दृष्ट्वेव कलुषं चित्तसरोऽन्यत्र वियासतः। विरुतैः स्नेहहंसस्य, शोभिता नूपुरारवैः ॥१४६॥
निर्गता मामकगृहात्, प्राप्ता मज्जननीगृहम्। स्थितोऽहं स्तम्भवत् तावदशुष्यति विलेपने ॥१४७॥ चतुर्भिः कलापकम्।
जातो मेऽनुशयस्तत्र, मनाक् शोषमुपागते। उद्भूताः सात्त्विका भावास्तद्रागो मामबाधत ॥१४८॥

अत्रान्तरे समायाता, माता विमलमालती । स्थिता भद्रासनेऽकारि, मया चाकारगोपनम् ॥१४९॥
ततो माता जगौ वत्स !, सुन्दरं न कृतं त्वया । तिरस्कृता खरैर्वाक्यैर्यदियं नरसुन्दरी ॥१५०॥
अब्जिनीव हिमाश्लिष्टदलोदश्रुविलोचना । निर्गतेयमितः कम्प्रा, पतिता मम पादयोः ॥१५१॥
मया पृष्टं किमेतत् ते, साऽऽह मां बाधते ज्वरः । प्रवालशयने शीते, शायिता मयका ततः ॥१५२॥
स्त्राघ्रमानेव सिंहेन, प्लुष्यमाणेव वह्निना । प्रतिक्षणं मया दृष्टा, तत्रोद्वर्तनतत्परा ॥१५३॥
ततो मया पुनः पृष्टं, ज्वरस्तेऽयं कुतोऽजनि । अथ सा दीर्घनिःश्वासैः, प्रत्यूचे न गिरा पुनः ॥१५४॥
निश्चित्य मानसीं पीडां, पृष्टा निर्बन्धतोऽथ सा । त्वत्कृतस्यापमानस्य, सर्वां वार्तामचीकथत् ॥१५५॥
कृत्वा शीतोपचारौघं, ततः साऽऽश्वासिता मया । वत्से ! धीरा भवोद्वेगं, मुञ्चालम्बस्व साहसम् ॥१५६॥
यामि पार्श्वे कुमारस्याऽनुकूलं ते करोमि तम् । प्रतिकूलासहो मानी, स्वाराध्योऽयं त्वया परम् ॥१५७॥
इमां मद्वाचमाकर्ण्य, तथेति प्रतिपद्य सा । उच्छ्वासं प्राप मेघाम्बुपृक्ता पल्वलभूरिव ॥१५८॥
चक्रेण चलता तस्माद् वृष्टिराकालिकी कृता । तन्नेत्रयोस्त्वया वत्स, प्रगुणीभूय वार्यताम् ॥१५९॥
साऽग्नौ दन्दह्यते बाला, ज्ञात्वा त्वत्प्रतिकूलताम् । मज्जत्यामज्जममृते, श्रुत्वा भाव्यनुकूलताम् ॥१६०॥
अतो यन्मुग्धया किञ्चिदपराद्धं तया तव । प्रणतेषु दयाशाली, तद्भवान् क्षन्तुमर्हति ॥१६१॥
भनामि यावत् प्रगुणः, श्रुत्वेमां जननीगिरम् । मम तावद्गिरीन्द्रेण, दत्तं हृदि विलेपनम् ॥१६२॥

जननीवाग्गुणारूढस्तेनाकृष्य वचःशरान् । चापीकृतः प्रवृत्तोऽहं, परुषानथ वर्षितुम् ॥१६३॥
न कार्यं मम संधानं, पापयाऽम्ब ! तया सह । असाध्यसिद्धिप्रणयी, यत्नोऽत्र तव निष्फलः ॥१६४॥
या मन्यते स्वमात्मानं, पण्डितं मां च बालिशम् । सर्वथा नोत्सहे युक्तं, स्नेहं कर्तुं तया सह ॥१६५॥
ततः प्रतिगता माता, तस्यै व्यतिकरं जगौ । पपात मूर्छिता भूमौ, ततो वज्रहतेव सा ॥१६६॥
शीतलैर्लब्धचैतन्या, तालवृन्तानिलैरथ । भुवं प्लावयितुं लग्ना, मुक्तैर्नयननिर्झरैः ॥१६७॥
सा ववर्षाश्रुवारीणि, वियोगाग्निव्ययेच्छया । विदाञ्चकार बालाऽन्तर्न चैनं वडवानलम् ॥१६८॥
मात्राऽथाभिहितं पुत्रि, शोकोऽयं प्रविमुच्यताम् । स्वयं गत्वा प्रसाद्योऽयं, कठोरहृदयः प्रियः ॥१६९॥
आर्द्रीकर्तुं मनः शक्यं, कामिनां मार्दवाम्बुना । उपायमेकमित्येनं, कृत्वा स्वनियतिस्थिरा ॥१७०॥
तथेति सा प्रतिश्रुत्य, मां सान्त्वयितुमागता । अम्बाऽप्यनुपदं लग्ना, तदायतिदिदृक्षया ॥१७१॥
प्रणतोदश्रुनेत्राऽथ, मत्पादौ नरसुन्दरी । प्रसीद त्वां विना त्राणं, मम नास्तीति वादिनी ॥१७२॥
क्षणं प्रियोक्तिसिक्ता मच्चित्तभूरार्द्रतां ययौ । क्षणं काठिन्यमद्रीन्द्रप्रतापातपशोषिता ॥१७३॥
अथ मानं पुरस्कृत्य, मया सा भर्त्सिता भृशम् । आः पापे ! गच्छ गच्छेतो, मायया कृतमेतया ॥१७४॥
कुशलाऽपि कलासु त्वं, कर्तुं शक्ताऽसि वञ्चनम् । परेषामेव न पुनर्मूर्खाणामपि मादृशाम् ॥१७५॥
इत्युक्त्वा मौनमालम्ब्य, शैलराजवशंवदः । स्थितोऽहं स्तब्धसर्वाङ्गो, हिमाक्रान्त इवोच्चकैः ॥१७६॥

खेचरी नष्टविद्येव, छिन्ना सा नरसुन्दरी। ततः प्राणपरित्यागकृते गन्तुं प्रचक्रमे ॥१७७॥
गतस्तदनुमार्गेऽहं, करोति किमसाविति। दुश्चेष्टामदिदृक्षुर्मे, गतोऽस्तं तरणिस्तदा ॥१७८॥
निशि साऽथ गतैकत्र, शून्यावासे सरस्य च। चन्द्रो मुखमिवोदीतो, दास्यतो दशमीं दशाम् ॥१७९॥
छन्नात्मा द्वारदेशेऽहं, स्थितस्तत्र विलोकितुम्। अपाशयाऽप्यहो तत्र, पाशः सज्जीकृतस्तया ॥१८०॥
अत्रान्तरे मया ध्यातं, यदुक्तमनया मम। न तत् पराभवं कर्तुं, प्रणयस्तत्र कारणम् ॥१८१॥
तन्मया न कृतं सम्यग्, वारयाम्यधुनाऽप्यमूम्। इतो भावादिति च्छेत्तुं, पाशकं प्रयतो यदा ॥१८२॥
सा तदोवाच दिक्पाला, मम प्राणान् प्रतीच्छत। माभूदीदृग् व्यतिकरो, मम जन्मान्तरेऽपि च ॥१८३॥
तस्यार्थं शैलराजो मे, विपरीतमिदं जगौ। पश्य जन्मान्तरेऽप्येषा, त्वत्सम्बन्धं न वाञ्छति ॥१८४॥
कूटार्थदुर्विदग्धेन, मया तूर्ष्णीं स्थितं ततः। तया प्राणाः परित्यक्ता, बाणा इव धनुष्मता ॥१८५॥
इतश्च निर्यतीं गेहाद्, दृष्ट्वाऽम्बा नरसुन्दरीम्। मां च तत्पृष्ठतो लग्नमागताऽनुपदं शनैः ॥१८६॥
दृष्टा तथाविधा तत्र, तया सा नरसुन्दरी। दध्यौ च मत्सुतस्यापि वार्तेयं वचृतेतराम् ॥१८७॥
एवं स्थितायामेतस्यां, शोचेन्नो चेदसौ कथम्। शोकादित्यम्बयाऽप्यात्मा, त्यक्तः पश्यत एव मे ॥१८८॥
तदा मम मनाक् शुष्कं, शैलेन्द्रियं विलेपनम्। स्नेहविह्वलभावेन, पश्चात्तापः कृतः क्षणम् ॥१८९॥
गुरुणः कठिनस्वान्ताः, स्त्रीविनाशे रुदन्ति के। शैलस्येत्यवष्टम्भात्, स्थितस्तूष्णीमहं ततः ॥१९०॥

इतः कदलिकाऽऽयाताऽन्वेष्टुं तत्रैव मातरम् । सा मदम्बाप्रिये दृष्ट्वा, मृते चक्रे महारवम् ॥१९१॥
महान् कोहाहलो जातः, सतातं मिलितं पुरम् । किमेतदिति पृष्टा च, जानाना साऽखिलं जगौ ॥१९२॥
तातायादर्शयल्लीनं, स्फुटश्चन्द्रोदयोऽथ माम् । धिक्कृतोऽहं ततः पित्रा, सम्प्रत्ययमुपेयुषा ॥१९३॥
अथाम्बानरसुन्दर्योर्मृतकार्यं विधाय सः । मत्कर्म दारुणं दृष्ट्वा, चिन्तयामास चेतसि ॥१९४॥
अहो अनर्थपुञ्जोऽयमहो एष कुलानलः । प्रयोजनं न पुत्रेण, ममानेन दुरात्मना ॥१९५॥
इत्थं विचार्य तातेन, गृहान्निष्काशितो बहिः । विचरामि स्म निःश्रीकः, पुरेऽहं तत्र दुःखितः ॥१९६॥
बालानामपि गम्योऽहं, तदा जातो विगर्हितः । तथापि चिन्तयामि स्म, महामोहरथस्य गौः ॥१९७॥
तातेनाऽपि परित्यक्तो, निन्दितोऽप्यखिलैर्जनैः । शैलराजमृषावादाश्रितोऽहं नास्मि दुःखितः ॥१९८॥ युग्मम् ॥
प्रभावादनयोरेव, पूर्वं भुक्तं मया सुखम् । पुनर्भोक्ष्ये च कालस्यानुकूल्यान्नात्र संशयः ॥१९९॥
व्यतीयुर्भूरिवर्षाणि, स्थितस्यैवं ममाथ सः । सुहृत् पुण्योदयः क्षीणः, स्थितोऽकिञ्चित्करः परम् ॥२००॥
गतो राजाऽन्यदा वाजिवाहनार्थं वने क्वचित् । गतः कुतूहलात् तत्र, पुरलोकैरहं सह ॥२०१॥
श्रान्तस्तत्रैकदेशेऽथ, विश्रान्तोऽसौ ततो नृपः । उत्थाय लग्नो सामन्तान्वितो द्रष्टुं वनश्रियम् ॥२०२॥
विरक्तं तत्र सोऽपश्यद् रक्ताशोकतलस्थितम् । विचक्षणाख्यमाचार्यं, कुर्वाणं धर्मदेशनाम् ॥२०३॥
रूपं निरूपयंस्तस्य, त्रैलोक्यनयनामृतम् । नरवाहनपृथ्वीशो, परं हर्षमुपागतः ॥२०४॥

दध्यौ चाभूत् किमस्याहो, संसारोद्वेगकारणम्। चूर्णितो मदनो येन, यौवनारामचारिणा ॥२०५॥
गत्वा नत्वा पदाम्भोजं, पृच्छाम्येनं शुभाशयम्। विचिन्त्यैवं नृपो गत्वा, प्रणनाम गुरोः क्रमौ ॥२०६॥
तेनाथ दत्तधर्माशीर्निषण्णोऽसौ महीतले। उपविष्टा यथास्थानं, प्रणम्यान्येऽपि मानवाः ॥२०७॥
मया तु तादृशस्यापि, सूरेर्नैव पदद्वयम्। नतं स्तब्धेन हृदये, शैलेन्द्रीयविलेपनात् ॥२०८॥
निषण्णोऽनम्र एवाऽहं, सूरिर्धर्ममभाषत। भो भव्या भवविस्तारः, प्रदीप्तगृहसन्निभः ॥२०९॥
अस्य विध्यापने यत्नः, कर्तव्यः सुखमिच्छता। तद्धेतुर्धर्ममेघश्च, सर्वज्ञागमलक्षणः ॥२१०॥
तदागमोऽभ्युपेयस्तद्विदः सेव्या दिवाऽनिशम्। भावनीयमनित्यत्वं, त्याज्याऽपेक्षा हृदाऽसताम् ॥२११॥
भाव्यमाज्ञाप्रधानेनोपादेया प्रणिधानधीः। साधुभक्त्याऽथ सा पोष्या, गोप्या प्रवचनक्षतिः ॥२१२॥
विधिप्रवृत्त एतच्च, सम्पादयति निश्चितम्। यतितव्यं विधौ तेन, पुरस्कृत्यागमं बुधैः ॥२१३॥
स्वरूपं प्रत्यभिज्ञेयमालम्ब्या लिङ्गशुद्धता। सेव्यो योगश्च निर्द्वन्द्वः, प्रतीकार्या कुभावना ॥२१४॥
यात्येवं यतमानानां, कर्म सोपक्रमं क्षयम्। निरुपक्रमकर्मोग्रानुबन्धश्च निवर्तते ॥२१५॥
इमां गिरं गुरोः श्रुत्वा, भावं केऽपि दधुर्व्रते। केचन श्राद्धधर्मे च, केऽपि भद्रकतां ययुः ॥२१६॥
दध्यावत्रान्तरे तातो, हृद्गतं प्रश्नयाम्यहम्। पप्रच्छासौ ततो भालविन्यस्तकरकुड्मलः ॥२१७॥
रूपमप्रतिरूपं ते, भाग्यं सौभाग्यसङ्गतम्। भदन्त! भवतो जातं, तत् किं वैराग्यकारणम् ॥२१८॥

सूरिर्बभाषे चेद् राजन्नस्त्यत्र तव कौतुकम्। भववैराग्यहेतुं मे, तदा ते कथयाम्यहम् ॥२१९॥
स्वस्तुतिः परनिन्दा प्राक्क्रीडावार्तेति च त्रयम्। स्वचरित्रे ध्रुवं तच्च, वक्तुं युक्तं न मे परम् ॥२२०॥
तातेनोक्तं कथयता, त्वयेत्थं नाथ! कौतुकम्। वर्धितं मे प्रसादेन, तद्वाच्यं चरितं निजम् ॥२२१॥
निर्बन्धं बोधहेतुं च, ज्ञात्वा सूरिस्ततोऽवदत्। अस्तीह भूतलं नाम, नगरं सुमनोहरम् ॥२२२॥
तत्रातुलप्रतापाड्यो, भूपोऽस्ति मलसञ्चयः। तत्प्रिया मलपङ्क्तिश्च, शुभाशुभविधौ विधिः ॥२२३॥
पुत्रोऽस्ति जगदाह्लादी, तयोरेकः शुभोदयः। अन्योऽशुभोदयो नाम, जगत्सन्तापकारकः ॥२२४॥
भार्या शुभोदयस्यास्ति, चारुता जनशर्मदा। अचारुताख्या त्वशुभोदयस्य जनभीतिकृत् ॥२२५॥
विचक्षणोऽजनि शुभोदयचारुतयोः सुतः। अन्ययोस्तु जडो नाम, गुणग्रामपराङ्मुखः ॥२२६॥
अक्षुद्रः प्रशमी दान्तः, पूजको गुरुसन्ततेः। देवसेवापरो दाता, गुणदोषविशेषवित् ॥२२७॥
लक्ष्मीलाभेऽप्यनुत्सिक्तो, व्यसनेऽप्यविषादवान्। परनिन्दानिजश्लाघारहितः परकार्यकृत् ॥२२८॥
मध्यस्थः सत्यवादी च, विनीतो नतवत्सलः। मार्गानुसारी मतिमान्, जातस्तत्र विचक्षणः ॥२२९॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥
जडस्त्वभूद् विपर्यस्तस्वान्तः पैशुन्यभाजनम्। सत्यसंयमसन्तोषशौचसंस्कारवर्जितः ॥२३०॥
प्रतिज्ञास्खलितो देवगुरुनिन्दाविधायकः। क्षुद्रो लोभरतिर्दीनः, सुहृदां चित्तभेदकृत् ॥२३१॥
भिन्नो वाचि क्रियायां च, जातानन्दः परापदि। परसम्पदि जातार्तिर्गर्वाध्मातोऽफलक्रियः ॥२३२॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

ईदृग्लक्षणयुक्तौ तौ, स्वगृहे सुखलालितौ। विचक्षणजडौ प्राप्तौ, तारुण्योल्लसितां दशाम् ॥२३३॥
इतश्च गुणरत्नौघपूर्णपण्यापणावलि। पुरं विमलचित्ताख्यमस्ति स्वस्तिनिकेतनम् ॥२३४॥
जयत्यनन्तगुणभूर्नृपस्तत्र मलक्षयः। कषायतनुताकोशादक्षयो[1] जनितोदयः ॥२३५॥
तस्य चास्ति महादेवी, शुभलब्धिरनिश्वरी। गुणैर्जयन्ती जगतीं, चतुरम्भोधिमेखलाम् ॥२३६॥
जाता ताभ्यां शुचिः कन्या, बुद्धिर्वंशविवर्द्धनी। चान्द्री कलेव जगतां, नयनानन्ददायिनी ॥२३७॥
विचिन्त्य तद्विवाहार्हं, गुणपूर्णं विचक्षणम्। उद्यौवना सा प्रहिता, ताभ्यां तस्य स्वयम्वरा ॥२३८॥
विचक्षणेन सा कन्या, परिणीता महोत्सवैः। यान्त्यस्य दिवसा भोगान्, भुञ्जानस्य तया सह ॥२३९॥
वार्तामथान्यदा लब्धुं, बुद्धेः स्नेहमहोदधिः। विमर्शाख्यं निजं पुत्रं, प्रजिघाय मलक्षयः ॥२४०॥
भगिन्याः प्रेमबद्धोऽसौ, तस्या एवान्तिके स्थितः। पूर्णाकाङ्क्षा जातगर्भा, प्रकर्षं सुषुवेऽथ सा ॥२४१॥
श्लाघ्यो विख्यातमहिमा, जातोऽसौ बुद्धिनन्दनः। विमर्शस्य प्रियः कामं, विचक्षणगुणैः समः ॥२४२॥
अथान्यदा वनं स्वीयं, दृष्ट्वा वदनकोटरम्। विचक्षणजडौ तत्र, स्थितौ लीलापरौ सुखम् ॥२४३॥
दृष्टं महाबिलं ताभ्यां, तत्र तस्माच्च निर्यती। रक्तवर्णाङ्गना दृष्टा, लीलाकृष्टजगन्मना: ॥२४४॥
तामुदीक्ष्य जडश्चित्ते, ममौ नानन्दपूरतः। दध्यौ च नेदृशी काचिदस्ति विश्वत्रयेऽङ्गना ॥२४५॥

1 नलयोरूप. रा. मा डे. शा.।

धात्रा मदर्थमेवैषा व्यधायि यदियं मुहुः। मा लोला प्रेक्षते तेन, गत्वैनां स्वीकरोम्यहम् ॥२४६॥
विचक्षणस्तु तां दृष्ट्वा, लोलामेकाकिनीं वने। न दोलायितचित्तोऽभूत्, स्थितो न्यग्दृष्टिरुत्तमः ॥२४७॥
प्रवृत्तो गन्तुमन्यत्र, जडमाकृष्य सोऽग्रतः। मन्वानोऽपायभूतं तद्दर्शनं चित्तविप्लवात् ॥२४८॥
यावत्तौ गच्छतः स्तोकं, भूभागं तावदागता। तच्चेटी सा जगौ श्रव्यं, भवद्भ्यां वचनं मम ॥२४९॥
मत्स्वामिनीं विमुच्येह, चलितौ यद् युवां जवात्। तेनैषा प्रसरन्मूर्च्छा म्रियते वां वियोगतः ॥२५०॥
युवाभ्यां तत् समागत्य, सा स्वस्थीक्रियतां ततः। एतत्स्वरूपमखिलं, कथयिष्याम्यनाकुला ॥२५१॥
विचक्षणं जडोऽवादीद्, भ्रातस्तत्रोपगम्यताम्। स दध्यौ सुन्दरं नेदं, नूनमेषा प्रतारिका ॥२५२॥
अप्रमत्तोऽथवा यामि, प्रमत्तो हि छलं व्रजेत्। स्वीकृत्येत्येष तद्वाक्यं, तद्युक्तोऽगात् तदन्तिकम् ॥२५३॥
स्वस्थीभूताऽथ सा योषिदपृच्छच्चेटिकां जडः। अस्याः किं नाम सा प्राह, स्वामिनी रसनाऽभिधा ॥२५४॥
किंनामिका त्वमित्युक्ते, जडेनाथ जगाद सा। देवाहं लोलताभिख्या, विस्मृता संस्तुताऽपि किम् ॥२५५॥
महाभुक्तौ चिरं कर्मपरिणाममहीभुजः। नगरेऽव्यवहाराख्ये, बभूव भवतोः स्थितिः ॥२५६॥
एकाक्षवासनगरे, तदादेशात् ततो युवाम्। आगतौ विकलाक्षाणां, निवासे तदनन्तरम् ॥२५७॥
वसन्ति तत्र प्रथमे, पाटके द्वीन्द्रिया जनाः। तन्मध्ये युवयोर्दत्तं, राज्ञा वदनकोटरम् ॥२५८॥
सदा स्वाभाविकं चेदं, विद्यतेऽत्र महाबिलम्। युष्मदर्थं कृता चात्र, वेधसा स्वामिनी मम ॥२५९॥

ततः प्रभृति चैषा मे, स्वामिनी सहिता मया। युवाभ्यां सह सर्वत्र, विललास रसाद्भुता ॥२६०॥
विकलाक्षे च पक्षाक्षे, भवतोर्विरहासहा। यदियं तेन भवतोश्चिरं परिचिताऽस्म्यहम् ॥२६१॥
श्रुत्वैनां लोलतावाचं, चित्तवालकशाकिनीम्। जडो दध्यौ कृतार्थोऽहं, संपन्नं मद्विकल्पितम् ॥२६२॥
छलितो लोलतावाक्याज्जडोऽथ रसनां सदा। स्वीकृत्य लालयामास, मधुमद्यपलादिभिः ॥२६३॥
पेयापेयधिया शून्यो, भक्ष्याभक्ष्याविशेषवित्। शृङ्गपुच्छपरिभ्रष्टो, जातः सोऽथ पशुर्जडः ॥२६४॥
यत् क्षूणं रसनां तस्य, भवेल्लालयतः क्वचित्। तत् सर्वं रसना प्राह, रसग्रसनराक्षसी ॥२६५॥
धर्मार्थकाममोक्षेभ्यो, विमुखो रसनावशः। दुष्कर्मनिरतो लोकैर्गर्हितो बहुशो जडः ॥२६६॥
विचक्षणस्तु न क्षुब्धः, श्रुत्वा तां लोलतागिरम्। विधिसृष्टिध्वनेरर्थं, कर्मसृष्टिं विचारयन् ॥२६७॥
दध्यौ मध्यस्थधीश्चैवमस्त्येवेयं ममाङ्गना। यदास्यकोटरे सृष्टा, पोष्या नैवापरीक्ष्य तु ॥२६८॥
स्त्रीवाचैव जडस्तत्त्वमज्ञात्वा यः प्रवर्तते। नदीतीरस्थतरुवत् स पतत्येव निश्चितम् ॥२६९॥
लोकानुवृत्त्या तत् पाल्या, न तु लाल्येत्यसावथ। रसनाया ददौ खाद्यरसं किंचिदनादृतः ॥२७०॥
अनुवर्तयतश्चेत्थं, रसनां शुभवर्त्मना। लोलतां जयतस्तस्य, त्रिवर्गश्रीरुपस्थिता ॥२७१॥
ज्ञापिता रसनालाभं, जडेनाचारुताऽन्यदा। माता सन्तुष्टचित्तेन, जनकश्चाशुभोदयः ॥२७२॥
तावप्यथाहतुस्तस्य, सुधावृष्टिसमं वचः। पुण्येनेयं त्वया लब्धा, लाल्यते चेति शोभनम् ॥२७३॥

इष्टं पितुपदिष्टं चेत्यतिलुब्धोऽजनिष्ट सः। एकं हि स्वैरिणी योषाऽन्यच्च कोकिलकूजितम् ॥२७४॥
शुभोदयः पिता स्वीयो, जननी चारुता तथा। इतो विचक्षणेनापि ज्ञापितौ रसनागतिम् ॥२७५॥
बुद्धिस्तथा प्रकर्षश्च, विमर्शश्चेत्यमी त्रयः। ज्ञापिता रसनाप्राप्तिं, कुटुम्बं मिलितं च तत् ॥२७६॥
ततः शुभोदयः प्राह, वत्स! त्वमसि तत्त्ववित्। तथाऽप्यस्या न विश्वासः, कर्तव्यो भवता क्वचित् ॥२७७॥
नारी तावत् समस्ताऽपि, प्रायः पवनचञ्चला। क्षणं रक्ता विरक्ता च, सन्ध्याभ्रपटलोपमा ॥२७८॥
दुर्ग्रहा वारिविधुवन्नदीवन्नीचगामिनी। दृष्टिवन्धेन्द्रजालाभा, कौटिल्याहिकरंडिका ॥२७९॥
साक्षादकन्दरा व्याघ्री, विषवल्लिरभूमिजा। अनिन्धनाऽनलज्वाला, विद्युदस्तनयित्नुजा ॥२८०॥
एषा त्वेका वनचरी, रसना लोलताऽन्विता। अतिगूढचरित्रा मे, भाति नैव तवोचिता ॥२८१॥ चतुर्भिः कलापकम्।
न ज्ञायते कुतस्त्येयं, केनेह प्रेषिताऽथवा। मूलशुद्धिस्त्वया कार्या, तदस्याः संगमिच्छता ॥२८२॥ यतः—
"अप्रमादपरोऽप्युच्चैर्मूलशुद्धेरकारकः। पुमान् प्रयाति निधनं, स्त्रीणां हृदयमर्पयन्" ॥२८३॥
चारुताऽप्याह वत्सेदं, पित्रा ते[1] साधु मन्त्रितम्। ऊचुर्बुद्ध्यादयोऽपीत्थं, तथेत्याह विचक्षणः ॥२८४॥
रसनामूलशुद्ध्यर्थमथ कः प्रेषणोचितः। इति पृष्टोऽमुना तातो, विमर्शं तादृशं जगौ ॥२८५॥ यतः—
विमर्श एव लोकेऽस्मिंस्तत्त्वातत्त्वैकशेषकृत्[2]। कुरुते को विना हंसं, क्षीरनीरविवेचनम् ॥२८६॥

१ मे रा. ज्ञा. २-शेषमृत् रा. ज्ञा.

ईश्वरोऽप्यविमर्शः सन्, बध्नाति गरलं गले । सविमर्शं तु पुरुषोत्तमं श्रीर्वृणुते स्वतः ॥२८७॥

विचक्षणोऽथ निश्चित्य, विमर्शं प्रेषणोचितम् । आज्ञप्तवान् प्रहातुं तं, कृत्वा संवत्सरावधिम् ॥२८८॥

पितामहं च पितरं, प्रेकर्षोऽथ व्यजिज्ञपत् । विना विमर्शं न स्थातुं, शक्नोमि क्षणमप्यहम् ॥२८९॥

मामेनमनुगन्तुं तदनुजानीत साम्प्रतम् । तदाकर्ण्योल्लसत्प्रेमाऽपश्यत् तातं विचक्षणः ॥२९०॥

शुभोदयोऽप्यभिदधे, विनयोऽस्यैष युज्यते । तव बुद्धेश्च जातेऽस्मिन्, किं चित्रं गुणसम्पदाम् ॥२९१॥

इयं भार्या हि ते बुद्धिरनीतिर्नीतिभागपि । विशालदृष्टिरप्येषा, सूक्ष्मदृष्टिः प्रकीर्तिता ॥२९२॥

लोकोत्तरचरित्रेयं, त्वत्कीर्तिस्तोमवर्धनी । निषिध्यते भियैवैतत्सापत्न्याद्रसनादरः ॥२९३॥

अनन्तगुण एवास्याः, प्रकर्षोऽप्यात्मजस्ततः । अनुमातुलमाज्ञप्यः, प्रस्थातुं नात्र काऽपि भीः ॥२९४॥

विचक्षणो ददावाज्ञामथ तातं प्रमाणयन् । गन्तुं च तौ प्रवृत्तौ द्वौ, तदा चास्ति शरद्वरः ॥२९५॥

सकलहं कलहंसकलस्वनै-र्विनिहतध्वनिसुन्दरता मदे । कलयति श्रियमाप्य घनात्ययं, घनकला न कलापिततिस्तदा ॥२९६॥

मलिनमेघकृतां खलु या ययौ, कलुषतां कलहंसनिषेधतः । इयमिमामुपनीय कृता लसद्विशरदा शरदा सरसी शुचिः ॥२९७॥

कमलिनीकलमोत्सवदर्शनो-त्सुकमलं कमलं रहसि स्थितम् । विततविस्मितपङ्कजलोचनं, सरसि कं रसिकं न विनोदयेत् ॥२९८॥

अपरसं परसंभ्रमकार्यभू-न्निजरुचिच्छिदिहाभ्रकुलं यतः । सुविलसन् सह निर्मलया निशा, विधुरितो धुरि तोपवतामभूत् ॥२९९॥

१ प्रकर्ष. विचक्षणसुत· । २ विरोधपरिहारपक्षे अनीतिः—न विद्यते ईति —उपद्रवविशेषो यस्या सा अनीति. ।

कलमगोपिकया पिकयाचितो–ऽप्यतिमदोद्धुरया न हि योऽर्पितः। शरदुदीतविलासवशोत्थितो, ध्वनिरयं निरयन्त्यत नो तदा ॥
एवंविधे शरत्काले, पश्यन्तौ तौ वनश्रियम्। बहिर्देशेषु विहृतौ, न दृष्टं रसनाकुलम् ॥३०१॥
तयोर्विचरतोरेवं हेमन्तर्तुः समाययौ। स्फुटं पथिकलोकानां, दन्तवीणैकवादकः ॥३०२॥
हिमं हिमांशूदययोग्यलीलं, चण्डांशुराज्येऽपि यदेति लीलाम्। तद्दुःखपूर्त्यायुरपक्रमेण, ह्रस्वाणि जातानि दिनानि नूनम् ॥
करप्रचारे सति शीतरश्मेः, पीयूषधाराकृतपारणायाः। आशीःप्रदानान्नु चकोरपङ्क्तेर्जातास्तदा दीर्घतरा रजन्यः ॥३०४॥
निवर्तयामास दवीयसोऽपि, देशाद्धिमार्तिः पथिकान् प्रवृद्धा। क्लीबान् परानीकजयप्रथेव, पत्नीकुचाद्रेः शरणे धृताशान् ॥
नृणां मनांसीव सतां मुखानि, श्रियं दधुः स्नेहमनोहराणि। भानोर्महांसीव वपूंषि शश्वद्, घनाम्बराभोगविलासभांजि ॥३०६॥
प्रियाकुचाश्लेषधृतोष्मभोगि–लोकेष्वलब्धस्वपदप्रचारा। वियोगभृद्दुर्गतमानवेषु, पपात हेमन्तपलादधाटी ॥३०७॥
ताभ्यां तत्रापि हेमन्ते, भ्रमद्भ्यां भूतलेऽखिले। मूलशुद्धिर्न विज्ञाता, रसनायाः कथञ्चन ॥३०८॥
अथान्तरङ्गदेशेषु, प्रविष्टौ तौ शुभाशयौ। तत्र राजसचित्ताख्यं, ताभ्यां नगरमीक्षितम् ॥३०९॥
तच्च दीर्घमिवारण्यं, बहुलोकविवर्जितम्। निर्नायकं च संप्रेक्ष्य, प्रकर्षो मातुलं जगौ ॥३१०॥
अभूत् किमिदमेतादृक्, कथं चेत्थमपि श्रियम्। धत्ते ततो विमर्शोऽपि, प्रकर्षं प्रत्यभाषत ॥३११॥
निरुपद्रवमेवेदं, नगरं परिभाव्यते। निष्क्रान्तराजकं क्वापि, कुतश्चित्तु प्रयोजनात् ॥३१२॥
पुंविशेषप्रभावाच्च, सश्रीकमिदमीक्ष्यते। ततो राजकुले गत्वा, दृष्टस्ताभ्यां पुमानसौ ॥३१३॥

अहंकारादिकतिचित्पुरुषैः परिवारितः । उदारविक्रमो मिथ्याऽभिमानाख्यो महत्तमः ॥३१४॥
पृष्टस्ताभ्यां ततो लोकविरलीभावकारणम् । स प्राहास्य पुरस्यास्ति नायको रागकेसरी ॥३१५॥
तत्पिता च महामोहो, जयत्यक्षयशासनः । सन्त्यस्यानेके विषयाभिलाषाद्याश्च मन्त्रिणः ॥३१६॥
सर्वानीकयुजां तेषां, सर्वेषां नगरादितः । कालोऽनन्तो व्यतिक्रान्तो, गतानां दण्डयात्रया ॥३१७॥
सरलौ तेन नगरमिदं विरलमानवम् । विमर्शः प्राह केनामा, तेषां नन्वस्ति विग्रहः ॥३१८॥
ऊचे मिथ्याभिमानोऽथ, संतोषेण दुरात्मना । प्रत्यब्रवीद् विमर्शोऽथ, को हेतुस्तेन विग्रहे ॥३१९॥
परो जगाद विषयाभिलाषः प्राहिणोज्जगत् । पञ्च जेतुं निजगृहमानुषाणि स्मयोद्धुरः ॥३२०॥
विश्वे वशीकृतप्राये, तैर्जित्वा तानि मानवान् । सन्तोषो निर्वृतौ पुर्यां, निनाय कियतोऽपि हि ॥३२१॥
तच्छ्रुत्वा तज्जयायोच्चैर्निर्गतो रागकेसरी । तदयं विग्रहे हेतुर्धूमकेतुरिवोत्थितः ॥३२२॥
दध्यौ विमर्शो रसनामूलोत्थानं मयेयता । लब्धं लप्स्ये च विषयाभिलाषेक्षणतोऽधिकम् ॥३२३॥
पुनः प्राह च यद्येवं, तदा कथमवस्थितिः । अत्राभूद् भवतो मिथ्याभिमानोऽथाकिरद्गिरः ॥३२४॥
सम्प्रस्थितोऽहमप्यासमग्रानीकान्निवर्तितः । देवेन परमुक्तं च, नगरं रक्ष्यतां त्वया ॥३२५॥
नगरस्य त्वमेवास्य, प्रतिजागरणक्षमः । त्वयि स्थिते वयमपि, स्थिताः स्मः परमार्थतः ॥३२६॥

१ रना मा तेन गहेत्वर्थे ।

स्थितोऽहमत्र तद्देवादेशादित्यवधारय । विमर्शः प्राह सद्वार्ता, काऽपि प्रत्यागता ततः ॥३२७॥
प्राह मिथ्याभिमानोऽथ, सद्वार्ता बाढमागता । जितप्रायं जगत् सर्वं, देवानीकेन वर्तते ॥३२८॥
ददाति प्रत्यवस्कन्दान् , सन्तोषोऽप्यन्तराऽन्तरा । जनं कञ्चिन्नयत्युच्चैर्विलम्बोऽयं भवत्यतः ॥३२९॥
विमर्शो न्यगदद् देव ! क्वाधुना श्रूयते स्थितः । ततः कल्पितमाह स, परः प्रणिधिशङ्कया ॥३३०॥
पुरं तामसचित्ताख्यं, देवो ह्युद्दिश्य निर्गतः । अतः कदाचित् तत्रैव, स्थितः स्यादिति बुद्ध्यते ॥३३१॥
विमर्शश्च प्रकर्षश्च, तमापृच्छ्य गतौ ततः । वीक्षितुं तत्र विषयाभिलाषं मोहसैन्यगम् ॥३३२॥
प्राप्तौ तामसचित्ताख्यं, नगरं गरनिर्मितम् । शर्मदं चौरवृन्दानां, साधूनामरतिप्रदम् ॥३३३॥
सर्वतोऽपि यदन्यायधूमधाराभिरावृतम् । पलायन्ते गुणा यस्मान्मिलिता मशका इव ॥३३४॥
उद्योताभावतो नैति, दिनं यत्र कदाचन । विलासं कलयत्युच्चैः, केवलैव महानिशा ॥३३५॥
भवाभिनन्दिता यत्र, परिखा वलयायिता । अनादिकूटसंस्कारो, दुर्गोऽस्ति परदुर्ग्रहः ॥३३६॥
यत्रानध्यवसायोऽधीरधर्मश्चाविवेचनम् । अव्रतत्वमनैश्वर्यमित्येषोऽस्ति तमोगणः ॥३३७॥
दवदग्धमिवारण्यं, ताभ्यां तदपि वीक्षितम् । भूरिलोकोज्झितं किन्तु, न मुक्तं निजशोभया ॥३३८॥
तत् तादृग् विस्मितः प्रेक्ष्य, प्रकर्षः प्राह मातुलम् । मूलनेताऽस्ति नो वाऽत्र, नैवास्तीत्यब्रवीच्च सः ॥३३९॥
ताभ्यामत्रान्तरे दृष्टः, प्रविविक्षुः पुरं पुरः । शोकाख्यः प्रातिपथिको, दैन्याक्रन्दादिसंयुतः ॥३४०॥

ताभ्यां सम्भाषितश्चायं, भद्रास्मिन् कः पुरे नृपः । शोकः प्राह पुरस्यास्य, ख्यातो न्वीशो जगत्त्रये ॥३४१॥
रागकेसरिणो भ्राता, महामोहनृपात्मजः । भर्ताऽविवेकितायाश्च, नृपोऽसौ महसां निधिः ॥३४२॥
दृष्टिर्भ्रूभङ्गुरा यस्यां, पतत्यस्य तडिन्निभा । दूराद् देवा अपि त्रस्ताः, कुर्वन्त्यस्यै दिशे नमः ॥३४३॥
ज्वलनेऽपि पतन्त्यस्य, प्रतापमसहिष्णवः । विशन्त्यपि वने मूर्च्छत्पञ्चाननघनध्वनौ ॥३४४॥
विक्रमाक्रान्तभुवनो, भानुजैत्रप्रतापवान् । प्रष्टव्यः स्यात् कथं द्वेषगजेन्द्रोऽसौ महाबलः ॥३४५॥
आस्तां देवः परं विश्वं, या मोहयति तत्क्षणात् । ख्याताऽविवेकिताऽप्यत्र, सा देवी शक्तिभाजनम् ॥३४६॥
महामोहस्य निर्देशं, सा नात्येति कदाचन । सा महामूढताज्ञायां, वर्तते सर्वदा वधूः ॥३४७॥
रागकेसरिनिर्देशाद्, दूरे सा नैव तिष्ठति । मूढतायाश्च तत्पत्न्याः, प्रीतिं सा वर्धयत्यलम् ॥३४८॥
भर्तुर्द्वेषगजेन्द्रस्य, साऽनुवृत्तिपरायणा । इत्थं गुणैर्गता श्लाघां, त्रैलोक्येऽप्यविवेकिता ॥३४९॥
ख्यातावेतौ न किं ज्ञातौ, त्वया देवीनरेश्वरौ । विमर्शः प्राह पथिकावावां दूरादिहागतौ ॥३५०॥
दृष्टं पुरं पुरा नेदं, श्रुतौ देवीनृपौ भृशम् । किं स्याद् द्वेषगजेन्द्रो वाऽन्यत्र वेति तु पृच्छ्यते ॥३५१॥
शोकः प्राह जगत्येव, वार्ता छन्नेयमस्ति न । निर्गतो यन्महामोहः, सन्तोषजयकाम्यया । ३५२॥
पार्श्वे द्वेषगजेन्द्रोऽपि, रागकेसरिसंयुतः । तस्यास्ति सर्वसैन्यं च, भूयान् कालोऽत्र लङ्घितः ॥३५३॥
विमर्शः प्राह यद्येवं, ततस्त्वं किमिहागतः । किं साऽविवेकिताऽस्त्यत्र, तत्सुखप्रश्नगोचरः ॥३५४॥

शोकः प्राह पुरेऽत्राऽस्ति, नाधुना साऽविवेकिता। नापि देवस्य पार्श्वे च, तत्राकर्णय कारणम् ॥३५५॥
देवे प्रचलिते दुष्टसन्तोषवधकाम्यया। देव्यपि प्रस्थिता सार्धं, भर्तृचित्तानुयायिनी ॥३५६॥
ततो द्वेषगजेन्द्रेण, प्रोक्ता सा त्वच्छरीरकम्। स्कन्धावारक्षमं नास्ति, देवि! गर्भभरालसम् ॥३५७॥
तस्मादत्रैव तिष्ठ त्वं, रणरङ्गे व्रजाम्यहम्। तयोक्तं न पुरेऽत्राहं, त्वां विना स्थातुमुत्सहे ॥३५८॥
प्रत्युक्ता साऽथ देवेन, दृढस्नेहाऽसि यद्यपि। तथापि तव नो युक्तं, स्कन्धावारे प्रवर्तनम् ॥३५९॥
किन्तु रौद्रपुरे दुष्टाशयेन परिरक्षिता। तिष्ठ चिन्तोज्झिता गत्वा, स हि मे सेवकोत्तमः ॥३६०॥
निर्बन्धं प्रबलं पत्युः, पराकर्तुमथाक्षमा। रौद्रचित्तपुरे देवी, तदादेशेन सा गता ॥३६१॥
कुतोऽपि हेतोर्बाह्येषु, सा पुरेष्वस्ति सांप्रतम्। प्राक् तयैकः सुतो जातः, श्रूयतेऽन्योऽपि चाधुना ॥३६२॥
भर्तृसंयोगतो जातो, देवी तेनात्र नास्ति सा। ममात्र गमने यत्तु, कारणं कथयामि तत् ॥३६३॥ युग्मम्
प्रतिष्ठमान एवेदं, मतिमोहं प्रभुर्जगौ। न त्वयेदं पुरं त्याज्यं, त्वमेतद्रक्षणक्षमः ॥३६४॥
स देवाज्ञां समासाद्य, स्थितोऽत्रैव पुरे ततः। आगतोऽहं चिरात् तस्य, मित्रस्यात्र दिदृक्षया ॥३६५॥
दीर्घाटव्यां स्थितं मुक्तं, मया देवस्य साधनम्। एतदुक्त्वा गतः शोको, नगरे स्वार्थसिद्धये ॥३६६॥
विमर्शेन ततः प्रोक्तं, प्रकर्षं प्रति भद्र या। आटवी साधनाधारा, दीर्घा शोकेन दर्शिता ॥३६७॥
द्रष्टव्यस्तत्र गत्वैव, रागकेसरिमन्त्रिराट्। प्रकर्षः प्राह वचनं, प्रमाणं मातुलस्य मे ॥३६८॥

॥७२॥

ततो मोदानिलोद्वेगौ, गतौ स्वस्रीयमातुलौ । भागे च मध्यमे प्राप्तौ, महाटव्या महोद्यमौ ॥३६९॥
महामोहनृपं तत्र, रागकेसरिणा युतम् । वृतं द्वेषगजेन्द्रेण, चतुरङ्गबलोल्बणम् ॥३७०॥
आवासितं महानद्याः, पुलिने परिणाहिनि । महामण्डपविभ्राजद्वेदिकायां विलासिनम् ॥३७१॥
वेष्टितं भटकोटीभिर्महासिंहासनस्थितम् । पश्यतः स्म गतौ नातिदूरं तौ विस्मितेक्षणौ ॥३७२॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।
पप्रच्छाथ प्रकर्षः का, मातुलेयं महाटवी । केयं महानदी दीर्घा, किमिदं पुलिनं पृथु ॥३७३॥
मण्डपश्च महान् कोऽयमेषा का वरवेदिका । सिंहासनं किमेतच्च, ममेदं कीर्तयाखिलम् ॥३७४॥
महामोहनरेन्द्रोऽयं, स्थिताश्चात्र नृपा इमे । वर्णनीयाः स्वरूपेण, कौतुकं महदत्र मे ॥३७५॥
विमर्शोऽथ समालोच्य, महाटव्यादि निश्चलम् । प्रविश्य ध्यानमाधाय, समाधिमिदमभ्यधात् ॥३७६॥
प्रकर्ष ! जानीहि महाटवीय-माश्चर्यभूमिर्ननु चित्तवृत्तिः । वर्षैरनन्तैरपि पारमस्या, न गाहितुं कोऽपि जनः प्रभुः स्यात् ॥३७७॥
इयं महानर्थपरंपराणा-मुत्पत्तिहेतुश्च शुभावलीनाम् । समानतां वारिनिधेर्बिभर्ति, पीयूषमुत्पादयतो विषं च ॥३७८॥
विषद्रुमैरत्र परिस्फुटोच्च-फलैर्विलुभ्यन्ति जडा हताशाः । छन्नैरिहैव त्रिदशद्रुमैश्च, कुर्वन्ति शान्ता मुनयः स्ववृत्तिम् ॥३७९॥
द्रुमैर्विजातीयफलैरपीह, स्वभावनाधूपविशेषयोगात् । फलं यदन्यत् प्रवितीर्यतेऽस्याः, स कोऽप्यचिन्त्यो विषयानुभावः ॥३८०॥
इह स्थिता ग्राम-पुरा-करादि-भुवोऽन्तरङ्गस्य जनव्रजस्य । बाह्योऽपि देशः प्रविवक्षितोऽस्या, भेदं घटाकाशवदेति नैव ॥३८१॥

१ -गाथाव डे. ह्या. २ इह चित्तवृत्तिमहाटव्यामन्तरङ्गस्य जनस्य ग्रामपुराकरादिभूमय स्थिता. ।

इमां विना चित्रनिजानुभावां, बाह्यस्य देशस्य न लक्ष्यते श्रीः । विना हि तेजो दहनस्य रूपं, भस्मावशेषं प्रतिभाति पुंसाम् ॥३८२॥
शक्त्युज्झितानां दुरतिक्रमत्वा–न्महाटवीति प्रथितेयमत्र । वैराग्यशुद्धोद्यमशक्तिभाजां, पदं मुनीनां पुनरेकमेव ॥३८३॥
विकल्पमालास्क(स्ख)लितस्य चेय–मास्कन्दनस्थानमनन्यतुल्यम् । बलद्वयस्यापि पृथग्निवेशा, लसन्ति योग्या इह सन्निवेशाः ॥३८४॥
इमां च विस्तारवतीं प्रतीहि, प्रमत्तता नाम नदीं प्रदीर्घाम् । समुत्थितां द्वेषगजेन्द्रराग-पञ्चास्यसम्राट्पुरगारवाद्रेः ॥३८५॥
विगाह्य चेमामटवीं प्रविष्टा–मनल्पसंकल्पमहाप्रवाहाम् । महारयोत्खातगुणद्रुमौघां, पतन्मदावर्तविवर्त्तगर्त्ताम् ॥३८६॥
दोषैर्विरूपां च परापवाद–जलोपनीतैस्तृणकाष्ठपुञ्जैः । कृताद्भुतां भूरिनिजप्रशंसा–क्षणप्रसर्पद्गुणबुद्बुदौघैः ॥३८७॥
अभङ्गनिद्रातटसन्निवेशां, क्लेशादिभिः सत्त्वगणैश्च पूर्णाम् । तटान्तभूयोविकथाप्रचार–स्थलीभविष्णुस्फुटवालुकौघाम् ॥३८८॥
जलस्क(स्ख)लद्व्यक्तकुयुक्तिशुक्ति–पुटप्रवृद्धस्फुटनोत्थशब्दाम् । अलब्धमध्यां मदिराविकार–ग्रावप्रवेशाद्विषमप्रदेशाम् ॥३८९॥
बद्ध्वा किलाशामठमस्तबुद्धि–र्दुःखावटे तिष्ठति यस्तटेऽस्याः । अस्या रयान्निश्चित एव नाशो, घनागमे तस्य महाकषाये ॥३९०॥
गत्वा पतन्तीयमहो भवाब्धौ, निपातयत्येव जनं निमग्नम् । बुधा भवाम्भोधिनिपातभीता, व्रजन्ति दूरात् तदिमां विहाय ॥३९१॥
इदं पुरस्ताद्विपुलं प्रमाद–विलासरूपं पुलिनं प्रतीहि । अस्तोकबिब्बोककटाक्षलीलो–पहासभूयःसिकताभिरामम् ॥३९२॥
उदीतसङ्गीतकलाविलास–स्फुटीभवत्सारसहंसलीलम् । विकाशिकाशोपमरागपाश–विस्तारसंछन्नविशुद्धशीलम् ॥३९३॥
औत्सुक्यहालामदघूर्णमाना–विवेकिलोकैः कृतविभ्रमौघम् । विस्तारिसंज्ञापवनोर्मिलीला–तरङ्गितं क्षौममिवोज्ज्वलश्रि । ३९४॥
उज्जीवयत्येव विकारमेत–न्महामुनीनामपि शान्तमन्तः । वनद्रुमौघं वनवह्निदग्धं, विशिष्टवृष्टेरिव सन्निपातः ॥३९५॥

यमीक्षसे मण्डपमेष चित्त–विक्षेपनामा विपुलानुभावः। प्रविष्टमात्रस्य किलात्र जन्तोः, सन्तोषगन्धोऽपि रतिं न दत्ते ॥३९६॥
विष्णोरिवाब्धिर्गिरिकन्दरेव, सिंहस्य कैलास इवेश्वरस्य। शृङ्गं त्विषां पत्युरिवोदयाद्रे–रौन्नत्यकृन्मोहमहीभृतोऽयम् ॥३९७॥
अत्र प्रविष्टे यदपीन्द्रजालम्, पुनः पुनः कल्पयतीन्द्रजालम्। महेन्द्रजालं तदसावनिष्टा–धिष्ठानधीः किं न जगज्जनानाम् ॥३९८॥
सरागतोद्यत्परभागनागद्युमर्त्यलोकेषु यदस्ति वस्तु। अत्र स्थितेरेव जनोऽनुभावात् सर्वत्र तत्र भ्रमतीति चित्रम् ॥३९९॥
गतोऽत्र लोको ग्रहचक्रगत्या, न चंक्रमेभ्यो यदुपैति खेदम्। तदेष धत्ते नभसो विलासं, शून्यस्य चान्तर्बहिराततस्य ॥४००॥
प्राप्नोति लोकोऽत्र विना श्रमेण, दोलाविलासस्य सुखानुभूतिम्। वसन्तमस्मिन्ननुवर्तमानो, मोहं न को हन्त तदेति हर्षम् ॥४०१॥
अयं स्ववीर्यान्मनसो जनाना–मेकाग्रतां मुक्तिकरीं निहन्ति। इह प्रविष्टा॰ कलयन्ति मोहात्, तापभ्रमोन्मादविरत्यपायान् ॥४०२॥
अन्तर्नृपाणां सुखहेतुरेष, बहिर्जनानां गुणविप्लवाय। निशाविलासः खलु तामसानां, रुच्योऽपि पुंसां तनुतेऽक्षिमुद्राम् ॥४०३॥
पुरः स्फुरन्तीमिह वेदिकां च, तृष्णाभिधानां कलयानघेनाम्। चञ्चद्रुचिव्याप्तभुवो विलासं, विडम्बयन्तीं रविमण्डलस्य ॥४०४॥
अस्यां महामोहनरेश्वरस्य, तिष्ठन्ति तुष्टाः स्वजना न चान्ये। इतः स्थिता मुत्कलमण्डपे ये, बहिर्यथेन्दोर्भगणा विमानात् ॥४०५॥
स्थानस्थिताऽपि भ्रमयत्यजस्र–मियं जगन्मानसस्रूचिपङ्क्तिम्। मन्ये तदन्यभ्रमशक्तियुक्त–विमोहलोहोत्पलनिर्मितेयम् ॥४०६॥
अधिष्ठितो विष्णुरिवाहिशय्यां, अहेव मायामयमण्डलस्थः। अस्यां महामोहनृपो निषण्णो, भवत्यसह्यप्रबलप्रतापः ॥४०७॥
गर्जत्यहो मोहनृपः सगर्व–मस्यां स्थितः सिंह इवाचलस्थः। प्रयाति चान्यो निधनं गतोऽस्यां, जाज्वल्यमानज्वलनोपमायाम् ॥४०८॥
सिंहासनं चेदमुदारबुद्धे! महाविपर्यासमवेहि भास्वत्। घनद्युतिच्छन्नदिगन्तराल–कुतर्करत्नैर्घटितं पटीयः ॥४०९॥

प्राज्यं हि यन्मोहनृपस्य राज्यं, विभूतयो दिग्जयदीपिका याः। महेश्वरानुग्रहजेव शक्ति-स्तदेकहेतु ध्रुवमेतदेव ॥४१०॥
रणोत्सवानामपि भूधवाना-मसौ स्थितोऽत्रैव भवत्यगम्यः। इतो बहिस्त्वेष गतः शृगाल-बालो गुहाया इव सर्वगम्यः ॥४११॥
इदं विधाताऽकृत दृग्विषैः किं, नृपस्य योग्यं परदृग्विषस्य। यद्भस्मतामेति जनोऽत्र दृष्टिम्, निपातयन्नेव करालकान्तौ ॥४१२॥
निदर्शिता या पुलिनादिशक्तिः, सा विष्टरस्यास्य बले निविष्टा। वनस्य याऽनाक्रमणीयताऽसौ, पञ्चाननस्यैव परः प्रभावः ॥४१३॥
सिंहासनस्यास्य विकल्पपीठ-प्रभाभिरुद्भासितभूतलस्य। छायामुपादाय जगत् स मायां, कालश्चिरं लालयतीव बालम् ॥४१४॥
अत्रोपविष्टं प्रबलप्रताप-मेनं महामोहनृपं प्रतीहि। अमुष्य जीर्णा जरसाऽप्यविद्या, वीर्यैकपात्रं ननु गात्रयष्टिः ॥४१५॥
जगत्यनित्याशुचिदुःखरूपे, नित्यत्वपूतत्वसुखप्रतीतिः। अस्याः प्रभाजृम्भितमात्मभाव-बुद्धिः प्रपञ्चेषु च पुद्गलानाम् ॥४१६॥
स्वतेनसैतद्दृढगात्रयष्टि-र्न मुच्यतेऽसौ जरसाऽपि जीर्णः। अनाविलस्वर्णशिलाविलासः, परिज्वलन् मेरुरिवौषधीभिः ॥४१७॥
उत्पत्तिहेतुर्जगतोऽप्ययं य-त्पितामहत्वं प्रथितं तदस्य। न लङ्घयन्त्येव निदेशमस्य, नागेन्द्र-विद्याधर-चन्द्र-रुद्राः ॥४१८॥
असौ जगच्चक्रपरिभ्रमैक-व्यापारविस्फारितवीर्यदण्डः। कुलालवत् कानि न चित्रकार्यभाण्डानि लीलाकलितस्तनोति ॥४१९॥
समुद्रकाञ्चीमपि दण्डवद् यः, प्रोल्लालयत्यात्मकरे निधाय। न सोऽपि कोपारुणयाऽस्य दृष्ट्या, पतन्तमात्मानमलं विधर्तुम् ॥४२०॥
अधिज्यधन्वा यदि बाणमेकं, प्रहर्तुमुज्झत्ययमिद्धकोपः। त्राणं तदा वज्रभृतोऽप्यसूनां, न पञ्जराद् वज्रमयादपि स्यात् ॥४२१॥
बिभर्ति कुत्रापि महाबलस्य, न कश्चिदस्य प्रतिमल्लभावम्। चिक्षेप संभावितमेष शत्रु-मसम्मितावर्त्तविवर्त्तगर्ते ॥४२२॥
एवं महामोहनृपो, वर्णितः पुरतस्तव। अधुना वर्णयाम्यस्य, परिवारं शृणु स्फुटम् ॥४२३॥

परं वदन्तमित्थं मां, निश्चलाक्षो निरीक्षसे। बोधचिह्नं स्फुटं किंचिन्न धत्से किं न बुद्ध्यसे ॥४२४॥
प्रकर्षः प्राह मा वादीरित्थं मातुल! मां प्रति। तन्नास्ति यत्प्रसादात् ते, न बुद्ध्येऽहं परिस्फुटम् ॥४२५॥
विमर्शः प्राह जानामि, स्फुटं त्वं बुद्ध्यसेऽखिलम्। हासस्त्वयं विनोदार्थं, तव भद्र! मया कृतः ॥४२६॥
जानताऽपि त्वया किंच, मम हर्षप्रवृद्धये। विचारपूर्वकः कार्यः, प्रश्नः प्रस्तुतवस्तुनि ॥४२७॥
श्रुतमात्रेण जिज्ञासा, पूरणीया च न त्वया। ऐदम्पर्यन्तु बोद्धव्यं, मा भूद् भौतकथाऽन्यथा ॥४२८॥
प्रकर्षः प्राह सा भौतकथा कथय कीदृशी। हृद्यभोज्ये प्रबन्धेऽस्मिन्, मध्ये तं शाकमर्पय ॥४२९॥
विमर्शः प्राह तां भद्र, कथां शृणु परिस्फुटाम्। बधिरोऽस्ति क्वचिद् भौताचार्यो नाम्ना सदाशिवः ॥४३०॥
केनचिज्जरसा जीर्णः, प्रोक्तोऽसौ हस्तसंज्ञया। धूर्तेन हासशीलेन, नोपेक्ष्यो व्याधिरेष ते ॥४३१॥ यन्नीतिः—
"विषं गोष्ठी दरिद्रस्य, जन्तोः पापरतिर्विषम्। विषं परे रता भार्या, विषं व्याधिरुपेक्षितः" ॥४३२॥
आग्रहोऽयं महाँस्तस्याभिनिविष्टो मनस्यथ। ततः शान्तिशिवं प्राह, निजशिष्यमसौ स्फुटम् ॥४३३॥
गच्छ त्वं वैद्यभवने, मद्व्याधिर्यस्य भेषजम्। गृहीत्वा तूर्णमागच्छ, मा भूद् वृद्धिर्विलम्बतः ॥४३४॥
गतोऽसौ वैद्यभवने, गुर्वाज्ञैकवशम्वदः। दृष्टो वैद्यः स च तदा, स्वपुत्रं शिक्षयन् स्थितः ॥४३५॥
निषिद्धोऽपि चिरं क्रीडां, कृत्वाऽसावागतो गृहे। वैद्यः क्रोधान्धधी रज्जुं, दृढां लात्वा बबन्ध तम् ॥४३६॥
निर्दयं ताडयामास, रटन्तं लकुटैः कटु। तदा शान्तिशिवः प्राह, किमेनं ताडयस्यहो ॥४३७॥

वैद्यः प्राह शृणोत्येष, पापात्मा न कथञ्चन। ततोऽहं ताडयाम्येनमेतद्व्याधियेशान्तये ॥४३८॥
लग्ना भार्या करेऽस्याथ, वैद्यस्य विनिवारणे। स प्राह नैव मोच्योऽयमद्यापि न शृणोति यः ॥४३९॥
गच्छैतस्त्वं गतिर्नो चेत् तवापीयं भविष्यति। इत्थं निवार्यमाणाऽपि, लग्ना सा तेन ताडिता ॥४४०॥
ततः शान्तिशिवो दध्यौ, ज्ञातं भट्टारकौपधम्। प्रश्नेन किं वहिर्वाचां, निर्गमश्रमकारिणा ॥४४१॥
निर्गत्यासौ ततस्तूर्णं, माहेश्वरगृहं गतः। याचिता तेन रज्जुश्च, तैर्नातिपरुषाऽर्पिता ॥४४२॥
ततः शान्तिशिवः प्राह, नानया मे प्रयोजनम्। रज्ज्वा ममातिपारुष्यशालिन्याऽस्ति प्रयोजनम् ॥४४३॥
ततो माहेश्वरैस्तस्मै, तादृशी रज्जुरर्पिता। पृष्टं च तैः किमनया, कार्यं भट्टारकास्ति ते ॥४४४॥
स प्राह कार्यमनया, सदाशिवमहात्मनाम्। सुगृहीताभिधानानामित्युक्त्वाऽसौ गतो मठे ॥४४५॥
तत्र दृष्ट्वा गुरुं चक्रे, वक्त्रं भ्रूभङ्गभीषणम्। बद्ध्वा स्तम्भे च तं रज्ज्वाऽताडयल्लकुटैर्दृढम् ॥४४६॥
बद्धारार्टिं स तं रेजे, निघ्नन् भ्रूभङ्गभीषणः। क्षेत्रपाल इवाकृष्टः, शाकिनीं विनिवारयन् ॥४४७॥
ऐयुर्माहेश्वरास्तत्र, प्रतिकारदिदृक्षवः। दृष्टः शान्तिशिवो बाढं, ताडयंस्तैः सदाशिवम् ॥४४८॥
तैरुक्तं किं करोष्येतत्, स प्राह न शृणोत्ययम्। पापात्मा तेन हन्म्येनं श्रोष्यत्यस्मात् किलौषधात् ॥४४९॥
महाक्रन्दमथ प्राणवंशस्फोटरवोपमम्। सदाशिवगिरिस्तेने, दयां माहेश्वरा ययुः ॥४५०॥

१ स त्वाह रा. ञा.

तं मोचयितुमीपुस्ते, न चायं स निवर्तते। प्रत्युताभ्युत्थितो हन्तुं, लग्नास्तान् विनिवारणे ॥४५१॥
बबन्धुस्तेऽथ सम्भूय, ग्रहाविष्टमवेत्य तम्। राक्षसान्मोचयामासुस्तस्मात् पूज्यं सदाशिवम् ॥४५२॥
बद्धोऽपि प्रललापासौ, किमहं भवतां गिरा। औषधं न करिष्यामि, गुरोः स्वस्य हितेच्छया ॥४५३॥
वैद्यस्य वचसैवाहं, तस्य स्थास्यामि नान्यथा। समाहूतस्ततो वैद्यो, वृत्तान्तश्च निवेदितः ॥४५४॥
प्राह सोऽथ हसन्नन्तर्बधिरो नार्य! मत्सुतः। शास्त्रार्थश्रवणालस्यान्मया रोषात् स ताडितः ॥४५५॥
जातस्तव प्रभावाच्च, स्वस्थो भट्टारको ह्ययम्। त्वयेदमौषधं तस्मान्न कर्तव्यमतः परम् ॥४५६॥
विनिवृत्तग्रहावेशः, शान्तिकाद् वैद्यभापितात्। शान्तिं शान्तिशिवो भेजे, मुक्तो माहेश्वरैरथ ॥४५७॥ इति भौतकथानिका।
श्रुतमात्रग्रहादित्थमसमञ्जसकारिता। भवेत् शान्तिशिवस्येव, तदित्थं प्रेर्यसे मया ॥४५८॥
पद-वाक्य-महावाक्य-तात्पर्यैरर्थसङ्गतिः। तात्पर्यार्थोऽत्र बलवान्, शेषास्तन्मुखवीक्षिणः ॥४५९॥
श्रुतमात्रग्रहस्तज्ज्ञैः, शत्रूत्थानसमः स्मृतः। क्रमिकार्थग्रहोद्बुद्धस्तात्पर्यार्थस्तु तज्जयः ॥४६०॥
पल्लवग्राहिभिर्मूढैः, शास्त्रार्थः को न लुप्यते। अन्धेभज्ञानगत्यांशे, पूर्णार्थारोपगर्वितैः ॥४६१॥
मन्तोऽप्यमतो भद्र, श्रुतमात्रेण न त्वया। रसस्तात्त्विक आस्वाद्यः, प्रश्नचर्वणया मुहुः ॥४६२॥
प्रकर्षः प्राह यद्येवं, ततो ज्ञातं मयाऽखिलम्। महानद्यादिवस्तूनां, भेदस्तु परिपृच्छ्यते ॥४६३॥
ततः प्रोक्तो विमर्शेन, तेषां भेदार्थविस्तरः। नरवाहनराजोऽपि, तं पप्रच्छ विचक्षणम् ॥४६४॥

तेनापि तस्य राजेन्दोर्भावार्थः प्रतिबोधितः। अथागृहीतसङ्केता, पप्रच्छ भवजन्तवे ॥४६५॥
महानद्यादिवस्तूनां, वाच्यो भेदस्त्वयाऽपि मे। तेषां प्रातिस्विकं रूपं, न जानाम्यहमप्यहो ॥४६६॥
प्राह संसारिजीवोऽथ, स्पष्टदृष्टान्तमन्तरा। दुर्बोधोऽयं त्वया भद्रे, तद् दृष्टान्तं वदाम्यहम् ॥४६७॥
अस्त्यनादिर्नृपादित्यो, नगरे भुवनोदरे। प्रिया च संस्थितिस्तस्य, पुत्रो वेल्लहलाभिधः ॥४६८॥
स चाहारप्रियो बाढं, खादन्नास्ते दिवानिशम्। ततो जातं महाजीर्णमन्तर्लीनो महाज्वरः ॥४६९॥
नैवाहाराभिलाषोऽस्य, तथापि परिहीयते। जातोद्याने जिगमिषा, भक्ष्यभेदाश्च कारिताः ॥४७०॥
पश्यतस्तान् प्रववृधे, लौल्यं तेन प्रणोदितः। स्तोकस्तोकं स बुभुजे, ततो मित्रगणान्वितः ॥४७१॥
गतो मनोरमोद्याने, निविष्टोऽथ सुखासने। अपश्यदाहृतं भोज्यं, वायुस्पर्शादिना ततः ॥४७२॥
प्रवृद्धोऽन्तर्ज्वरस्तस्य, समयज्ञो भिषग्वरः। कुमारं ज्वरितं ज्ञात्वा, प्रयत्नेन न्यवारयत् ॥४७३॥
आहाराद् विनिवर्तस्व, छन्नापवरके व्रज। लङ्घनानि कुरुष्वोच्चैरुदकं क्वथितं पिब ॥४७४॥
प्रतिक्रियामिमां सर्वां, यदि त्वं न करिष्यसि। भविता सन्निपातस्ते, तदा प्राणप्रयाणकृत् ॥४७५॥
लग्नं वेल्लहलस्वान्ते, भोज्यलोभान्न तद्वचः। अहितो वारयन् ज्ञातो, वैद्यो हस्ते लगन्नपि ॥४७६॥
प्रवृत्तो भोक्तुमाहारं, पुरस्तस्य प्रसह्य सः। अजीर्णज्वरतीव्रत्वाद् गलरन्ध्रे ययौ न सः ॥४७७॥
प्रवेशितस्तथाऽप्यन्तस्तेनाहारः कियानपि। अभूत् ततोऽतिवमनं, मिश्रितं तेन भोजनम् ॥४७८॥

ततो वेल्लहलो दध्यौ, नूनमूनं वपुर्मम । क्षुधया वायुनाऽऽक्रान्तं, सञ्जातं वमनं ततः ॥४७९॥

भोजनेन ततो रिक्तं, कोष्ठं सम्पूरयाम्यहम् । ध्यात्वेति वान्तिसम्मिश्रं, भोजनं भोक्तुमुद्यतः ॥४८०॥

समयज्ञोऽथ तद् दृष्ट्वा, पूत्कारातिखेदवान् । न युक्तं तव देवेदं, श्वकाकादिविचेष्टितम् ॥४८१॥

राज्यं वपुश्च भोगांश्च, चन्द्रशुभ्रं यशोऽपि च । हारयस्याशु त्रिष्टासादभाविना भोजनेन किम् ॥४८२॥

न मेनेऽसौ वचस्तस्य, दध्यौ चैष विमूढधीः । न वेत्ति यो मत्प्रकृतिं, न रुचिं न हिताहितम् ॥४८३॥

भुञ्जानं वातपूर्णं यः, क्षुत्क्षामं मां निषेधति । न कार्यं तेन मूर्खेण, भुङ्क्षे(भुञ्जे) भोज्यं यथारुचि ॥४८४॥ युग्मम् ॥

ततोऽसौ बुभुजे भोज्यम्, सन्निपातमवाप च । जातो वमनबीभत्सः, काष्ठवन्नष्टचेतनः ॥४८५॥

कुर्वन् घुरघुरारावं, विलुठन् वान्तिकर्दमे । स शोच्यामप्रतीकारां, दशां प्राप्तः सुदारुणाम् ॥४८६॥

न त्रातुं तदवस्थं तं, समयज्ञो न बान्धवाः । नालं राज्यं न भोगाश्च, न देवासुरकिन्नराः ॥४८७॥

अनन्तकालं तत्रैव, स्थातव्यं तेन पापिना । नद्यादिवस्तुभेदार्थं, दृष्टान्तोऽयं निवेदितः ॥४८८॥

श्रुत्वाऽगृहीतसङ्केता, तद्विभ्रान्तमना जगौ । संसारिजीव ! किं पृष्टं, दत्तं किं चोत्तरं त्वया ॥४८९॥

नद्यादिवस्तुभेदार्थं, प्रश्नो हि विहितो मया । घटमानोपसंहारा तत्रोत्तरकथा न ते ॥४९०॥

तेन प्रज्ञाविशालाऽथ, तद्दार्ष्टान्तिकयोजने । व्यापारिता स्फुटं प्राह, भावाभिज्ञमतल्लिका ॥४९१॥

---

१ नद्यादि-रा. प्रा. । २ भोक्ष्ये भी. मा. । ३ तत् की. मु. ।

वेल्लहल, उपमितौ प. ३४९

हेतुर्गूढस्य भावस्य, बोधे भावान्तरं ततम्। प्रकाश्यन्तेऽन्यमणयः, प्रभया हि महामणेः ॥४९२॥
नद्यादिवस्तुभेदार्थं, प्रोक्ता ते तदियं कथा। पृथुभावमिह ज्ञात्वा, तत्र संयोजयोचितम् ॥४९३॥
यस्ते वेल्लहलः प्रोक्तः, स हि जीवः सकर्मकः। अनादिसंस्थितिसुतः, संजातो भुवनोदरे ॥४९४॥
मनुष्यभावमापन्नः, कथ्यतेऽसौ नृपाङ्गजः। चित्तवृत्तिमहाटव्यां, सन्ति मोहादयो भटाः ॥४९५॥
अज्ञानमात्मनो यावन्मिथ्यासृष्टौ प्रवर्तते। तेषां नद्यादिवस्तूनि, तावत् तस्यां भवन्ति हि ॥४९६॥
आत्मज्ञाने तु नश्यन्ति, मोहाद्या रज्जुसर्पवत्। महानद्यादितल्लीलास्थाननाशस्तदा ध्रुवः ॥४९७॥
तत्त्वे ह्येवं स्थिते भद्रे, महामोहेऽटवीस्थिते। महानद्यादिवीर्येण, यज्जातं योज्यतेऽत्र तत् ॥४९८॥
यदाहारातिलाम्पट्यं, राजसूनोर्निवेदितम्। जीवस्य विषयेच्छा सा, धर्मवैमुख्यकारिणी ॥४९९॥
तस्य जातं यथाऽजीर्णं, भूरिभक्षणतस्ततः। जीवस्यापि तथा भोगात् पापाज्ञानात्मकर्मणाम् ॥५००॥
अन्तर्लीनज्वरस्थाने, दोषा रागादयो मताः। तथास्थस्यापि भोज्येच्छा, भोगेच्छाऽजीर्णकर्मणः ॥५०१॥
कर्माजीर्णं च रागादिकोपचित्तज्वरावहम्। तदलक्षयतो जन्तोरहिते धीः प्रवर्तते ॥५०२॥
मद्यं निद्रां च विकथाः, कषायान् विषयानपि। ततोऽसौ सेवते सेयं, नदी पूर्णा प्रमत्तता ॥५०३॥
धनान्युपार्जयाम्युच्चैः, करोम्यन्तःपुरं वरम्। कारयामि महावासान्, भुञ्जे वैषयिकं सुखम् ॥५०४॥
तिष्ठामि सततानन्दो, नान्यन्मानुष्यके फलम्। इदृग्विकल्पकल्लोला, जायन्ते ये क्षणे क्षणे ॥५०५॥

सेयमुद्यानिकाकाङ्क्षा, ततो यो द्रव्यसंचयः । अन्तःपुरादिलाभश्च, भवेद् दैववशेन यः ॥५०६॥
कारणं तत् सुभोज्यानां, तत्सुखं तच्छवाशनम् । ततो विलाससंगीतद्यूतदुर्ललितप्रियः ॥५०७॥
याति दुःशीलतोद्याने, यन्मार्गनगराद् बहिः । एतदुद्यानगमनं, ज्ञेयं वेल्लहलस्य वै ॥५०८॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥
स तत्र विपुले मिथ्याभिनिवेशासने स्थितः । पश्यन् प्रमादभोज्यानि, कर्मानीतानि सर्वतः ॥५०९॥
लब्धास्वादो विशेषेण, सुन्दरत्वेन मन्यते । तत् प्रमादविलासाख्यं, नद्याः पुलिनमुच्यते ॥ ५१०॥ युग्मम् ॥
वायुस्पर्शादिना वृद्धस्ततो योऽजीर्णजो ज्वरः । प्रमादाज्ञानवृद्धोऽसौ, कर्माजीर्णारतिज्वरः ॥५११॥
समयन्नेन तद्वृद्धिं, ज्ञात्वा यद्वारणं कृतम् । धर्माचार्याः प्रकुर्वन्ति, तद्भव्यहितकाम्यया ॥५१२॥
मानुष्यमतिदुष्प्रापं, प्राप्य राज्यमिथोत्तमम् । कार्षीः प्रमादं मा जीव, कर्माजीर्णज्वरातुरः ॥५१३॥
त्यजैनं विषयाहारं, व्रजापवरके धृतौ । तिष्ठाविकल्पनिर्वाते, क्वथिताम्बु तपः पिब ॥५१४॥
लङ्घनानि कुरु स्वान्तज्वरशान्त्यै व्रतादरान् । कुरु दर्शनचारित्रज्ञानरूपां प्रतिक्रियाम् ॥५१५॥
करिष्यस्यथ नैवं चेद् दशां शोच्यां प्रयास्यसि । सन्निपाते महामोहे, मग्नो भ्रष्टमतिस्तदा ॥५१६॥
पिशाचकीव तद्वाक्यं, जीवो यन्नैव मन्यते । चेष्टते विपरीतं च, महापापपरायणः ॥५१७॥
सोऽयं महानदीतीरे, चित्तविक्षेपमण्डपः । सेवते विषयान् लौल्याज्जराजीर्णोऽक्षमोऽपि यत् ॥५१८॥

१ –नदीकूले डे. ग्रा । २ चित्तसंक्षेप–डे. ग्रा. ।

भुङ्क्ते प्रमादभोज्यानि, वारितोऽपि च यद् बुधैः। अगच्छतोऽपि कण्ठे तन्नयनं भोजनस्य वै ॥५१९॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥
अर्थस्य बहुयत्नेन, रक्षितस्यापि वार्धके। बलेन हरणं वान्तिर्जलज्वलनतस्करैः ॥५२०॥
यदारटति जीवश्च, वमन् कलमलात् ततः। भातीयं वेदिका तृष्णा, चित्तविक्षेपमण्डपे ॥५२१॥
यच्च वेल्लहलो दध्यौ, नूनमूनं वपुर्मम। क्षुधया वायुनाऽऽक्रान्तं, सञ्जातं वमनं ततः ॥५२२॥
भोजनेन ततो रिक्तं, कोष्ठं सम्पूरयाम्यहम्। तदिदं चिन्तयत्येवं, जीवोऽपि भृशविह्वलः ॥५२३॥
धनपुत्रकलत्रादौ, प्रण(न)ष्टे रतिदायिनि। मन्यते न मया नीत्या, स्फोरितं निजपौरुषम् ॥५२४॥
सदुपायैरतो भूयोऽप्यर्जयामि धनादिकम्। नीतिदीप्तप्रयत्नेन, रक्षिष्याम्यर्जितं च तत् ॥५२५॥
अजागलस्तनाभं तज्जीवितव्यं तपस्विनः। भवत्येवं यदुल्लासात्, तद्विपर्यासविष्टरम् ॥५२६॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥
भोजनं वान्तिसम्मिश्रं, स च यद्भोक्तुमुद्यतः। भुक्तोत्सृष्टेषु भोगेषु, तन्निर्लज्जप्रवर्तनम् ॥५२७॥
परमाणुमया भोगाः, प्रोक्ताः शब्दादयो बुधैः। सर्वे चैकैकजीवेन, गृहीताः परमाणवः ॥५२८॥
गृहीत्वा मुक्तपूर्वाश्च, भवकोटिष्वनन्तशः। भुक्तवान्तास्ततो भोगा, युक्ताः कमललोचने ॥५२९॥ युग्मम् ॥
यथा वेल्लहलस्तादृक्, समयज्ञेन वारितः। वारयन्ति तथाऽऽचार्या, भोगजं बाललम्पटम् ॥५३०॥
ज्ञानदर्शनरूपस्य, युक्तं ते देव जातु न। वान्ताशुचिषु भोगेषु, भूयो भूयः प्रवर्तनम् ॥५३१॥
अनित्याशुचिदुःखेषु, बाह्येषु निपुणः कथम्। नित्यानन्दपवित्रात्मज्ञानी भोगेषु रज्यते ॥५३२॥

यथा च वारयंस्तेन, समयज्ञो मतोऽहितः । धर्माचार्यं तथा जीवः, पापात्मा मन्यतेऽहितम् ॥५३३॥
वस्त्रं माल्यमलङ्कारा, मद्यं मांसं वरस्त्रियः । न स्युः सुखाय चेदन्यत्, किमस्ति सुखकारणम् ॥५३४॥
न हितो वारयन्नेभ्यः, श्रमणः प्रतिभाति मे । विप्रलब्धः कुसिद्धान्तैः, स्वयं नष्टोऽन्यनाशकः ॥५३५॥
भोगाः स्थिरास्तथा शुद्धाः, सुखरूपाश्च तत्त्वतः । एतदात्मक एवाहमलं मोक्षादिना मम ॥५३६॥
इत्थं निश्चिन्वतो वाढं, गुरौ लग्नेऽपि वारणे । प्रमादेषु प्रवृत्तिर्या, तदविद्याविजृम्भितम् ॥५३७॥ चतुर्भिः कलापकम् ।
भुक्त्वा भूयो वमन्नेष, सन्निपातमवाप यत् । लुठन् भूमावनाख्येयां, दशां शोच्यां जगाम च ॥५३८॥
योज्यं तत् सर्वमत्रापि, यत्प्रमत्ततयाऽन्वितः । तद्विलासपरो जीवो, भृशं विक्षिप्तमानसः ॥४३९॥
तृष्णार्तश्च विपर्यस्तोऽविद्यान्धीकृतलोचनः । गुरुवैद्यवचोबाह्यो, मग्नः संसारकर्दमे ॥५४०॥
पतितः सन् महामोहसन्निपाते सुदारुणे । स्फुटं भवति निश्चेष्टः, पश्यत्स्वेव विवेकिषु ॥५४१॥ चतुर्भिः कलापकम् ।
मूत्रान्त्राशुचिजम्बालबीभत्से नरके लुठन् । आक्रन्दति भृशं प्राप्य, दुःखं वाचामगोचरम् ॥५४२॥
ज्ञानातमानश्च पश्यन्ति, तं जीवं ज्ञानचक्षुषा । अचिकित्स्यं तु तं ज्ञात्वा, वर्जयन्ति महाशयाः ॥५४३॥
संसारनक्रालेऽत्र, जन्ममृत्युजराकुले । लुठत्यनन्तकालं स, त्यक्तो धर्मभिषग्वरैः ॥५४४॥
सन्निपातसमः सोऽयं, महामोहः प्रगल्भते । भेदं नद्यादिवस्तूनां, तदिमं विद्धि दर्शितम् ॥५४५॥
कार्यद्वारा न ते जाता, भेदधीस्तु परिस्फुटा । भूयोऽपि लक्षणद्वारा, तद्भेदं कथयामि ते ॥५४६॥

ज्ञेया प्रमत्तता सैव, बुद्धिर्या विषयोन्मुखी। तत्तद्विलसितं स्वैरं, यद्भोगेषु प्रवर्तनम् ॥५४७॥

विषयेषु प्रवृत्तस्य, लौल्यदोषेण शून्यता। या चेतसः प्रदीर्घाऽसौ चित्तविक्षेप उच्यते ॥५४८॥

भुक्तेष्वपि च भोगेषु, महालौल्यविकारतः। उत्तरोत्तरवाञ्छा या, तां तृष्णां सुधियो जगुः ॥५४९॥

पापाद् भोगेष्वलब्धेषु, लब्धनष्टेषु वा पुनः। पाप एव हि यो यत्नो, विपर्यासः स उच्यते ॥५५०॥

अनित्याशुचिदुःखेषु, स्वात्मभिन्नेषु वस्तुषु। अविद्यामन्यथाख्यातिं, योगाचार्याः प्रचक्षते ॥५५१॥

एतेषामेव वस्तूनां, हेतुतां जन्यतां च यः। धत्ते बीजाङ्कुरन्यायान्महामोहः स गीयते ॥५५२॥

महानद्यादिवस्तूनां, तदेवं भिन्नरूपता। विचिन्तनीया यत्नेन, वितत्य ज्ञानलोचनम् ॥५५३॥

प्राहागृहीतसंकेता, छिन्नो मे संशयस्त्वया। साधु प्रज्ञाविशालेति, नामान्वर्थं कृतं निजम् ॥५५४॥

निवेदयतु संसारिजीव एवाग्रतोऽथ तत्। विचक्षणोऽन्ववादीद् यन्नरवाहनभूभुजे ॥५५५॥

ततः संसारिजीवेन, प्रोक्तं पङ्कजलोचने। वदाम्यग्रे विमर्शस्य, प्रबन्धं तेन भाषितम् ॥५५६॥

प्रकर्षः प्राह संदेहश्छिन्नो मे मातुल ! त्वया। परिवारमथ ब्रूहि, महामोहमहीभुजः ॥५५७॥

विलोक्यते या नृपविष्टरस्था, भृङ्गाञ्जनश्यामलवेणिदण्डा। वराङ्गनेयं परमाणुमध्या, किन्नामिका कीर्तय किंगुणा च ॥५५८॥

प्रकर्षकथनादथ प्रथितधीर्विमर्शो जगौ, न गौरतनुरन्यथाप्यकथनीयकान्तिस्थितिः।
इयं भुवनगह्वराहितरहा महामोहभूधवस्य वनिता कृतातुलमहा महामूढता ॥५५९॥

महामोह-
महीभुजः
परिवारः
उपमितौ
प. ३५९

सुधांशुरिव चन्द्रिकां गिरिसुतामिवेशः सदा, बिभर्ति हृदये नृपः कृपणरत्नतुल्यामिमाम् ।
असौ न हि विना क्वचित् प्रभुरिमामपि स्पन्दितुं, विविच्य गुणगौरवं क इव वक्तुमस्याः क्षमः ॥५६०॥
मनस्यणुनि पर्वते[1] तनुमतां तमोभिर्भृता, कृता स्वयमयेऽनया क्व न दरी दरीदृश्यते ।
अहो नियति विभ्रमे विषयसौख्यतृष्णालता,ऽनया क्वचन निर्मिता रतिकरी जरीजृम्भते ॥५६१॥

प्राह प्रकर्षो विदिता मयेयमथाऽस्ति यः सन्निहितोऽस्य राज्ञः । वक्रभ्रुवा राजकमीक्षमाणो, भीष्मो नृपः श्यामतनुः क एषः ॥५६२॥
जगौ विमर्शोऽथ महत्तमोऽयं, मान्यो महामोहनरेश्वरस्य । मिथ्यात्वनामाऽऽन्तरराज्यवृत्तेः, प्रवर्तकः कर्मनियन्त्रितायाः ॥५६३॥
अनात्मनिष्ठा गुरुधर्मदेवता, जनप्रवाहे पतिता वदन्ति यत् । स्वभावशुद्धाश्च न ता विजानते, तदस्य विश्वार्तिकृतो विजृम्भितम् ॥
जडैश्छलेनापि भृशं विमोहितान् , कटाक्षविद्धानबलाजनैरपि । जिघांसया तुच्छजनेऽप्युदायुधान् ,न वेत्ति देवान् किमनेन मोहितः ॥
त्रिकोटिशुद्धागमदेशकान् सदा,प्रसादकोपाविकृतान् महाधियः । विनिह्नुतेऽसौ वृजिनोज्झितान् जिनान्,जनाय देवान् जगदेकनायकान्
असत्यमन्येषु गृहिष्वधर्मिषु, स्फुटं महारम्भिषु तापसेष्वपि । सुपात्रताबुद्धिमसौ तनोत्यहो, विगर्हितोद्दिष्टसचित्तभोजिषु ॥५६७॥
विशुद्धसामायिकसंपदः सदा, महाव्रतोदारमतीनघच्छिदः । समाधिपूतानयमुद्धतो गुरून् , कुपात्रभूतानुपदर्शयत्यलम् ॥५६८॥
स्वराङ्गभौमाद्भुतमन्त्रलक्षण–स्फुटेन्द्रजालादिविधानतत्परान् । मनस्विमुख्यान् गुणिनस्तपोधनान् , विदन्त्यनेनैव वशीकृता जनाः ॥
अनेकमन्त्रादिविदोऽपि निःस्पृहा-नबाधितान् दुर्जयलोकयात्रया । परप्रवृत्तौ बधिरान्धमूकका-न्निजार्थसिद्धौ सततं कृतोद्यमान् ॥५७०॥

[1] वर्तते रा. ग्रा. ।

अखर्वसर्वंकपगर्ववर्जितान्, प्रशान्तचित्ताननघांस्तपोधनान्। न वेत्ति दिव्यादिकथाश्लथादरा-ननेन लोको निहतो गुणाकरान्॥
तडागवाप्यादिविधानभूमिगो-हिरण्यदानादिषु यागकर्मणि। विनाटितोऽनेन हि धर्ममीक्षते, महोपमर्दादपि भूतसंततेः ॥५७२॥
क्षमामृदुत्वार्जवसत्यसंयमान्, तपःशमब्रह्मदमाप्रमत्तताः। कदर्थितोऽनेन मनःप्रसादकान्, न वेत्ति धर्मानमृतोपमान् जनः॥
परिस्क्रि(ष्क्रि)यां मण्डपवेदिकासना-श्रयामसावातनुते निरन्तरम्। यदुत्थितैः कान्तिलवैर्ज्वलत्यदो, जगत्त्रयं दोषकृशानुराशिभिः॥
करोति यद्भैरवपातमुच्चकै-रटाट्यते धर्ममदादितस्ततः। ददाति धूर्ताय धनं च होमकृत्, तदेतदुत्तेजितमण्डपोर्जितम् ॥५७५॥
प्रवेशमग्नौ पतिसंगमेच्छया, तथाऽग्निहोत्रं सुतभूतिकाम्यया, अनेन कष्टं सनिदानकं जनान्, परिस्कृ(ष्कृ)ता कारयतीह वेदिका॥
श्रुतीः प्रमाणेन विना प्रमाणयन्, मुमुक्षुरप्याशु कुमार्गमृच्छति। भ्रमन्नदः संस्कृतविष्टरोर्जिताद्, गृहाश्रमं स्तौति यतींश्च निन्दति॥
एतावदुक्त्वा विरते विमर्शे, प्राह प्रकर्षोऽभिहितस्त्वयैषः। अर्धासने याऽस्य पुनःस्थितैषा, वराङ्गना कीर्तय तामिदानीम् ॥५७८॥
जगौ विमर्शः सुकुमारबुद्धे, फलाच्च धैर्याच्च समेयमस्य। भार्या कुदृष्टिः कुमतैकसृष्टिः, प्रत्यूहवल्लीवनमेघवृष्टिः ॥५७९॥
शाक्याश्च शैवाश्चरकाश्च यौगा-स्त्रिदण्डिनः पाशुपतास्तथाऽन्ये। मीमांसका जीवकदिक्पटाद्या, वितन्वतेऽस्या विवशा विवादम्॥
एकैकमर्थं नियतिस्वभाव-कर्मेशकालेष्ववलम्ब्य मत्ताः। भ्रमन्ति भिन्नागमवादिनोऽस्या, निर्देशरश्मिप्रसभप्रणुन्नाः ॥५८१॥
विध्यातदीपप्रतिमां च केचि-दन्ये च मुक्तिं गुणनाशमाहुः। चित्तस्य चान्ये क्षणिकं विलास-मेतत्कृताकूतविभेददोषात् ॥५८२॥
इयं कुदृष्टिर्जगतीजनानां, कदाग्रहस्यैव करोति कण्डूम्। मुहुर्मुहुर्यद्वशगा मनुष्या, घृष्ट्वैव जिह्वामबला म्रियन्ते ॥५८३॥
विष्टरे महति यश्च निविष्टो, दृश्यते पृथुविसृत्वरकान्तिः। आगमप्रणयपादपनागं, रागकेसरिणमेनमवेहि ॥५८४॥

संक्रमात् पितुरशेषगुणानां, कार्यभेदविरहादमुना च । सार्थका न विहिता न पिता वै, जायते सुत इति श्रुतिरेषा ॥५८५॥
तं निधाय युवराजमशत्रुं, मोहभूपतिरभूद्गतचिन्तः । दर्पणे मुखमिवात्र च दत्तं, राज्यमस्य बहुधाम पुपोष ॥५८६॥
लम्भितोऽपि घनराज्यविभूती–र्नैष तातविनयं प्रमुमोच । प्रापितो हि मधुना फलभारं, नम्रतां त्यजति किं सहकारः ॥५८७॥
काममस्य वपुषा पुपुषे श्री, राज्ययौवनमदोल्लसितेन । अम्बरप्रपतदम्बुदधारा–जातडम्बरकदम्बवनस्य ॥५८८॥
धर्मतत्फलनिराकृतिपादा–वस्य पीनदृढदुर्मतिपार्ष्णी । राजतो दशतताध्यसमाधि–स्थाननामकनखोन्मिषदाभौ ॥५८९॥
भाति गुल्फयुगमस्फुटमुच्चै–र्नैरपेक्ष्यमपि लोकयुगेऽस्य । शून्यताक्षणिकतामतसंज्ञे, जानुनी कलयतश्च दृढत्वम् ॥५९०॥
व्यक्तिकार्यकृतभूतचिदात्म–ख्याततर्कयुगमांसलजङ्घः । भात्यसौ निखिलमण्डलतन्त्रा–चारविस्फुरदुरःपरिणाहः ॥५९१॥
मत्यनित्यपरमात्मविलोपा–क्षेपयुग्ममतिदीर्घममुष्य । दोर्युगं कलयति श्रियमुच्चै–र्जानुलम्बि पविदण्डविडम्बि ॥५९२॥
संवराश्रवनिषेधमते तत्, पञ्चशाखयुगलं प्रविभाति । तर्क्यमाणदशधर्मनिषेधै–र्मुद्रिकाभिरधिकोल्लसितश्रि ॥५९३॥
बन्धनिर्वृतिनिषेधनिबन्ध–स्कन्धबन्धपरिभूतवृषश्रीः । भात्यसौ वधकथाऽशुभसन्धा–कन्धरोन्नतिमदोद्धुरबुद्धिः ॥५९४॥
लुप्यमानसमयत्रयकृत्यः, स त्रिरेख इव चास्य विभाति । सच्चतुर्गतिकजन्मनिषेधो ग्रामरागनिलयः खलु कण्ठः ॥५९५॥
मार्गलोपमतनाम विशालं, साध्वसाधुसमतोल्लसदोष्ठम् । योगसङ्ग्रहविपर्ययदन्तै–र्दीप्तिमन्मुखममुष्य विभाति ॥५९६॥
अस्य दृग्युगमहंत्वममत्वे, नासिका च नियतिस्थितिनिष्ठा । सम्मदाय जगतामपि काम–स्नेहविस्मयमयश्रुतियुग्मम् ॥५९७॥

१ वह्मा॰ भी. मा । २ –रोन्नतमरोद्धर–रा. शा. की. मु. ।

रागः

भालमस्य भजते भवनन्दि-भाग्यसूचनकलापट्टधाम। क्लेशकेशकलितोऽपि च मौलि-र्दुर्विगाहगहनः परिणामः ॥५९८॥
दीपयत्यतुलराज्यविलासं, गुर्वनादरकिरीटममुष्य। कर्णयोरपि च कुण्डलयुग्मं, निर्भयत्वनिरनुग्रहताख्यम् ॥५९९॥
समुचितरचनाविभक्तशक्ति-त्रयमुपधाय जयाय बद्धयत्नः। अयमतिशयमाबिभर्ति दृप्त-स्त्रिभुवनमाकलयंस्तृणार्धतुल्यम् ॥६००॥
एतस्य पार्श्वे पुरुषत्रयं च, स्निग्धारुणाभं परिवीक्षसे यत्। त्रयोऽपि तेऽस्यैव मता वयस्याः, स्वतुल्यवीर्याः प्रथितप्रभावाः ॥६०१॥
एतेष्वतत्त्वाभिनिवेशनामा, नाम्ना द्वितीयेन च दृष्टिरागः। आद्यः पुमान् स्वस्वमतेषु पुंसां, कदाग्रहं हन्त तनोत्यभेद्यम् ॥६०२॥ दृष्टिरागः
स्नेहापराख्यो भवपातनामा, बलाद्वितीयः पुरुषो द्वितीयः। मूर्छातिरेकं वितनोति पुंसां, द्रव्यात्मजन्मस्वजनव्रजेषु ॥६०३॥ स्नेहरागः
उद्दामधामा किल कामरागा-भिष्वङ्गनामा पुरुषस्तृतीयः। उत्पादयन् मज्जयतीन्द्रियार्थे, लौल्यं प्रियास्वद्भुतविभ्रमासु ॥६०४॥ कामरागः
आक्रान्तमेव त्रिभिरेभिरुग्रै-र्गङ्गाप्रवाहैरिव विश्वमेतत्। सुखं ततस्तिष्ठति रागसिंहः, सन्मार्गमत्तद्विपकुम्भभेदी ॥६०५॥

अस्यैव तुङ्गमधितिष्ठति विष्टरं या, सा मूढतेति विदिता दयिताऽस्य हृद्या।
धत्ते प्रभां मणिरिवायमिमां निजाङ्के, स्वीयप्रचारपरिमुद्रितबाह्यभावाम् ॥६०६॥ मूढता
अन्योऽन्यभेदविरहादनयोर्वपुर्भ्यां, नोच्चैर्गुणा अपि मिथो दधते विभेदम्।
ज्वालानलाविव जगज्जनदाहकार्ये, तौ द्वावपीह विधिना मिलितौ नियुक्तौ ॥६०७॥
अस्यैव यश्च परितिष्ठति वामपार्श्वे, द्वेषद्विपेन्द्रमिममाहुरनन्तवीर्यम्।
विश्रान्तमेव हृदयं स्वगुणैर्गृहीत-मत्रापि मोहनृपतेः प्रविभज्य रज्यत् ॥६०८॥

प्रौढो द्वेषद्विपेन्द्रो लघुरपि वलतो जन्मना रागसिंहात्, स्नेहार्द्राणामपि द्राग् निखिलतनुभृतां चित्तविश्लेषकारी। द्वेषः
उत्साहं नो लभन्ते भ्रमति मदभृते चित्तवृत्त्यावटव्या-मेतस्मिन् स्थातुमुच्चैः शुभनयकलभा भीतिकृद्दृष्टिपाते ।।६०९।।
युद्धक्रुद्धस्य नास्य ध्वनितविलसितं के समाकर्ण्य भीताः, कल्पान्तभ्रान्तवातक्षुभितघनघटागर्जितारम्भजैत्रम्।
लीयन्ते कन्दरायामपि धरणिभृतां यान्ति कान्तारदेशान्, गाहन्ते मध्यमब्धेरपि च कृतमहायानपात्रावताराः ।।६१०।।
लग्नः प्रत्यर्थिनारीविपुलकुचतटीकुङ्कुमश्रीविलोपात्, स्फूर्जत्यस्य प्रतापे ज्वलदनलनिभः शोभते शोणभावः।
तन्नेत्रोरुप्रणालाविरलपरिगलद्वारिभिर्नैष नाशम्, यन्नित्यं क्षालितोऽपि व्रजति न हृदये कस्य चित्रं तदेतत् ।।६११।।
या तस्य भार्या प्रथिताऽविवेकिता, तस्याः प्रवृत्तिः परिकीर्तितैव ते। शोकेन पृष्टेन तमःपुरस्थितिं, तत्साऽस्य पार्श्वे न निरीक्ष्यतेऽधुना ।। अविवेकिता
यो निष्ठरेऽस्यैव नृपस्य पृष्ठे, तुङ्गे निविष्टो घनशोणवर्णः। तूणीरयुक् पञ्चशरः सचाप-स्त्रिभिर्नरैश्च प्रियया च युक्तः ।।६१३।।
जगत्प्रसिद्धो मकरध्वजोऽसौ, जगत्त्रयीधैर्यभुजङ्गतार्क्ष्यः। विनिर्जितोऽनेन महेश्वरोऽपि, गौरीविवाहेऽकृत बालचेष्टाम् ।।६१४।। कामः
समाः सहस्रं च स एव दिव्ये, रते धृतोऽनेन विसर्पितृष्णः। अन्येऽपि दैत्यर्षिसुराः समग्रा, अनेन धाम्ना विजिता निजेन ।।६१५।।
जनार्दनोऽस्य प्रबलप्रतापा-सहिष्णुरेवाम्बुनिधावुवास। महेश्वरो मूर्ध्नि बभार गङ्गां, प्रजापतिः पद्ममशिश्रियच्च ।।६१६।।
विवेकचन्द्रं परिभूय सर्वथा, कुहूचकारायमिहाखिलांस्तिथीन्। अतोऽस्य मत्तो विपिनेषु कोकिलो, मुहुः कुहूं गायति कीर्तिगायनः ।।
असौ नृशंसः कुसुमैः शरैरपि, क्षिणोति धैर्यं बत वज्रिणामपि। न शस्त्रजातिर्नियता धनुष्मतां, ततः स्ववीर्यानुगता मता बुधैः ।।
नृसिंहमानी कुसुमाहतो मया। द्विधाऽपमानान्निहतो भविष्यति। इतीव पुष्पेषुरभूदसौ प्रभु-र्विनापि शस्त्रं त्रिजगज्जये स्वयम् ।।

अस्यैतदात्मीयनरत्रयं यत्। पुंवेदनामा प्रथमोऽयमस्मिन्। कुर्वन्त्यनेनैव विलुप्तधैर्या, मन्दाः पुमांसः किल पारदार्यम् ॥६२०॥
स्त्रीवेदनामा कथितो द्वितीयो, गुणोदरच्छेदनिवद्धकक्षः। अस्यैव धाम्ना वनिता विलज्जा, रागं परे पुंसि भृशं वहन्ते ॥६२१॥
प्रोक्तस्तृतीयस्त्विह पण्ढवेदो, विगुप्यते येन नपुंसकौघः। नरत्रयस्यास्य बलेन कामो, जगज्जये श्राम्यति नातिवामः ॥६२२॥

रतिः

पार्श्वे च याऽस्यास्ति विशालनेत्रा, रतिं जगुस्तां विरतिप्रतिष्ठाः[1]। अस्याः प्रभावात् प्रथते जनानां, दुःखात्मभोगेषु सुखाभिमानः ॥
तुष्यन्ति मोहान्मृगलोचनाभिर्नेत्रत्रिभागैरिह वीक्ष्यमाणाः। हृष्यन्ति तद्वाक्यरसैर्विचित्रै–र्दन्तानहेतोः परिपीडयन्ति ॥६२४॥
कुर्वन्ति तासां बहुचाटुकर्म, पादप्रहारान् बहुशः सहन्ते। श्लेश्माश्रितं तन्मुखदत्तमद्य–गण्डूषमास्वाद्य सुखं लभन्ते ॥६२५॥
प्रियावियोगादुपयान्ति तापं, रटन्ति शोचन्ति वशाऽवधूताः। परेषु रक्तामुपलभ्य नारीं, मज्जन्ति दुःखाम्बुनिधावपारे ॥६२६॥
वशीकृताः स्वीयबलेन रत्या, विडम्बनां कामिह नाप्नुवन्ति। प्रेत्यापि संसारसमुद्रमध्ये, परिभ्रमन्तः स्मरदेवदासाः ॥६२७॥च०क०॥

हासादिः

पृष्ठेऽस्य यन्मानुपपञ्चकं च, हासाभिधोऽत्र प्रथमो मनुष्यः। अयं भृशं रोदयतीह लोकं, विश्वासघाती विनियोज्य हास्ये ॥
उल्लासयत्येनमृतेऽपि हेतोः, प्रसह्य भार्याऽस्य च तुच्छताख्या। अतुच्छचित्तो महतोऽपि हेतोः, सोल्लासमास्यं तनुते न हास्यम् ॥
शङ्कापदं याति जनोऽत्र हास्याद्, भूतोपघाती वितनोति वैरम्। विगोपकत्वप्रथया स्वकीर्तौ, दत्ते मषीहस्तकमस्तबुद्धिः ॥६३०॥
या च द्वितीया घनकृष्णवर्णा, बीभत्सरूपा परिदृश्यते स्त्री। कृताधिवृद्धिं बहुहेतुयोगा–दिमां प्रगल्भामरतिं प्रतीहि ॥६३१॥
अयं भयाख्यः पुरुषस्तृतीयो, युतो नरैः सप्तभिरात्मरूपैः। करोति सर्वं जनमैहिकादि–भयैर्नितान्तं परिवेपमानम् ॥६३२॥

[1] विरतिप्रविष्टाः रा. ज्ञा.।

अयं स्वभार्यां खलु हीनसत्त्वतां, कदापि रागी हृदयान्न मुञ्चति । इमां हि दारां त्यजतोऽस्य जीवितं, न कर्दमस्याप इवावतिष्ठते ॥
चतुर्थमेनं स्मरसीह शोकं, निवेदकं यं प्रकृतप्रवृत्तेः । तस्मिन् पुरे द्रक्ष्यसि सोऽयमत्र, समागतस्तूर्णमनीकमध्ये ॥६३४॥
अस्याज्ञया शोचति नीयमानं, स्वकर्मणाऽन्तं स्वजनं मनुष्यः । न नेष्यमाणं त्वनुशोचति स्वं, हिताहितोपायविवेकशून्यः ॥६३५॥
अस्यापि भार्याऽस्ति विवर्धमानाऽशुभाशया विह्वलताऽभिधाना । प्राप्नोति सौख्यं विरहय्य नैनां, दोषाकरो यामवतीमिवायम् ॥
इयं मृगाक्षी ननु पञ्चमी च, नीचाकृतिः कुञ्चितनासिकाग्रा । श्यामा जुगुप्सा गदिता प्रणीत–व्यलीकभावा जगतीजनानाम् ॥
छायामपीच्छन्ति न यत्परेषां, शौचप्रियाः स्प्रष्टुमतीव मूढाः । स्पृष्टेऽप्यहो वर्त्मनि चेलमात्रे, क्रुद्धाः पुनर्यच्च जले पतन्ति ॥६३८॥
उन्मत्तरूपा अपि यच्च केचि–च्छङ्कापिशाचीनिहता भवन्ति । अस्या महामुद्गरपातनर्म–मर्मप्रहारस्य विजृम्भितं तत् ॥६३९॥
आरक्तकृष्णानि च यानि डिम्भ–रूपाण्यहो पश्यसि षोडश त्वम् । सामान्यतस्ते कथिताः कषाया, विशिष्य भेदं कथयामि तेषाम् ॥ षोडश कषायाः
चत्वारि रौद्राणि लसन्ति यानि, संयोजनाख्यानि वदन्ति तानि । भक्तानि मिथ्यात्वमहत्तमस्य, तेनात्मबुद्ध्या परिपालितानि ॥
मिथ्यात्वमोहस्य चतुर्भिरेभिः, पातालकुम्भैरिव वारिराशेः । क्षुब्धैः प्रवृद्धा भवतीह वेला, विलुप्तबोधेन्दुमरीचिखेला ॥६४२॥
चत्वारि रूपाणि लघूनि चैभ्यः, सर्वात्मनैव व्रतघातकानि । नाम्नाऽव्रतान्येव वदन्ति तद्ज्ञाः (तज्ज्ञाः), प्रसर्पदातुर्यगुणस्थितीनि ॥
लघूनि तेभ्योऽपि पुरः स्फुरन्ति, धीमन् ! विरत्यावरणानि विद्धि । वल्गत्सु तेषु क्षमते न कोऽपि, किञ्चिद्व्रतस्थोऽपि महाव्रताय ॥
लघूनि तेभ्योऽपि च चञ्चलानि, जगुर्बुधाः संज्वलनाभिधानि । कुर्वन्ति यानि प्रसभं व्रतेषु, म्लानिं मुनेरप्यतिचारलेशात् ॥६४५॥

१ ध्यानता डे. शा । २ मारास्य–डे. शा.

द्वेषद्विपेन्द्रस्य किलाष्टराग-सिंहस्य जातानि तथाऽष्ट चैषु। पौत्राणि मोहक्षितिपस्य गर्वाद्, वितन्वते दुर्ललितं न कुत्र ॥६४६॥
कुटुम्बकं वर्णितमङ्गभूत-मिदं महामोहनरेश्वरस्य। ये वेदिकाभ्यर्णगताः क्षितीशाः, पदातयस्तेऽस्य निजाङ्गभूताः ॥६४७॥
इह रागकेसरिनृपस्य पुरो, हरिदश्ववत्कमलयुक्तकरः। विलसत्प्रतापभवनं भुवनं, परितापयन् श्रयति यः सुषमाम् ॥६४८॥
तमवेहि मोहितसमस्तनरं, विषयाभिलाषसचिवप्रवरम्। वयमागता इह यदीयमुख-प्रविलोकनाय पवनाभजवाः ॥६४९॥
किमु मानुषाणि ननु तानि पुरा, कलितानि नास्य समतां दधते। इति तानि हेतुगुणतो जगतां, प्रभवन्ति किं न हितघातविधौ ॥
रसनानिदानमयमेव ततः, परिनिश्चितोऽस्य हि धिया निहतः। परिचेष्टते विशदधर्मपथाद्, बहिरित्वरेषु विषयेषु जडः ॥६५१॥
परचित्तभित् पटुरुपायविधौ, निजनीतिमार्गविततोरुमतिः। अयमेव वर्द्धयति राज्यरमा-मिह रागकेसरिनृपस्य पराम् ॥६५२॥
पार्श्वेऽस्य भार्याऽस्ति च भोगतृष्णा, कृष्णाहिवद्वक्रगतिः प्रतीता। दष्टोऽनया नैव जनः कदाचि-दम्भोऽपि पातुं श्रयते विलम्बम् ॥
पुरश्च पश्चादपि पृष्ठतश्च, तिष्ठन्ति ये भूमिभुजोऽस्य दृप्ताः। दुष्टाभिसन्धिप्रमुखा भटास्ते, व्यापारभाजोऽस्य समीहितार्थे ॥६५४॥
संख्यामतीताः खलु येऽन्तरङ्गा, महीभुजो मध्यविवर्तिनस्तान्। विशिष्य वक्तुं क्षमते स एव, तारापथे यः परिमाति ताराः ॥६५५॥
वेदिकाव्यवहिताश्च नृपा ये, मुत्कलप्रबलमण्डपवासाः। मोहभूपतिलकस्य हि बाह्या-स्ते पदातय उदारचरित्राः ॥६५६॥
तत्र चित्रनरपञ्चकयुक्तो, ज्ञानसंवरणभूपतिरेषः। गीयते जगति बोधविलोपा-न्मोह इत्यपि च नाम किलास्य ॥६५७॥
एष विक्रममदादिह जीव-ज्ञानमिच्छति निहन्तुमशेषम्। तिष्ठति प्रतिहताखिलशक्तिः, सोऽप्यनन्ततमभागधृतात्मा ॥६५८॥
दर्शनावरण इत्युदिताख्यः, पार्थिवस्त्वयमिह प्रणिहन्ति। पश्य कस्य जगतोऽपि निसर्गादात्मनो विमलदर्शनशक्तिम् ॥६५९॥

भोगतृष्णा
ज्ञाना-
वरणादि

मानुपैर्नवभिरेव युतोऽयं, तेपु पञ्च वनिता मदिरावत् । घूर्णयन्ति जनतां पुरुपास्ता–मन्धयन्ति विवशामवशिष्टाः ॥६६०॥

एप मत्सरिनरद्वययुक्तो, वेदनीयनृपतिः प्रकृतिस्थम् । जीवमुग्रसुखदुःखविवर्ता–वर्त्तगर्त्तपतितं वितनोति ॥६६१॥

अक्षयस्थितिमपि स्फुटपातो–त्पातकन्दुकसमभ्रमभाजम् । आयुराख्यनृपतिः कुरुतेऽसौ, ह्रस्वदीर्घचलडिम्भचतुष्कः ॥६६२॥

नामनामकनृपस्त्रिनवत्या, मानुपैर्द्वचलैश्च युतोऽयम् । देहजातिगमनादिविभेदैः, कं विडम्बयति नात्र मनुष्यम् ॥६६३॥

उच्चनीचपुरुपद्वययुक्तो, गोत्रनामकनृपः प्रथितोऽयम् । देहिनां वितनुते भृशमभ्रभ्रामणक्षितिनिपातनलीलाम् ॥६६४॥

अन्तराय इति विश्रुतनामा, ह्येप दीप्तनरपञ्चकयुक्तः । भूपतिर्वितरणादिकलब्धी–र्देहिनां दलयति स्वबलेन ॥६६५॥

वर्णिता भूभुजः सप्त, तदेते लेशतो मया । वर्णनं विस्तरेणैपां, नायुपाऽपि समाप्यते ॥६६६॥

इत्येनामतिगम्भीरां, श्रुत्वा मातुलभारतीम् । प्रकर्पः कलयन् हर्पमिदं वचनमब्रवीत् ॥६६७॥

एतेपां वर्णनं राज्ञां, कुर्वता मातुल ! त्वया । शङ्काशङ्कुं निरस्याहं, मोचितो मोहपञ्जरात् ॥६६८॥

केवलं किञ्चिदद्यापि, प्रष्टव्यमवशिष्यते । कर्णप्राघूर्णकीकृत्य, तन्मह्यं वक्तुमर्हसि ॥६६९॥

विमर्शः प्राह यद् भद्र, रोचते पृच्छ तत् सुखम् । प्रकर्पः प्राह चित्तेऽसौ, विस्मयो मम जृम्भते ॥६७०॥

यदाऽहं नायकान् प्रेक्षे, कीर्त्यमानेपु राजसु । परिवारं न पश्यामि, तदा भानीव वासरे ॥६७१॥

परिवारं यदा प्रेक्षे, न तदा नायकानहम् । विततक्षोऽपि पश्यामि, यामिन्यामिव भास्करम् ॥६७२॥ त्रिभिर्विशेपकम् ।

सामान्य विशेपौ

---

१ –नृपचलैश्च रा. ज्ञा. की. मु. । २ दीप्ति– रा. ज्ञा. की. मु. ।

परिवारयुता प्रोक्ता, नायका भवता पुनः। दृष्टेष्टार्थविसंवादस्तदयं बाधते मम ॥६७३॥
विमर्शः प्राह किं चित्रं, स्वभावावगताविह। नैकदोभयवेत्ता यत्, स्वभावादेव कश्चन ॥६७४॥
सामान्यरूपा राजानस्तद्विशेषाः परिच्छदाः। क्रमिकज्ञानवेद्यत्वं, तेषां च प्रकृतिर्मता ॥६७५॥
देशकालस्वभावैश्च, भेदोऽप्येषां न विद्यते। धवाद्या न तरोर्भिन्ना, धवादिभ्यस्तरुर्न च ॥६७६॥
केवलं यौगपद्येन, न सामान्यविशेषयोः। दृष्टिर्नतावता दृष्टिरुपयोगे क्रमेक्षणात् ॥६७७॥
तरुरेवेक्ष्यते दूराल्लक्ष्यन्ते न धवादयः। सन्निधौ तेऽपि दृश्यन्ते, दृश्यते न तरुः पृथक् ॥६७८॥
तथापि तद् द्वयं दृष्टं, कालभेदेन कीर्त्यते। एकोपयोगदृष्टत्वाद्, घटरूपादिवद् बुधैः ॥६७९॥
स्वभावाद्यैरभेदेऽपि, न सामान्यविशेषयोः। संख्यादिभिः कृतो भेदव्यवहारोऽपि दुष्यति ॥६८०॥
सङ्ख्ययैकस्तरुर्जात्या, भूयांसः खदिरादयः। संज्ञाऽपि तरुरित्येका, भेदिन्यश्च धवादिकाः ॥६८१॥
अनुवृत्तिस्तरोस्तेषु, लक्षणं वीक्ष्यते पृथक्। धवाश्वत्थादिभेदानां, व्यावृत्तिश्च परस्परम् ॥६८२॥
कार्यं च तरुमात्रस्य, छायाद्यं पृथगेव हि। विशिष्टफलपुष्पादि, चूतादेरन्यदेव च ॥६८३॥
व्यवहारोऽपि सामान्ये, श्रुतस्कन्धेऽन्य एव हि। अन्य एव च दृष्टस्त-द्भेदेष्वध्ययनादिषु ॥६८४॥
तस्माद्भेदं पुरस्कृत्य, मया प्रोक्ताः पृथक् पृथक्। राजानः परिवाराश्च, न भिन्नास्तत्त्वतस्तु ते ॥६८५॥
अंशांशिनोः पृथग् वृत्तिर्भिन्नाऽभिन्ने च वस्तुनि। अवग्रहादेर्जिज्ञासावशाद्वा विस्मयोऽत्र कः ॥६८६॥

प्रकर्षः प्राह नष्टेयं, शङ्का मे मातुलाधुना। एतज्जैत्राः परं सन्ति, नेति वा संशयोऽस्ति मे ॥६८७॥
विमर्शोऽथाब्रवीदेतद्वीर्यनिर्मूलनोद्यताः। सन्त्येव बहिरङ्गेषु, देशेषु किलाः परम् ॥६८८॥
धृतात्मध्यानकवचा, येऽप्रमादपराः सदा। गुप्ताः समाधिमन्त्रेण, मोहादीनां वशा न ते ॥६८९॥
दुःखो दुःखानुबन्धोऽयं, दुस्तरो भववारिधिः। राधावेधोपमं लोके, मानुष्यमतिदुर्लभम् ॥६९०॥
तरङ्गतरला लक्ष्मीरायुर्वायुवदस्थिरम्। भोगाः स्वप्नार्थवच्छून्या, वपुर्भङ्गुरमभ्रवत् ॥६९१॥
मृत्युश्छायेव पृष्ठस्थो, जरा शिरसि तिष्ठति। तत्कोऽयं साध्वसस्थाने, देहिनां सुखसंभ्रमः ॥६९२॥
सृष्टिर्वैकल्पिकी ह्येषा, दृष्टनष्टेन्द्रजालवत्। स्वर्णधीरिह मृत्स्नायां, स्यान्मिथ्यात्वहतात्मनाम् ॥६९३॥
विकल्पचषकैरात्मा, पीतमोहासवो ह्ययम्। भवोच्चतालमुत्तालप्रपञ्चमधितिष्ठति ॥६९४॥
साक्षीभूय स्थितस्यैव, पश्यतो भवनाटकम्। स्वभावसुखसंवित्तिः, कर्तृभावे तु संगरः ॥६९५॥
परभावास्ततस्त्याज्या, ग्राह्याः स्वाभाविका गुणाः। स्वभावसुखमग्नस्य, संसारः किं करिष्यति ॥६९६॥
इत्याद्यनेकसद्भावभावनाभावितात्मसु। न मोहः सपरीवारः, क्षोभायाद्रिष्विवानिलः ॥६९७॥
चर्मावनद्धविण्मूत्रपिठरीसन्निभाः स्त्रियः। येषां भान्ति स्वरूपेण, तेषां कामः क्व बाधकः ॥६९८॥
शरीरं यैर्विनिर्णीतमशुच्यशुचिसम्भवम्। न जुगुप्सा न वा शौचाग्रहस्तेषां महात्मनाम् ॥६९९॥

मोहादिविजेतारः उपमितौ २८१।

मोहादिनाम बाधकत्वम्

१ मत्युच्छायो डे. ला. की. मु.। २ -वानल. डे. ला. की. मु.।

तदेव शौचं तैर्ज्ञातं यद्भूतानुपघातकम् । नान्तरं हि मलं वारि, क्षालयत्युच्यते यतः ॥७००॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं, तीर्थस्नानैर्न शुद्ध्यति । शतशोऽपि हि तद्धौतं, सुराभाण्डमिवाशुचि ॥७०१॥ युग्मम् ॥
जलशौचमनिन्द्यं हि, क्वचिद् देवादिपूजने । कस्यचिद् भक्तिहेतुत्वान्मोहस्तत्राग्रहः परम् ॥७०२॥
आद्रियन्ते हि ते भावशौचं भावस्तवोद्यताः । मन्यन्ते द्रव्यपूजाङ्गं, द्रव्यशौचं तु गेहिनाम् ॥७०३॥
तेषां नार्तिकरौ ज्ञानदर्शनावरणौ नृपौ । सर्वज्ञसमयाभ्यासवासनालुप्तपाप्मनाम् ॥७०४॥
सर्वथैव निरीहाणां, धीराणां धर्मदायिनाम् । वक्रीकर्तुं न रोमापि, तेषां विघ्ननृपः क्षमः ॥७०५॥
तेषां भूपाः शुभाय स्युश्चत्वारः सप्तमध्यगाः । समुद्रा इव मेघानामन्येषां भीतिदा अपि ॥७०६॥
दुःखोत्पत्तिः कुतस्तेषां, निर्द्वन्द्वसुखशालिनाम् । अतिस्तोकाः परं तेऽत्र, तेनेदं गीयते जनैः ॥७०७॥
"शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे । साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने" ॥७०८॥ युग्मम् ॥
प्रकर्षः प्राह तिष्ठन्ति, देहिनो मातुल ! क्व ते । विमर्शः प्राह तैर्भाव्यं, भवचक्राभिधे पुरे ॥७०९॥
अवान्तरपुरैर्नैकैः, पाटकैश्च तदन्वितम् । असंख्या जातयस्तत्र, तत् तेषामपि सम्भवः ॥७१०॥
प्रकर्षः प्राह किं बाह्यमान्तरं वा तदिष्यते । विमर्शः प्राह तज्जात्यन्तरमेकाविवेचनात् ॥७११॥
बहिरङ्गा जनास्तत्र, सन्ति संख्यातिगा यथा । अन्तरङ्गास्तथैतेऽपि, सर्वे सन्ति महाभटाः ॥७१२॥
सन्तोषः श्रूयते तत्र, यतोऽमीषां महारिपुः । नगरं तदतोऽमीभिरनुविद्धं जिगीषुभिः ॥७१३॥

स्थितिरत्र सतां तेषां, कथं तत्रेति संशयः। योगशक्त्या समाधानादनुत्थानहतोऽस्तु ते ॥७१४॥
तस्मादुभयरूपं तन्नगरं प्रतिपद्यताम्। शर्वरीवासराभिन्नसन्ध्यासदृशलक्षणम् ॥७१५॥
प्रकर्षः प्राह यद्येवं, द्रष्टव्यं तत्पुरं तदा। गच्छावस्तत्र नगरे, कौतुकं महदत्र मे ॥७१६॥
विमर्शः प्राह विषयाभिलाषस्यैव दर्शनात्। अस्माकमीहितं सिद्धं, रसनामूलनिश्चयात् ॥७१७॥
राजशासननिर्वाहात् तद् गन्तुं स्वाश्रयेऽधुना। युक्तमन्यत्र गमनं भाति नातिप्रयोजनम् ॥७१८॥
प्रकर्षः प्राह शिष्टानां, दर्शनादधिकं दृशोः। जन्मनो न फलं मन्ये, तत्र गन्तव्यमेव तत् ॥७१९॥
न ते मातुल! योग्योऽहमेतद्दर्शनवञ्चने। चकोराणां सुधापानं, न कारयति किं विधुः ॥७२०॥
संवत्सरावधिर्दत्तो, नाधुनाऽत्येति चावयोः। ऋतुद्वयमतिक्रान्तं शिशिरस्तत्र जृम्भते ॥७२१॥ तथाहि–

शिशिर-वर्णनम्।

स्फूर्जत्प्रियङ्गुलतिकाकलितं प्रफुल्ल–कुन्दद्रुमं वनमिदं नभसो बिभर्ति।
शोभां दिनात्ययविवृद्धनिशाविलास–विस्तारिचारुरुचितारकमण्डलस्य ॥७२२॥
शिशिरममलपुष्पैर्मण्डनैः क्लृप्तशोभा, स्वदयितमभिसर्तुं विस्फुरत्पत्त्रवल्लिः।
स्फुटतिलकविलासा रोध्रराजीविकासात्, कलयति रतिहासं हर्षपूर्णा वनश्रीः ॥७२३॥
निमुद्रिता श्रीर्मधुपप्रसङ्गात्, सरोरुहाणां द्विजनायकेन। तत्प्रत्यवायप्रलयाय तानि, हिमोच्चये सम्प्रति किं म्रियन्ते ॥७२४॥
ऊष्मणः कुचतटी पदमेकं, विद्यते हिमहतस्य वधूनाम्। भोगिनस्त्वरयति स्मरविद्धां–स्तद्रहस्यविदतः खलु तत्र ॥७२५॥

वेतालेन हिमेन पङ्कजवनं लोलूयते सर्वतः, पान्थः शीतनिपीडितः प्रियतमाध्यानेन दोदूयते ।
हृद्देशार्पितजानुदुर्गतकुलं रात्रौ च रोरूयते, संश्लिष्टाङ्गनिलीनवक्त्रकुहरः कोकूयते जम्बुकः ॥७२६॥
वर्तते लङ्घितप्रायः, साम्प्रतं शिशिरो ह्ययम् । ततः षण्मासशेषेऽपि, किमुत्ताम्यति मातुलः ॥७२७॥
ततस्तदाग्रहं ज्ञात्वा, विमर्शो गन्तुमुद्यतः । गच्छतस्तत्पुरं शीघ्रं, तुष्टौ स्वस्रीयमातुलौ ॥७२८॥
गच्छन्नाह प्रकर्षोऽथ, मार्गश्रान्तिनिवृत्तये । मातुल ! श्रूयते लोके, यः कर्मपरिणामराट् ॥७२९॥
चक्रवर्ती प्रतापोग्रस्तदाज्ञां मोहभूपतिः । किमेष कुरुते किं वा, नेत्यस्ति मम संशयः ॥७३०॥
विमर्शः प्राह नैवास्ति, भद्र ! भेदो मिथोऽनयोः । स हि ज्येष्ठः कनिष्ठोऽयं, भ्राताऽटव्यां स्थितः पुनः ॥७३१॥
चरटो हि महामोहो, भूपा येऽस्य पदातयः । ते तस्यापि हि विज्ञेयं, समचित्तानुयायिनः ॥७३२॥
कार्याण्यसुन्दराण्येव, महामोहः करोति हि । प्रकृत्याऽन्यश्च निर्माति, सुन्दराणीतराणि च ॥७३३॥
विजिगीषुरयं भूपः, स राजा नाटकप्रियः । सेवन्तेऽमुं महामोहमतो धीरा रणे नृपाः ॥७३४॥
स कर्मपरिणामाख्यो, भ्राताऽस्यापि महत्तमः । कुर्वन्त्यतस्तदग्रेऽपि, नाटकं ते प्रसत्तये ॥७३५॥
महामोहादिकैः सर्वैर्भूपालैर्भवनाटके । तैस्तत्र हेतुतां प्राप्तैः, सपत्नीकः स तुष्यति ॥७३६॥
आन्तरङ्गेषु सर्वेषु, निर्वृतिं नगरीं विना । नगरेषु स हि स्वामी, बहिरङ्गेषु भावतः ॥७३७॥
महामोहस्त्वयं स्वामी, त्वदृष्टानां महीभुजाम् । तदादेशेन यत्किञ्चिद् , धनमर्जयति स्वयम् ॥७३८॥

निःशेषं नतमौलिस्तत्, तस्यार्पयति भक्तिमान्। स सुन्दरेतरार्थेषु, कुरुते तन्नियोजनम् ॥७३९॥
अयं हि विग्रहारूढः, स तु भोगपरो नृपः। भटभुक्त्या पुरा दृष्टं, दत्तमस्य पुरद्वयम् ॥७४०॥
अतः पुरद्वये तत्र, सैन्यमस्त्यस्य भक्तिमत्। चित्तवृत्तिमहाटव्यामपि विग्रहतत्परम् ॥७४१॥
प्रकर्षः प्राह किं राज्यं, क्रमाभ्यागतमेतयोः। किंवाऽन्यदीयमेवेदं, गृहीतं बलवत्तया ॥७४२॥
विमर्शः प्राह वत्सेदं, न क्रमागतमेतयोः। परकीयं परं राज्यं, प्रसह्याभ्यां वशीकृतम् ॥७४३॥
सकर्मकस्य जीवस्य, संसारीत्यभिधाभृतः। स्वीकृताऽऽभ्यां स्ववीर्येण, चित्तवृत्तिमहाटवी ॥७४४॥
प्रकर्षः प्राह तद्राज्यग्रहे कालः कियानभूत्। विमर्शः प्राह नैवादिं, जाने नान्येऽपि जानते ॥७४५॥
परमार्थस्त्वयं वत्स, कथ्यते तव सांप्रतम्। स कर्मपरिणामाख्यो, गरिष्ठो विष्टराधिपः ॥७४६॥
अयं पुनर्महामोहस्तस्यादेशविधायकः। तन्नियुक्तभटासेव्यस्तत्कोशस्य च वृद्धिकृत् ॥७४७॥
ईदृशानल्पसञ्जल्पकल्पनेनालिपतश्रमौ। तावतीत्य गतौ मार्गं, भवचक्राभिधं पुरम् ॥७४८॥
इतश्च शिशिरोऽतीतो, वनकौमारसन्निभः। तत्तारुण्यदशातुल्यो, जजृम्भे मधुरुद्धतः ॥७४९॥

वसन्त-वर्णनम्।

लताकरैर्नृत्यमिव प्रकुर्वन्, कृतान्तकाष्ठागतवातधूतैः। दृष्टः स ताभ्यामथ काननेषु, मत्तालिरावैरिव चारु गायन् ॥७५०॥
हसन्निवोद्यत्कुसुमाट्टहासैः, पठन् शुकानामिव जल्पितेन। रज्यन्निवाशोकलताविलासै-र्नमन्निवालोलतरूत्तमाङ्गैः ॥७५१॥
वपुर्भृतां शापमिव प्रयच्छन्, मत्तद्रुताम्राक्षकुहूरवेण। विलोलचूतद्रुममञ्जरीभि-राकारयन् विश्वमिवाङ्गुलीभिः ॥७५२॥

रुदन्निव प्रच्युतसिन्दुवार-पुष्पालिदम्भाद्गलिताश्रुधारम् । क्रन्दन्निव च्छन्ननिकुञ्जगुञ्ज-त्कपोतहुङ्कारपरंपराभिः ॥७५३॥
रजोऽभिवर्षन्निव विप्रकीर्णा-मोदैः प्रियालद्रुममञ्जरीणाम् । प्रदर्शयन् वह्निमिव ज्वलन्तं, समुल्लसत्किंशुककैतवेन ॥७५४॥
धावन्निवोन्मत्तमृगव्रजाणा-मुत्प्लुत्य यातैर्ललनान्वितानाम् । दिवाऽभिवल्गन्निव माधवीनां, परागहस्तैर्विततैरुदस्तैः ॥७५५॥
बद्धाञ्जलिः कोरकितैर्द्रुमौघै-र्लताप्रतिक्षिप्तमिलिन्दद्दष्टिः । उदीतनव्याङ्कुरकण्टकश्री-र्मूर्छां गतः पञ्चममूर्छनाभिः ॥७५६॥
तैस्तैर्विलासैरनवग्रहोऽपि, नवग्रहावेशविकारदर्शी । अपत्रपः सद्दलरक्षकोऽपि, कृतोदयोऽप्युत्कलिकालसत्त्वः ॥७५७॥

अष्टभिः कुलकम् ॥

ततो विमर्शोऽन्ववदत् प्रकर्षं, काले तवेच्छा भवचक्रदृष्टेः । अस्याधुना सुन्दरता हि गुर्वी, पीयूषरश्मेरिव पूर्णिमायाम् ॥७५८॥
धावन्ति लोका बकुलद्रुमेषु, कुर्वन्ति लीलां सितमाधवीषु । लुभ्यन्ति पश्यारुणपल्लवेषु, न यान्ति तृप्तिं सहकारवृक्षे ॥७५९॥
लताः सुभुक्ता मधुपैरतुच्छ-गुच्छश्रियः पाटलपल्लवाग्राः । इमाः स्वतुल्याः कुलटाः श्रयन्ति, लसत्कराः पीनकुचाभिरामाः ॥
समुद्यतानां कुसुमोच्चयाय, स्त्रीणां कुचस्पर्शमवाप्य मत्ताः । स्वेदं सुमौघैर्मरुता च कम्पं, किं सात्त्विकं न स्फुटयन्ति वृक्षाः ॥
पश्यैष चित्तेषु वियोगिनीनां, द्विजोऽग्निहोत्राय पिकः प्रवृत्तः । पाठः श्रुतेरस्य निशम्यतेऽसौ, नादो नु साक्षीकृतकामदेवः ॥
उच्चैःस्थितं लातुमपारयन्तीं, प्रियां प्रियोऽत्र स्तनभारनम्राम् । दत्ते लतापुष्पमुदीतमोहो, मुहुर्मुहुश्चुम्बननिष्क्रयेण ॥७६३॥
लतानिकुञ्जेषु लसन्ति यूनां, बन्धैर्विचित्रैरिह मैथुनानि । तैरेव पुष्पैः स्मरमल्लयुद्धा-वलोकनानन्दिभिरर्चितानि ॥७६४॥

१ -ता प्रति-डे. ज्ञा । २ उच्चस्थितं डे. ज्ञा. की. मु. ।

कान्तारदेशाः कुसुमोच्चयेच्छु–कान्तापदालक्तकरक्तभासः । संक्रान्तमन्तः कुसुमेषु रागं, बलादमान्तं बहिरुद्गिरन्ति ॥७६५॥
निरीक्ष्य दोलासु विलोलनेत्रा, विस्तारिहाराः परिवर्तमानाः । स्मरोऽपि भूयोलयघूर्णमान–भोगीन्द्रभृच्छम्भुधिया बिभेति ॥७६६॥
सुवासितं सन्मणिभाजनस्थं, जना घनाम्भोरुहसौरभेण । प्रियाधरास्वादसुधानवद्यं, पिबन्ति हृद्याम्रवनेषु मद्यम् ॥७६७॥
गायन्ति गीतानि हसन्ति मत्ता–श्चुम्बन्ति कान्तावदनाम्बुजानि । वदन्ति गुह्यानि सहस्तताल–मापानके के न सुरामदेन ॥७६८॥
चित्तादिनाकृष्य सुरामदेन, नेत्रेषु रागो निहितः प्रियाणाम् । चकास्ति विस्तारितदीप्तिरुच्चै–रम्भोधिमध्योद्धृतरत्नबन्धुः ॥७६९॥
विघूर्णमानानि मुखानि मद्या–न्मृगेक्षणानामधुनाऽरुणानि । नवार्ककान्तिच्छुरितोर्मिनृत्य–त्सरोजलक्ष्मीं प्रविडम्बयन्ति ॥७७०॥

वदत्येव विमर्शेऽदो, मधुलीलादिदृक्षया । नगरान्निर्गतो राजा, पौरराजकसेवितः ॥७७१॥
स निमर्शप्रकर्षाभ्यां, दृष्टोऽब्धिरिव फेनवान् । सितातपत्रस्फीतश्रीर्वज्रीव विबुधाश्रितः ॥७७२॥
उद्यानमथ संप्राप्तो, रेजे राजकमध्यगः । शङ्खेषु दक्षिणावर्त, इव विस्तृतदीधितिः ॥७७३॥
मृदङ्गाः प्रहतास्तूर्णं, वादिता वेणवस्तदा । ययौ तालरवो वृद्धिं, प्रवृत्ता जनकेलयः ॥७७४॥
केचिन्नृत्यन्ति वल्गन्ति, केऽपि धावन्ति केचन । केचित् कलकलायन्ते, हसन्त्यपि च केचन ॥७७५॥
केचिद् गायन्ति गीतानि, केऽप्युत्कृष्टीर्वितन्वते । शृङ्गैः सिञ्चन्ति सौवर्णैः, केऽपि कश्मीरजद्रवैः ॥७७६॥ युग्मम् ॥
विलासमीदृशं प्रेक्ष्य, विमर्शेनेति चिन्तितम् । अहो काऽपि महामोहशक्तिर्विश्वप्रमाथिनी ॥७७७॥

---

१ कुसुमोच्चयेषु की. मु.।

अहो सर्वंकषं वीर्यं, रागकेसरिभूपतेः । अहो प्रतापो विषयाभिलाषस्य प्रसृत्वरः ॥७७८॥
अहो कामस्य वामत्वमहो रतिविजृम्भितम् । अहो हासभटोल्लासो, विभ्रमः कोऽप्यहो दृढः ॥७७९॥
अहो अदीर्घदर्शित्वमहो विक्षिप्तचित्तता । अहो तृष्णानिमग्नत्वमहो श्रोतोऽनुगामिता ॥७८०॥
ततः प्रकर्षो जगदे, पश्यंस्तत् तेन चेष्टितम् । भद्र ! तेऽमी जना बाह्या, ये मोहादिवशाः स्मृताः ॥७८१॥
प्रकर्षः प्राह चेष्टन्ते, कस्यैवं धामतो जनाः । विमर्शः प्राह यो दृष्टो, महाविष्टरसंस्थितः ॥७८२॥
तृष्णाख्यायां वेदिकायां, भूपतिर्मकरध्वजः । तस्य प्रियवयस्योऽयं, वसन्तः शिशिरात्यये ॥७८३॥
गतस्तदन्तिके कालपरिणत्येकसेवकः । आज्ञारहस्यं तस्मै च, स्वामिन्यास्तेन भाषितम् ॥७८४॥
गन्तव्यं भवचक्रे मे, मानवावासपत्तने । वियोगभीरुस्तदहं, दर्शनाय[1] तवागतः ॥७८५॥
मकरध्वजभूपोऽथ, प्राह किं न स्मरस्यदः । वर्षेऽतीते मया तत्र, सहैव विलसिष्यसि ॥७८६॥
गन्तुं दत्ते पुरे तत्र, स्वामिन्याज्ञां यदा तव । महामोहनृपो दत्ते, ममाप्याज्ञां तदा ध्रुवम् ॥७८७॥
वियोगभीर्न तत्कार्या, गन्तव्यं भवताऽधुना । अहमप्यनुगच्छामि, त्वामादेशान्महीपतेः ॥७८८॥
ततः पुरे वसन्तोऽत्र, समायातो विलासवान् । अन्वागतश्च मन्त्र्यादीन् , विज्ञप्य मकरध्वजः[2] ॥७८९॥
महामोहेन तद्राज्यं, प्रदत्तं तस्य चाखिलम् । दत्ताश्चान्येऽपि भूपालास्तस्य निर्देशवर्तिनः ॥७९०॥

१ दर्शयामि रा. ज्ञा. । २ मकरध्वजम् रा. ज्ञा. पा. ज्ञा. ।

वसन्त-मकरध्वज-योः मैत्री ।

मकरध्वज-
प्रभावः

महत्त्वं स्वयमप्यस्य प्रतिपन्नं स्थितिर्हि सा । तथैवानुकृतं रागकेसरिप्रमुखैरपि ॥७९१॥
महामोहनरेन्द्रेणैनं, सेवन्ते तं महाभटाः । लोलाक्षो मानवावासे, योऽप्ययं बाह्यभूपतिः ॥७९२॥
सोऽपि वीर्येण निर्जित्यानेन निःसारितो बहिः । न च तज्जितमात्मानं, मायामूढः स मन्यते ॥७९३॥
भूयांसो येऽप्यमी लोकाश्चेष्टन्तेऽनेन निर्जिताः । नात्मानं तेऽपि जानन्ति, तादृशं पेतिताश्छले ॥७९४॥
ततो व्यतिकरादस्मान्मकरध्वजधामतः । एवं लोका विचेष्टन्ते, वसन्तोन्मादसादराः ॥७९५॥
प्रकर्षः प्राह कुत्रासौ, वर्तते मकरध्वजः । विमर्शः प्राह नन्वेष, सन्निधौ नाटयत्यमून् ॥७९६॥
प्रकर्षेण ततः प्रोक्तं, कुतोऽसौ नोपलभ्यते । विमर्शः प्राह दृश्यन्ते, नान्तराश्चर्मचक्षुषा ॥७९७॥
यदि तद्दर्शनाकाङ्क्षा, बाधते तव मानसम् । गृहाण विमलालोकं, तन्मदीयं दृगञ्जनम् ॥७९८॥
दीयतां तदिति व्यक्तं, वदतोऽस्य दृशोर्युगम् । अञ्जितं तेन विमलालोकेनामलतेजसा ॥७९९॥
करामलकवत् तेन, दृष्टस्तस्य प्रभावतः । हृदयेषु मनुष्याणां, ससैन्यो मकरध्वजः ॥८००॥
सहर्षेण प्रकर्षेण, ततः प्रोक्तं मयाऽपि हि । कृतराज्याभिषेकोऽयं, दृश्यते मकरध्वजः ॥८०१॥
एष सिंहासनस्थोऽपि, विध्यत्येतान् शिलीमुखैः । जनांस्तान् क्रन्दतो दृष्ट्वा, करतालं ददात्यसौ ॥८०२॥
मुहूर्तं मुहूर्तं देव, त्वयेति स्फुटभाषिणः । उल्लासं वर्धयन्त्यस्य, किङ्कराः पुरतः स्थिताः ॥८०३॥

१ पातिता डे. ता । २ अन्तरे भवा आन्तरा अभ्यन्तरवर्तिनः ।

केवलं मातुलाभ्यर्णे सम्प्रत्यस्याखिला अपि । विलोक्यन्ते सपत्नीका, महामोहादयो भटाः ॥८०४॥
दृश्यन्ते नारतिद्वेषगजेन्द्राद्याः कथं पुनः । विमर्शः प्राह तेऽप्यत्र, सन्त्येव हि तिरोहिताः ॥८०५॥
अपेक्षन्ते परं सेवाऽवसरं निभृताशयाः । राज्येऽस्य यावदाभाव्यं, प्रगल्भन्ते महाभटाः ॥८०६॥
लोलाक्षो यज्जितोऽनेन । मन्यतेऽस्यैव बन्धुताम् । महामोहाधिकारोऽयं, हृष्यन्त्येते जनास्तु यत् ॥८०७॥
वल्गन्ति च तदाभाव्यं, रागकेसरिभूपतेः । यच्च लुभ्यन्ति विषयाभिलाषस्य तदूर्जितम् ॥८०८॥
हासस्यैवाधिकारोऽयं, दीर्घहासैर्हसन्ति यत् । अभ्यूह्यश्चैवमन्येषां, व्यापारो नियतः पृथग् ॥८०९॥
भुञ्जते यत्पुनर्भोगान् , चुम्बन्त्येते प्रियाननम् । कुचोपपीडं दयितामालिङ्गति प्रमोदतः ॥८१०॥
एतज्जातीयकार्येषु, भूपतिर्मकरध्वजः । स्वयं व्याप्रीयतेऽन्यस्य, नियोगं न ददाति च ॥८११॥
तदेवमत्र विद्यन्तेऽरतिद्वेषादयोऽप्यहो । स्वनियोगानवसरान्नाविर्भावं तु बिभ्रति ॥८१२॥
प्रकर्षः प्राह हृद्वृत्तौ, तत्किं शून्यः स मण्डपः । विमर्शः प्राह नह्येवं, यदमी कामरूपिणः ॥८१३॥
एतैः पूर्णं तदास्थानं, तदत्राभ्यागतैरपि । आकल्पस्थायि तद्राज्यमिदमित्वरकालिकम् ॥८१४॥
चिरन्तनस्थितेरेवाभिषिच्य मकरध्वजम् । राज्ये भृत्यं महामोहः, स्थितः सम्प्रति भृत्यवत् ॥८१५॥
अत्रस्थैरपि मोहाद्यैरशून्यो मोहमण्डपः । रवेर्यद्वा द्योतयन्त्येव, स्पृशन्तोऽपि भुवं कराः ॥८१६॥
अत्रान्तरे स लोलाक्षः, प्रविष्टश्चण्डिकागृहे । सम्पूज्य तां सुरां पातुमुपविष्टः पुरःस्थले ॥८१७॥

मद्यपायिना
चेष्टां

त्रद्धमापानकं तत्र, भाजनेषु धृताः सुराः । अर्पिताः स्वर्णचषकाः, पीयते मद्यमुद्धतैः ॥८१८॥
गीयते सरसं गीतं, कराब्जैरभिनीयते । विधीयते प्रियतमाधरबिम्बानुचुम्बनम् ॥८१९॥
भीतयेव ह्रियोन्मादाच्च्युतवस्त्रेषु लीयते । साराद् गाम्भीर्यपिण्डेन तापादिव विलीयते ॥८२०॥
क्षीयते न विवेकेन, व्यात्तवक्त्रेक्षणाद् भिया । मदेन वनितालोकसंमदेनोपचीयते ॥८२१॥
लोलाक्षस्य लघुभ्राता, सोन्मादो रिपुकम्पनः । प्राणप्रियामथ रतिललितां स्वामनर्त्तयत् ॥८२२॥
तां नृत्यन्तीं प्रतापाग्नेर्ज्वालामिव मनोभुवः । संक्षोभं प्राप लोलाक्षः, संप्रेक्ष्य विततत्त्रपम् ॥८२३॥
गाढमध्युपपन्नोऽसौ, तस्यां स्थातुं शशाक न । निश्चेष्टं मदिरोन्मादादापानकमथाजनि ॥८२४॥
सर्वे प्रलुठिता लोकाः, प्रवृत्ताश्छर्दयो मुहुः । आगताः सारमेयाश्च, काकाश्चाशुचिकर्दमे ॥८२५॥
लोलाक्षोऽथ सुरोन्मादात् , प्रसुप्ते रिपुकम्पने । ग्रहीतुमैहत रतिललितां स्मरपीडितः ॥८२६॥
दृष्ट्वा प्रसारितौ बाहू, तेनोत्फणफणिप्रभौ । भयध्वस्तसुरोन्मादा, प्रवृत्ता सा पलायितुम् ॥८२७॥
लोलाक्षेण गृहीता च, वन्येभेनेव हस्तिनी । विमोच्य तत्करं तेन, धावन्ती सा पुनर्धृता ॥८२८॥
पुनर्विमोच्य साऽऽत्मानं, प्रविष्टा चण्डिकागृहे । अथ प्रादुरभूद् द्वेपगजेन्द्रो राजशासनात् ॥८२९॥
स्वडिम्भरूपैः सहितः, प्रकर्षेण निरैक्षि सः । विमर्शः प्राह वत्सास्य, साम्प्रतं पश्य चेष्टितम् ॥८३०॥
ततो द्वेपगजेन्द्रेण, लोलाक्षः समधिष्ठितः । दध्यौ खड्गेन हन्म्येनां, या मां त्यक्त्वा पलायिता ॥८३१॥

मकरध्वज-
प्रभावः

द्वेपगजेन्द्र-
स्य प्रादु-
र्भावः ।

प्रविष्टः खड्गमुद्यम्य, चण्डिकायतनेऽथ सः । चण्डिका तेन तद्बुद्ध्या, मदान्धेन विदारिता ॥८३२॥
बहिर्निरीयाथ रतिललिता कृतपूत्कृतिः । तां वार्तां कथयामास, विबोध्य रिपुकम्पनम् ॥८३३॥
तेनापि द्वेषनागेन्द्राधिष्ठितेन प्रियागिरा । सतिरस्कारमाहूतो, लोलाक्षो दुष्टचेष्टितः ॥७३४॥
जातः कोलाहलो भूयान् , सन्नद्धं निखिलं बलम् । अयुद्ध्यन्तान्धयुद्धेन, सुरोन्मत्ता मिथो भटाः ॥८३५॥
द्विपैर्द्विपा हयास्तार्क्ष्यैरुष्ट्रैरुष्ट्राः खराः खरैः । चूर्णिताः शतशस्तत्र, कातरैरपि कातराः ॥८३६॥
अकाण्डबहुसंमर्दोत्थितशोणितधारया । तदा बभूव मद्येन । तर्पिता चण्डिकेव भूः ॥८३७॥
लग्नौ द्वौ खड्गयुद्धेन, लोलाक्षरिपुकम्पनौ । जघानाथ महाक्रोधाल्लोलाक्षं रिपुकम्पनः ॥८३८॥
विमर्शश्च प्रकर्षश्च, दृष्ट्वा तं घोरविप्लवम् । प्रविष्टौ नगरे तत्र, स्थितौ स्थाने भयोज्झिते ॥८३९॥
विमर्शः प्राह वत्सेदं, दृष्टं द्वेषविजृम्भितम् । ध्रुवं पर्यवसानं स्यादीदृशं मद्यपायिनाम् ॥८४०॥
मद्यं मूलमवद्यानां, मद्यं पुण्यद्रुमानलः । मद्यं सद्गुणपुष्पाणां, म्लानावातपसंज्वरः ॥८४१॥
मद्यं च पारदार्यं च यो न त्यजति दुर्मतिः । स लोलाक्ष इव क्षीवः, क्षयं याति न संशयः ॥८४२॥
प्रकर्षः प्राह वाक्यं ते, प्रमाणं नात्र संशयः । तयोः सुखं विचरतोर्गताः केऽप्यथ वासराः ॥८४३॥
दृष्टस्ताभ्यां नृपावाससमीपे पुरुषोऽन्यदा । प्रकर्षोऽथावदन्मिथ्याभिमानो ह्येष मातुल ! ॥८४४॥
इहागतः कुतो हेतोः, पुराद् राजसचित्ततः । विमर्शोऽवददाहूतो, महामोहेन खल्वयम् ॥८४५॥

मिथ्याभि-
मानस्या-
गमनम्

रिपुकम्पन-गृहे पुत्र-जन्मोत्सवः

मकरध्वजराज्यस्य, शोभाहेतोः प्रसेदुषा । साम्प्रतं यात्युपरिपुकम्पनावासमेष च ॥८४६॥
अयं राज्येऽभिषिक्तोऽस्ति, लोलाक्षे निहतेऽधुना । प्रेषितः स्वामिना मिथ्याभिमानोऽप्यस्य सद्मनि ॥८४७॥
प्रकर्षः प्राह तद्गेहं, प्रदर्शय ममापि तत् । स्वीचकार विमर्शोऽपि, प्रविष्टौ द्वौ नृपालये ॥८४८॥
इतश्च तस्यास्ति मतिकलिताख्या परा प्रिया । सा तस्मिन्नेव समये, सुतं सूता सुलक्षणम् ॥८४९॥
जातमात्रे सुते तत्र, प्रोन्निद्रमिव पङ्कजम् । खमिवार्कहतध्वान्तं, तद्राजभवनं बभौ ॥८५०॥
रचिता मणिदीपौघा, धृता मङ्गलदर्पणाः । भूतिरक्षाविधिश्चक्रे, सिद्धार्थैर्भूषिता च भूः ॥८५१॥
प्रियं वक्तुं महीशस्य, सुतजन्ममहोत्सवम् । वक्षोजभारनम्राऽपि, ययौ वेगात् प्रियंवदा ॥८५२॥
निवेदिते तया राजा । प्रणयी पुत्रजन्मनि । हर्षाङ्कुरैरिवाकीर्णं, वपुरुत्पुलकं दधौ ॥८५३॥
आयातोऽत्रान्तरे मिथ्याभिमानस्तस्य संनिधौ, दध्यावधिष्ठितस्तेन, हृदीत्थं रिपुकम्पनः ॥८५४॥
अहो जातः कृतार्थोऽहं, प्राप्तो वंशो ममोन्नतिम् । प्रसन्ना देवता मह्यं, मया लब्धं जनुःफलम् ॥८५५॥
हारकुण्डलकेयूरकटकादि ददौ ततः [2]निवेदिकायै दीनारलक्षं चासौ प्रमोदभाक् ॥८५६॥
समुल्लसितगात्रेण, प्रेमगद्गदभाषिणा । कारितो विपुलस्तेन, सुतजन्ममहोत्सवः ॥८५७॥
प्रवृद्धे हर्षपाथोधौ, सुतेन्दूल्लासतस्ततः । धीरो वीचिध्वनिरिवोत्थितस्तूर्यध्वनिः क्षणात् ॥८५८॥

१ भूमिरक्षा–रा. शा. । २ निवेदितायै रा. शा. ।

कश्मीरजन्मकस्तूरीसम्मर्दकृतकर्दमम् । लसदंशुमणिव्रातविडम्बितरविप्रभम् ॥८५९॥
हसत्कञ्चुकिकं नृत्यत्कुब्जवामनशोभनम् । त्रुटद्धारलताकीर्णं, दीयमानधनोन्मदम् ॥८६०॥
विलासिनीकृतोल्लासं, रम्यं वेषोद्भटैर्भटैः । बहुरूपमिवामोदाज्जातं तद्राजमन्दिरम् ॥८६१॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥
तदा भृत्यगणे नृत्यं, प्रमोदेन वितन्वति । ननर्त स्वयमप्युच्चैः प्रीत्या भूपतिरुद्भुजः ॥८६२॥
दृष्ट्वाऽपृच्छत् प्रकर्षस्तन्मातुलं जातकौतुकः । किमितीमे रटन्त्युच्चैर्विस्फारितमुखा जनाः ॥८६३॥
काष्ठानि चर्मनद्धानि, बाढमास्फोटयन्ति किम् । किं मृद्धारं वहन्त्येते, धावन्ति किमितस्ततः ॥८६४॥
किं विण्मूत्रपिठर्यश्च, मन्दं मन्दं चलन्त्यमूः । किञ्चैष सदनस्येशः, करोत्यात्मविडम्बनम् ॥८६५॥
विमर्शः प्राह भद्रेदं, मिथ्यामानस्य जृम्भितम् । अनेनोत्पादितो ह्यस्य, सुतो मेऽभूदिति भ्रमः ॥८६६॥
तद्वासनाविलासाच्च, प्रवृत्तेयं विडम्बना । वेत्स्येनमेष बन्धुं स्वं, विडम्बकमपि स्फुटम् ॥८६७॥
प्रकर्षः प्राह यद्येवं, योऽस्यास्ति परवानिह । स एष कीदृशो लोके, गीयते रिपुकम्पनः ॥८६८॥
विमर्शः प्राह वत्सायं, न भावरिपुकम्पनः । ख्यातिरस्योदिता लोके, बाह्यशत्रुप्रकम्पनात् ॥८६९॥
बाह्यप्रत्यर्थिकोटीनां, समर्थो यः प्रमर्दने । सोऽपि ज्ञानं विना नैव, प्रभूष्णुर्भाववैरिणाम् ॥८७०॥
तेनास्य वत्स ! को दोषः, को वा निखिलदेहिनाम् । यतोऽत्र तत्त्वचिन्तायां, ज्ञानाभावोऽपराध्यति ॥८७१॥
क्रोधादिभ्योऽखिलेभ्योऽपि, पापमज्ञानमुल्बणम् । जनो मिथ्याभिमानस्य, येन बद्धा प्रदीयते ॥८७२॥

तेनाभिभूतचित्तश्च, न जानाति हिताहितम्। विडम्बयति चात्मानं, ग्रहग्रस्त इवानिशम् ॥८७३॥
कदापि नाभिमन्यन्ते ज्ञानेन तु हतांहसः। लोकाश्चर्यकरीं प्राप्य, श्रियं पौरन्दरीमपि ॥८७४॥
गिरिमृत्स्नां धनं पश्यन्, धावत्यज्ञानलुप्तधीः। अनादिनिधनं ज्ञानं, धनं पश्यन्ति योगिनः ॥८७५॥
श्लाघामज्ञानिनः प्राप्य, पुत्रदारादिसम्पदम्। स्मयन्तेऽज्ञानमग्नास्तामन्तः पश्यन्ति निश्चलाम् ॥८७६॥
प्रतिष्ठां वेत्ति विष्टावच्छमाग्नेर्भस्मसम्पदम्। जागर्ति ज्ञानवानन्तर्बहिः शेते तु सर्वदा ॥८७७॥
यैर्बद्धो ज्ञानपाशेन, मिथ्यामानाभिधो रिपुः। ते धन्यास्ते महात्मानस्ते च विश्वोपकारिणः ॥८७८॥
जितमिथ्याभिमानानामखण्डज्ञानसम्पदाम्। साधूनां नोपमा लोके, सदेवमनुजासुरे ॥८७९॥
यावच्च प्रवदत्येवं, विमर्शः प्रथमानधीः। आगतौ भूपभवनद्वारे तावदुभौ नरौ ॥८८०॥

मतिमोह-शोकयोरागतिः।

प्रकर्षः प्राह दृश्येते, नरौ मातुल! काविमौ। स प्राह मतिमोहश्च, शोकश्चेह समागतौ ॥८८१॥
पूत्कारोऽत्रान्तरे प्रौढः, सञ्जातः सूतिकागृहे। अधावंश्चेटिका राजाभिमुखं शोकनिर्भराः ॥८८२॥
कातरोऽभूत् किमित्येतद् भूपः पृच्छन् पुनः पुनः। ताः प्राहुः कण्ठलग्नासुर्बालोऽभूद्भ्रमलोचनः ॥८८३॥
गतोऽथ सूतिकागेहे, दुःखवज्राहतो नृपः। दृष्टश्च दारकः किञ्चिच्छेषायुष्कः सुलक्षणः ॥८८४॥
समाहूता महावैद्याः, पृष्टं च किमभूदिदम्। ते प्राहुरयमातङ्कः, सद्योघाती महाबलः ॥८८५॥
नृपः प्राह स्वशक्त्या यः, प्रोज्जीवयति दारकम्। तस्मै राज्यं प्रयच्छामि, स्यां तस्यानुचरोऽप्यहम् ॥८८६॥

तदाकर्ण्य जनाश्चक्रुर्मन्त्रयन्त्रादिकाः क्रियाः । पश्यतामेव तेषां च, पञ्चत्वं प्राप दारकः ॥८८७॥
शोकश्च मतिमोहश्च, राजराज्ञीशरीरयोः । अत्रान्तरे प्रविष्टौ तौ, वेतालौ कामरूपिणौ ॥८८८॥
ताभ्यां हाहारवश्चक्रे, करुणाक्रन्दभैरवः । राज्ञी निपतिता भूमौ, राजा प्राणैरमुच्यत ॥८८९॥
ततो भूमिलुलत्केशं, दलितोरुविभूषणम् । वियोगसर्पनिर्मोकलालाक्लिन्नास्यकोटरम् ॥८९०॥
उरस्ताडनसंमिश्रं, निर्भग्नवलयावलि । बृहदाक्रन्दनं जातं, रिपुकम्पनयोषिताम् ॥८९१॥
सर्वतः करुणध्वानपरं पश्यन् जनं ततः । विस्मयप्रेरितो बुद्धेस्तनयो मातुलं जगौ ॥८९२॥
किमेतत्क्षणमात्रेण, हित्वा प्राचीननर्त्तनम् । नर्त्तनान्तरमारब्धं, लोकैर्भङ्ग्यन्तरादिदम् ॥८९३॥
विमर्शः प्राह यौ दृष्टौ, प्रविशन्तौ नरौ त्वया । ताभ्यामित्थं विनाट्यन्ते, लोकाः स्वातन्त्र्यवर्जिताः ॥८९४॥
यथा मिथ्याभिमानेन, तादृशं नाटिताः पुरा । तथैतादृशमेताभ्यां, नाट्यन्तेऽमी तपस्विनः ॥८९५॥
शोको वा मतिमोहो वा, तेषामेव न बाधकः । पश्यन्ति ज्ञानदृष्ट्या ये, समग्रं क्षणभङ्गुरम् ॥८९६॥
मिथ्याज्ञानवतां शोकः स्यान्नष्टैरिष्टसङ्गमैः । तत्त्वज्ञानां तु वैराग्यशस्त्रमुत्तेजितं भवेत् ॥८९७॥
आदावेव हि निर्णीतेऽनित्यभावे क्व शोचनम् । नित्यभावे तु निर्णीते, ध्रुवः शोको यदुच्यते ॥८९८॥
अनित्यताकृतबुद्धिर्म्लानमाल्यो न शोचति । नित्यताकृतबुद्धिस्तु भग्नभाण्डोऽपि शोचति ॥८९९॥
गाढप्रेमवशादेष मतिमोहान्मृतो नृपः । प्रलापं कारयत्येवं, शोकस्तु करुणं जनैः ॥९००॥

प्रकर्षः प्राह किं भूपगेहेऽस्मिन्नेव मातुल ! । इदमीदृशमापन्नं, किंवाऽन्यत्रापि जायते ॥९०१॥
विमर्शः प्राह नैतादृग्, भवचक्रेऽतिदुर्लभम् । भावैर्नैकैर्भृतं ह्येतत् , परस्परविरोधिभिः ॥९०२॥

सूर्यास्त-समय-वर्णनम् ।

अम्बरभ्रमणजश्रमततो, ध्वान्तपङ्कहरणाशुचिगात्रः । स्नातुमिच्छुरिव तिग्ममरीचि-र्वारिधेरथ जगाम समीपम् ॥९०३॥
रक्ततामुपगता बभुरुच्चै-राकुलाश्च निलयाश्रयणाय । स्वीयचारविपयाद् विनिवृत्ता, भास्करस्य च जनस्य च गावः ॥९०४॥
चक्रवाकहृदयात् परिदीर्घाक्रन्दनिर्यदसुसन्ततिचेष्टा । मूर्छदुग्रविरहानलदग्धा-दाकुलारवपतत्रिभिरूहे ॥९०५॥
पद्मिनीहृदयसंगतरागैः, स्फूर्तिमद्भिरिव संभृतमूर्तेः । रश्मयो विवभुरम्बुधिकूलं, यास्यतोऽहिमरुचेरतिशोणाः ॥९०६॥
द्यामभित्वरयितुं रतयोग्य-स्फारभूषणविधौ विधिवेत्री । आगता सितरुचेः प्रियदूती, कुङ्कुमारुणतनुर्ननु सन्ध्या ॥९०७॥
अञ्जनानलभुवः प्रविसर्पत्-पाटलापटलपाटलभासः । सान्ध्यरागकलितः किल भागः, पश्चिमः श्रियमगाद्गगनस्य ॥९०८॥
व्याप्तमम्बरमथोल्बणसन्ध्या-वह्निधूमसदृशैस्तिमिरौघैः । तारकैस्तरलकान्तिभिरुच्चै-स्तत्स्फुलिङ्गनिकरैरिव रेजे ॥९०९॥
संहृता भुवि समासमभावा, दृष्टनष्टमुदभाव्यत विश्वम् । उद्धतेन तिमिरेण किमासो, बौद्धबुद्धिपिटकात् पटुभावः ॥९१०॥
म्लानिमाप नलिनीवनलक्ष्मीः, प्रोल्ललास रजनीचरराजी । कौशिकाः पथि सुखेन विचेरु-र्मूकतां परिययुर्वत काकाः ॥९११॥
स्फीतनीलसिचयोरुरुचीनां, कामुकं प्रति रसेन यतीनाम् । निह्नवाञ्जनदृशां कुलटानां, रुच्यतामुपययौ तिमिरौघः ॥९१२॥
गच्छतेव निजकालनियोगा-दाहिता दिनकृता पुनरास्यै । दीप्तिरस्ततिमिरा प्रजजृम्भे, दीपकेष्वनुगृहं विधृतेषु ॥९१३॥
आबभार विधुना परिमुक्तं, नव्यसंगमरसोल्लसितेन । नाकिनेतुरथ दिग् घनसारक्षोदसोदरमभीशुसमूहम् ॥९१४॥

क्षालयन् मलिनमम्बरमुच्चै-रुच्छलज्जलकणोपमतारम् । निर्मलांशुसलिलैरुपशैलं, ध्वान्तपङ्कमनयद् व्ययमिन्दुः ॥९१५॥
संगमो विधुकरैर्निपतद्भि-र्जाह्नवीयमुनयोर्यदभूत् खे । तेन मुण्डनमभूदिह रात्रिब्राह्मणीतिमिरकेशभरस्य ॥९१६॥
कुन्दसुन्दरलसत्करजालं, विष्टपत्रयजयाय पटिष्ठम् । चारुचक्रमिव मान्मथमेकं, खे रराज विधुमण्डलमुद्यत् ॥९१७॥
आददेऽङ्गममृतैः परिपिञ्चन्, यो विलासिषु सुधाघटलीलाम् । सोऽप्यभूद् विधुरहो विरहिण्या-श्चण्डकुण्डलितसर्पकरण्डः ॥९१८॥
पार्वतीप्रणतशंकरचूला-निर्गलत्सुरनदीजलरम्याः । धौतविश्ववलयाः प्रसरन्तो, रेजिरे तुहिनरश्मिमयूखाः ॥९१९॥

इत्थं चन्द्रोदये जाते, जनानन्दविधायिनि । दृष्टो निजापणद्वारे, ताभ्यां कश्चिन्महेश्वरः ॥९२०॥
युतो नैकैर्वणिक्पुत्रैर्निविष्टस्तुङ्गविष्टरे । मणिभिः पद्मरागाद्यैः, प्रहृष्यन्निहितैः पुरः ॥९२१॥
राजतैः काञ्चनैः स्तोमैरुद्दर्वहृदयो भृशम् । अलङ्कारैश्च वस्त्रैश्च, विचित्रैश्चित्रमाप्नुवन् ॥९२२॥

प्रकर्षः प्राह लक्ष्मीवान्, मातुलायं किमीदृशः । तिरश्चीनापतद्दृष्टिः, सरलं नेक्षते जनम् ॥९२३॥
नाकर्णयति किं वाक्यं, दत्ते किं नोचितोत्तरम् । प्राञ्जलीनपि संनम्रान् मन्यते तृणवत्कथम् ॥९२४॥
रत्नादीनि मुहुः पश्यन्, किं निजाङ्गानि खादति । किं स्वलीलामनुस्मृत्य, निमीलयति लोचने ॥९२५॥
विमर्शः प्राह भद्रेह, शृणु हेतुं समाहितः । अस्ति मिथ्याभिमानस्य, धनगर्वाभिधः सुहृत् ॥९२६॥
तेन हृत्वाऽस्य सर्वस्वं, वराकोऽयमधिष्ठितः । जानाति धन्यमात्मानं, कृत्रिमैः कनकादिभिः ॥९२७॥
परस्वत्वकृतोन्माथस्तत्स्वरूपं न पश्यति । श्रद्धत्ते न हितं मार्गं, नालोचयति चायतिम् ॥९२८॥

अपूर्णोऽप्यनुकम्प्योऽपि, पूर्णतां स्वस्य वेत्ति यत्। जगदुन्माथि तदिदं, धनगर्वस्य चेष्टितम् ॥९२९॥
पूर्यन्ते येन कृपणास्तदुपेक्षैव पूर्णता। पूर्णानन्दसुधास्निग्धा, दृष्टिरेषा मनीषिणाम् ॥९३०॥
अतात्त्विकी विकल्पैः स्यात्, पूर्णताऽब्धेरिवोर्मिभिः। पूर्णानन्दस्तु भगवांस्तिमितोदधिसन्निभः ॥९३१॥
अपूर्णः पूर्णतामेति, पूर्यमाणस्तु हीयते। पूर्णानन्दस्वभावोऽयं, जगद्भुतदायकः ॥९३२॥
वदत्येवं विमर्शेऽथ, भुजङ्गस्तत्र कश्चन। राजकीयं धनं हृत्वा, कान्दिशीकः समागतः ॥९३३॥
भुजङ्गं प्रत्यभिज्ञाय, स वाणिजभुजङ्गमः। किञ्चिन्मूल्यं प्रदायास्य, तज्जग्राहाखिलं धनम् ॥९३४॥
प्रनष्टोऽथ भुजङ्गोऽसावागतं नृपतेर्बलम्। कुतश्चित् तत्क्रयोदन्तं, श्रुत्वा तत्रातिभीषणम् ॥९३५॥
सलोप्त्रं वणिजं बद्ध्वा, निन्युर्भूपभटास्ततः। लुण्टितं भवनं तस्य, विलुप्ता रत्नराशयः ॥९३६॥
किंकराश्च वणिक्पुत्रा, बान्धवाश्च पलायिताः। हंसे श्येनेन साक्रन्दं, गृहीत इव पक्षिणः ॥९३७॥
ततो विगतसर्वस्वो, बन्धुभिः परिवर्जितः। रासभारोपितः कण्ठबद्धलोप्त्रोऽतिविह्वलः ॥९३८॥
नीयमानो नृपजनैर्निन्द्यमानः पृथग्जनैः। विद्राणवदनो दृष्टः, स ताभ्यां वाणिजस्तदा ॥९३९॥
प्रकर्षो विस्मितः प्राह, मातुलेदं किमद्भुतम्। किं स्वप्नोऽयं भ्रमः, किंवा, माया वा काऽपि मोहिनी ॥९४०॥
यदस्य दृश्यते लीला, न सा तत्र च गौरवम्। न तद्धाम न गर्वोऽसौ, दृग्विलासा न तेऽधुना ॥९४१॥
विमर्शः प्राह सत्योऽसौ, वृत्तान्तो नात्र विभ्रमः। अत एव महाप्राज्ञा, धनगर्वं न कुर्वते ॥९४२॥

चौर्याहृत-धनग्रहणस्य विपाकः।

सन्ध्याभ्ररागवल्लोके, धनं हि क्षणनश्वरम् । विस्तारिमारुतधूतध्वजाञ्चलचलाचलम् ॥९४३॥
अस्य वाणिजकस्येव, धनं गर्वोष्मदूपितम् । ज्वलदुल्मुकसंकाशं, महानर्थाय जायते ॥९४४॥
अर्जितं क्लेशकोटीभिस्तथायुरिव रक्षितम् । नश्यद्धनं क्षणेनैव, नेक्ष्यते खरशृङ्गवत् ॥९४५॥
अलीकधनगर्वेण, विह्वलीभूतचेतसाम् । इहामुत्र च दुःखौघमानं कर्तुं न शक्यते ॥९४६॥
प्रकर्षः प्राह येन स्याद्धनं मातुल ! निश्चलम् । शुभावहविपाकं च, स हेतुर्विद्यते न वा ॥९४७॥
विमर्शः प्राह वत्सेदृग्, नासंभवि धनं भुवि । विरलानां तु तद्धेतुसंयोगः स्यान्महात्मनाम् ॥९४८॥
पुण्यं पुण्यानुबन्ध्येव, निश्चलं कुरुते धनम् । वृद्धिं नयति च स्तोकाः, परं तत् कर्तुमीशते ॥९४९॥
गुरुदेवादिशुश्रूषा, वैराग्यं प्राणिनां दया । पुण्यं पुण्यानुबन्ध्येतच्छीलवृत्तिश्च निर्मला ॥९५०॥
संतापशान्तिरन्येषां, विश्वानुग्रह एव च । दमनं च स्वचित्तस्य, पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः ॥९५१॥
प्राच्ये वाऽस्मिन् भवे प्राप्तं, पुण्यं पुण्यानुबन्धि यैः । गुणराशिनिबद्धेव, तेभ्यः श्रीर्याति न क्वचित् ॥९५२॥
ते हि तत्र धने मूर्छां, न कुर्वन्ति महाशयाः । क्षेत्रेषु योजयन्त्येतत्, स्वयं च परिभुञ्जते ॥९५३॥
एवं च श्रीर्विकीर्णाऽपि, नैर्मल्यायैव जायते । जहाति न स्वपार्श्वं च, विधोरिव महाप्रभा ॥९५४॥
कीर्णा कर्पूरधारा श्रीः, कपिकच्छूर्धृता हृदि । दानभोगावतः कार्यौ, मूर्छागर्वौ न धीमता ॥९५५॥

१ पुण्यानुबन्धेन डे. ज्ञा. २ निश्चला की मु.

मकरध्वजस्य चेष्टितम्।

लक्ष्मीर्दासीकृता नित्यं, स्वामीयत्येव देहिनाम्। दासीयति विपर्यस्तस्वभावा स्वामिनी कृता ॥९५६॥
वर्जनीयः प्रयतेन, चौर्यगन्धोऽपि जानता। अस्य वाणिजकस्येव, महानर्थोऽन्यथा भवेत् ॥९५७॥
निमर्शोऽदो वदत्येव, युवा कश्चिद् वणिक्पथे। दुर्वलो मलिनः क्षामोऽवतीर्णो जीर्णवस्त्रभृत् ॥९५८॥
आपणे निहितग्रन्थिर्द्दष्टस्ताभ्यां स लोलधीः। गृहीता मोदकास्तेन, रूपकैश्चित्तमोदकाः ॥९५९॥
स्रजः पर्णानि गन्धांश्च, क्रीत्वा वस्त्रयुगं तथा। गत्वोपवापि भुक्त्वा च, भोजनं तृप्तिमाप सः ॥९६०॥
ततस्ताम्बूलमास्वाद्य, धृत्वा पुष्पस्रजं हृदि। सौरभाढ्यः स्फुरद्वक्त्रः, प्रस्थितो नृपलीलया ॥९६१॥
पुनः पुनः स्फुरत्कान्ति, प्रेक्षते मुकुरे मुखम्। मोदते गन्धमाघ्राय, गर्वेण नरिनर्ति च ॥९६२॥
प्रकर्षो विस्मितः प्रोचे, युवाऽयं को नु मातुल!। क्व प्रस्थितः किमुद्दिश्य, किं विकारैश्च भज्यते[1] ॥९६३॥
विमर्शः प्राह गणिकाव्यसनी रमणो ह्ययम्। सामुद्रदत्तिरत्रैव, वास्तव्यः पत्तने युवा ॥९६४॥
अनेनाल्पैर्दिनैरेव, शोषितं पापबुद्धिना। धनं समुद्रदत्तस्य, ग्रीष्मार्केण सरो यथा ॥९६५॥
जातोऽयमधुनेदृक्षो, निर्धनः परकर्मकृत्। परकर्मकरत्वेन, कतिचित् प्राप रूपकान् ॥९६६॥
नाटितो व्यसनेनाथ, कुरुते यत् तदीक्ष्यते। अस्ति ह्यत्र पुरे ख्याता, वेश्या मदनमञ्जरी ॥९६७॥
तस्याश्च कुन्दकलिका, पुत्री लावण्यवाहिनी। तस्यामासक्तचित्तेन, धनमेतेन नाशितम् ॥९६८॥

१ यज्यते की. मु.।

गेहान्निस्सारितश्चायं, धनहीनस्तया रयात्। प्रस्थितोऽद्य गृहे तस्याः, किंचित् प्राप्य धनं पुनः ॥९६९॥
अत्रान्तरे प्रकर्षेण, दृष्टः सानुचरो नरः। सतूणीरः समाकृष्टशरः पृष्टश्च मातुलः ॥९७०॥
कोऽयं माम! निहन्त्येनं, स प्राह मकरध्वजः। चर्यया निर्गतो रात्रौ, भयानुचरसंयुतः ॥९७१॥
रमणोऽयमनेनैव, प्रेरितो याति तद्गृहे। अतः परं च यद्भावि, तन्निभालय कौतुकम् ॥९७२॥
एवमस्त्विति तेनोक्ते, गतौ तौ गणिकागृहे। दृष्टा च कुन्दकलिका, वेश्मद्वारे विभूषिता ॥९७३॥
वालिता कन्धरा नासा, विमर्शेनाथ कुञ्चिता। प्रकर्षः प्राह हेतुस्ते, को व्यलीकस्य मातुल! ॥९७४॥
स प्राह पुष्पवसनालंकारपिहितामिमाम्। नवश्रोतःश्रु(स्रु)तां विष्टाकोष्ठिकां किं न पश्यसि ॥९९५॥
इतो दुष्यति दुर्गन्धाच्छपे तुभ्यं शिरो मम। तदस्या दूरतः स्थित्वा, पश्यावो यद्भवेदिह ॥९७६॥
प्रकर्षोऽपि जगौ युक्तमुक्तं मातुल! मे त्वया। ममाप्यशुचिगन्धेन, महार्तिरिह जायते ॥९७७॥
अपसृत्य ततो दूरे, स्थितौ तौ रमणो युवा। आगतोऽत्रान्तरे पश्चात्, सभयो मकरध्वजः ॥९७८॥
दृष्ट्वाऽथ कुन्दकलिकां, ममज्ज रमणोऽमृते। मुदा मदनमञ्जर्या, संज्ञिता तं च सैक्षत ॥९७९॥
आकर्णाकृष्टबाणस्तं, जघान मकरध्वजः। अभ्यन्तरे प्रविश्याथ, तस्याः स प्रददौ धनम् ॥९८०॥
तद्गृहीत्वा समीपस्था, जगौ मदनमञ्जरी। वत्स! त्वया कृतं सम्यग्, वत्सा त्वयि समुत्सुका ॥९८१॥
इहाजिगमिषुः किन्तु, चण्डाख्योऽस्ति नृपात्मजः। तत् तावत् तिष्ठ लीनस्त्वं, पश्चाद्भोगांश्च भोक्ष्यसे ॥९८२॥

रमणोऽभूदिदं श्रुत्वा, भयाधिष्ठितविग्रहः । चण्डोऽथाभ्यागतो द्वारे, भूयान् कोलाहलोऽजनि ॥९८३॥
चण्डस्तूर्णं प्रविष्टोऽथ, रमणं च ददर्श सः । असिपुत्रीं समाकृष्य, हन्तुं व्यवसितश्च तम् ॥९८४॥
दैन्यं प्राप्तोऽथ रमणो, मुखक्षिप्तदशाङ्गुलिः । अष्टाङ्गपादपतनं, चण्डस्य कृतवान् भिया ॥९८५॥
ततश्चण्डो दयोत्पत्त्या, मारयामास नैव तम् । रोपोत्कर्पात् परं तस्य, त्रोटिता तेन नासिका ॥९८६॥
लुप्तौ कर्णौ चक्षुरेकं, कृष्टं विदलिता रदाः । दत्तः पार्ष्णिप्रहारोऽथ, हसितं गणिकाद्वयम् ॥९८७॥
कृतस्ताभ्यां हृतस्वान्तश्चण्डः पेशलभाषितैः । राजलोकैर्हतो निर्यन् , मुक्तश्च रमणोऽसुभिः ॥९८८॥
दध्यौ प्रकर्षः कामस्य, भयस्य च विचेष्टितम् । कुट्टिन्याश्चातिगहनं, साक्षात् प्रेक्षणकोपमम् ॥९८९॥
विमर्शः प्राह येऽप्यन्ये, भवन्ति गणिकारताः । तेषामीदृशमेव स्यान्नाटकं विस्मयावहम् ॥९९०॥
वेश्याभिर्हृतसर्वस्वा, भवन्ति कुलदूषणाः । न च मूढा विरज्यन्ते, शोच्यामपि गता दशाम् ॥९९१॥
सर्पिण्य इव विश्वास्या, नान्या अपि हि योषितः । दृग्विषाहिसमानासु, वेश्यासु प्रश्न एव कः ॥९९२॥
कुट्टिनोऽपि हि पश्यन्ति, स्मराभान् धनदायिनः । निर्लाक्षालक्तकप्रायान् , वेश्या मुञ्चन्ति निर्धनान् ॥९९३॥
प्रकर्षेणोदितं सत्यमेतन्नास्त्यत्र संशयः । ततो निर्वाहितस्ताभ्यां, रात्रिशेषः क्वचिद्गृहे ॥९९४॥
आलिलिङ्ग रजनीविरहार्तो, द्यांससंभ्रममथाम्बुजपाणिः । तद्वशेन निपपात मणीनां, हारयष्टिरिव तारकराजी ॥९९५॥
वासवस्य विधिनाऽजनि भासां, गर्भिणीव परिपाण्डुमुखी दिग् । ध्वान्तशान्तिशुचिदोहदपूर्ते-रुच्छ्वसत्तनुरनूनविनोदा ॥९९६॥ सूर्योदय-वर्णनम् ।

पद्मिनी दिनमगात् पितुरङ्कं, द्राग् विहाय परिशङ्क्य तमिन्दुः। ज्वालजालजटिलं वडवाग्निं, भानुमुत्थितमयात्परमाशाम् ॥९९७॥
कान्तपालिशशिलाऽपि निरस्ता, शोभिता भगणकर्कशपङ्क्तिः। अंशुकुङ्कुमरसैः स्नपितं खं, भास्करेण नववासरराज्ये ॥९९८॥
आगते न पिदधे किमु पत्यौ, धौस्त्यजन्त्युपपतिं हिमभासम्। ऊषसाऽरुणिमकुङ्कुमलेपे, तारकच्छलनखव्रणपङ्क्तिम् ॥९९९॥
किं पुनः स्पृशसि यः परकूले, मामपाश्रियमपोह्य गतोऽभूः। माङ्गनाशुनतिमित्यभिभानुं, पद्मिनी मधुकरैः किरति स्म ॥१०००॥
शान्ता नृपशुपक्षिगणेभ्य-स्तामसी दिनकृतोदयभाजा। एकतामुपगता खलु निद्रा, कौशिकालिनयनेषु निलीना ॥१००१॥
यद्गृहेऽन्धनमगाभिभचौरः, स्थास्यतीह स भविष्यति दण्ड्यः। डिण्डिमध्वनिरभूदिति भानो-श्चारुकाकुककवाकुकुडुम्बात् ॥१००२॥
गाढगात्रपरिरम्भविजृम्भि-प्रेमनिर्दलितरात्रिवियोगा। चक्रवाकयुगसंगमलीला विस्मयं न हृदि कस्य वितेने ॥१००३॥

इत्थं सूर्योदये जाते, विमर्शः प्राह वत्स ! ते। भवचक्रदिदृक्षायां, महदस्ति कुतूहलम् ॥१००४॥
न शक्यतेऽतिविस्तीर्णं, तदेकैकाश्रयेक्षणात्। द्रष्टुं कार्त्स्न्येन तेनायं, चारुरारुह्यतां नगः ॥१००५॥
महाप्रभावो विस्तीर्णो, विवेकाख्योऽतिनिर्मलः। भवचक्रस्थितिः सर्वा, समारूढैरिहेक्ष्यते ॥१००६॥
यत्र न ज्ञायते पृष्ठा, तदुत्कण्ठा प्रपूर्यताम्। एवमस्त्विति तेनोक्ते, समारूढावुभौ नगे ॥१००७॥
प्रकर्षः प्राह सकलं, भवचक्रमिहेक्ष्यते। दीनो देवकुले नग्नो, कः पुनर्मातुलास्त्ययम् ॥१००८॥
नंष्टुकामो दिगालोकी, क्षुत्क्षामो वेष्टितो नरैः। विमर्शः प्राह पुत्रोऽयं, कुबेरस्य श्रियां निधेः ॥१००९॥
नाम्ना कपोतो गौणेन, मुख्यनाम्ना धनेश्वरः। द्यूतव्यसनिनाऽनेन, पितृवित्तं विनाशितम् ॥१०१०॥

प्रकर्षस्य भवचक्र-दिदृक्षा।

मृगयाफलम् ।

मृतायेष सृजन् चौर्य, धने निष्ठापिते निजे । राज्ञा कदर्थितो मान्यपुत्रत्वान्न तु नाशितः ॥१०११॥
कर्पटाद्यखिलं रात्रावद्य चानेन हारितम् । कृतो व्यसनतप्तेन, मस्तकेन पणस्ततः ॥१०१२॥
एतैश्च कितवैर्धूर्तैः, शिरोऽप्यस्य जिघृक्षुभिः । जितोऽयं नाप्यते ह्येवं, नंष्टुं शक्नोति न क्वचित् ॥१०१३॥
प्रकर्षः प्राह किं ज्ञाता, नानेन द्यूतविक्रिया, द्यूतं हि धनकक्षाग्निर्मृत्योर्मित्रं गुणामयः ॥१०१४॥
विमर्शः प्राह किं कुर्यान्महामोहवशो ह्ययम् । द्यूते रसात् प्रवर्तन्ते, तद्वशा हि नराधमाः ॥१०१५॥
उल्लापो भवति व्यक्तो, यावदेवं तयोर्द्वयोः । मस्तकं कितवैस्तावत्, त्रोटितं तस्य वृन्तवत् ॥१०१६॥
तद् दृष्ट्वाऽमन्यत द्यूतं, महाऽनर्थविधायकम् । प्रकर्षोऽथ वने तस्य, दृग् नीलाञ्जनिभाऽपतत् ॥१०१७॥
कृत्वा तत्संमुखं हस्तं, ततः स प्राह मातुलम् । क एष तुरगारूढः, प्रधावत्यनुजम्बुकम् ॥१०१८॥
उद्गीर्णास्त्रः स्वयं दुःखी, दुखदश्चान्यदेहिनाम् । मध्याह्नेऽपि क्षुधा क्षामः, पिपासाशोषिताननः ॥१०१९॥
विमर्शः प्राह ललितपुरेऽयं ललनो नृपः । मृगयानिरतोऽरण्ये, तिष्ठत्येष दिवानिशम् ॥१०२०॥
मन्त्रिभिर्वार्यमाणोऽपि, मित्रैश्च न निवर्तते । राजकार्येषु सीदत्सु, चिन्तितं राज्यचिन्तकैः ॥१०२१॥
हंसस्थाने यथा काको, नासौ राज्ये तथोचितः । ततो बहिरकार्षुस्तं, पुत्रं राज्ये निधाय ते ॥१०२२॥ युग्मम् ॥
तिष्ठत्येष तथाऽप्येको, मृगयातत्परो वने । मांसलुब्धो न दुःखं स्वं, जानाति विपकीटवत् ॥१०२३॥
परतः प्राप्तमपि यो, मांसं खादति सोऽधमः । हत्वा भक्षयतस्तच्च स्वयं जीवान् किमुच्यताम् ॥१०२४॥

भुञ्जानो मांसमशुचि, बीभत्सं कृमिसंकुलम्। राक्षसश्वशृगालादेर्विशिष्येत कथं नरः ॥१०२५॥
विमर्शोऽदो वदत्येव, प्रधावन्ननुजम्बुकम्। अधोमुखो महागर्ते, पतितो ललनो मृतः ॥१०२६॥
प्रकर्षोऽपृच्छदस्याभूत्, किमेतन्मृगयाफलम्। विमर्शः प्राह नन्वेतत्, पुष्पं नारकिता फलम् ॥१०२७॥
इतश्च राजपुरुषैः, कंचित् तप्तत्रपुद्रवम्। पाय्यमानं नरं दृष्ट्वा, प्रकर्षः प्राह मातुलम् ॥१०२८॥
अमीभिर्निर्घृणैरेष, नरः किमिति पीड्यते। विमर्शः प्राह चणकपुरवासी महाधनः ॥१०२९॥
सार्थेशः सुमुखो ह्येष, वाक्पारुष्यात्तु जन्मजात्। लेभे दुर्मुख इत्याख्यां, लोके प्रकृतिदीपिकाम् ॥१०३०॥
स्त्रीभक्तराजदेशानां, कथास्वयमभूद् रतः। शशाक धर्तुं नासभ्यां, निःसरन्तीं मुखाद् गिरम् ॥१०३१॥
गतो राजा रिपून् जेतुमितश्च चणकाधिपः। तीव्राख्यस्तेन रिपवो, युधि वीर्येण निर्जिताः ॥१०३२॥
मध्येसभं नृपकथां, चकारेतश्च दुर्मुखः। जितो नृपोऽरिभिश्चण्डैः, पलायध्वं ततो जनाः ॥१०३३॥
तदाकर्ण्य पुरं सर्वं, नष्टं संजातसंभ्रमम्। समागतो नृपोऽपश्यत्, तद् दग्धवनसन्निभम् ॥१०३४॥
श्रुत्वा कुतश्चिद् तद्वार्तां, कुपितो दुर्मुखोपरि। दण्डमीदृशमस्यादात्, पुनरावासिते पुरे ॥१०३५॥
प्रकर्षः प्राह हा कष्टमेतावद् दुर्वचःफलम्। विमर्शः प्राह विकथोन्मथितानामियत् कियत् ॥१०३६॥
कृपाणी गुणवल्लीनां, वाणी नूनमयन्त्रिता। प्रमाणीकुरुते कोऽपि, प्राणी न मुखरं जनम् ॥१०३७॥
भारत्युच्छृङ्खला वत्स! ध्रुवं बन्धाय देहिनाम्। मोचनाय तु संलीनेत्येषा तत्प्रकृतिस्थितिः ॥१०३८॥

विकथायाः
फलम्।

तदस्य विकथामूलं, दुर्भाषाफलमीदृशम्। आपन्नं परलोके च, ध्रुवा दुर्गतियातना ॥१०३९॥
अत्रान्तरे प्रकर्षस्य, राजमार्गे पपात दृग्। तत्रैको मानवः शुभ्रो, दृष्टः पृष्टश्च मातुलः ॥१०४०॥
कोऽयं क्व याति स प्रोचे, रागकेसरिसैनिकः। हर्षोऽयं मानवावासे, वासवाख्यवणिग्गृहे ॥१०४१॥
प्रवेक्ष्यति मनः कर्तुमस्योत्सवतरङ्गितम्। बालकालवियुक्तस्य, वयस्यस्य समागमात् ॥१०४२॥ युग्मम् ॥
निरैक्षत प्रकर्षोऽथ, सुविस्फारितलोचनः। धनदत्तेन सुहृदा, वासवो मिलितस्तदा ॥१०४३॥
मिलनाद् धनदत्तस्य, हर्षाविष्टोऽथ वासवः। सबान्धवः समित्रश्च, विततान महोत्सवम् ॥१०४४॥
अकाण्डवासवगृहक्षोभं हर्षविनिर्मितम्। प्रकर्षः प्रेक्षते यावद्, दृष्टस्तावन्नरोऽसितः ॥१०४५॥
तेनोक्तं च नरः कोऽयं, मातुल! द्वारि तिष्ठति। विमर्शः प्राह शोकस्य, विषादोऽयं महासुहृत् ॥१०४६॥
वाञ्छत्यत्रैष पथिकः, प्रवेष्टुं यश्च कश्चन। भवनेऽस्य विषादोऽयं, प्रविष्टेऽस्मिन् प्रवेक्ष्यति ॥१०४७॥
वासवस्य ततो गृहं, प्रविश्य पथिकोऽब्रवीत्। पपात मूर्छितः पृथ्व्यां, विषादाधिष्ठितोऽथ सः ॥१०४८॥
वायुदानादिना लब्धचेतनः प्रललाप च। हा पुत्र! तव संजाता, काऽवस्था मम कर्मणा ॥१०४९॥
निर्गतोऽभाग्यसंभाराद् वत्स! वारयतोऽपि मे। विधिना निर्घृणेनेदं, कृतं तव करोमि किम् ॥१०५०॥
विषादस्तत्प्रलापेन, प्रविष्टः स्वजनेष्वपि। सर्वे हाहारवपराः, प्रलपन्ति स्म ते भृशम् ॥१०५१॥
अभून्मूढं गतानन्दं, वासवीयं गृहं ततः। तद् दृष्ट्वा मातुलं प्राह, प्रकर्षः कोऽयमुद्भ्रमः ॥१०५२॥

हर्षविषाद-
योश्चेष्टितम्।

स प्राहैष यथा पूर्वं, हर्षेण प्रविनाटितः। तपस्विनं विषादोऽयं, नाटयत्यधुना तथा ॥१०५३॥
प्रकर्षः प्राह किं गुह्यं, कर्णे पान्थेन भाषितम्। विमर्शः प्राह पुत्रोऽस्य, वर्तते वर्धनाभिधः ॥१०५४॥
वार्यमाणोऽपि स गतो, द्रविणार्जनकाम्यया। देशान्तरे धनं भूरि, समागच्छन्नुपार्ज्य सः ॥१०५५॥
कादम्बर्यां महाटव्यां, गृहीतः परिमोषिभिः। लुप्तं धनं हतः सार्थो, जना बन्दीकृतास्तथा ॥१०५६॥
तन्मध्ये वर्धनं नीत्वा, पल्लयां[1] ते यातनाशतैः। सार्थवाहोऽयमित्युच्चैर्धनार्थमकदर्थयन् ॥१०५७॥ त्रिभिर्विशेपकम् ॥
अयं लम्बनकस्तस्य, गृहजो दासदारकः। नष्टा कथञ्चिदायातो, वृत्तान्तं च न्यवेदयत् ॥१०५८॥
यदकार्षीत् ततश्चायं, भवता दृष्टमेव तत्। प्रकर्षः प्राह किं त्राणं, प्रलापाद्यैर्भवेदिह ॥१०५९॥
विमर्शः प्राह न त्राणमेतैः कस्यापि जायते। नाटके तु विषादस्य, भवन्त्यभिनयोर्मयः ॥१०६०॥
धनदत्तागमे तुष्टा, विषण्णा वर्धनापदि। असमीक्ष्यकृतो ह्येते, किं कुर्वन्तु तपस्विनः ॥१०६१॥
नैतस्यैव गृहे नाट्यं, वत्स ! हर्षविषादयोः। भवचक्रेऽखिले किन्तु कारणैरपरापरैः ॥१०६२॥
प्रकारा दुःशका वक्तुं, शृङ्गग्राहिकयाऽखिलाः। भवचक्रपुरेऽशेपान्, पथाऽनेन समुन्नय ॥१०६३॥
अवान्तपुरैरेतद् भूरिभिः परिपूरितम्। सुविख्यातं तथाऽप्यत्र, श्रेष्ठं पुरचतुष्टयम् ॥१०६४॥
एकं हि मानवावासं, द्वितीयं विबुधालयम्। तृतीयं पशुसंस्थानं, तुर्यं पापिष्ठपञ्जरम् ॥१०६५॥

१ पल्यंवे की. मु. पल्याते डे. ज्ञा.।

भवचक्रस्य
स्वरूपम्।

तत्रेदं मानवावासं, सदा मोहादिभिर्युतम्। क्वचिदिष्टागमोल्लासि द्वेष्यसंगहतं क्वचित् ॥१०६६॥
धनप्राप्त्योन्मदं[1] क्वापि, तन्नाशव्याकुलं क्वचित्। दौर्भाग्यसंभृतं क्वापि, क्वापि सौभाग्यशोभनम् ॥१०६७॥
क्वचित् पापिजनाकीर्णं, क्वचिद् धर्मनटान्वितम्। चरित्रैर्विविधैः पूर्णमन्तरङ्गमहीभुजम्[2] ॥१०६८॥
द्वितीयं चारु संतानमन्दारहरिचन्दनैः। रत्नहाटकसंघातघटितानेकपाटकम् ॥१०६९॥
मणिप्रभाहतध्वान्तं, नित्यालोकं विराजितम्। चलत्कुण्डलकेयूरमौलिहारप्रभास्वरैः ॥१०७०॥
रतिसागरनिर्मग्नैरम्लानवनदामभिः। नित्यप्रमुदितैर्देवैरप्सरःपरिरम्भिभिः ॥१०७१॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥
साताख्यं कृतवान् कर्मपरिणामोऽत्र नायकम्[3]। तेनेदं सतताह्लादं, शान्तविघ्नविनायकम् ॥१०७२॥
ईर्ष्याशोकभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमैः। परीतमपि मुग्धानां, भाति रम्यमिदं पुरम् ॥१०७३॥
तेनेत्थं वर्णितं दुःखाकुलितं परमार्थतः। विवेकशिखरस्थानामिदमप्यवभासते ॥१०७४॥
तृतीयं क्षुत्पिपासाभीवन्धोद्वेगप्रपीडितैः। जनैरनन्तैः संकीर्णं, महामोहवशीकृतैः ॥१०७५॥
चतुर्थे तु पुरे लोका वसन्ति तमसावृताः। नायकोऽत्र कृतोऽसातवेद्याख्यो मोहभूभुजा ॥१०७६॥
तत्र लोकाः कदर्थ्यन्ते, परमाधार्मिकासुरैः। पाय्यन्ते तप्तताम्राणि, दार्यन्ते क्रकचोत्करैः ॥१०७७॥
खाद्यन्ते निजमांसानि, दह्यन्ते प्रबलाऽग्निना। भृज्यन्ते तत्र तार्यन्ते, क्रूरां वैतरणीं नदीम् ॥१०७८॥

---

१ धनप्राप्तोन्मद की. मु.। २ –महीभुजाम् की. मु। ३ नायक: की. मु.।

जरादीनां सप्तानां स्त्रीणां स्वरूपम्।

शाल्मलीरभिरोह्यन्ते, विकटा वज्रकण्टकैः। कुन्ततोमरनाराचैश्छिद्यन्ते च सहस्रशः ॥१०७९॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥
सप्तात्र पाटकाः सन्ति, तत्राद्ये पाटकत्रये। परमाधार्मिकैरित्थं, जन्यते दुःखसन्ततिः ॥१०८०॥
परस्परं च कुर्वन्ति, दुःखमेते निरन्तरम्। षट्पाटकेषु भिद्यन्ते, सप्तमे वज्रकण्टकैः ॥१०८१॥
न वक्तुं कोटिजिह्वोऽपि, दुःखमत्र क्षमो भवेत्। एकान्तदुःखसंकीर्णं, तदिदं पापिपञ्जरम्[1] ॥१०८२॥
तस्मादेतानि चत्वारि ज्ञातानि भवता यदि। पुराणि न तदा ज्ञेयं, भवचक्रेऽवशिष्यते ॥१०८३॥
इति श्रुत्वा प्रकर्षोऽदात्, भवचक्रेऽभितो दृशम्। संभ्रान्तोऽथ जगौ नार्यः, का एताः सप्त मातुल! ॥१०८४॥
बीभत्सदर्शनाः कृष्णा, लुप्ताशेषमहोभराः। लोकानां दारुणाकारा, वेताल्य इव भीतिदाः ॥१०८५॥
किंप्रयुक्ताश्च किंवीर्यास्तथैताः किंपरिच्छदाः। कं निहन्तुं प्रवर्तन्ते, विमर्शोऽभिदधे ततः ॥१०८६॥
जरा रुजा मृतिश्चान्या, खलता च कुरूपता। दरिद्रता दुर्भगता, नामतोऽमूः प्रकीर्तिताः ॥१०८७॥ युग्मम् ॥
मूलभूपस्त्रिया कालपरिणत्या प्रयोजिता। बाह्यहेतुशतैश्चापि, जरा तत्रेह जृम्भते ॥१०८८॥
बलं तेजश्च लावण्यमालिङ्ग्यैयं विलुम्पति। गाढाश्लेषान्मनो नृणामस्या वीर्यमदः स्मृतम् ॥१०८९॥
वलीपलितवैकल्यबाधिर्यान्ध्यकुवर्णताः। कम्पकार्कश्यशैथिल्यदीनतादन्तहीनताः ॥१०९०॥
जरायाः परिवारोऽयमनेन परिवारिता। मत्तेव गन्धकरिणी, सर्वत्र विलसत्यसौ ॥१०९१॥

१ पापपञ्जरम् डे. ज्ञा.।

॥९९॥

अस्ति योऽनुचरः कालपरिणत्या महाबलः। यौवनाख्यस्तदादेशात्, प्रविष्टोऽङ्गेषु देहिनाम् ॥१०९२॥
संयुतो वल्गनोल्लासधावनोद्भ्रमसंमदैः। गर्वशौण्डिर्यपिङ्गत्वधैर्याद्यैश्च पदातिभिः ॥१०९३॥
मूर्तिस्फूर्तिस्मरावेशसन्निवेशविधायकम्। क्रुद्धा कृत्येव तमियं, मृद्नाति सपरिच्छदम् ॥१०९४॥ त्रिभिर्विशेषकम्।
ततो भवन्ति जरसा, जना मर्दितयौवनाः। भार्ययाऽपि पराभूतास्तनयैरप्युपेक्षिताः ॥१०९५॥
यो वेदनीयनृपतेर्वयस्यो रसनाभिधः। वर्णितस्तत्प्रयुक्तेयं, रुजाऽपि नृपतेर्भुजा ॥१०९६॥
रजस्तमोऽभिसंपातः, संप्राप्तिः कालकर्मणाम्। वातपित्तकफक्षोभो, हेतुः सर्वो रुजामयम् ॥१०९७॥
बाह्यान्यपि निमित्तानि, प्रयुङ्क्तेऽसात एव यत्। हेतुः प्राणिषु संलीनस्तत्त्वतस्तदयं रुजाम् ॥१०९८॥
स्वास्थ्यं निहत्य वीर्येण, करोत्यातुरतामियम्। ज्वरातिसारकुष्ठार्शःप्रमेहप्लीहधूमकाः ॥१०९९॥
अम्लकग्रहणीशूलहिक्काश्वासक्षयभ्रमाः। गुल्महृद्रोगसम्मोहकण्डून्मादजलोदराः ॥११००॥
शिरोनेत्रार्तिवीसर्पच्छर्दिशोपभगन्दराः। सर्वेऽप्यस्याः परीवारस्तेनेयं भुवि दुर्जया ॥११०१॥
हन्ति नीरोगतां सातनियुक्तां पाटवावहाम्। इयमाधिं वितनुते, व्याधिं चाखिलदेहिनाम् ॥११०२॥
रुदन्ति दीर्घपूत्कारैर्दीनं जल्पन्ति मानवाः। लुठन्तीतस्ततो मूढा, अनया विह्वलीकृताः ॥११०३॥
मृतिरायुर्नृपस्यास्तसमयेन प्रयोजिता। विषाग्निशस्त्रपानीयगिरिपाताद्यपेक्षिणी ॥११०४॥
हरत्युच्छ्वासनिःश्वासं, चेष्टां भाषां च चेतनाम्। क्षणेन देहिनामेषा, वीर्यमस्या वदन्त्यदः ॥११०५॥

इयं न वीर्यवत्येका परिवारमपेक्षते, इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्यस्याः, कम्पन्ते नाममात्रतः ॥११०६॥
भार्यामायुर्नृपस्यैषा, जीविकां स्थितिदायिनीम् । हत्वा स्वस्थानतोऽन्यत्र, जनान्नयति लीलया ॥११०७॥
अस्ति पापोदयो वत्स !, सेनानीर्मूलभूपतेः । तेनैषा खलता वत्स ! नियुक्ता भवचक्रके ॥११०८॥
बाह्यं निमित्तमप्यस्या, विद्यते खलसंगमः । पापोदयोद्भवः सोऽपि, विज्ञेयः परमार्थतः ॥११०९॥
शाठ्यपैशुन्यदौःशील्यमित्रद्रोहकृतघ्नताः । मर्मोद्घट्टनवैयात्यनैर्लज्ज्यमदमत्सराः ॥१११०॥
गुरुविप्लवरोषाद्याः, खलतापरिचारकाः । एतद्युताऽङ्गिनां चेतो, मथ्नातीयं स्ववीर्यतः ॥११११॥ युग्मम् ॥
इयं पुण्योदयाख्येव, सेनान्या मूलभूपतेः । नियोजितं द्वितीयेन, हन्ति सौजन्यपूरुषम् ॥१११२॥
गाम्भीर्यप्रश्रयस्थैर्यदाक्षिण्यादिपदातिभिः । युतं लोके च कुर्वाणं, सद्विश्रम्भसुखासिकाम् ॥१११३॥ युग्मम् ॥
खादन्तो वर्गमात्मीयं, खलतानिहता जनाः । बध्नन्ति परनिन्दास्थि, गले नीचा शुनोऽपि हि ॥१११४॥
संतोषकृतवृत्तीनां, सतां प्रत्यर्थिनः खलाः । वानेयतृणवृत्तीनां, मृगाणामिव लुब्धकाः ॥१११५॥
क्वचिदुष्णाः क्वचिच्छीताः, क्वचिन्मध्यमवृत्तयः । नैकरूपाः खलाः क्रूराः, सन्निपाता इव ज्वराः ॥१११६॥
नामनामा महीनाथो, यो मया पूर्ववर्णितः । भवचक्रे युनक्त्येनां, स क्रौर्येण कुरूपताम् ॥१११७॥
निमित्तान्यपि बाह्यानि, तदादेशव्यपेक्षया । परिकुप्यत्कफादीनि, जनयन्ति कुरूपताम् ॥१११८॥
वीर्यमस्यास्तदङ्गस्था, यदुद्वेगं करोत्यसौ । कुण्टताकाण्यकुब्जत्ववामनत्वविवर्णताः ॥१११९॥

व्याधिर्यक्ष्मताऽन्न्याद्या, वर्तन्तेऽस्याः परिच्छदे । नियुक्तां हन्ति नाम्नैव, तद्युतेयं सुरूपताम् ॥११२०॥ युग्मम् ॥
भवन्ति क्रीडनस्थानं, कुरूपा रूपगर्विणाम् । निर्गुणाश्च भवन्त्येते, गुणा ह्याकृतिसंश्रयाः ॥११२१॥
पुरस्कृताऽन्तरायेण, पापोदयचमूभृता । दरिद्रता प्रयुक्तेयं, द्यूताद्यैर्बाह्यहेतुभिः ॥११२२॥
दुराशापाशपतितं, निर्धनं कुरुते जनम्, एषा वीर्येण शेषाहिफणाभोगभयंकरी ॥११२३॥
मौर्ख्यं पराभवो दैन्यं, ग्रायशो बह्वपत्यता । बुभुक्षाऽरतिसंतापहृद्दवन्न्यूनताऽर्थनाः ॥११२४॥
इत्यादि परिवारोऽस्या, हन्तीयं तेन संयुता । ऐश्वर्याख्यं नरं श्रेष्ठं, पुण्योदयनियुक्तकम् ॥११२५॥ युग्मम् ॥
दरिद्रताहतैश्वर्या, रात्रावपि न शेरते । चिन्ताग्निनैव दह्यन्ते, मत्यक्षा इव नारकाः ॥११२६॥
इयं दुर्भगता नामनृपेणैव नियोजिता । वैरूप्यदुःस्वभावादिबाह्यहेतुव्यपेक्षिणी ॥११२७॥
अनभीष्टमतिद्वेष्यं, यदेषा कुरुते जनम् । तदिदं वीर्यमेतस्या, जगत्त्रयभयावहम् ॥११२८॥
परिवारः किलैतस्या दीनताऽभिभवस्त्रपा । न्यूनता चित्तलघुता, वेषविज्ञानहीनता ॥११२९॥
नियुक्तां सुप्रसन्नेन, नाम्ना सुभगतामियम् । हन्ति तत्कोपसमयस्फुटलब्धोदयाऽङ्गिनाम् ॥११३०॥
अनया हृतसौभाग्या, वल्लभानामवल्लभाः । शोकेन परिरभ्यन्ते, निजनिन्दापरायणाः ॥११३१॥
प्राह प्रकर्षः सन्त्यासां, किं मातुल ! न वारकाः । लोकपालाः क्षितीशाद्या, दोर्दण्डोद्धृतभूभराः ॥११३२॥

१–द्वयान्यूनता–की मु । २ इत्यादिः परि–डे. ज्ञा. । ३ ऐश्वर्याख्यनर की. मु. ।

विमर्शः प्राह नैवासां, कोऽपीष्टे विनिवारणे । प्रसुष्वपि स्फुरत्यासां, वीर्यमुन्माथि दारुणम् ॥११३३॥
प्रकर्षः प्राह तद् यत्नः, किमासां विनिवारणे । न कार्यो देहिना प्राह, विमर्शो निश्चयात् तथा ॥११३४॥
एता ह्यवश्यभाविन्यः, क्षेप्तुं शक्या न केनचित् । अशक्यार्थप्रवृत्तेश्च, फलं नान्यच्छ्रमाद् ऋते ॥११३५॥ युग्मम् ॥
यतन्ते तद्विनाशाय, तथाऽपि व्यवहारतः । स्वागोमलो हि सर्वत्र,क्षालनीयः क्रियाम्भसा ॥११३६॥
प्रवर्त्यते हठात् कर्मपरिणामेन मानवः । कार्यौ हर्षविषादौ नो, तत्र निश्चयवेदिना ॥११३७॥
व्यवहारनयज्ञोऽपि, सद्धेतौ यतते बुधः । जरादीनां विनाशे च, सद्धेतुर्धर्म एव हि ॥११३८॥
नास्ति यत्र जराद्युत्थः, क्लेशः सा निर्वृतिः पुरी । ज्ञानश्रद्धानचारित्रमयो धर्मस्तदाप्तिकृत् ॥११३९॥
रत्नत्रयोत्थवीर्याणां, मुक्तेर्मार्गेऽपि तिष्ठताम् । क्लेशास्तनूभवन्त्येव, सुखपद्धतिरेधते ॥११४०॥
सदैवामुक्तमेताभिर्भवचक्रपुरं पुनः । चतुर्विधमपि प्रौढदुःखसंभारदारुणम् ॥११४१॥
प्रकर्षः प्राह यद्येवं, ततोऽत्र वसतां नृणाम् । किं जायते न निर्वेदो, विमर्शः प्रत्यभाषत ॥११४२॥
निर्विद्यन्ते जना नास्मान्महामोहादिमोहिताः । पापेन कर्मणा तेषां, रतिरत्रैव जायते ॥११४३॥
प्रकर्षः प्राह तर्ह्येषां, चिन्तया किं दुरात्मनाम् । केवलं दर्शितं वीर्यं, त्वया मोहादिभूभुजाम् ॥११४४॥
कुदृष्टिजानिर्यस्तूक्तो, मिथ्यादर्शननामकः । भवचक्रे न तद्वीर्यं, दर्शितं तत् प्रदर्शय ॥११४५॥
विमर्शः प्राह तस्यैवाधीनं पुरचतुष्टयम् । स्थानानि दर्शयाम्युच्चैस्तद्दशानां विशिष्य ते ॥११४६॥

मिथ्यादर्शनस्थानानि

दृश्यन्ते मानवावासे, ह्यवान्तरपुराणि षट् । यान्यमूनि ध्रुवं तानि, तेषां स्थानानि लक्षय ॥११४७॥
एकमत्र पुरं तावन्नैयायिकमितीरितम् । नैयायिकाश्च गीयन्ते, ते जना येऽत्र संस्थिताः ॥११४८॥
अन्यद् वैशेषिकं नाम, पुरमत्राभिधीयते । जना वैशेषिकास्तेऽमी, येऽस्य मध्ये व्यवस्थिताः ॥११४९॥
तथा परं बुधैः सांख्यं, पुरमत्र प्रकाशितम् । ये चैतदधितिष्ठन्ति, लोकास्ते सांख्यसंज्ञकाः ॥११५०॥
इहापरं पुनर्बौद्धं, पुरं संगीयते बुधैः । प्रसिद्धा बौद्धसंज्ञास्ते, जना मध्येऽस्य ये स्थिताः ॥११५१॥
मीमांसकाभिधं चान्यत्, पुरं प्राज्ञैः प्रदर्शितम् । मीमांसकाश्च गीयन्ते, लोकास्ते येऽत्र संस्थिताः ॥११५२॥
लोकायतमिति प्रोक्तं, पुरमत्रापरं बुधैः । ये वास्तव्या इह ख्याता, बार्हस्पत्याश्च ते जनाः ॥११५३॥
तदेतेषु पुरेषूच्चैर्ये लोकाः परिदर्शिताः । ते मिथ्यादर्शनस्याज्ञां, पालयन्ति विशेषतः ॥११५४॥
प्रकर्षः प्राह षड् यानि, श्रूयन्ते लोकवार्तया । दर्शनानि किमेतानि, तान्युक्तानि त्वया मम ॥११५५॥
विमर्शः प्राह तान्येव, पञ्च मीमांसकं विना । पुराण्येतानि षट्स्वेतन्नेष्टं मीमांसकं पुरम् ॥११५६॥
जैम(मि)निर्वेदरक्षार्थं, दोषजातोद्दिधीर्षया । चकार येन मीमांसां, दृष्ट्वा तीर्थिकविप्लवम् ॥११५७॥
तस्मादेतानि पञ्चैव, पुरं मीमांसकं विना । लोकैर्दर्शनसंख्यायां, गण्यन्ते नात्र संशयः ॥११५८॥
प्रकर्षः प्राह यद्येवं, ततः षष्ठं क्व वर्तते । विमर्शः प्राह यदिदं, विवेकाद्रौ निरीक्ष्यते ॥११५९॥
अप्रमत्तत्वशिखरं, तुङ्गं तत्र निवेशितम् । पुरं यद् विततं षष्ठं, तज्जैनमभिधीयते ॥११६०॥

जैनदर्शन-
स्थानम् ।

अत्र स्थितानां लोकानां, न मिथ्यादर्शनाभिधः । बाधकः स्यात् प्रकृत्यैव, महामोहमहत्तमः ॥११६१॥
शिखरस्था न बाध्यन्ते, को हेतुस्तत्र मातुल ! ॥११६२॥
प्रकर्षः प्राह बाध्यन्ते, यदनेन स्थिता अधः । शिखरस्था न बाध्यन्ते, को हेतुस्तत्र मातुल ! ॥११६२॥
विमर्शः प्राह पुर्यस्ति, महामोहादिभूभुजाम् । मुक्तिर्भुक्तेरतिक्रान्ता, निर्द्वन्द्वानन्दशालिनी ॥११६३॥
सर्वेऽपि गन्तुमिच्छन्ति, तामधःपुरवासिनः । मुक्त्वा लोकायतं स्वैः स्वैर्मिथो मार्गैर्विरोधिभिः ॥११६४॥
न मुक्तेः प्रापका युक्ताः, पन्थानस्ते च कल्पिताः । विवेकशिखरस्थैस्तु, दृष्टः पन्थास्तदास्तिकृत् ॥११६५॥
त्यक्तमार्गाः कुमार्गे च, संश्रितास्तदधःश्रिताः । मिथ्यादर्शनलुप्ताशा. गिरिस्थास्तु न तादृशाः ॥११६६॥
प्रकर्षः प्राह येऽमीभिर्मुक्तिमार्गाः प्रकल्पिताः । प्रत्येकं तानहं श्रोतुमिच्छाम्युत्पन्नकौतुकः ॥११६७॥
विमर्शः प्राह यद्येवं, समाधाय ततो मनः । वक्ष्यमाणान्मया वत्स ! तान् मार्गानवधारय ॥११६८॥
तत्त्वज्ञानाद् भवेन्मुक्तिरिति सर्वैर्विनिश्चितम् । तानि नैयायिकानां च, प्रमाणादीनि षोडश ॥११६९॥
प्रमायाः करणं तत्र, प्रमाणं तच्चतुर्विधम् । प्रत्यक्षमनुमानं चोपमानं शा(श)ब्दमेव च ॥११७०॥
ज्ञानं प्रत्यक्षमक्षार्थयोगजं व्यभिचारि न । तत्पूर्वं त्रिविधं प्राहुरनुमानं विशारदाः ॥११७१॥
पूर्ववच्छेषवच्चैव, दृष्टं सामान्यतश्च तत् । हेतोः कार्यस्य कार्याच्च, हेतोरन्यस्य चान्यतः ॥११७२॥
यथा मेघोन्नतेर्वृष्टिर्भविष्यत्यनुमीयते । पूरभेदाच्च जाता साऽन्यदिग्प्राप्तेर्गती रवौ ॥११७३॥
उपमानं स्मृतं संज्ञासंज्ञिसंबन्धसंगतिः । आप्तोपदेशः शब्दश्च, मानमेतच्चतुर्विधम् ॥११७४॥

आत्मदेहेन्द्रियस्वान्तधीदोषार्थप्रवृत्तयः । प्रेत्यभावः फलं दुःखं, प्रमेयं मुक्तिरेव च ॥११७५॥
संशयः कीर्तितं ज्ञानं, विरुद्धोभयकोटिकम् । येन प्रयुक्तः पुरुषश्चेष्टते तत् प्रयोजनम् ॥११७६॥
दृष्टान्तो निश्चयस्थानं, सिद्धान्तोऽर्थः प्रतिष्ठितः । आनुमानिकवाक्यस्य, देशानवयवान् जगुः ॥११७७॥
तर्को व्याप्यसमारोपे, व्यापकस्य प्रसञ्जनम् । अवधारणरूपं च, ज्ञानं निर्णय उच्यते ॥११७८॥
बुभुत्सया कथा वादो, जल्पश्च विजिगीषया । स्वपक्षस्थापनाहीना, वितण्डा परिकीर्तिता ॥११७९॥
हेत्वाभासा असिद्धाद्याश्छलमाकूतदूषणम् । असद्भूतोत्तरं जातिः, सा चोत्कर्षसमादिका ॥११८०॥
पराजयस्य हेतुश्च, निग्रहस्थानमिष्यते । नैयायिकपदार्थानां, समासोऽयं प्रकीर्तितः ॥११८१॥
द्रव्यं गुणस्तथा कर्म, सामान्यं च विशेषयुक् । समवायश्च षड् भावा, वैशेषिकनये स्मृताः ॥११८२॥
भूरापोऽग्निर्मरुद् व्योम, कालो दिगसुमान्मनः । नव द्रव्याण्यमून्याहुर्गुणा रूपं रसस्तथा ॥११८३॥
गन्धः स्पर्शश्च संख्या च, परिमाणं पृथक्त्वयुक् । संयोगश्च विभागश्च, परत्वं चापरत्वयुक् ॥११८४॥
संस्कारधर्माधर्मेच्छासुखयत्नाक्बुद्धयः । द्वेषो गुरुत्वद्रवत्वे स्नेहः शब्दस्तथेत्यमी ॥११८५॥
उत्क्षेपणं तथाऽवक्षेपणमाकुञ्चनं तथा । प्रसारणं च गमनं, पञ्च कर्माण्यकीर्तयन् ॥११८६॥
सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं, परमेकं तथाऽपरम् । द्रव्यत्वाद्यपरं व्याप्यं, सत्तादि व्यापकं परम् ॥११८७॥
विशेषोऽन्त्यः स्मृतो नित्यद्रव्यव्यावृत्तिकारणम् । संबन्धोऽयुतसिद्धानां, समवायः प्रकीर्तितः ॥११८८॥

वैशेषिक-
दर्शनम् ।

द्वे प्रमाणे मते चास्य, प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा। वैशेषिकमतस्यायं, समासार्थः प्रकीर्तितः ॥११८९॥
सांख्याः प्राहुः शिवं गच्छेत्, पञ्चविंशतितत्त्ववित्। सत्त्वं रजस्तमश्चेति, गुणास्तत्र त्रयः स्मृताः ॥११९०॥
प्रसादलाघवाद्वेषासंगप्रसवसंमदाः। सत्त्वकार्याणि संतापस्तम्भोद्वेगा विशोषणम् ॥११९१॥
अपद्वेषश्च भेदश्च, कार्याणि रजसो जगुः। तमःकार्याणि रौद्रत्वं, सादनं दैन्यगौरवे ॥११९२॥ युग्मम्॥
प्रकृतिः समतावस्था, प्रोक्तैषां स्यात् ततो महान्। स गुणाष्टकसंपन्नबुद्धितत्त्वाभिधो मतः ॥११९३॥
अहंकारो भवत्यस्मात्, स्वप्ने व्याघ्रादिमानकृत्। एकादशेन्द्रियाण्यस्मान्मनोधीकर्मभेदतः ॥११९४॥
त्वग्जिह्वाघ्राणदृक्श्रोत्राण्याहुर्बुद्धीन्द्रियाणि वै। वाक्पाणिपायूपस्थांह्रीन्, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ॥११९५॥
स्पर्शो रसश्च रूपं च, गन्धः शब्दस्तथाऽत्यणुः। स्युस्तन्मात्राणि पञ्चैव, तत एव तमोघनात् ॥११९६॥
तेभ्यश्च पञ्च भूतानि, प्रपञ्चः प्राकृतो ह्ययम्। चतुर्विंशतितत्त्वात्मा, पुमानन्यो निरञ्जनः ॥११९७॥
भोगार्थं प्रकृतेः पुंसां, योगं पङ्ग्वन्धयोरिव। विनोपमानं त्रीण्येव, प्रमाणानि च ते जगुः ॥११९८॥
सांख्यदर्शनसंक्षेपः, प्रोक्तोऽयमथ वर्ण्यते। बौद्धानां दर्शनं प्रोचुर्द्वादशायतनानि ते ॥११९९॥
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्याः, पञ्च स्वान्तं सुखादयः। धर्मश्चेति प्रमाणे द्वे, प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा ॥१२००॥
वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचाराश्च माध्यमिकनामा। बौद्धाश्चतुर्विधाः स्युः, प्राहुर्वैभाषिकास्तत्र ॥१२०१॥
क्षणिकं हि वस्तु जातिर्जनयति तत्स्थापिका स्थितिर्भवति। जर्जरयति च जरा, तन्नाशो नाशयति पुद्गलकम् ॥१२०२॥

विज्ञानरूपसंज्ञाः, संस्कारो वेदनेति चाभिमताः । परलोकगामिनो हि, स्कन्धाः सौत्रान्तिकैर्नाम्ना ॥१२०३॥
क्षणिकः संस्कारगणः, स्वलक्षणं पारमार्थिकं तेषाम् । शब्दार्थोऽन्यापोहो, मोक्षः सन्तानविच्छेदः ॥१२०४॥
योगाचारमते खलु, भुवनं विज्ञानविलसितं सर्वम् । बाह्योऽर्थः सांवृतिकः, प्रकाशते वासनाजालात् ॥१२०५॥
नीलादिवासनागृहमालयविज्ञानमभिमतं तैश्च । तत्संशुद्धिर्मुक्तिः, प्रवृत्तिविज्ञानततिरूपा ॥१२०६॥
माध्यमिकमते सर्वं, स्वप्नाभं मानमेयधीर्मिथ्या । शून्यत्वदशा मुक्तिस्तदर्थमेवाखिलोऽभ्यासः ॥१२०७॥

लोकायत-दर्शनम् ।

लोकायतैः पुनर्मुक्तिनगरी न गरीयसी । मन्यते पुण्यपापादेरभावं ते हि मेनिरे ॥१२०८॥
मानं प्रत्यक्षमेवैषां, तत्त्वं भूतचतुष्टयम् । विषयेन्द्रियदेहाख्या, समुदायेऽस्य जायते ॥१२०९॥
चैतन्यं जायते तेभ्यो, मद्याङ्गेभ्यो मदो यथा । जलबुद्बुदवज्जीवाः, पुमर्थो न स्मराद् ऋते ॥१२१०॥
दृष्टहान्यप्रदृष्टार्थकल्पनादोषसंभवात् । न भूतेभ्यः परं तत्त्वमिति लोकायतस्थितिः ॥१२११॥

मीमांसक-दर्शनम् ।

मीमांसकाः पुनः प्राहुर्वेदपाठादनन्तरम् । कर्तव्या धर्मजिज्ञासा, तन्निमित्तं च चोदना ॥१२१२॥
सा च प्रवर्तकं वाक्यं, धर्मस्तेनैव लक्ष्यते । अभावाद् वक्तृदोषाणां, तत्प्रामाण्यं हि निश्चलम् ॥१२१३॥
प्रत्यक्षमनुमानं चोपमानं शब्द एव च । अर्थापत्तिरभावश्च, षट् प्रमाणानि जैम(मि)नेः ॥१२१४॥

जैनदर्शनम्

अप्रमत्तत्वशिखरे, विवेकाद्रेः स्थिता अमी । जैनास्तु वत्स ! मन्यन्ते, मुक्तिमार्गमिमं शुभम् ॥१२१५॥
जीवाजीवाश्रवा बन्धः, संवरो निर्जरा तथा । मोक्षश्च सप्त तत्त्वानि, ज्ञेयानि हितमिच्छता ॥१२१६॥

ज्ञानमेतत् तथा श्रद्धा, संगत्यागश्च सर्वथा । त्रयं मोक्षपथो ह्येष, सिद्धिर्नैकतरात्यये ॥१२१७॥
नास्मिन् विधिनिषेधानां, विरोधो जैनदर्शने । शुद्धं ह्येतत् कषच्छेदतापलक्षणकोटिभिः ॥१२१८॥
अनन्तपर्ययोपेतं, प्रमेयं द्रव्यमिष्यते । सत्ता तल्लक्षणं सा चोत्पादध्रौव्यव्ययात्मिका ॥१२१९॥
प्रत्यक्षं च परोक्षं च, द्वे प्रमाणे जिनागमे । दिगियं दुस्तरो ह्यत्र, प्रमाणनयविस्तरः ॥१२२०॥
चत्वारो वादिनोऽत्राद्यास्तत्त्वतो मुक्त्यवेदिनः । आत्मानं ते यदिच्छन्ति, नित्यं वा सर्वथा क्षयि ॥१२२१॥
न च नित्यैकरूपस्य, सर्वगत्वेन युज्यते । आत्मनो गमनं मुक्तौ, नष्टत्वान्नश्वरस्य च ॥१२२२॥
तस्मात् तपस्विनो ह्येते, मुक्तिमार्गं न जानते । मोक्षो लोकायतानां तु नीविमोक्षो हि योषिताम् ॥१२२३॥
अतिदुष्टाशयकरं, क्लिष्टसत्त्वविचिन्तितम् । पापश्रुतं सदा धीरैर्वर्ज्यं नास्तिकदर्शनम् ॥१२२४॥
ये सर्वज्ञं निराकृत्य, वेदप्रामाण्यमास्थिताः । निर्वृतिस्तत्त्वतोऽभीष्टा, न तैर्मीमांसकैरपि ॥१२२५॥
भूमिष्ठास्तदिमे सर्वे, न मुक्तिपथदर्शिनः । अप्रमत्तत्वशिखरस्थितास्तद्दर्शिनो जनाः ॥१२२६॥
तन्मिथ्यादर्शनग्रस्ता भवचक्रस्थिता जनाः । तादृशा नाद्रिसानुस्था, निःस्पृहा धूतकल्मषाः ॥१२२७॥
प्रकर्षः प्राह तदिदं, भवचक्रस्य दर्शनम् । महाहास्यकरं सिद्धं, नात्रास्मद्वाञ्छितं किल ॥१२२८॥
संतोषदर्शनायावामागतौ स न वीक्षितः । न च तत्सहिता लोकास्तत् तान् दर्शय साम्प्रतम् ॥१२२९॥
विमर्शः प्राह शिखरे, जैनं पुरमिह स्थितम् । तद्यावोऽत्र यथा मुख्या, दिदृक्षा तव पूर्यते ॥१२३०॥

पञ्चमः
स्तवकः ।

मिथ्या-
दर्शनानां
मुक्त्य-
वेदित्वम्

एवमस्त्विति तेनोक्ते, तौ तत्र नगरे गतौ । दृष्टाश्च मुनयस्तत्र, तपोनिर्धूतकल्मषाः ॥१२३१॥
विमर्शः प्राह ते ह्येते, लोका येऽन्तर्द्विषच्छिदः । त्रसानां स्थावराणां च, बान्धवाः सर्वदेहिनाम् ॥१२३२॥
नादत्तग्राहिणः सत्यवाचोऽमी ब्रह्मचारिणः । निरीहाः स्वशरीरेऽपि, निर्ममा निष्परिग्रहाः ॥१२३३॥
चित्तवृत्तिमहाटव्यामेतेषां सा प्रमत्तता । शुष्का नदी तद्विलासपुलिनं गलितं द्रुतम् ॥१२३४॥
भग्नश्च चित्तविक्षेपमण्डपः पतिताऽखिला । तृष्णाऽऽख्या वेदिका नष्टं, विपर्यासाख्यविष्टरम् ।१२३५॥
महामोहनृपो लीनः, शीर्णाविद्याङ्गयष्टिकः । हतो मिथ्यात्ववेतालस्तथैते[1] रागकेसरी ॥१२३६॥
भिन्नो द्वेषगजेन्द्रोऽपि, विदीर्णो मकरध्वजः । उच्चाटितश्च विषयाभिलाषस्तत्प्रिया हताः ॥१२३७॥
विहिंसितो हासभटो, जुगुप्सा चारतिः क्षते । भयशोकौ विदलितौ, नष्टा दुष्टाशयादयः ॥१२३८॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥
नष्टानि डिम्भरूपाणि, ज्ञानाद्यावरणैः सह । मैत्र्यं ययुर्नृपाश्चैषां, चत्वारः[2] सप्तमध्यगाः ॥१२३९॥
भास्वन्ती ध्यानयोगेन, चित्तवृत्तिः प्रभासते । शान्तसर्वविकारेयमन्यैव हि महात्मनाम् ॥१२४०॥
प्रकर्षः प्राह विदितं, भवता साधु मातुल ! । अमून् दर्शयता नेत्रे, सुधावृष्टिः कृता मम ॥१२४१॥
अद्यापि दर्शनीयोऽसौ, वर्णितो यो महाबलः । स संतोषमहीपालः, कृपालुः सर्वदेहिषु ॥१२४२॥
विमर्शः प्राह विस्तीर्णो, दृश्यते योऽत्र मण्डपः । शुभचित्तसमाधानो, नाम्नाऽत्र वसतां प्रियः ॥१२४३॥

जैनसत्पुर-निवासिनां मुनीनां वर्णनम् ।

१ महामूढतादयो महामोहभार्या. । २ वेदनीयाद्याश्चत्वार ।

विवेकपर्वतस्याप्रमत्तत्वं शिखरम्

स्पृष्टाऽपि दुःखिनो नैनं, भवचक्रगता अपि । भवन्त्यौपधिलिप्ताङ्गा, वह्निपुञ्जस्थिता इव ॥१२७०॥
शिखरं च विवेकाद्रेरिदं दोपनिवर्हणम् । महामोहादिशत्रूणामुच्चाटनकरं परम् ॥१२७१॥
कथञ्चिदागताः शैले, महामोहादिशत्रवः । शिखरादप्रमत्तत्वाल्लोठ्यन्तेऽस्मान्मुनीश्वरैः ॥१२७२॥
इतः सद्भावनायन्त्रमुक्तैर्ध्यानोरुगोलकैः । सैन्यं दन्दह्यते सर्वं महामोहादिभूभुजाम् ॥१२७३॥
विद्यतेऽत्र करग्राह्यं, साम्यकल्पलताफलम् । अधःस्थितैर्यदास्वादः, स्वप्नेऽपि हि न लभ्यते ॥१२७४॥
निवेशितमिह प्रौढं, पुरं जैनं सुखावहम् । पुण्यहीनैर्जनैरेतद् , भवचक्रेऽतिदुर्लभम् ॥१२७५॥
कालेन भूयसा यान्ति, कृच्छ्रात् सात्त्विकमानसे । भवचक्रे ततो यान्ति, पुण्यहीनाः पुनर्जनाः ॥१२७६॥
नवीक्षन्ते विवेकाद्रिं, ततो भूरिगमागमैः । कदाचित् ते प्रपश्यन्ति, नत्वारोहन्ति सस्पृहाः ॥१२७७॥
आरूढा अपि यान्त्यन्ये, भवचक्रे स्वशत्रवः[1] । तत्र स्थिता अपि परे, पश्येयुः शिखरं तु न ॥१२७८॥
दृष्टाऽपि नाधिरोहन्ति, तदन्ये शिथिलाशयाः । तदारूढाः पुनर्धन्या, जैनं पश्यन्ति सत्पुरम् ॥१२७९॥

जैनं सत्पुरम्

इयद्दुर्लभसामग्रीलभ्यसुन्दरदर्शनम् । पुरमेतत् सदानन्दं, मुक्त्यर्थं प्रस्थितैर्जनैः ॥१२८०॥
नैपां प्रयाणभङ्गाय, वासोऽपि विबुधालये । रात्रिस्वापसमः शान्तमहामोहादिविद्विपाम् ॥१२८१॥
प्रकर्षः प्राह पश्यामि, मातुल[2] स्वपि विक्रियाम् । महामोहादिभूपालजनितां भवचक्रवत् ॥१२८२॥

१ आत्मवैरिणः । २ हे मातुल । एष्वपि इत्यन्वयः ।

विम्बेष्विमेऽपि मूर्च्छन्ति, यज्जिनानां लयस्थिताः। स्वाध्यायेषु च रज्यन्ति, स्निह्यन्ति समधर्मसु[1] ॥१२८३॥
तुष्यन्ति सदनुष्ठाने, प्रीयन्ते गुरुदर्शने। हृष्यन्त्यर्थोपलम्भेषु[2], व्रतभङ्गं द्विषन्ति च ॥१२८४॥
आचारलोपे क्रुध्यन्ति, रुष्यन्त्यागमशत्रुषु[3]। माद्यन्ति निर्जरोद्रूपेऽहंकुर्वन्ति प्रतिश्रुते[4] ॥१२८५॥
स्मयन्ते चोपसर्गेभ्योऽवष्टभ्नन्ति परीषहान्। निगृह्णन्त्यागमावज्ञां, वञ्चयन्तीन्द्रियव्रजम् ॥१२८६॥
कामचेष्टां जुगुप्सन्ते, प्रक्षुभ्यन्ति भवभ्रमात्। रमन्ते निर्वृतेर्मार्गे, हसन्ति सुखशीलताम् ॥१२८७॥
उद्विजन्ते श्लथाचाराच्छोचन्ति प्राच्यदुष्कृतम्। गर्हन्ते स्खलितं शीले, निन्दन्ति भवसंभ्रमम् ॥१२८८॥
इत्यादिमोहकार्याणि, दृश्यन्ते खल्वमीष्वपि। भवता तत्कथं प्रोक्ता, मोहाद्यैरुज्झिता अमी ॥१२८९॥सप्तभिः कुलकम् ॥
विमर्शेनोदितं वत्स !, ज्ञेया मोहादयो ह्यमी। मुनीनां बान्धवाः शस्ता, अप्रशस्ताः पुनर्द्विषः ॥१२९०॥ मोहादीनां प्रशस्ताप्रशस्तत्वम्
शस्तैरौदयिकैर्भावैः, क्षायोपशमिकैरिव। नीयन्ते मुनयो ह्यूर्ध्वमप्रशस्तैरधः पुनः ॥१२९१॥
तदमी सज्जना जैना, वर्तन्ते बन्धुभिर्युताः। शत्रुभिः सर्वथा त्यक्ताः, सर्वकल्याणभाजिनः ॥१२९२॥
अयं चित्तसमाधानो, मण्डपः पापखण्डनः। भवप्रपञ्चो भात्यस्मिन्, ज्वलज्ज्वलनसन्निभः ॥१२९३॥ चित्तसमाधानमण्डपः
भस्मीभवत्यविद्याऽस्मिन्, ज्ञानोद्योतो विजृम्भते। छिद्यते कर्मणां ग्रन्थिर्मनोमुद्रा विभिद्यते ॥१२९४॥ निःस्पृहा वेदिका।
एषा निःस्पृहता नाम्नी, वेदिकाऽस्या निरीक्षणात्। नरेन्द्राणां सुरेन्द्राणामपि भूतिर्न रोचते ॥१२९५॥

१ साधर्मिकेषु । २ सदर्थोपलम्भेषु । ३ प्रवचनप्रत्यनीकेषु । ४ प्रतिज्ञातनिर्वाहे ।

स संतोषमहीपालो, जानाम्यत्र भविष्यति। प्रवेष्टव्यं तदत्रेति, प्रविष्टौ तौ शुभाशयौ ॥१२४४॥
ताभ्यां स मण्डपो दृष्टो, विश्वतापव्यथाऽपहः। राजकान्तःस्थितो दृष्टो, नृपस्तत्र चतुर्मुखः ॥१२४५॥
विशालवेदिकाऽऽरूढः, प्रौढसिंहासनस्थितः। सेवितो भूरिलोकेन, नेत्रासेचनकः[1] सताम् ॥१२४६॥
ततः प्रकर्षस्तं दृष्ट्वा, महाऽऽनन्दतरङ्गितः। मातुलं मानसे किञ्चिच्छंशयालुरभाषत ॥१२४७॥
अहो रम्यं पुरं जैनमिदं यत्रेदृशः प्रभुः। इदृक्षो मण्डपो लोकाश्चेदृशा दृष्टिशर्मदाः ॥१२४८॥
यत्रेदृशं विवेकाद्रौ, पुरं स भवचक्रके। स्थितः कथं दोषपूर्णे, विमर्शोऽप्यब्रवीत् ततः ॥१२४९॥
यत्रेदृशं विवेकाद्रौ, पुरं स भवचक्रके। स्थितः कथं दोषपूर्णे, विमर्शोऽप्यब्रवीत् ततः ॥१२४९॥
चित्तवृत्तिमहाटव्यामस्त्यसौ परमार्थतः। उपचारेण विद्वद्भिर्भवचक्रे निगद्यते ॥१२५०॥ युग्मम् ॥
अस्ति येनात्र विस्तीर्णं, पुरं सात्त्विकमानसम्। तत्र स्थितो विवेकाद्रिरुपचारस्ततः कृतः ॥१२५१॥
प्रकर्षः प्राह यद्येवं, तदाधारोऽस्य[2] यद् गिरेः। पुरं सात्त्विकचित्ताख्यं, तद्गता ये बहिर्जनाः ॥१२५२॥
विवेकशैलो यश्चायं, विस्तीर्णं शिखरं च यत्। अप्रमत्तत्वमिह यत्, पुरं जैनं च सुन्दरम् ॥१२५३॥
बहिरङ्गा जना येऽत्र, यः समाधानमण्डपः। सा चेयं वेदिका यच्च, विष्टरं यश्च भूपतिः ॥१२५४॥
यश्चायं परिवारोऽस्य, तत्सर्वं मम कीर्तय। विमर्शः प्राह यद्येवं, शृणु तत् प्रणिधानभाक् ॥१२५५॥ च० क० ॥
यदिदं पर्वताधारः[3], पुरं सात्त्विकमानसम्। स्वयमेव भुनक्त्येतत्, स कर्मपरिणामराट् ॥१२५६॥

१ यस्य दर्शने तृप्तिर्न जायते स आसेचनकः। २ यद् गिरेर्विवेकपर्वतस्याधारस्तत् सात्त्विकचित्ताख्य पुरमित्यन्वयः। ३ पर्वताधारं की० मु।

शुभाशयाद्यैरन्यैश्च, भोजयेत् प्रवरैर्नृपैः। भटभुक्त्या न दत्ते तु, महामोहादिभूभुजाम् ॥१२५७॥
इदं हि भवचक्रोत्थमपि सर्वगुणास्पदम्। पङ्कोत्थमपि किं पद्मं, मन्दिरं न श्रियो भवेत् ॥१२५८॥
सुधामयमिदं स्फीतं, शीतगोरिव मण्डलम्। अर्कविम्बमिव ध्वान्तैर्मुक्तमेतदुपद्रवैः ॥१२५९॥
शीतं चन्दनवच्छायाऽन्वितं नन्दनवृक्षवत्। महेश्वरवदुत्संगविलसत्सर्वमङ्गलम् ॥१२६०॥ युग्मम् ॥
इदं पश्यन्ति नाधन्या, निधानमिव भूस्थितम्। अन्तर्दृष्ट्याऽतिविमलमाकाशस्फटिकोपमम् ॥१२६१॥
अत्रस्थानां विवेकाद्रिरेति दृग्गोचरं[1] नृणाम्। स्थितिरत्रास्य सिद्धाद्रेर्दृष्टौ सिद्धाञ्जनायते ॥१२६२॥
अत्र स्थिता जना रम्याः, पुरस्यैवानुभावतः। अतिरम्याः पुनस्ते स्युर्विवेकशिखरं गताः ॥१२६३॥
अत्र स्थितानां लोकानां, रोचते जैनसत्पुरम्। इक्षुयष्टिरिवोष्ट्राणां, नान्येषां भववासिनाम् ॥१२६४॥
ऊर्ध्वस्थमपि पश्यन्तस्तन्मोदन्तेऽत्रवासिनः। चकोरा इव चन्द्रस्य, पिवन्तः किरणामृतम् ॥१२६५॥
अयं गिरिः पुनर्घोरदुःखनाशकरो नृणाम्। श्रिया गरिष्ठो दृष्टोऽपि, काऽऽरोहस्य तु संकथा ॥१२६६॥ विवेक-गिरिः।
अत्र स्थिताः प्रपश्यन्तो, भवचक्रं करस्थितम्। जनास्ततो विरज्यन्ते, कूटकार्षापणादिव ॥१२६७॥
अत्र स्थितानां स्त्रीवर्गः, स्मशानघटिकाकृतिः। स्मशानधूमसदृशी[2], भाति तत्प्रेमपद्धतिः ॥१२६८॥
नान्यत्र प्रतिवन्धः स्यादस्मिन् दृष्टिपथं गते। भ्रमति भ्रमरोऽन्यत्र, किं दृष्टे मालतीवने ॥१२६९॥

१. गोचरे रा.। २-भूमिसदृशी की. मु.।

स्पृष्ट्वाऽपि दुःखिनो नैनं, भवचक्रगता अपि। भवन्त्यौपधिलिप्ताङ्गा, वह्निपुञ्जस्थिता इव ॥१२७०॥
शिखरं च विवेकाद्रेरिदं दोपनिबर्हणम्। महामोहादिशत्रूणामुच्चाटनकरं परम् ॥१२७१॥
कथञ्चिदागताः शैले, महामोहादिशत्रवः। शिखरादप्रमत्तत्वाल्लोठ्यन्तेऽस्मान्मुनीश्वरैः ॥१२७२॥
इतः सद्भावनायन्त्रमुक्तैर्ध्यानोरुगोलकैः। सैन्यं दन्दह्यते सर्वं महामोहादिभूभुजाम् ॥१२७३॥
विद्यतेऽत्र करग्राह्यं, साम्यकल्पलताफलम्। अधःस्थितैर्यदास्वादः, स्वप्नेऽपि हि न लभ्यते ॥१२७४॥
निवेशितमिह प्रौढं, पुरं जैनं सुखावहम्। पुण्यहीनैर्जनैरेतद्, भवचक्रेऽतिदुर्लभम् ॥१२७५॥
कालेन भूयसा यान्ति, कृच्छ्रात् सात्त्विकमानसे। भवचक्रे ततो यान्ति, पुण्यहीनाः पुनर्जनाः ॥१२७६॥
नत्रीक्षन्ते विवेकाद्रिं, ततो भूरिगमागमैः। कदाचित् ते प्रपश्यन्ति, नत्वारोहन्ति सस्पृहाः ॥१२७७॥
आरूढा अपि यान्त्यन्ये, भवचक्रे स्वशत्रवः[1]। तत्र स्थिता अपि परे, पश्येयुः शिखरं तु न ॥१२७८॥
दृष्ट्वाऽपि नाधिरोहन्ति, तदन्ये शिथिलाशयाः। तदारूढाः पुनर्धन्या, जैनं पश्यन्ति सत्पुरम् ॥१२७९॥
इयद्दुर्लभसामग्रीलभ्यसुन्दरदर्शनम्। पुरमेतत् सदानन्दं, मुक्त्यर्थं प्रस्थितैर्जनैः ॥१२८०॥
नैषां प्रयाणभङ्गाय, वासोऽपि विबुधालये। रात्रिस्वापसमः शान्तमहामोहादिविद्विषाम् ॥१२८१॥
प्रकर्षः प्राह पश्यामि, मातुलैष्वपि[2] विक्रियाम्। महामोहादिभूपालजनितां भवचक्रवत् ॥१२८२॥

१ आत्मवैरिणः। २ हे मातुल! एष्वपि इत्यन्वय.।

बिम्बेष्विमेऽपि मूर्च्छन्ति, यज्जिनानां लयस्थिताः । स्वाध्यायेषु च रज्यन्ति, स्निह्यन्ति संमधर्मसु ॥१२८३॥
तुष्यन्ति सदनुष्ठाने, प्रीयन्ते गुरुदर्शने । हृष्यन्त्यर्थोपलम्भेषु, व्रतभङ्गं द्विपन्ति च ॥१२८४॥
आचारलोपे क्रुध्यन्ति, रुष्यन्त्यागमशत्रुषु । माद्यन्ति निर्जरोद्दर्पेऽहंकुर्वन्ति प्रतिश्रुते ॥१२८५॥
स्मयन्ते चोपसर्गेभ्योऽवष्टभ्नन्ति परीषहान् । निगृह्णन्त्यागमावज्ञां, वञ्चयन्तीन्द्रियव्रजम् ॥१२८६॥
कामचेष्टां जुगुप्सन्ते, प्रक्षुभ्यन्ति भवभ्रमात् । रमन्ते निर्वृतेर्मार्गे, हसन्ति सुखशीलताम् ॥१२८७॥
उद्विजन्ते श्लथाचाराच्छोचन्ति प्राच्यदुष्कृतम् । गर्हन्ते स्खलितं शीले, निन्दन्ति भवसंभ्रमम् ॥१२८८॥
इत्यादिमोहकार्याणि, दृश्यन्ते खल्वमीष्वपि । भवता तत्कथं प्रोक्ता, मोहाद्यैरुज्झिता अमी ॥१२८९॥सप्तभिः कुलकम् ॥
विमर्शेनोदितं वत्स !, ज्ञेया मोहादयो ह्यमी । मुनीनां बान्धवाः शस्ता, अप्रशस्ताः पुनर्द्विपः ॥१२९०॥
शस्तैरौदयिकैर्भावैः, क्षायोपशमिकैरिव । नीयन्ते मुनयो ह्यूर्ध्वमप्रशस्तैरधः पुनः ॥१२९१॥
तदमी सज्जना जैना, वर्तन्ते बन्धुभिर्युताः । शत्रुभिः सर्वथा त्यक्ताः, सर्वकल्याणभाजिनः ॥१२९२॥
अयं चित्तसमाधानो, मण्डपः पापखण्डनः । भवप्रपञ्चो भात्यस्मिन्, ज्वलज्ज्वलनसन्निभः ॥१२९३॥
भस्मीभवत्यविद्याऽस्मिन्, ज्ञानोद्योतो विजृम्भते । छिद्यते कर्मणां ग्रन्थिर्मनोमुद्रा विभिद्यते ॥१२९४॥
एषा निःस्पृहता नाम्नी, वेदिकाऽस्या निरीक्षणात् । नरेन्द्राणां सुरेन्द्राणामपि भूतिर्न रोचते ॥१२९५॥

मोहादीनां प्रशस्ताप्रशस्तत्वम्

चित्तसमाधानमण्टपः निःस्पृहा वेदिका ।

१ साधर्मिकेषु । २ सदर्थोपलम्भेषु । ३ प्रवचनप्रत्यनीकेषु । ४ प्रतिज्ञातनिर्वाहे ।

स्पृष्टाऽपि दुःखिनो नैनं, भवचक्रगता अपि। भवन्त्यौपधिलिप्ताङ्गा, वह्निपुञ्जस्थिता इव ॥१२७०॥
शिखरं च विवेकाद्रेरिदं दोषनिबर्हणम्। महामोहादिशत्रूणामुच्चाटनकरं परम् ॥१२७१॥
कथञ्चिदागताः शैले, महामोहादिशत्रवः। शिखरादप्रमत्तत्वाल्लोठ्यन्तेऽस्मान्मुनीश्वरैः ॥१२७२॥
इतः सद्भावनायन्त्रमुक्तैर्ध्यानोरुगोलकैः। सैन्यं दन्दह्यते सर्वं महामोहादिभूभुजाम् ॥१२७३॥
विद्यतेऽत्र करग्राह्यं, साम्यकल्पलताफलम्। अधःस्थितैर्यदास्वादः, स्वप्नेऽपि हि न लभ्यते ॥१२७४॥
निवेशितमिह प्रौढं, पुरं जैनं सुखावहम्। पुण्यहीनैर्जनैरेतद्, भवचक्रेऽतिदुर्लभम् ॥१२७५॥
कालेन भूयसा यान्ति, कृच्छ्रात् सात्त्विकमानसे। भवचक्रे ततो यान्ति, पुण्यहीनाः पुनर्जनाः ॥१२७६॥
नवीक्षन्ते विवेकाद्रिं, ततो भूरिगमागमैः। कदाचित् ते प्रपश्यन्ति, नत्वारोहन्ति सस्पृहाः ॥१२७७॥
आरूढा अपि यान्त्यन्ये, भवचक्रे स्वशत्रवः[1]। तत्र स्थिता अपि परे, पश्येयुः शिखरं तु न ॥१२७८॥
दृष्ट्वाऽपि नाधिरोहन्ति, तदन्ये शिथिलाशयाः। तदारूढाः पुनर्धन्या, जैनं पश्यन्ति सत्पुरम् ॥१२७९॥
इयद्दुर्लभसामग्रीलभ्यसुन्दरदर्शनम्। पुरमेतत् सदानन्दं, मुक्त्यर्थं प्रस्थितैर्जनैः ॥१२८०॥
नैषां प्रयाणभङ्गाय, वासोऽपि विबुधालये। रात्रिस्वापसमः शान्तमहामोहादिविद्विपाम् ॥१२८१॥
प्रकर्षः प्राह पश्यामि, मातुल[2]ैष्वपि विक्रियाम्। महामोहादिभूपालजनितां भवचक्रवत् ॥१२८२॥

१ आत्मवैरिणः। २ हे मातुल! एष्वपि इत्यन्वय।

बिम्बेष्विमेऽपि मूर्च्छन्ति, यज्जिनानां लयस्थिताः। स्वाध्यायेषु च रज्यन्ति, स्निह्यन्ति समधर्मसु ॥१२८३॥
तुष्यन्ति सदनुष्ठाने, प्रीयन्ते गुरुदर्शने। हृष्यन्त्यर्थोपलम्भेषु, व्रतभङ्गं द्विषन्ति च ॥१२८४॥
आचारलोपे क्रुध्यन्ति, रुष्यन्त्यागमशत्रुषु। माद्यन्ति निर्जरोद्दर्पेऽहंकुर्वन्ति प्रतिश्रुते ॥१२८५॥
स्मयन्ते चोपसर्गेभ्योऽवष्टभ्नन्ति परीषहान्। निगृह्णन्त्यागमावज्ञां, वञ्चयन्तीन्द्रियव्रजम् ॥१२८६॥
कामचेष्टां जुगुप्सन्ते, प्रक्षुभ्यन्ति भवभ्रमात्। रमन्ते निर्वृतेर्मार्गे, हसन्ति सुखशीलताम् ॥१२८७॥
उद्विजन्ते श्लथाचाराच्छोचन्ति प्राच्यदुष्कृतम्। गर्हन्ते स्खलितं शीले, निन्दन्ति भवसंभ्रमम् ॥१२८८॥
इत्यादिमोहकार्याणि, दृश्यन्ते खल्वमीष्वपि। भवता तत्कथं प्रोक्ता, मोहाद्यैरुज्झिता अमी ॥१२८९॥सप्तभिः कुलकम्॥
विमर्शेनोदितं वत्स !, ज्ञेया मोहादयो ह्यमी। मुनीनां बान्धवाः शस्ता, अप्रशस्ताः पुनर्द्विषः ॥१२९०॥
शस्तैरौदयिकैर्भावैः, क्षायोपशमिकैरिव। नीयन्ते मुनयो ह्यूर्ध्वमप्रशस्तैरधः पुनः ॥१२९१॥
तदमी सज्जना जैना, वर्तन्ते बन्धुभिर्युताः। शत्रुभिः सर्वथा त्यक्ताः, सर्वकल्याणभाजिनः ॥१२९२॥
अयं चित्तसमाधानो, मण्डपः पापखण्डनः। भवप्रपञ्चो भात्यस्मिन्, ज्वलज्ज्वलनसन्निभः ॥१२९३॥
भस्मीभवत्यविद्याऽस्मिन्, ज्ञानोद्योतो विजृम्भते। छिद्यते कर्मणां ग्रन्थिर्मनोमुद्रा विभिद्यते ॥१२९४॥
एषा निःस्पृहता नाम्नी, वेदिकाऽस्या निरीक्षणात्। नरेन्द्राणां सुरेन्द्राणामपि भूतिर्न रोचते ॥१२९५॥

मोहादीनां प्रशस्ताप्रशस्तत्वम्

चित्तसमाधानमण्डपः निःस्पृहा वेदिका।

१ साधर्मिकेषु। २ सदर्थोपलम्भेषु। ३ प्रवचनप्रत्यनीकेषु। ४ प्रतिज्ञातनिर्वाहे।

स्पृष्टाऽपि दुःखिनो नैनं, भवचक्रगता अपि । भवन्त्यौपधिलिप्ताङ्गा, वह्निपुञ्जस्थिता इव ॥१२७०॥
शिखरं च विवेकाद्रेरिदं दोषनिबर्हणम् । महामोहादिशत्रूणामुच्चाटनकरं परम् ॥१२७१॥
कथञ्चिदागताः शैले, महामोहादिशत्रवः । शिखरादप्रमत्तत्वाल्लोठ्यन्तेऽस्मान्मुनीश्वरैः ॥१२७२॥
इतः सद्भावनायन्त्रमुक्तैर्ध्यानोरुगोलकैः । सैन्यं दन्दह्यते सर्वं महामोहादिभूभुजाम् ॥१२७३॥
विद्यतेऽत्र करग्राह्यं, साम्यकल्पलताफलम् । अधःस्थितैर्यदास्वादः, स्वप्नेऽपि हि न लभ्यते ॥१२७४॥
निवेशितमिह प्रौढं, पुरं जैनं सुखावहम् । पुण्यहीनैर्जनैरेतद् , भवचक्रेऽतिदुर्लभम् ॥१२७५॥
कालेन भूयसा यान्ति, कृच्छ्रात् सात्त्विकमानसे । भवचक्रे ततो यान्ति, पुण्यहीनाः पुनर्जनाः ॥१२७६॥
नत्वीक्षन्ते विवेकाद्रिं, ततो भूरिगमागमैः । कदाचित् ते प्रपश्यन्ति, नत्वारोहन्ति सस्पृहाः ॥१२७७॥
आरूढा अपि यान्त्यन्ये, भवचक्रे स्वशत्रवः[1] । तत्र स्थिता अपि परे, पश्येयुः शिखरं तु न ॥१२७८॥
दृष्ट्वाऽपि नाधिरोहन्ति, तदन्ये शिथिलाशयाः । तदारूढाः पुनर्धन्या, जैनं पश्यन्ति सत्पुरम् ॥१२७९॥
इयद्दुर्लभसामग्रीलभ्यसुन्दरदर्शनम् । पुरमेतत् सदानन्दं, मुक्त्यर्थं प्रस्थितैर्जनैः ॥१२८०॥
नैषां प्रयाणभङ्गाय, वासोऽपि विबुधालये । रात्रिस्वापसमः शान्तमहामोहादिविद्विषाम् ॥१२८१॥
प्रकर्षः प्राह पश्यामि, मातुलैष्वपि[2] विक्रियाम् । महामोहादिभूपालजनितां भवचक्रवत् ॥१२८२॥

१ आत्मवैरिणः । २ हे मातुल ! एष्वपि इत्यन्वय. ।

बिम्बेष्विमेऽपि मूर्च्छन्ति, यज्जिनानां लयस्थिताः । स्वाध्यायेषु च रज्यन्ति, स्निह्यन्ति संमधर्मसु[1] ॥१२८३॥

तुष्यन्ति सदनुष्ठाने, प्रीयन्ते गुरुदर्शने । हृष्यन्त्यर्थोपलम्भेषु[2], व्रतभङ्गं द्विषन्ति च ॥१२८४॥

आचारलोपे कुप्यन्ति, रुष्यन्त्यागमशत्रुषु[3] । माद्यन्ति निर्जरोद्दर्पेऽहंकुर्वन्ति प्रतिश्रुते[4] ॥१२८५॥

स्मयन्ते चोपसर्गेभ्योऽवष्टभ्नन्ति परीषहान् । निगृह्णन्त्यागमावज्ञां, वञ्चयन्तीन्द्रियव्रजम् ॥१२८६॥

कामचेष्टां जुगुप्सन्ते, प्रक्षुभ्यन्ति भवभ्रमात् । रमन्ते निर्वृतेर्मार्गे, हसन्ति सुखशीलताम् ॥१२८७॥

उद्विजन्ते श्लथाचाराच्छोचन्ति प्राच्यदुष्कृतम् । गर्हन्ते स्खलितं शीले, निन्दन्ति भवसंभ्रमम् ॥१२८८॥

इत्यादिमोहकार्याणि, दृश्यन्ते खल्वमीष्वपि । भवता तत्कथं प्रोक्ता, मोहाद्यैरुज्झिता अमी ॥१२८९॥सप्तभिः कुलकम् ॥

विमर्शेनोदितं वत्स !, ज्ञेया मोहादयो ह्यमी । मुनीनां बान्धवाः शस्ता, अप्रशस्ताः पुनर्द्विषः ॥१२९०॥

शस्तैरौदयिकैर्भावैः, क्षायोपशमिकैरिव । नीयन्ते मुनयो ह्यूर्ध्वमप्रशस्तैरधः पुनः ॥१२९१॥

तदमी सज्जना जैना, वर्तन्ते बन्धुभिर्युताः । शत्रुभिः सर्वथा त्यक्ताः, सर्वकल्याणभाजिनः ॥१२९२॥

अयं चित्तसमाधानो, मण्डपः पापखण्डनः । भवप्रपञ्चो भात्यस्मिन्, ज्वलज्ज्वलनसन्निभः ॥१२९३॥

भस्मीभवत्यविद्याऽस्मिन्, ज्ञानोद्योतो विजृम्भते । छिद्यते कर्मणां ग्रन्थिर्मनोमुद्रा विभिद्यते ॥१२९४॥

एषा निःस्पृहता नाम्नी, वेदिकाऽस्या निरीक्षणात् । नरेन्द्राणां सुरेन्द्राणामपि भूतिर्न रोचते ॥१२९५॥

मोहादीनां प्रशस्ताप्रशस्तत्वम्

चित्तसमाधानमण्डपः निःस्पृहा वेदिका ।

१ धार्मिकेषु । २ सदर्थोपलम्भेषु । ३ प्रवचनप्रत्यनीकेषु । ४ प्रतिज्ञातनिर्वाहे ।

स्पृष्टाऽपि दुःखिनो नैनं, भवचक्रगता अपि। भवन्त्यौषधिलिप्ताङ्गा, वह्निपुञ्जस्थिता इव ॥१२७०॥
शिखरं च विवेकाद्रेरिदं दोषनिबर्हणम्। महामोहादिशत्रूणामुच्चाटनकरं परम् ॥१२७१॥
कथञ्चिदागताः शैले, महामोहादिशत्रवः। शिखरादप्रमत्तत्वाल्लोठ्यन्तेऽस्मान्मुनीश्वरैः ॥१२७२॥
इतः सद्भावनायन्त्रमुक्तैर्ध्यानोरुगोलकैः। सैन्यं दन्दह्यते सर्वं महामोहादिभूभुजाम् ॥१२७३॥
विद्यतेऽत्र करग्राह्यं, साम्यकल्पलताफलम्। अधःस्थितैर्यदास्वादः, स्वप्नेऽपि हि न लभ्यते ॥१२७४॥
निवेशितमिह प्रौढं, पुरं जैनं सुखावहम्। पुण्यहीनैर्जनैरेतद्, भवचक्रेऽतिदुर्लभम् ॥१२७५॥
कालेन भूयसा यान्ति, कृच्छ्रात् सात्त्विकमानसे। भवचक्रे ततो यान्ति, पुण्यहीनाः पुनर्जनाः ॥१२७६॥
नत्वीक्षन्ते विवेकाद्रिं, ततो भूरिगमागमैः। कदाचित् ते प्रपश्यन्ति, नत्वारोहन्ति सस्पृहाः ॥१२७७॥
आरूढा अपि यान्त्यन्ये, भवचक्रे स्वशत्रवः[1]। तत्र स्थिता अपि परे, पश्येयुः शिखरं तु न ॥१२७८॥
दृष्ट्वाऽपि नाधिरोहन्ति, तदन्ये शिथिलाशयाः। तदारूढाः पुनर्धन्या, जैनं पश्यन्ति सत्पुरम् ॥१२७९॥
इयद्दुर्लभसामग्रीलभ्यसुन्दरदर्शनम्। पुरमेतत् सदानन्दं, मुक्त्यर्थं प्रस्थितैर्जनैः ॥१२८०॥
नैषां प्रयाणभङ्गाय, वासोऽपि विबुधालये। रात्रिस्वापसमः शान्तमहामोहादिविद्विषाम् ॥१२८१॥
प्रकर्षः प्राह पश्यामि, मातुलैष्वपि[2] विक्रियाम्। महामोहादिभूपालजनितां भवचक्रवत् ॥१२८२॥

१ आत्मवैरिण. । २ हे मातुल! एष्वपि इत्यन्वयः ।

बिम्बेष्विमेऽपि मूर्च्छन्ति, यज्जिनानां लयस्थिताः। स्वाध्यायेषु च रज्यन्ति, स्निह्यन्ति समधर्मसु ॥१२८३॥
तुष्यन्ति सदनुष्ठाने, प्रीयन्ते गुरुदर्शने। हृष्यन्त्यर्थोपलम्भेषु, व्रतभङ्गं द्विषन्ति च ॥१२८४॥
आचारलोपे क्रुध्यन्ति, रुष्यन्त्यागमशत्रुषु। माद्यन्ति निर्जरोद्दर्पेऽहंकुर्वन्ति प्रतिश्रुते ॥१२८५॥
स्मयन्ते चोपसर्गेभ्योऽवष्टभ्नन्ति परीषहान्। निगृह्णन्त्यागमावज्ञां, वञ्चयन्तीन्द्रियव्रजम् ॥१२८६॥
कामचेष्टां जुगुप्सन्ते, प्रक्षुभ्यन्ति भवभ्रमात्। रमन्ते निर्वृतेर्मार्गे, हसन्ति सुखशीलताम् ॥१२८७॥
उद्विजन्ते श्लथाचाराच्छोचन्ति प्राच्यदुष्कृतम्। गर्हन्ते स्खलितं शीले, निन्दन्ति भवसंभ्रमम् ॥१२८८॥
इत्यादिमोहकार्याणि, दृश्यन्ते खल्वमीष्वपि। भवता तत्कथं प्रोक्ता, मोहाद्यैरुज्झिता अमी ॥१२८९॥सप्तभिः कुलकम्॥
विमर्शेनोदितं वत्स!, ज्ञेया मोहादयो ह्यमी। मुनीनां बान्धवाः शस्ता, अप्रशस्ताः पुनर्द्विषः ॥१२९०॥
शस्तैरौदयिकैर्भावैः, क्षायोपशमिकैरिव। नीयन्ते मुनयो ह्यूर्ध्वमप्रशस्तैरधः पुनः ॥१२९१॥
तदमी सज्जना जैना, वर्तन्ते बन्धुभिर्युताः। शत्रुभिः सर्वथा त्यक्ताः, सर्वकल्याणभाजिनः ॥१२९२॥
अयं चित्तसमाधानो, मण्डपः पापखण्डनः। भवप्रपञ्चो भात्यस्मिन्, ज्वलज्ज्वलनसन्निभः ॥१२९३॥
भस्मीभवत्यविद्याऽस्मिन्, ज्ञानोद्योतो विजृम्भते। छिद्यते कर्मणां ग्रन्थिर्मनोमुद्रा विभिद्यते ॥१२९४॥
एषा निःस्पृहता नाम्नी, वेदिकाऽस्या निरीक्षणात्। नरेन्द्राणां सुरेन्द्राणामपि भूतिर्न रोचते ॥१२९५॥

मोहादीनां प्रशस्ताप्रशस्तत्वम्

चित्तसमाधानमण्डपः निःस्पृहा वेदिका।

१ गार्धिकेषु। २ सदर्थोपलम्भेषु। ३ प्रवचनप्रत्यनीकेषु। ४ प्रतिज्ञातनिर्वाहे।

द्रष्टुमेनां गुणभृतां, मोहाद्याः शक्नुवन्ति न । द्विपमुक्तागणाकीर्णां, मृगाः सिंहगुहामिव ॥१२९६॥
जीववीर्यमिदं स्पष्टं, विष्टरं कान्तिभासुरम् । राजा तद्धाम राज्यं च, प्रभावादस्य जृम्भते ॥१२९७॥
बिभर्त्यस्य महिम्नैव, विवेकाद्रिर्गरिष्ठताम् । भास्वन्मणिसमूहेन, रोहणाद्रिरिव स्फुटम् ॥१२९८॥
विनेदं निखिलं राज्यं, मोहाद्यैः प्रविलुप्यते । वीर्यं विनाऽङ्गिनामङ्गं, कुपितैरिव धातुभिः ॥१२९९॥
दध्यौ प्रकर्षस्तच्छ्रुत्वा, तद्धि सात्त्विकमानसम् । अकामनिर्जरापेक्षं, वीर्यं मिथ्यादृशां हि यत् ॥१३००॥
लोकास्ते चात्र वास्तव्या, येऽनेन धुतकल्मषाः । एतद्वासप्रभावेण, प्रयान्ति विबुधालयम् ॥१३०१॥
धनपुत्रकलत्रादेः, शरीरात् कर्मणस्तथा । भिन्नोऽहं परिभिद्यन्ते, मत्तो मोहादिशत्रवः ॥१३०२॥
अज्ञात्वाऽप्यागमं जैनं, कर्मनिर्जरणेन या । भवत्येवंविधा बुद्धिः, स विवेकोऽभिगीयते ॥१३०३॥युग्मम् ॥
कषायविषयत्यागो, यो भवेद् दोषलाघवात् । अप्रमत्तत्वशिखरं, विवेकाद्रेस्तदिष्यते ॥१३०४॥
असद्ग्रहनिवृत्त्याऽत्र, दृष्टिर्मार्गानुसारिणी । भवत्येकपदी मुक्तेः, प्रापिकाऽन्यमतेष्वपि ॥१३०५॥
महाराजपथो मुक्तेश्चतुर्वर्णविराजितम् । द्वादशाङ्गं पुनर्जैनं, वचनं पुरमुच्यते ॥१३०६॥
तदादेशकृतस्तत्र, वास्तव्याः कीर्तिता जनाः । उक्तोऽत्र मण्डपो, वेदी विष्टरं च स्फुटाक्षरैः ॥१३०७॥
ततो येन मया बुद्धमियद्भावार्थसंयुतम् । नृपं तत्परिवारं च, सोऽहं भोत्स्ये न संशयः ॥१३०८॥
बोधावष्टम्भतोऽथाह, स पुरो ब्रूहि मातुल ! । स प्राह वत्स ! राजाऽयं, चतुर्वदनभूपतिः ॥१३०९॥

जीववीर्यं विष्टरम्

सात्त्विक-चित्तादीनां भावार्थः ।

चारित्रधर्मो विख्यातोऽनन्तवीर्यो जगद्धितः। समृद्धः कोशदण्डाभ्यां, गुणरत्नमहोदधिः ॥१३१०॥युग्मम् ॥
वक्त्राणि दानं शीलं च, तपः शुद्धं च भावनम्। अस्यैषां कीर्तयाम्युच्चैः, स्वरूपं ते पृथक् पृथक् ॥१३११॥
दापयत्यभयज्ञानं, धर्मोपष्टम्भकं तथा। दानं दानाभिधं वक्त्रं, दुष्टं दानं न जल्पति ॥१३१२॥
अष्टादश सहस्राणि, शीलाङ्गानि प्रभापते। शीलास्येन नृपो यानि, तानि बिभ्रति साधवः ॥१३१३॥
निर्निदानं निराबाधं, ज्ञानसंवेगगर्भितम्। अभिधत्ते तपोवक्त्रं, शमशर्मकरं तपः ॥१३१४॥
भाव्या भवस्य नाशार्थमनित्यत्वादिभावनाः। इत्याह भूपतेः पूतमाननं शुद्धभावनम् ॥१३१५॥
मुखैश्चतुर्भिर्भूपोऽयं, लोकानां हितमादिशन्। एभिः सौख्याय सर्वेषां, पीयूषं कस्य दुःखदम् ॥१३१६॥
अर्धासने निविष्टाऽस्य, दृश्यते या मृगेक्षणा। भार्येयं विरतिर्नाम, भूपतेर्भाग्यशालिनः ॥१३१७॥
धर्मकर्णान्तविश्रान्तज्ञानदर्शनचक्षुषः। निरीक्ष्य रूपमेतस्या, न मज्जन्ति सुधासु के ॥१३१८॥
समानगुणवीर्येयं, भूभुजाऽनेन वर्णिनी। हृदयानन्दजननी, कल्पवल्लीव कामदा ॥१३१९॥
दृश्यन्ते पञ्च यस्यैते, नृपा निकटवर्तिनः। स्वाङ्गभूता वयस्यास्ते, भूपतेर्भूरितेजसः ॥१३२०॥
आद्यः सामायिकाख्योऽयं, सतां पापमपोहति। छेदोपस्थापनो हन्ति, द्वितीयस्तद्विशेषतः ॥१३२१॥
परिहारविशुद्धीयस्तृतीयस्तु महीपतिः। मुनीनां दर्शयत्युग्रं, तपोऽष्टादशमासिकम् ॥१३२२॥

चारित्रधर्मराजः। तस्य दानादयश्चत्वारि मुखानि

विरतिर्भार्या।

सामायिकादिचारित्रपञ्चकम्।

1 नगत. प्रियगभगं मोहनाशार्थं सज्ज्ञान तथा धर्मोपष्टम्भकमाहारवस्त्रपात्रादि पात्रेभ्यो दीयतामिति कथयति, दुष्टं गवाश्वभूमिसुवर्णादिदान गुणाभावाद् न जल्पति।

तुर्यः सूक्ष्मसंपरायो, हन्ति सूक्ष्मं रजोऽप्ययम् । पञ्चमश्च यथाख्यातः, प्राणाश्चारित्रभूपतेः ॥१३२३॥
यश्चैष मूलभूपस्य, निकटे वत्स ! दृश्यते । तमस्य यतिधर्माख्यं, विद्धि राज्यधरं सुतम् ॥१३२४॥
मुनयो ये बहिर्दृष्टास्तेषामेषोऽतिवल्लभः । मानुषैर्दशभिर्यैश्च, युक्तोऽसौ तान्यथो शृणु ॥१३२५॥
योषिदाद्या क्षमा नाम, वल्लभा शमिनां सदा । निरोधं रोषपोषस्य, तेषामेषा दिशत्यहो ॥१३२६॥
द्वितीयं मार्दवं नाम, डिम्भरूपमिदं विदुः । गुरवोऽपि गुणैरस्य, वीर्याद् बिभ्रति नम्रताम् ॥१३२७॥
तृतीयमार्जवं नाम, डिम्भरूपमिदं पुनः । मनः करोति साधूनां, सरलं मलवर्जितम् ॥१३२८॥
चतुर्थी मुक्तता योषित् , करोति शमिनां मनः । निस्संगं बहिरन्तश्च, शुद्धस्फटिकनिर्मलम् ॥१३२९॥
तपोयोग इति ख्यातो, विशुद्धः पञ्चमो नरः । क्षिणोति कर्म शमिनां, बाह्याभ्यन्तरभेदभाक् ॥१३३०॥
यस्त्वयं दृश्यते वत्स, षष्ठः शमवतां प्रियः । स सप्तदशभिर्भेदैः, पूतः संयमभूपतिः ॥१३३१॥
पञ्चाश्रवाद् विरमणं, पञ्चेन्द्रियविनिग्रहः । कषायदण्डविरती, भिदाः सप्तदशेत्यमूः ॥१३३२॥
सप्तमः सत्यनामायमस्यादेशेन साधवः । हितं मितं च भाषन्ते, जगदाह्लादकृद्वचः ॥१३३३॥
अष्टमोऽत्र नृपः शौचाभिधानो मुनिपुङ्गवाः । द्रव्यभावात्मिकां शुद्धिमस्यादेशाद् वितन्वते ॥१३३४॥
यड्डिम्भरूपं नवममाकिञ्चन्यं मनोहरम् । मुनिभिर्मोचयत्येतद्, बाह्यान्तरपरिग्रहम् ॥१३३५॥
दिव्यौदारिककामानां, त्रिविधानां त्रिधा शमात् । दशमं डिम्भरूपं च, ब्रह्म कारयति स्फुटम् ॥१३३६॥

यतिधर्माख्यं पुत्रम्, तस्य च दश भेदाः ।

तदेष दशभिर्युक्तो, यतिधर्मोऽत्र मानुपैः । शोभां बिभर्ति सुपमाकालः कल्पद्रुमैरिव ॥१३३७॥
सद्भावसारताऽऽख्येयं, भार्याऽस्य गुणरत्नभूः । म्रियतेऽस्यां मृतायां हि, जीवन्त्यामेष जीवति ॥१३३८॥
निशाशशाङ्कयोर्यद्वद्, गौरीगिरीशयोर्यथा । दाम्पत्यमनयोस्तद्वन्निर्मिथ्यस्नेहनिर्भरम् ॥१३३९॥
जिनैः किमप्यनुज्ञातं, निषिद्धं वा न सर्वथा । भाव्यं सद्भावसारेणेत्येषाऽऽज्ञा पारमेश्वरी ॥१३४०॥
चारित्रधर्मस्तदिमां, विरहय्य न तिष्ठति । [1]स्नेहलः क्षणमप्येकं, प्राणेभ्योऽप्यधिकां प्रियाम् ॥१३४१॥
द्वितीयो दृश्यते यश्च, जितमारः कुमारकः । गृहिधर्माभि[2]धोऽस्यैव, कनिष्ठोऽयं सहोदरः ॥१३४२॥
अयं च कुरुते वत्स, युक्तो द्वादशमानुपैः । निवृत्तं स्थूलहिंसायाः स्थूलालीकाच्च मानवम् ॥१३४३॥
स्थूलचौर्यान्निवृत्तं च, परदारपराङ्मुखम् । कृतेच्छापरिमाणं च, परित्यक्तनिशाऽशनम् ॥१३४४॥
दिग्व्रते दृढताभाजं, युक्तभोगोपभोगकम् । अनर्थदण्डविरतं, श्रेष्ठसामायिकाशयम् ॥१३४५॥
देशावकाशिकरतं, धृतपौपधनिश्चयम् । पूतस्वान्तं तथाऽत्यर्थमतिथेः संविभागतः ॥१३४६॥ चतुर्भिः कलापकम् ॥
कर्तुं यो यावदेवालं, तस्य तावद् ददत् फलम् । असौ न विमुखं कञ्चिद् वालयत्यमलाशयः ॥१३४७॥
एषा च दृश्यतेऽस्यैव, भार्या सद्गुणरक्तता । [3]स्वगेहशुद्धिकृन्नित्यमतिथिप्रतिपत्तिकृत् ॥१३४८॥
भार्यया सहितावेतौ, लोकानां भूपतेः सुतौ । प्रकृत्यैवोपकर्तारौ, सूर्याचन्द्रमसाविव ॥१३४९॥

यतिधर्मस्य सद्भावसारता पत्नी ।

गृहिधर्माभिधः कनिष्ठः पुत्रः ।

अस्य सद्गुणरक्तता भार्या ।

---

१ स्नेहलक्षण- डे. शा. की. मु. । २-भिधोऽप्येवं की. मु । ३ स्वदेह—की. मु.—रा. ।

सम्यग्दर्शननामाऽयं, पित्रा च परिपालकः । महत्तमोऽनयोर्योग्यश्चक्रे वक्रेतराशयः ॥१३५०॥
एतौ नानेन रहितौ, दृश्येते च कदाचन । अर्थप्रकाशनपरे, नयने तेजसा यथा ॥१३५१॥
एतौ प्रवर्धयत्येष, वत्सलो निकटस्थितः । सप्ततत्त्वशुचिश्रद्धासुधापानैर्निरन्तरम् ॥१३५२॥
शमसंवेगनिर्वेदकृपाऽऽस्तिक्यैर्युतं जनम् । मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थैश्च करोत्ययम् ॥१३५३॥
प्रस्थापने रसोऽमुष्य मुक्तौ प्रतिजनं महान् । सदोल्लसत्यविश्रान्तदेशनाडिण्डिमध्वनिः ॥१३५४॥
चन्द्रोज्ज्वलरुचिर्येषा, दृश्यते च मनोहरा । सुदृष्टिनाम्नीमस्यैव, पत्नीं तां विद्धि विश्रुताम् ॥१३५५॥
आराद्धा विधिना ह्येषा, कुर्याच्चित्तं स्थिरं नृणाम् । अविद्याजनिता भावाः, क्षीयन्तेऽस्याः प्रभावतः ॥१३५६॥
यः कुदृष्ट्याऽन्वितः प्रोक्तो, मिथ्यादर्शननामकः । विरुद्धं चेष्टितं सर्वं, ततोऽस्य प्रमदाजुषः ॥१३५७॥
महत्तमो मोहबले, मिथ्यादर्शननामकः । यथा चारित्रधर्मस्य, तथाऽसौ नृपतेर्बले ॥१३५८॥
क्षयेण प्रतिपक्षस्य, प्रशमेनोभयेन वा । त्रिरूपश्च भवत्येष, स्वभावादेव शक्तिमान् ॥१३५९॥
यद्वा रूपत्रयं तस्य, मन्त्री सद्बोधनामकः । कुरुतेऽयं हि जानीते, भवद् भूतं च भावि च ॥१३६०॥
सूक्ष्मव्यवहितार्थेषु, छन्नं नास्त्यस्य किञ्चन । अनन्तद्रव्यपर्यायं, प्रेक्षतेऽसौ चराचरम् ॥१३६१॥
नीतीनां पारदृश्वाऽसौ, राज्यकार्यविचिन्तकः । वत्सलो नरनाथस्य, महत्तममनःप्रियः ॥१३६२॥
ज्ञानसंवरणस्यायं, विपक्षो मन्त्रिपुङ्गवः । क्षयोपशमतस्तस्य, क्षयाद् वोभयरूपभाक् ॥१३६३॥

सम्यग्दर्शन
नामा
महत्तमः

सद्बोध-
नामा मन्त्री

इयं चावगतिर्नाम, भार्याऽस्यैव समीपगा । प्राणाः स्वरूपं सर्वस्वं, शरीराव्यतिरेकिणी ॥१३६४॥
एते पञ्चास्य दृश्यन्ते, स्वाङ्गभूता वयस्यकाः । आद्योऽत्राभिनिबोधोऽयमिन्द्रियानिन्द्रियार्थवित् ॥१३६५॥
यस्यादेशे पुरं सर्वं, द्वितीयोऽयं सदागमः । सद्बोधो मन्त्रितां नीतो, राज्ञाऽस्य मुखपाटवात् ॥१३६६॥
तृतीयोऽवधिनामायं, नानारूपं निरीक्षते । क्वचिद्दीर्घं क्वचिद्ध्रस्वं, क्वचित् स्तोकं क्वचिद्बहु ॥१३६७॥
चतुर्थोऽन्यमनोग्राही, मनःपर्यायनामकः । निर्वाणसार्थवाहोऽयं, पञ्चमः केवलाभिधः ॥१३६८॥
प्रकर्षः प्राह सर्वं मे, त्वया मातुल ! दर्शितम् । नत्वद्यापि स संतोषो, यद्दिदृक्षा पराऽस्ति मे ॥१३६९॥
विमर्शः प्राह संतोषः, संयमस्यायमग्रगः । भृत्यश्चारित्रधर्मस्य, सन्धिविग्रहकृन्नयी ॥१३७०॥
नियुक्तस्तन्त्रपालत्वे, निपुणो मूलभूभुजा । अनेन स्पर्शनादीनि, जित्वा नीताः शिवं जनाः ॥१३७१॥
अस्योपरि समायाता, महामोहादिभूभुजः । युद्ध्यन्ते च सहानेन, ज्ञात्वैनं मूलभूभुजम् ॥१३७२॥
चित्तवृत्तिमहाटव्यामेतेषामस्य चाहवः । जायते क्रमिकोत्सर्पन्मिथोजयपराजयः ॥१३७३॥
मया प्रदर्शितस्तुभ्यमेष संतोषतन्त्रपः । भार्याऽस्य दृश्यते रम्या, नाम्नेयं निष्पिपासता ॥१३७४॥
लाभालाभे सुखे दुःखे, समभावं तनोत्यसौ । विषयेषु च सर्वेषु, निस्तृष्णं कुरुते जनम् ॥१३७५॥
एते चारित्रधर्मस्य, प्रोक्ताः स्वाङ्गिकबान्धवाः । ये त्वेते वेदिकाभ्यर्णे, दृश्यन्ते मण्डपस्थिताः ॥१३७६॥
शुभाशयादयोऽस्यैव, तेऽसंख्याताः पदातयः । कार्याणि सुन्दराण्यस्याज्ञया लोकेषु कुर्वते ॥१३७७॥

संतोषस्तन्त्रपालः

वर्णितं सर्वमास्थानं, तदिदं ते समासतः । पूर्णोत्कण्ठोऽसि यदि तद् गच्छावो द्वारि सांप्रतम् ॥१३७८॥
एवमस्त्विति तेनोक्ते, ताभ्यां निर्गत्य वीक्षितम् । चतुरङ्गं बलं शौर्यगाम्भीर्यादिरथोद्धतम् ॥१३७९॥
यशःप्रश्रयसौजन्यधैर्यादिगजगर्जितैः । नैपुण्यवाग्मितामेधोल्लासादिहयहेषितैः ॥१३८०॥
मनस्विभावदाक्षिण्यस्थिरत्वादिपदातिभिः । मनोहरं लसल्लेश्यारक्तपीतसितध्वजैः ॥१३८१॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥
प्रकर्षो मुदितो दृष्ट्वा, तदुवाच स्वमातुलम् । पूरिता मे त्वयोत्कण्ठा, सर्वं दर्शयता ह्रदः ॥१३८२॥
तथाऽपि वस्तुमिच्छामि, कतिचिद् वासरानिह । जैने पुरे धियो वृद्ध्यै, वासोऽयं मे भविष्यति ॥१३८३॥
एवमस्त्वित्यथ प्रोक्ते, मातुलेन स्थितावुभौ । तत्र मासद्वयं यावद् वसन्तो लङ्घितस्ततः ॥१३८४॥

ग्रीष्मर्तु-वर्णनम् ।

इतश्च मानवावासे, भीष्मो ग्रीष्म उपस्थितः । तृषितो यः सरोवृन्दं, निपीयापि न तृप्यति ॥१३८५॥
असितगगनलोष्टकोष्ठमध्ये[1], खरपवनेन तपर्तुलोहकारः । स्फुटगिरिकुसुमश्रमोदबिन्दुस्तिमिररिपुं धमतीव लोहगोलम् ॥१३८६॥
शिशिरकिसलयप्रणीतशय्या, करपरिवीजिततालवृन्तराजिः । कथमपि जनता तदोरुतापं, लघयति हर्म्यतले स्थितिं विधाय॥१३८७॥
विदलितसितमल्लिकावितानै-र्विकसितपाटलपाटलासमूहैः । वनमसित(ते)तरैः शिरीषपुष्पैर्बहुरुचितां विवृणोत्यहो तदानीम् ॥१३८८॥
कथयति हिततां जलाशयानां, सुभगयतीन्दुरुचिविलासिदोषाम्[2] । प्रकटयति तृषां तपर्तुधूर्त्तो, विफलितशीतलवारिपानलीलाम् ॥
परिकलितपटीर[3]संगरङ्ग-श्च्युतततकञ्चुकतुल्यपुष्पराजिः । इह तपसमयस्स लूतवातैस्तरुगहनेषु फणीव फूत्करोति ॥१३९०॥

१-लोष्टकोष्ठ की. मु । २-रुचिं विलासि- डे. ज्ञा., रा । ३ पटीर=चन्दनम् ।

प्रावृषः वर्णनम्

अतुहिनकिरणप्रतापतुष्टा, किमु न विवृद्धिमगात् तदा दिनश्रीः । मलिनवसनतां च पत्रशाटैः, सुभगसमागमसोन्मदा वनश्रीः ॥

एवंविधे ग्रीष्मकाले, प्रकर्षं मातुलोऽब्रवीत् । गमनं साम्प्रतं वत्स, गृहे सांप्रतमावयोः ॥१३९२॥

प्रकर्षः प्राह न ग्रीष्मे, गमनावसरोऽधुना । कालोऽयं दहनोऽत्रैव, तिष्ठ मासद्वयं ततः ॥१३९३॥

वचनं भागिनेयस्य, स्थितः स्वीकृत्य मातुलः । घनाडम्बरिणी प्रावृडायाता तिष्ठतोस्तयोः ॥१३९४॥

गर्जन्तः शिखिसंमदध्वनिभरैः संपातिशम्पाङ्कुशा, वेगापातिमिथोमिलद्घनघटासंघट्टघण्टारवाः ।
मूलोन्मूलितमानिनीजनमनोमानद्रुमश्रेणयो, वाताः शिकरिणः स्फुरन्ति परितः श्च्योतन्मदा वारणाः ॥१३९५॥

चक्षुर्विक्षिपति क्षणं यदि तदा नृत्यत्कलापीक्षणा–न्न प्राप्नोति वने धृतिं विरहिणी नेत्रे पिधत्ते ततः ।
तन्नादेश्चकिता श्रुती स्थगयति घ्राणं लतासौरभै–र्मूर्च्छामृच्छति संवरीतुमसहा झंझाऽनिलस्पर्शनम् ॥१३९६॥

आक्रन्दन् घनगर्जितेन नितमां धूमायितो दुर्दिनै–र्विद्युत्पित्तनिबद्धकण्ठकुहरो मूर्च्छन्नभःकर्दमे ।
अम्भोवाहनिशाचरः परिमिलत्सन्ध्याभ्ररागच्छलात्, पीतं लोहितमुद्वमत्यतिबहु प्रेयोवियोगस्पृशाम् ॥१३९७॥

प्रोद्यत्प्रौढकदम्बधूलिपटलं चञ्चद्बलाकाध्वजं, प्रच्छन्नेन्दुरविं प्रनर्तिततडित्कुन्तोच्चयं सर्वतः ।
आबद्धस्फुटगर्जितोरुपटहध्वानं विजेतुं जगत्, प्रावृट्कालमिपात् तनोति मदनः प्रस्थानलीलोत्सवम् ॥१३९८॥

उन्मत्ता इव योषितो रसभृता नद्यः श्रवन्निर्झरा–स्तन्यन्ते च कटप्रभेदसुभगाः शैला द्विपेन्द्रा इव ।

१ –कृत्य दे. ला.–की. मु. । २ निरन्ध–डे. ला. ।

भास्वत्कान्तिभिरिन्द्रगोपपटलैः क्लृप्ताङ्गरागेव भू-र्व्योमाभ्रैश्च घनागमेन विततैः कस्तूरिकापङ्किलम् ॥१३९९॥

तादृशीं प्रावृषं प्रेक्ष्य, प्रकर्षो मातुलं जगौ। गम्यतामधुना तातसन्निधौ मातुल! द्रुतम् ॥१४००॥

पन्थानः शीतलीभूता, यतोऽमी गमनोचिताः। भीष्मग्रीष्मातपकृता, गता दुर्गमता पथाम् ॥१४०१॥

विमर्शः प्राह मा वादीरिदं यन्नाधुनोचितम्। गमनं ते हि धन्या ये, न वर्षासु प्रवासिनः ॥१४०२॥

वर्षासु गच्छतो मेघस्तडिद्दण्डैर्निषेधति। स्खलित्वा पततः पान्थान्, हसन्ति कुटजाः स्फुटम् ॥१४०३॥

ततस्तिष्ठाधुनाऽत्रैव, यथेयत्समयं स्थितः। अत्र स्थितस्य ते प्रज्ञापाटवं हि भविष्यति ॥१४०४॥

एवमस्त्विति तेनोक्ते, स्थितौ प्रावृषि तौ ततः। तुष्टौ समागतौ गेहे, दत्तास्थाने शुभोदये ॥१४०५॥

समीपस्थे च तस्यैव भार्यायुक्ते विचक्षणे। नतिं विधाय तौ तेषां, निविष्टौ शुद्धभूतले ॥१४०६॥

आलिलिङ्ग बलाद् बुद्धिर्विमर्शं तत्पतिस्तथा। प्रकर्षोऽपि समालिङ्ग्य, सर्वैरङ्के निवेशितः ॥१४०७॥

आघ्राय मूर्ध्नि कुशलं, पृष्टः सर्वैः समातुलः। स्पष्टं सर्वं यथादृष्टं, तेषां कथयतः स तौ ॥१४०८॥

इतश्च मद्यमांसाद्यै रसनां लालयन् जडः। त्यक्त्वा लज्जां च धर्मं च, घोरं पापमचीकरत् ॥१४०९॥

अन्यदा लोलतावाक्यात्, पीतमद्यो गलन्मतिः। धिया महाऽजं हन्मीति, जघान पशुपालकम् ॥१४१०॥

अजारक्षमजभ्रान्त्या, हतं दृष्ट्वा जडो हृदि। दध्यौ लोलतया ग्रस्तस्तृप्तो मांसैः परैरहम् ॥१४११॥

इदं तु मानुषं मांसं, मया जिह्वा न भोजिता। तदिदानीं ददाम्यस्यै, स्वादमस्यापि वेत्त्वियम् ॥१४१२॥

विमर्श-
प्रकर्षयोः
स्वगृहं प्र-
त्यागमनम्

जडस्य
रसनालाल-
ने फलम्
॥१११॥

ततः संस्कृत्य तद् दत्तं, तेन सा मुदिताऽजनि। खादन् लोलतयाऽन्यान्यजनान् जातः स राक्षसः ॥१४१३॥
ततो बन्धुपरित्यक्तो, बालैरपि च निन्दितः। जातः पराभवस्थानं, सोऽलर्क इव सर्वतः ॥१४१४॥
जिघांसुर्मानुपान् रात्रावन्यदा लोलताऽन्वितः। प्रविवेश गृहं चौर इव शूरकुटुम्बिनः ॥१४१५॥
सुप्तं तत्सूनुमादाय, दृष्टः शूरेण निस्सरन्। क्रोधान्धेनाथ बद्धाऽसौ, निहतो यातनाशतैः ॥१४१६॥
वृत्तान्तं तमवेत्यापि, प्रभाते जडबन्धुभिः। दूरीकृतायशःपूरे, शूरे क्रूरं न चिन्तितम् ॥१४१७॥
विदन्निदं जडस्याथ, रसनालालने फलम्। विचक्षणो विरक्तोऽस्थाद् यावत् तौ समुपागतौ ॥१४१८॥
मूलशुद्धिं यथा दृष्टां, विमर्शे प्रोक्तवत्यथ। रसनां त्यक्तुकामोऽसौ, बभाषे पितरं प्रति ॥१४१९॥
तात! या रसना पुत्री, रागकेसरिमन्त्रिणः। जडे दृष्टविपाका तां, त्यक्तुमिच्छामि सर्वथा ॥१४२०॥
ततः शुभोदयः प्राह, प्रियेयं तव विश्रुता। रसना सर्वथा तस्मान्नाकाले त्यागमर्हति ॥१४२१॥
ततो मोच्या क्रमेणेयं, साध्वाचारभृता त्वया। विवेकशिखरस्थेन, निर्वाह्या विधिनाऽधुना ॥१४२२॥
ततो विचक्षणः प्राह, दूरे तात! स पर्वतः। कथं स्याद् गमनं तत्र, कुटुम्बसहितस्य मे ॥१४२३॥
शुभोदयोऽब्रवीदेनं, विमर्शः प्रवराञ्जनात्। इहैव दर्शयत्यद्रिं, तच्चिन्तेयं तवात्र का ॥१४२४॥
प्रकर्षोऽप्यब्रवीत् तातवचने नात्र संशयः। मयाऽनुभूतमेतस्य, सिद्धाञ्जनविजृम्भितम् ॥१४२५॥
यावन्न विमलालोकं, प्रयुङ्क्तेऽयं वराञ्जनम्। दूरस्थाः प्रतिभासन्ते, तावदद्रिपुरादयः ॥१४२६॥

भान्ति शैलादयोऽभ्यर्णे, दत्ते त्वस्मिन् वराङ्गने। ततो विचक्षणेनोक्तो, विमर्शो देहि मेऽञ्जनम् ॥१४२७॥
ददौ विचक्षणायाथ, विमर्शोऽखिलमञ्जनम्। ततो विचक्षणोऽद्राक्षीत्, सर्वं तदुपयोगतः ॥१४२८॥
ततो विचक्षणो युक्तो, नरेन्द्रनरवाहन!। शुभोदयेन तातेन, तथा चारुतयाऽम्बया ॥१४२९॥
शालकेन विमर्शेन, बुद्ध्या च प्रियभार्यया। प्रकर्षेण च पुत्रेण, वने वदनकोटरे ॥१४३०॥
स्थितया रसनापत्न्या, सर्वथा सकुटुम्बकः। त्यक्त्वैकां लोलताचेटीं, प्राप्तो गुणधरान्तिकम्[1] ॥१४३१॥ त्रिभिर्विशेषकम्।
नीत्या प्रव्राजितस्तेन, साध्वाचारं च शिक्षितः। स्थापितः स्वपदे सूरिवरेण रसनाजयी ॥१४३२॥
सोऽहमेव महाराज! ते चामी मुनयोऽनघाः। विवेकाद्रिस्थिता एवान्यत्रस्था अपि तत्त्वतः ॥१४३३॥
अयं वैराग्यहेतुर्मे, प्रव्रज्येयं ममेदृशी। भार्यादोषाच्छलौ दीक्षां, यो न तां सर्वथा जहौ ॥१४३४॥
तस्य मे कीदृशी दीक्षा, जैनलिङ्गप्रभावतः। सकुटुम्बोऽप्यहं पूज्यो, भवामि भुवि केवलम् ॥१४३५॥
इमां विचक्षणाचार्यवाचमाचम्य पार्थिवः। दध्यौ स्ववृत्तकथनान्मोहः पूज्येन मे हतः ॥१४३६॥
अहो भगवतो वाचां, विन्यासः कोऽप्यनुत्तरः। अहो विवेकिभावोऽहो, सुदृष्टपरमार्थता ॥१४३७॥
ज्ञाततद्वाक्यगर्भार्थः, पार्थिवोऽभिदधे ततः। यादृशं तव संपन्नं, गुणपूतं कुटुम्बकम् ॥१४३८॥
कुटुम्बपोषको यादृग् गृही त्वं जैनलिङ्गभाक्। तादृशः पुण्यसंभारभाजनं नापरो भुवि ॥१४३९॥ युग्मम् ॥

विचक्षणस्य सकुटुम्बस्य दीक्षा।

1-धरान्तिके की. मु।

रसना दुर्जया लोके, येनाकिञ्चित्करी कृता । लोलता निगृहीता च, स त्वं दुष्करकारकः ॥१४४०॥
अन्येषामपि वृत्तान्तो, येषामीदृगजायत । ते धन्यास्ते महात्मानो, वन्द्यास्ते नाकिनामपि ॥१४४१॥
अन्येषां भगवन्नीदृक्, संपन्नं शमिनां न वा । सूरिर्जगावभूदीदृग्, वृत्तान्तः सर्वसाधुषु ॥१४४२॥
नृशार्दूल ! तवापीदृग्, वृत्तान्तः संभवत्ययम् । मादृशैर्यत् कृतं तच्चेत्, करोषि प्रगुणाशयः ॥१४४३॥
श्रुत्वेदं पार्थिवो दध्यौ, सम्यग् भगवतोदितम् । स एव प्रभुतामेति. दोर्भ्यामुत्सहते हि यः ॥१४४४॥
ऊचेऽथ गलितानिष्टपुण्यपापाणुसंचयः । दीयतामधुना दीक्षा, योग्यता यदि मे भवेत् ॥१४४५॥
सूरिणोक्तं महाराज, चारु चित्ते विनिश्चितम् । योग्योऽस्यलं विलम्बेन, भवे भूरिभयाकरे ॥१४४६॥
निशम्येदं वचो ध्यातं, राज्ञा दीक्षां जिघृक्षुणा । सुतः को मम योग्योऽस्ति, राज्ये कं स्थापयाम्यहम् ॥१४४७॥
अथागृहीतसंकेते ! तेनाहं रिपुदारणः । विस्फारितदृशा दृष्टो, निषण्णस्तत्र निर्धनः ॥१४४८॥
इतश्च कृशदेहोऽपि, मनाक् पुण्योदयोऽस्फुरत् । मन्मित्रं तेन तातस्य, मयि प्रत्यागतं मनः ॥१४४९॥
दध्यौ बहिष्कृतो योऽभूत्, स एष रिपुदारणः । जगाम शोच्यतां हीदं, न युक्तं सुतभर्त्सनम् ॥१४५०॥
एनं राज्येऽभिषिच्याथ, दीक्षां गृह्णामि निर्मलाम् । ततश्चाहूय तातेन, स्वोत्सङ्गेऽहं निवेशितः ॥१४५१॥
पृष्टश्च सूरिस्तातेन, भदन्त ! भवतामयम् । विदितः कुलजेऽप्यस्मिन्, कुतोऽनर्थोच्चयोऽजनि ॥१४५२॥
सूरिणोक्तं महाराज, न दोषोऽस्य तपस्विनः । शैलराजमृषावादावस्यानर्थस्य कारणम् ॥१४५३॥

तातेनोक्तं कदैताभ्यां, वियोगोऽस्य भविष्यति। सूरिराह गते भूरिकाले भूपाद्धिताशयात् ॥१४५४॥
मृदुतासत्यते नाम, शुभे संप्राप्य कन्यके। शैलराजमृषावादौ, त्यक्ष्यत्ययमसंशयम् ॥१४५५॥ युग्मम् ॥
चिन्तयिष्यति तेनान्यः, कश्चिदस्य प्रयोजनम्। साम्प्रतं मोहमुत्सृज्य, स्वाभीष्टं भूप! साध्यताम् ॥१४५६॥
ततो गुरुगिरा ज्ञात्वा, मामशक्यप्रतिक्रियम्। स्वकार्यसाधनोद्युक्तः, प्राज्ये राज्येऽभिषिच्य माम् ॥१४५७॥
विचक्षणगुरोः पार्श्वे, निष्क्रान्तो नरवाहनः। बहिर्देशेषु तेनामा, व्यहार्षीदद्रिगोऽपि सः ॥१४५८॥
शैलराजमृषावादौ, प्रवृद्धौ राज्यसम्पदा। ममाथ तद्वशान्नीतं, जगत् तृणतुलां मया ॥१४५९॥
षिड्गैः संस्तूयमानस्य, निन्द्यमानस्य धीधनैः। गतानि कतिचिद् वर्षाण्येवं राज्यभुजो मम ॥१४६०॥
इतश्च महसां धाम, रिपुग्रामहुताशनः। चक्रवर्त्यनयध्वान्ततपनस्तपनोऽजनि ॥१४६१॥
स समग्रबलोपेतः, पृथ्वीदर्शनकाम्यया। सिद्धार्थनाम्नि नगरे, भ्रमंस्तत्र समाययौ ॥१४६२॥
अहं नयज्ञैर्विज्ञप्तस्ततो मन्त्रिमहत्तमैः। आयातस्तपनश्चक्री, तद् देवैर्पोऽभिगम्यताम् ॥१४६३॥
पूज्योऽयं सर्वभूपानां, पूर्वजैस्तव पूजितः। तव पूजयितुं योग्यो, गृहायातो विशिष्य तत् ॥१४६४॥
शैलराजहतेनाथ, मया तान् प्रति भाषितम्। को नाम तपनो यस्य, कुर्वे पूजामहं जडाः! ॥१४६५॥
ते प्राहुर्देव! मा वादीरिमां वाचमकुर्वता। पूजामस्य त्वया छिन्नः, कुलक्रममहातरुः ॥१४६६॥
राजनीतिः परित्यक्ता, नीताः प्रकृतयः क्षयम्। राज्यसौख्यलता दग्धा, वयं सर्वेऽपकर्णिताः ॥१४६७॥

विचक्षणा-
चार्यस्य
पार्श्वे नर-
वाहनस्य
दीक्षा

इत्युक्त्वा पतिताः सर्वे, दक्षाश्चरणयोर्मम। मनाक् शुष्कं तदा शैलराजीयं मे विलेपनम् ॥१४६८॥
केवलं संज्ञया भद्रे, मृषावादस्य पाप्मनः। मयोक्तं हृदि नेदानीं ममोत्साहः प्रवर्तते ॥१४६९॥
प्रतिपत्तिं कुरुध्वं तद्, गत्वा यूयं यथोचिताम्। पश्चादहं समेष्यामि, दत्तास्थाने च चक्रिणि ॥१४७०॥
तपनाभिमुखं जग्मुस्ततो मन्त्रिमहत्तमाः। सन्ति चास्य चरा नैके, विचित्राः सर्वतोमुखाः ॥१४७१॥
वर्णस्वरतिरोधानवेषभाषादिवेदिनः। तेभ्यो ह्येकेन विज्ञातो, वृत्तान्तोऽयमथ स्फुटम् ॥१४७२॥
उक्तश्च सार्वभौमाय, मन्त्रिणश्च महत्तमाः। अथागतास्तस्य चक्रुः प्रतिपत्तिं गरीयसीम् ॥१४७३॥
प्राभृतानि महार्घाणि, ढौकयामासुरादरात्। रिपुदारणवार्ता च, पृष्टाऽऽस्थानस्थचक्रिणा ॥१४७४॥
ते प्रोचुर्देवपादानां, प्रसादात् कुशलीतराम्। देवपादान्[1] समानेतुमायाति रिपुदारणः ॥१४७५॥
तैरथाह्वायका मुक्ता, ब्रूत नायामि सर्वथा। शैलराजमृषावादवशेनोक्तं मया तु[2] तान् ॥१४७६॥
आह्वायकोक्तमाकर्ण्य, तत् ते मन्त्रिमहत्तमाः। जाताः सोद्वेगवैलक्ष्याः, परस्परमुखेक्षिणः ॥१४७७॥
विज्ञाय तपनश्चक्री, तदाकूतमदोऽवदत्। धीरा भवत भो लोका, नात्र दोषोऽस्ति कोऽपि वः ॥१४७८॥
मोच्यस्त्ववस्तुनिर्बन्धो, न योग्यो रिपुदारणः। राज्यस्य शिक्षयाम्येनं, ज्ञातदुःशीलचेष्टितम् ॥१४७९॥
युष्मादृशपदातीनां, नायकोऽयं न शोभते। मरालानामिव ध्वाङ्क्षो, द्विपानामिव शूकरः ॥१४८०॥

१ गमानन्तुं-डे. प्रा. । २ तु रा. ज्ञा. ।

मयि सर्वैश्च्युतस्नेहैस्ततो मन्त्रिमहत्तमैः। प्रमाणं देवपादानामाज्ञा न इति भाषितम् ॥१४८१॥
चक्रभृन्मान्त्रिकं प्राह, ततो योगेश्वराभिधम्। गत्वा विनाटनीयोऽयं, बहुधा कृतकर्मभुक् ॥१४८२॥
योगेश्वरो मदभ्यर्णमायातोऽथ भटान्वितः। शैलराजमृषावादधृष्टं मां स निरैक्षत ॥१४८३॥
उत्प्रासनपरैः पिङ्गैर्वेष्टितं मां मुखेऽथ सः। योगेश्वर(रो)योगचूर्णमुष्ट्या निहतवान् भृशम् ॥१४८४॥
तत्प्रभावात् क्षणेनाभूत्, प्रकृतेर्मे विपर्ययः। महागह्वरगस्येव, जाता हृदयशून्यता ॥१४८५॥
ताडितोऽहं ततस्तेन, संजातं मे महद्भयम्। पतितस्तत्पदे दीनो, नष्टः पुण्योदयस्तदा ॥१४८६॥
शैलराजमृषावादौ, तिरोभूतौ ततः कृतः। तन्मनुष्यैर्यथा जातो, मषीपुंड्रकचर्चितः ॥१४८७॥
कृततालारवैस्तैश्च, रासमध्येऽवतारितः। प्रवृत्ता नाटयन्तो मां, रासं दातुं त्रितालकम् ॥१४८८॥
गाढपार्ष्णिप्रहारैर्मां, निघ्नन्तो रासकुण्डके। निन्युश्चक्रिसभां रासं, ददानास्ते त्रितालकम् ॥१४८९॥
विशिष्य नाटयामासुर्ध्रुवकोच्चारपूर्वकम्। पादेषु पातयन्तो मां, सर्वेषां तत्र ते मुहुः ॥१४९०॥
जातं प्रहसनं भूरि, प्राप्तुं योग्योऽयमीदृशीम्। दशामिति प्रवृत्तश्च, जनवादः पदे पदे ॥१४९१॥
ततोऽहं नाटितो बाढं, प्रणमन्नन्त्यजानपि। उन्मादादवशो जातस्तपनेन च भूभुजा ॥१४९२॥
राज्ये मे स्थापितो भ्राता, कनिष्ठः कुलभूषणः। गाढपार्ष्णिप्रहारैश्चापतद् रक्तं ममोदरे ॥१४९३॥
जीर्णैकभववेद्याऽथ, गुटिकाऽन्या ममार्पिता। भवितव्यतया नीतः, सप्तमं नरकं ततः ॥१४९४॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरायुस्त्रोटितो वज्रकण्टकैः। सोढदुःखस्ततो नीतः, पञ्चाक्षपशुपत्तनम् ॥१४९५॥
सप्तापि पाटकानेवं, भ्रामितो नरकावनौ। तथाऽहं विकलैकाक्षनृगतिष्वप्यनन्तशः ॥१४९६॥
सर्वस्थानेषु हीनाऽभूज्जातिर्मे निन्दितं कुलम्। अलाभमूर्खतादौःस्थ्यतापैश्चाहं कदर्थितः ॥१४९७॥
अन्यदा भवचक्रेऽहं भवितव्यतया कृतः। मनुष्यो मध्यमगुणस्तुष्टा चेयं ममोपरि ॥१४९८॥
आविर्भाव्य पुनः पुण्योदयमित्रमियं जगौ। गच्छार्यपुत्रयुक्तस्त्वं, वर्धमानपुरेऽमुना ॥१४९९॥
परिविगलितां दृष्ट्वा प्राच्यां गुटीं भववासिका–मियमथ ददावन्यां धन्याशया मम तादृशः ॥
असुरसजलधिं तीर्त्वा यस्याः स्फुटादनुभावतः, कुशलकलिता लभ्या जन्मान्तरे सुयशःश्रियः ॥१५००॥
इति समुदितमानाद्यनृतोन्मादजिह्वा–विषयविषविपाकं रौद्रमुच्चैर्निशम्य।
य इह भवति विज्ञस्तज्जये बद्धयत्नः, स्रजमिह सुयशःश्रीस्तस्य बध्नाति कण्ठे ॥१५०१॥

॥ इति श्री वैराग्यकल्पलतायां मान–मृपावाद–जिह्वेन्द्रियवर्णनो नाम पञ्चमः स्तबकः ॥

षष्ठः स्तवकः।

संसारिजीवस्य वामदेवजन्मनि मायास्तेयसमागमः।

षष्ठः स्तवकः।

अथास्ति स्वस्तिककलितं, बहिरङ्गमनोहरम्। वर्धमानपुरं प्रौढैर्वर्धमानं महोत्सवैः ॥१॥
चारुलीलागतिर्यत्र, सदानो विलसत्करः। जनवर्गो महाध्वानो, धत्ते स्तम्बेरमश्रियम् ॥२॥
तत्र प्रत्यर्थिकान्ताश्रुधारासिक्तयशोद्रुमः। भूपोऽभूद् धवलो नाम, भीमकान्तगुणाश्रयः ॥३॥
तस्यासीत् कमलाजैत्री, देवी कमलसुन्दरी। तस्याः कुक्षिसमुद्भूतः, सुतोऽस्ति विमलाभिधः ॥४॥
बालकालेऽपि यः स्पृष्टो, न धन्यो बालचेष्टितैः। महाहर्म्यस्थित इव, प्रावृट्कालेऽपि कर्दमैः ॥५॥
तत्रैवाभूत् पुरे श्रेष्ठी, सोमदेवो महाधनः। लावण्यनिलयस्तस्य, भार्या कनकसुन्दरी ॥६॥
कुक्षौ प्रवेशितस्तस्या, अहं पुण्योदयान्वितः। भवितव्यतया काले, सा मां प्रासूत हर्षिणी ॥७॥
जातः पुत्रो मयेत्येषाऽभिमानं हृदये दधौ। तदा दृष्टोऽन्तरङ्गस्ताज्जातः पुण्योदयस्तु नः ॥८॥
विहितः सोमदेवेन, सुतजन्ममहोत्सवः। स वामदेव इत्याख्यां, द्वादशेऽह्नि चकार मे ॥९॥
अद्राक्षं व्यक्तचैतन्यं, प्राप्तोऽहं मानुषत्रयम्। द्वौ नरौ ललनां चैकां, वक्रां शक्रायुधाकृतिम् ॥१०॥
तेष्वेको मां समालिङ्ग्य, स्नेहादित्थमभाषत। मित्र! प्रत्यभिजानीषे, नवा नेति मयोदितम् ॥११॥

१ न डे. ज्ञा. रा. ज्ञा.।

॥११५॥

ततः शोकातुरः सोऽभून्मयोक्तं किं नु शोचसि। स प्राह चिरदृष्टोऽपि, त्वयाऽहं विस्मृतोऽसि यत् ॥१२॥
मयोक्तं कुत्र दृष्टोऽसि, सोऽब्रवीद् बहवोऽभवन्। पुरेऽसंव्यवहाराख्ये, मादृशास्ते वयस्यकाः ॥१३॥
न व्यक्तस्ते सखाऽभूवं, तदैकाक्षादिषु भ्रमन्। पञ्चाक्षपशुसंस्थाने, यदाऽभूः संज्ञिगर्भजः ॥१४॥
जातस्तदा सखा तेऽहं, नाव्यक्तत्वात्तु लक्षितः। अनन्तशः परिभ्रम्य, ततोऽनन्तेषु धामसु ॥१५॥
नरवाहनराजस्य, नन्दनो रिपुदारणः। त्वं सिद्धार्थपुरे जातस्तदाऽहं लक्षितस्त्वया ॥१६॥
सखाऽहं ते मृषावादो, ललितोऽसि मया सह। अत्यन्तकुशलोऽभूस्त्वं, मम प्रेमानुभावतः ॥१७॥
पृष्टश्चाहं त्वया [1]मेऽभूत्, कुतः कौशलमीदृशम्। मयोक्तं भगिनी मेऽस्ति, मायाख्या तत्प्रसादतः ॥१८॥
त्वयोक्तं दर्शनीया मे, [2]साऽऽत्मीया भगिनी त्वया। प्रतिपन्नं वचस्तच्च, तावकीनं मया तदा ॥१९॥
तदेषोऽत्र पुरस्कृत्य, भगिनीमहमागतः। स्मरंस्तद्वचनं शोके, हेतुर्मे त्वदुपेक्षणम् ॥२०॥
मयोक्तं भद्र! वृत्तान्तं, व्यक्तं नैनं स्मराम्यहम्। तथाऽपि स्मरतो नेत्रे, त्वद्दर्शनविकस्वरे ॥२१॥
तन्न शोकस्त्वया कार्यो, ज्ञेयोऽहं प्राणसन्निभः। तेनोक्तमियता सिद्धं, मम सर्वं प्रयोजनम् ॥२२॥
दर्शिताऽऽत्मीयभगिनी, मायेति भुवि विश्रुता। प्रियनाम्ना बहुलिका, कार्याऽऽज्ञाऽस्याः सदा त्वया ॥२३॥
अहं तिरोभविष्यामि, नास्ति मेऽवसरोऽधुना। अस्यां स्थितायां ज्ञेयस्तु, स्थितोऽहं परमार्थतः ॥२४॥

---

१ ते डे. प्रा । २ सात्मीयं रा. ज्ञा.

कनिष्ठोऽयं मम भ्राता, युक्तस्तव सखाऽधुना । स्तेयाख्योऽभूत् पुरा छन्नः, प्रादुर्भूयाधुनाऽऽगतः ॥२५॥
द्रष्टव्योऽहमिव स्नेहात्, तदयं प्रियबान्धवः । मयोक्तं मे स्वसा या ते, त्वद्भ्राता मम बान्धवः ॥२६॥
तदाकर्ण्य मृषावादस्तिरोऽभूतः प्रमोदभाग् । भगिनीभ्रातरौ प्राप्य, तौ ममोल्लसितं मनः ॥२७॥
विप्रतार्य जगत् सर्वं, मुष्णन् परधनं ततः । जातोऽहं निर्घृणः शङ्कारहितः क्रूरचेष्टितः ॥२८॥
लोकेषु लघुतां प्राप्तस्ततोऽहं तृणतूलवत् । इतश्च या क्षितिभुजो, भार्या कमलसुन्दरी ॥२९॥
साऽभूत् कनकसुन्दर्याः, सखी प्रियतमा ततः । सखा मे मातृसंबन्धाद् विमलोऽभून्नृपात्मजः ॥३०॥
स्नेहभृत् साध्यहीनोऽपि, निर्व्याजोऽभूत् सखा स मे । चन्द्रमङ्क इवाहं तु, विमलं मलिनः श्रितः ॥३१॥
शाठ्याशाठ्यभृतोरेवमावयोर्यान्ति वासराः । सह क्रीडाविनोदेन, प्रथितस्नेहशालिनोः ॥३२॥
कौमारस्थोऽथ विमलो, जग्राह सकलाः कलाः । तारुण्यं प्राप लावण्यसुधारसतरङ्गितम् ॥३३॥
मया सहान्यदा प्राप्तः, स क्रीडानन्दनं वनम् । तालहिन्तालमाल्रनागपुन्नागराजितम् ॥३४॥
विलसत्केतकीजातिचन्दनागुरुकेसरम् । सहकारलतास्फारद्राक्षामण्डपमण्डितम् ॥३५॥
कयोश्चिद् ध्वनिरायातो, नूपुरावमिश्रितः । अत्रान्तरे स्फुटं तत्र, श्रवःपुटकुटुम्बिताम् ॥३६॥
कस्यायं ध्वनिरित्याह, प्रति मां विमलस्ततः । मयोक्तं न श्रुतः सम्यग्, गत्वा निर्णीयतां पुरः ॥३७॥
तथेत्युक्त्वा गते स्तोके, भूभागे पदपद्धतिः । दृष्टाऽऽवाभ्यां रथाम्भोजचक्राङ्कुशझपाङ्किता ॥३८॥

वामदेवस्य विमलेन सह मैत्री ।

ततो मामाह विमलः, श्रेष्ठं नृमिथुनं ह्यदः । सामान्यमर्त्या नेदक्षाः, न स्पृशन्ति भुवं सुराः ॥३९॥
गत्वाऽग्रतस्ततो दृष्टं, मिथुनं तल्लतागृहे । निलीनौ शंकरभयात्, प्रत्यक्षौ रतिमन्मथौ ॥४०॥
निरूप्यापसृतावावामदृष्टौ तेन किंचन । अत्रान्तरे नरौ दृष्टावायान्तौ व्योम्नि भीषणौ ॥४१॥
लतागृहोपरि प्राप्तावुद्गीर्णासी क्षणेन तौ । तत्रैकः प्राह रे लज्जाविहीन पुरुषाधम ! ॥४२॥
न नश्यतोऽपि मोक्षस्ते, स्मर तेनेष्टदेवताम् । लतागृहस्थस्तच्छ्रुत्वा, संस्थाप्य ललनां नरः ॥४३॥
निष्कृष्टासिः करालभ्रूरुत्पपातास्य सम्मुखम् । तस्य ताभ्यां समं घोरं, खड्गयुद्धमभूत् तदा ॥४४॥
प्रवेष्टुमैहत तयोर्नर एको लतागृहम् । शरणं विमलस्यागाद्, भीता वालाऽथ सा ततः ॥४५॥
तां ग्रहीतुं स पुरुषस्तत्रागाद् वनदेवता । व्योम्नि तं स्तंभयामास, कुमारगुणरागिणी ॥४६॥
विस्फारिताक्षश्चित्रस्थ, इवागात् स विलक्षताम् । जितो मिथुनकेनाथ, नरो नष्टो द्वितीयकः ॥४७॥
तत्पृष्ठलग्नं तं दृष्ट्वा, यियासुः पृष्ठतोऽपि न । शशाक स्तम्भितो गन्तुं, वारिवद्ध इव द्विपः ॥४८॥
उत्तम्भितोऽथ तं ज्ञात्वा, वनदेवतयाऽऽशयम् । अनुगन्तुं प्रवृत्तोऽन्यौ, लङ्घितौ दृष्टिगोचरम् ॥४९॥
गतस्तदनुमार्गेण, प्रययौ सोऽप्यदर्शनम् । प्रललाप ततो वाला, काऽऽर्यपुत्र ! गतिस्तव ॥५०॥
संस्थापिता कथंचित् सा, मया च विमलेन च । अथायातो जितरिपुर्वेगान्मिथुनको नरः ॥५१॥

१ उत्तम्भितः=मुक्त. । २ गत्वा रा. शा. ।

तं दृष्ट्वाऽमृतसिक्तेव, सा मुदं प्राप बालिका। निखिलः स्वीयवृत्तान्तस्तया तस्मै निवेदितः ॥५२॥
ततो नत्वा स विमलं, पुरुषो मुदितोऽब्रवीत्। बन्धुर्भ्राता पिता मे त्वं, दयिता येन रक्षिता ॥५३॥
प्रेष्योऽहं तव तद् ब्रूहि, किं करोमि समीहितम्। विमलः प्राह शक्त्या ते, धृतेयं तत्र के वयम् ॥५४॥
कोऽयं कथय वृत्तान्तो, महन्मेऽत्र कुतूहलम्। स प्राह तन्निषीदेयं, कुमार! महती कथा ॥५५॥
स्थिता लतागृहे सर्वे, विमलं प्रति सोऽब्रवीत्। रम्ययाम्योत्तरश्रेणिरस्ति वैताढ्यपर्वतः ॥५६॥
पुराणि तत्र विद्यन्ते, पञ्चाशत् षष्टिरेव च। तत्रास्ति दक्षिणश्रेण्यां, पुरं गगनशेखरम् ॥५७॥
तत्राभूदरिवक्त्राब्जचन्द्रो भूपो मणिप्रभः। तस्य देवी च कनकशिखा सद्गुणशालिनी ॥५८॥
तस्याः पुत्रोऽभवद्, भूरिभाग्यभृद् रत्नशेखरः। पुत्र्यौ पुण्यान्विते रत्नशिखामणिशिखे तथा ॥५९॥
तत्र रत्नशिखा दत्ता, मेघनादस्य भूभुजः। सितप्रभस्य च मणिशिखा लावण्यदीर्घिका ॥६०॥
जातो रत्नशिखामेघनादयोरहमङ्गजः। रत्नचूड इतीदं मे, नाम रम्यं प्रतिष्ठितम् ॥६१॥
जातावुभौ मणिशिखासितप्रभसुतौ पुनः। अचलश्चपलश्चेति, रतिकान्ताह्वया तथा ॥६२॥
रत्नशेखरभार्याऽभूत्, तत्पुत्री चूतमञ्जरी। चक्रुः सर्वाण्यपि क्रीडां, बाल्येऽमूनि सहाद्भुताम् ॥६३॥
कुमारभावं प्राप्तानि, गृहीताः सकलाः कलाः। इतश्च चन्दनो नाम, प्रसिद्धः सिद्धपुत्रकः ॥६४॥
बालमित्रं[1] दधद् रत्नशेखरस्यास्ति कौशलम्। जैनागमे[3] निमित्ते च, ज्योतिषे मन्त्रलक्षणे ॥६५॥

१ बालरत्नं रा. श्रा.। २ अमितप्रभ इत्युपमितौ नामान्तरमुक्तम् "मणिशिखा त्वमितप्रभस्य" पृ० ४८०। ३ जिनागमे रा. श्रा.।

जैनधर्मरतः संगात्, तस्याभूद् रत्नशेखरः। धर्मं सोऽपि पितुर्मेऽदाद्, भगिन्योर्मह्यमेव च ॥६६॥
अन्यदा चन्दनेनाहं, निर्दिष्टः प्रेक्ष्य लक्षणम्। यदयं दारको विद्याचक्रवर्ती भविष्यति ॥६७॥
ततः साधर्मिकोऽयं सल्लक्षणश्चेति मातुलः। ममेमां प्रददौ चूतमञ्जरीं रत्नशेखरः ॥६८॥
ततो नितान्तमचलचपलौ कुपितौ मयि। न शक्नुतोऽभिभवितुं, छिद्राणि मम पश्यतः ॥६९॥
मया तस्य च्छलं ज्ञातुं, प्रयुक्तो मुखरश्चरः। आगत्याह स लब्धाऽऽभ्यां, काली विद्या कुतश्चन ॥७०॥
गतौ तत्साधनार्थं च, क्वापीमौ विधितत्परौ। मयोक्तं तौ यदाऽऽयातो, वक्तव्यं भवता तदा ॥७१॥
तेनाद्य प्रातरुक्तं तौ, सिद्धविद्यौ समागतौ। दुष्टधीर्मन्त्रयन्नेवमचलश्चपलं जगौ ॥७२॥
योद्धव्यं रत्नचूडेन, सार्द्धं सत्त्ववता मया। भवता हरणीया च, तरसा रत्न(चूत)मञ्जरी ॥७३॥
निशम्यैतन्मया ध्यातं, निराकार्याविमौ मया। सविद्यौ न पुनर्मातुःष्वसुः पुत्रौ वधोचितौ ॥७४॥
दुःशीलश्चपलश्चायं, गृहीत्वा चूतमञ्जरीम्। विनाशयेद् यदि तदा, ध्रुवं स्याल्लाघवं मम ॥७५॥
न चान्योऽस्ति सहायो, यस्त्रायते चूतमञ्जरीम्। ततोऽपक्रमणं श्रेय, इत्यहं निर्गतो गृहात् ॥७६॥
क्रीडानन्दनमायातो, गृहीत्वा चूतमञ्जरीम्। मयेदं बहुशो दृष्टं, तल्लीनोऽत्र लतागृहे ॥७७॥
तावदेवानुमार्गेण, तावायातौ दुराशयौ। अचलेनाहमाहूतः, स च युद्धे मया जितः ॥७८॥

१ रत्नशिखामणिशिखयो.। २ आयास्यत "वर्त्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" (५-४-११) इति भविष्यत्यर्थे वर्तमाना।

मया प्रोत्तेजितो वाक्यैः, खरैर्नष्टोऽनुगच्छता। वलित्वा संमुखं लग्नो, योद्धुं बद्धो मया बलात् ॥७९॥
आस्फोटितः क्षितौ प्राप, चूर्णिताङ्गः कदर्थनाम्। गलितं पौरुषं दैन्यं, जातं विद्या ययुर्लयम् ॥८०॥
मया ध्यातं तथा जातं, यथा न पुनरेत्यसौ। हतं मुष्ट्या परं व्योम, कण्डिताश्च तुषा मया ॥८१॥
अस्याहं पृष्ठतो लग्नो, यत् त्यक्त्वा चूतमञ्जरीम्। सा मरिष्यति भीत्यैव, चपलो वा हनिष्यति ॥८२॥
यद्वा हृत्वैव तां बालां, गतो दुष्टः स कुत्रचित्। ततोऽधुना क्व यातीति, विचिन्त्य वलितो द्रुतम् ॥८३॥
दृष्टः संमुखमागच्छंश्चपलश्चिन्तितं मया। आगतः किमयं किं सा, न दृष्टा चूतमञ्जरी ॥८४॥
किं वा रतमनिच्छन्ती, रुषाऽनेन निपातिता। जीवन्त्यां स्ववशायां वा, तस्यां नास्यागतिर्भवेत् ॥८५॥
यावच्च चिन्तयाम्येवं, चपलस्तावदागतः। लग्नं युद्धं मया सोऽपि, बद्ध्वैवास्फोटितो भुवि ॥८६॥
ततः किं सा मृता किं वा, नष्टा लीनाऽथवा क्वचित्। किं वान्यवशतां प्राप्तेत्यनेककुविकल्पभाग् ॥८७॥
प्राप्तोऽहमिममुद्देशं, दृष्टा प्रियतमा ततः। उल्ललास मनश्चिन्ता, गता रोमाञ्चितं वपुः ॥८८॥
माहात्म्यं मे सवृत्तान्तं, कथितं चानया तव। रक्षितं जीवितं तन्मे, रक्षता मत्प्रियां त्वया ॥८९॥
तद्दीयतां ममादेशो, विधायानुग्रहं मयि। येनायं कुरुते दासो, यथाशक्ति प्रियं तव ॥९०॥
विमलः प्राह हे धीर!, कृतज्ञजनशेखर!। संभ्रमेणालमधिकं, न मे त्वद्दर्शनात् प्रियम् ॥९१॥
दर्शनादेव सुहृदामुद्गिरन्ति मुदं बुधाः। कुमुदाब्धिचकोराणां, किमन्यत् कुरुते विधुः ॥९२॥

रत्नचूडस्य
कृतज्ञता
विमलस्य
निःस्पृहत्वं
च।

विमलोक्तमिति श्रुत्वा, रत्नचूडो व्यचिन्तयत्। अर्थदेषु हि नार्थित्वं, सत्सु कल्पद्रुमेष्विव ॥९३॥
विना प्रत्युपकारं च, न स्यान्मे चित्तनिर्वृतिः। धत्ते तापं रसं दातुं, द्रुमेष्वात्तरसो रविः ॥९४॥
रत्नं करतले तेन, ध्यात्वेति प्रकटीकृतम्। निर्मलं वर्णसंकीर्णं, नीलाद्यप्रविभागतः ॥९५॥
यद्वैन्द्रकार्मुकं दिक्षु, प्रभाजालैः प्रसृत्वरैः। अखिलग्रहधामेव, पिण्डितं सर्वकार्यकृत् ॥९६॥
प्रदर्शयित्वा तद्[1] रत्नचूडोऽथ विमलं जगौ। कुमार! सर्वरोगघ्नमिदं दारिद्र्यनाशनम् ॥९७॥
दत्तं तुष्टेन देवेन, मम चिन्तामणिप्रभम्। अनुग्रहं कुरु व्यक्तं, तदस्य ग्रहणेन मे ॥९८॥
विमलः प्राह पूतात्मन्!, न कार्योऽत्राग्रहस्त्वया। हन्यतां चेतसो दैन्यं, मुच्यतामतिसंभ्रमः ॥९९॥
विभातीदं तवाभ्यर्णे, केशवस्येव कौस्तुभः। अतः संगोप्यतां सम्यग्, भावतो दत्तमेव मे ॥१००॥
तदोक्तं चूतमञ्जर्या, तृष्णाहीनोऽपि नार्हसि। कर्तुमस्यार्थनाभङ्गं, मयूरस्येव वारिदः ॥१०१॥
यावत् किमुत्तरामीति, धत्तेऽथ विमलो हृदि। तावद् वस्त्राञ्चले बद्धं, रत्नचूडेन तस्य तत् ॥१०२॥
शुशुभे तत्र तादृक्षं, प्राचीगर्भस्थभानुवत्। बहिः प्रसृत्वरज्योतिः, प्रच्छन्नमपि भास्करम्[2] ॥१०३॥
तन्मनस्तरलं नाभूद्, रत्नं लब्ध्वाऽपि तादृशम्। शशाङ्करत्नमासाद्य, व्योम क्षुभ्यति नाब्धिवत् ॥१०४॥

---

१ 'प्रदर्श्य' इत्येवं प्रयोगो भवितुमर्हति, तथापि एतादृशाः प्रयोगा महाकविभि. प्रयुक्ता दृश्यन्ते। यथा रामायणे "लोकं सुवृष्ट्या परितोषयित्वा" ॥

२ भास्वरम् डे. मा.।

दृष्ट्वाऽथ हर्षनिर्मुक्तं, विमलं विगतस्पृहम् । तद्गुणैर्भावितश्चित्ते, रत्नचूडो व्यचिन्तयत् ॥१०५॥
अहो माहात्म्यमस्योच्चैरहो निःस्पृहताऽतुला । स्यादीदृशे मनोरत्ने, रत्नैरन्यैः किमस्य वा ॥१०६॥
सखायमस्य पृच्छामि, तत् क्रत्योऽयं कुमारकः । किमस्य नाम गोत्रं च, किमुद्दिश्येह चागतः ॥१०७॥
पृष्टोऽहं रत्नचूडेन, धूलैकान्तेऽखिलं ततः । मयोक्तं धवलस्यायं, वर्धमानपुरेशितुः ॥१०८॥
भूपतेर्विमलः पुत्रो, क्रीडानन्दनमुच्चकैः । सुरम्यं जनवादेन, श्रुत्वा द्रष्टुमिहागतः ॥१०९॥
शुश्राव युवयोः शब्दं, मित्रेणात्र मयाऽन्वितः । भूभागमागतेनाग्रे, दृष्टा च पदपद्धतिः ॥११०॥
तया नृमिथुनं ज्ञातं, युवां दृष्टौ लतागृहे । अवदानं तवाप्यस्य, ततो व्यक्तमनन्तरम् ॥१११॥
आह्लादकोऽयं बन्धूनां, रुच्योऽयं सर्वदेहिनाम् । स्पृहणीयोऽपि शमिनां, श्लाघ्यश्च विदुषामपि ॥११२॥
नानेन प्रतिपन्नं च, किं च नाद्यापि दर्शनम् । तच्छ्रुत्वा रत्नचूडेन, चिन्तितं शुद्धचेतसा ॥११३॥
प्रदर्शयामि भगवद्बिम्बमस्य मनोहरम् । कृतः प्रत्युपकारः स्यादित्थमस्य मयोचितः ॥११४॥
अथासौ विमलं प्रोचे, कुमारेह पि[1](मा)तामहः । मणिप्रभो मेमायातस्तस्येदं रुचितं वनम् ॥११५॥
समागमकृते विद्याभृतामिह पुनः पुनः । कृत्वा चैत्यं युगादीशबिम्बं तेन प्रतिष्ठितम् ॥११६॥
प्रणामार्थमतस्तस्य, बहुशोऽहमिहागतः । तद् द्रष्टुमर्हति भवान् ममानुग्रहकृत् ततः ॥११७॥

रत्नचूडेन विमलाय भगवद् बिम्बस्य दर्शनम् ।

॥११९॥

---

१ 'मातामहः' इति पाठ उपमितौ पृ. ४८५. योग्यश्चैष पाठः । २ समायात–की. मु. ।

तथेति विमलः प्रोचे, रत्नचूडो जहर्ष च। ततो वयं भवध्वंसिभवनाभिमुखं गताः ॥११८॥
घटितं स्फटिकैर्दृष्टं, राजितं स्वर्णराजिभिः। ज्वलदौषधिरूप्याद्रिशृङ्गाभं भगवद्गृहम् ॥११९॥
संक्रान्तैः काञ्चनस्तम्भैः, स्वच्छस्फाटिककुट्टिमे। दधत् क्षीराब्धिनिर्मग्नमन्थाद्रिव्रजविभ्रमम् ॥१२०॥
मुक्तावचूलैः स्तम्भस्थैर्विद्रुमद्युतिमिश्रितैः। हसत् पूर्वाद्रिशृङ्गस्थसन्ध्यारक्तविधुश्रियम् ॥१२१॥
अवचूलस्थवैडूर्यत्विड्व्याप्तसितचामरैः। भवकण्ठप्रभापीनगङ्गापूरश्रियं हरत् ॥१२२॥
सितचामरसौवर्णदण्डत्विट्पिङ्गदर्पणैः। स्वर्धुनीभृद्भवजटास्फुटेन्दुद्युतिचित्रकृत् ॥१२३॥
मणिहारैर्महादर्शमण्डलप्रतिबिम्बितैः। जलस्थविद्रुमलतावितानश्रीप्रपञ्चकम् ॥१२४॥
प्रविश्य भवनेऽस्माभिश्चारु तत्रावलोकितम्। बिम्बं युगादिनाथस्य दिक्षु प्रेह्वत्प्रभाभरम् ॥१२५॥
प्रणामो विहितः सर्वैः, पश्यतो विमलस्य तत्। उल्ललासान्तरं वीर्यं, गलिता कर्मसन्ततिः ॥१२६॥
व्यचिन्तयदथोद्भूतगुणरागः स चेतसि। अहो भगवतो रूपमिदं शान्तं मनोहरम् ॥१२७॥
अयमाकार एवाह, देवस्य गुणगौरवम्। वीतरागो गतद्वेषो, देवोऽस्मादनुमीयते ॥१२८॥
इति ध्यानजलेनास्योन्मूलिते मोहपादपे। जातिस्मरणमन्तःस्थं, सन्निधानमिवोदभूद् ॥१२९॥
जातमूर्च्छोऽथ पतितः, क्ष्मापीठे ससंभ्रमः। शीतवायुप्रदानेन, कृतः सुव्यक्तचेतनः ॥१३०॥

विमलस्य जातिस्मरणम्।

१ मन्थाद्रि-प्री. मु.।

रत्नचूडेन पृष्टश्च, किमेतदिति सादरम् । नत्वा तं प्रोद्भवद्भक्तिः, प्राह रोमाञ्चभूषणः ॥१३१॥
प्राणास्त्वं बान्धवस्त्वं मे, त्वं मे माता पिता गुरुः । येनेदं दर्शितं बिम्बं, दर्शनादेव पापहृत् ॥१३२॥
दर्शितो मोक्षमार्गो मे, त्वया दर्शयता ह्यदः । प्रापितं शिवसौधं मे, छेदिता भववल्लरी ॥१३३॥
जातिः स्मृता मया तेन, प्रेक्षेऽद्य दिनवद् भवान् । अतीतान् भगवद्बिम्बं, पुराऽपि हि मयेक्षितम् ॥१३४॥
रञ्जितं दर्शनेनान्तः, सदनुष्ठानमादृतम् । सद्भावैर्भावितश्चात्मा, मैत्रीपात्रीकृता मतिः ॥१३५॥
अङ्गाङ्गिभावं नीतश्च, प्रमोदो गुणशालिषु । क्लिश्यमानेषु कारुण्यं, दुष्टे चोपेक्षणं धृतम् ॥१३६॥
औदासीन्यं स्थिरीभूतं, शमः परिणतस्तराम् । संवेगः संस्तुतः स्फीतो, भवनिर्वेदचारिमा ॥१३७॥
उद्भूते करुणास्तिक्ये, व्यक्तिं भक्तिर्गुरौ ययौ । समाधिर्ववृधे प्रौढिं, चारित्रतपसी गते ॥१३८॥
आसम्यक्त्वभवात् सर्वमस्य बिम्बस्य दर्शनात् । जातिस्मृतेर्मया ज्ञातमूहापोहं वितन्वता ॥१३९॥
कुर्वन्ति यत् सुगुरवस्तत् कृतं मे त्वयेत्यथ । वदन् पपात विमलो, रत्नचूडस्य पादयोः ॥१४०॥
संभ्रमेणालमियता, जाता ते प्रत्युपक्रिया । उत्थापितस्ततो रत्नचूडेनेति प्रजल्पता ॥१४१॥
ततः साधर्मिक इति, स्तुतश्चेत्थं महाशय ! । स्थाने हर्षातिरेकस्ते, धर्मवित्ता हि साधवः ॥१४२॥
अनित्येषु च तुच्छेषु, विषयेषु सतां न धीः । धर्म एव मतिस्तेषां, शाश्वतप्रौढशर्मदे ॥१४३॥
इच्छा सत्त्वानुरूपेण, भवेदर्थेषु देहिनाम् । तृणैर्हि तुष्यति मृगः, केसरी करिभिर्हतैः ॥१४४॥

श्वा फेलापिण्डमासाद्य, पुच्छमुच्छाल्य नृत्यति। द्विपेन्द्रोऽवज्ञया भुङ्क्ते, दत्तं यत्नैः सुभोजनम् ॥१४५॥
धनराज्यादिकं प्राप्य, माद्यन्ति क्षुद्रजन्तवः। त्वं तु मध्यस्थधीर्लब्धे, दिव्ये रत्नेऽप्यभूः पुरा ॥१४६॥
अधुना तु समासाद्य, सन्मार्गं परितुष्यसि। तदसि श्रेयसां पात्रं, नारोप्यो गरिमा मयि ॥१४७॥
स्वयंबुद्धेन भवता, लोकान्तिकसुरोपमः। द्रष्टव्योऽहं जिनाभेन, न तु धार्यो गुरुत्वधीः ॥१४८॥
विमलः प्राह मावादीरिमां वाचं महाशय!। लोकान्तिका जिनज्ञाने, न हि यान्ति निमित्तताम् ॥१४९॥
व्यापृतस्त्वं तु मत्कार्ये, गतो व्यक्तं निमित्तताम्। युक्तस्ते विनयः कर्तुं, गुरुस्त्वं पारमार्थिकः ॥१५०॥
रत्नचूडोऽवदत् पूज्यो, गुणैस्त्वं द्युसदामपि। त्वय्येव गुरुता युक्ता, रत्नश्रीरिव रोहणे ॥१५१॥
विमलः प्राह सा ज्ञेया, गुणवत्ता मनीषिणा। न त्रपन्ते यया कर्तुं, गुरूणां प्रेष्यतामपि ॥१५२॥
तेन दुष्प्रतिकारस्त्वं, पूज्योऽसि मम धर्मदः। पर्यालोच्यं ममास्त्युच्चैरन्यच्चेदं त्वया सह ॥१५३॥
भववासादहं भीतो, मया पीतं शमामृतम्। ग्राह्या भागवती दीक्षा, न स्थेयं गृहपञ्जरे ॥१५४॥
स्वजनाः सन्ति ताताद्याः, केवलं बहवो मम। तेषां चेत् प्रतिबोधः स्यात् , तदानृण्यं भवेन्मम ॥१५५॥
रत्नचूडो जगौ सूरिर्बुधनामाऽस्ति भूरिधीः। यद्यागच्छेत् कथञ्चित् स, ज्ञातींस्ते प्रतिबोधयेत् ॥१५६॥
स चित्तजोऽतिशयवानब्धिर्लब्धिव्रजस्य च। वाचामगोचरस्तस्य, महिमा धुतपाप्मनः ॥१५७॥

विमलस्य वैराग्याद् दीक्षाग्रहणेच्छा।

१ फेला=भुक्तसमुज्झितम्।

रत्नचूड-
कथितो
बुधसूरि-
वृत्तान्तः।

विमलोऽवक् क दृष्टोऽसौ, बुधाचार्यस्त्वयाऽनघ ! । रत्नचूडोऽवदत् क्रीडानन्दनेऽत्रैव सुन्दरे ॥१५८॥
आयातोऽहं गताष्टम्यामर्हद्बिम्बार्चनं चिकीः । दृष्टं च भवनद्वारि, भूभागे मुनिमण्डलम् ॥१५९॥
तस्य मध्ये स्थितः कृष्णो, दृष्टो बीभत्सदर्शनः । त्रिकोणशीर्षश्चिपिटघ्राणो वक्रशिरोधरः ॥१६०॥
लम्बोदरः कुरूपश्च, करालदशनो मुनिः । केवलं स्निग्धगम्भीरध्वनिना हृदयं हरन् ॥१६१॥
प्रेक्ष्य तं तादृशं ध्यातं, मया नास्य महामुनेः । रूपं गुणोचितं चैत्ये, प्रविष्टोऽहं ततो मुदा ॥१६२॥
विधाय विधिवत् पूजामथ चैत्याद् विनिर्गतः । आयातो वन्दितुं साधून् , स दृष्टः साधुमध्यगः[1] ॥१६३॥
तपस्वी स्वर्णपद्मस्थः सत्कार्त्तस्वरभास्वरः । कूर्मोन्नतपदो गूढशिराजालः सुलक्षणः ॥१६४॥
दधत् करिकराकारमुरुजङ्घं झषोदरः । विशालवक्षा विस्तीर्णभुजः करजिताम्बुजः ॥१६५॥
विधुजैत्रमुखस्तुङ्गनाशावंशस्ततेक्षणः । प्रलम्बकर्णयुगलः कान्तिमद्दन्तपद्धतिः ॥१६६॥
अष्टमीन्दुलसद्भालश्छत्राकारोत्तमाङ्गभृत् । अनन्योपमसौभाग्यभाग्यलावण्यभाजनम् ॥१६७॥
ध्वनिना प्रत्यभिज्ञाय, तं ध्यातं विस्मयान्मया । इदानीं कथमीदृक्षः, स एवायं तपोनिधिः ॥१६८॥
अथवाऽत्र किमाश्चर्यं, चन्दनेनोदितं हि मे । भवन्ति लब्धिपात्राणि, कामरूपा मुनीश्वराः ॥१६९॥
जायन्ते तेऽणुवत्सूक्ष्मा, गुरवोऽपि च शैलवत् । पूरयेयुः स्वदेहस्य, विस्तारेणाखिलं जगत् ॥१७०॥

वामदेवस्य
रत्नजिहीर्षा



१ साधुपुङ्गव. डे. ज्ञा ।

तूलमल्लघवोऽपि स्युः, कुर्युर्देवांश्च किङ्करान् । घटाद् घटशतं कुर्युर्मज्जेयुश्च शिलातले ॥१७१॥
आकर्णयन्ति सर्वाङ्गैः, स्पर्शाद् रोगान् हरन्ति च । वायुवद् गगने यान्ति, क्वापि नैव स्खलन्ति ते ॥१७२॥
अतोऽयं यः कुरूपः प्राग्, दृष्टः संप्रति चेक्ष्यते । सुन्दराङ्गस्ततः पात्रं, लब्धीनां परिभाव्यते ॥१७३॥
मया प्रहृष्टचित्तेन, वन्दितो भगवांस्ततः । अन्ये च मुनयोऽहं तैर्दत्ताशीश्च पुरःस्थितः ॥१७४॥
पीत्वा तद्वाक्यपीयूषं, भावितस्तद्गुणैर्भृशम् । पृष्टं चैकस्य साधोः कः, कुत्रत्यश्चैष सूरिराट् ॥१७५॥
तेनोक्तं गुरुरस्माकमयं सूरिर्बुधाभिधः । पुत्रः शुभविपाकस्य, धरातलपुरेशितुः ॥१७६॥
साधुतानन्दनो राज्यं, त्यक्त्वा दीक्षामुपाददे । साम्प्रतं विहरत्युग्रविहारेण तपोनिधिः ॥१७७॥
ततस्तच्चरितं श्रुत्वा, दृष्ट्वा तल्लब्धिवैभवम् । जैनेश्वरे स्थिरीभूतो, धर्मेऽहं मेरुशैलवत् ॥१७८॥
गुरुं च शेषसाधूंश्च, प्रणम्याथ गतो गृहे । अन्यत्र विहरत्येष, भगवानपि निःस्पृहः ॥१७९॥
तद् वदामि बुधाचार्यो, यद्यागच्छेदिहोरुधीः । परोपकारव्यसनी, त्वद्ज्ञातीन् बोधयेत् तदा ॥१८०॥
तेन यद् वैक्रियं रूपं, मम स्थैर्याय निर्मितम् । विश्वस्थैर्याय तदसौ, व्यापिपर्ति न संशयः ॥१८१॥
विमलः प्राह सोऽप्यत्राभ्यर्थनीयस्त्वयाऽऽगमे । रत्नचूडोऽवदत् कुर्वे, त्वदादेशं न संशयः ॥१८२॥
साम्प्रतं तु गृहे यामि, पित्रोः संधीरणाकृते । विमलः प्राह विस्मार्यो, नाहं कार्यं मदीहितम् ॥१८३॥
सुहृद्विरहदूनाऽथ, बभाषे चूतमञ्जरी । भ्राताऽसि मे कुमार! त्वं, स्मर्तव्या निर्गुणाऽप्यहम् ॥१८४॥

वामदेवेन सह विमलस्य गृहं प्रति गमनम् ।

विमलः स वदत्यार्य !, गुरुं च गुरुवल्लभाम् । स्मरामि यदि नो तन्मे, धर्मधीः कीदृशी भवेत् ॥१८५॥
इत्थं मामपि संभाष्य, गतौ तौ निजमन्दिरम् । धर्मालापमिमं व्यक्तं, शृण्वतोऽपि तदा मम ॥१८६॥
सुप्तस्येव गतस्येव, हृदये गुरुकर्मणः । न स्थितं पदमप्येकमुपेक्षामरुता[1] हृतम् ॥१८७॥
ततो विशेषतः स्तुत्वा, भगवन्तं विनिर्गतः । भगवद्भवनाद् भक्तो, विमलः सहितो मया ॥१८८॥
प्राह मां रत्नचूडेन, रत्नं दत्तमिदं मम । प्रयोजने महत्येतत् , कदाचिदुपयोक्ष्यते ॥१८९॥
मम चास्थाऽधुना नात्र, ततो नङ्क्ष्यत्यनादरात् । निधायेदं क्वचिद्देशे, गच्छावस्तदिहैव हि ॥१९०॥
रत्नं वस्त्राञ्चलाद् दत्तमित्युक्त्वा विमलेन मे । मयैकत्र प्रदेशे तन्निखाय स्थगितं स्थलम् ॥१९१॥
ततः पुरे गतावावामहं स्वभवने गतः । विजृम्भिते बहुलिकास्तेये मम शरीरके ॥१९२॥
ततोऽवलम्ब्य नीचत्वमपर्यालोच्य चायतिम् । विस्मृत्य विमलस्नेहं, स्मृत्वा रत्नं महागुणम् ॥१९३॥
तज्जिहीर्षन्नहं तत्र, प्रदेशे सहसा गतः । उत्खातं तत् ततो देशान्निखातं चापरस्थले ॥१९४॥
निखातः तत्प्रदेशे च, पाषाणस्तन्मितो मया । विमलो वेत्त्वपुण्यैर्मे, ग्रावीभूतमिदं त्विति ॥१९५॥
ततः समागतो गेहं, लङ्घितं तद्दिनं मया । आगता रजनी जाता, चिन्ता सुप्तस्य मे तदा ॥१९६॥
नानीतं यद्गृहे रत्नं, विरूपं तत्कृतं मया । दृष्टं तदा तदन्येन, हृतं हन्त भविष्यति ॥१९७॥

वामदेवस्य रत्नजिहीर्षा

१ मरुता हृतम् कौं. मु. ।

अधुना किं करोमीति वितर्काकुलचेतसः। विनिद्रस्य व्यतीयाय, रात्रिर्मे दुःखसाक्षिणी ॥१९८॥
प्रभाते द्रुतमुत्थाय, तं प्रदेशमहं गतः। समागतो मद्भवने, विमलो विमलाशयः ॥१९९॥
न दृष्टोऽहं गृहे तेन, पृष्टः परिजनो मम। क्व वामदेवः स गतः, क्रीडानन्दनमित्यवक् ॥२००॥
ततो मदनुमार्गेण, विमलोऽपि समागतः। दूराद् दृष्टो मयाऽऽगच्छन्, जातोऽहं व्याकुलो भिया ॥२०१॥
रत्नप्रदेशं विस्मृत्यादाय पाषाणमञ्जसा। [1]संगोप्य तं कटीपट्या, गतोऽहं गहनान्तरे ॥२०२॥
संप्राप्तो विमलस्तत्र, दृष्टोऽहं भयविह्वलः। पृष्टं मित्र! किमेकाकी, भीतोऽसि किमिहागतः ॥२०३॥
मया प्रोक्तं श्रुतः प्रातर्भवानत्र समागतः। तेनागतोऽहमप्यत्र, त्रस्तश्च त्वददर्शनात् ॥२०४॥
यास्यामि स्वस्थतां दृष्टे, साम्प्रतं तु द्रुतं त्वयि। विमलोऽवक् सुसंपन्नं, गच्छावो जिनमन्दिरे ॥२०५॥
मयेत्थमस्त्विति प्रोक्ते, गतौ तत्राविशत् ततः। विमलोऽभ्यन्तरे द्वारदेशेऽहं चकितः स्थितः ॥२०६॥
व्यचिन्ति रत्नहर्तारं, नूनं मां ज्ञातवानयम्। तन्नश्यामि द्रुतं नो चेद्, रत्नं लास्यत्ययं बलात् ॥२०७॥
विदेशं यामि नात्रासान्मोक्षस्तु स्यात् स्थितस्य मे। नष्टस्ततस्त्र्यहेणागामष्टाविंशतियोजनीम् ॥२०८॥
अद्राक्षं तत्र पाषाणं, रत्नग्रन्थौ विमुद्रिते। कृच्छ्रेण चेतनां प्राप्तो, हा हतोऽस्मीति मूर्च्छितः ॥२०९॥
इष्टप्रदेशाभिमुखं, वलितस्तज्जिहीर्षया। पुनः प्रवृद्धानुशयः, स्तेयमायाविलुप्तधीः ॥२१०॥

1 संगोपित प्री मु।

इतश्च विमलेनाहं, जिनगेहान्निरीयुषा। न दृष्टो जातचिन्तेन, वने शेषे गवेषितः ॥२११॥
तत्रानासाद्य सर्वत्रान्वेषितो नगरेऽप्यहम्। तत्राप्यदृष्ट्वा सर्वत्रान्वेषकाः प्रेषिता नराः ॥२१२॥
दृष्टस्तेष्वहमेकेनागच्छन्नुक्तश्च वर्तते। विमलस्त्वद्वियोगेन, वामदेव! भृशातुरः ॥२१३॥
ततो ध्यातं मया नाहं, विमलेनास्मि लक्षितः। गतं भयं मे नीतोऽहं, पार्श्वं च विमलस्य तैः ॥२१४॥
स्नेहेनालिङ्गितस्तेन, द्वाभ्यां मुक्ताऽश्रुधोरणी। सव्याजाव्याजचित्ताभ्यां, पप्रच्छ विमलस्ततः ॥२१५॥
वामदेव! वदेयन्तं, कालं किमनुभूतवान्। मयोक्तं त्वयि चैत्यान्तः, प्रविष्टे प्रविविक्षुणा ॥२१६॥
मयाऽम्बरचरी दृष्टा, समायान्ती नभोऽध्वना। प्रभोद्भासितदिक्चक्रा, पुण्यलावण्यशालिनी ॥२१७॥
आकृष्टासिश्च लेखेव, चान्द्री रुद्राहिभीषणा। गतस्तां प्रेक्ष्य भीप्रेमकरम्बितरसान्तरम् ॥२१८॥
तदैवोत्पाट्य नीतः खे, हा कुमारेत्यहं रटन्। तया स्तनोपपीडं च, सस्नेहमवगूहितः ॥२१९॥
प्रतिभाता विषसमा, रतार्थनपराऽपि सा। चुम्बन्ती च बलाद् वक्त्रं, त्वया विरहितस्य मे ॥२२०॥
अत्रान्तरे समायाता, तत्राम्बरचरी परा। साऽपि मय्यभिलाषं च, गता दृष्ट्वैव मन्मुखम् ॥२२१॥
उद्दालने प्रवृत्तायां, मम तस्यां तयोरभूत्। घोरं परस्परं युद्धं, तयोः खचरयोषितोः ॥२२२॥
अथाकुलायाः खेचर्याः, पतितः फलवत् करात्। चूर्णिताङ्गोऽपि नष्टोऽहं, पुनः संहृतिभीतिभाग् ॥२२३॥
अमीभिः पुरुषैर्दृष्टः प्रापितोऽहं त्वदन्तिके। कुमार मारजैत्रेदमनुभूतं स्फुटं मया ॥२२४॥

तच्छ्रुत्वाऽनुपधिस्नेहाद् रञ्जितो विमलो मयि । प्रत्यायितो मुग्ध इति, हृष्टा बहुलिका च मे ॥२२५॥
अत्रान्तरे मग्न इवाम्भोधौ दष्ट इवाहिना । कामप्यहं दशां प्राप्तः, शोच्यां प्लुष्ट इवाग्निना ॥२२६॥
उत्थितं शूलमुदरे, विलूने इव लोचने । तीव्रा शिरोर्तिरुदिता, त्रुटितं सन्धिबन्धनैः ॥२२७॥
उल्ललास महाश्वासो, विमलो व्याकुलोऽभवत् । वैद्यमण्डलमाहूय, कारिता भेषजक्रिया ॥२२८॥
विशेषो न तया जातो, विमलो रत्नमस्मरत् । गतो वनप्रदेशं तं, यत्नतस्तन्निरूपितम् ॥२२९॥
अदृष्ट्वा तत्र तद् रत्नं, हा जीविष्यत्यसौ कथम् । इति चिन्तापरोऽभ्यर्णे, विमलो मे समागतः ॥२३०॥
अत्रान्तरे प्रादुरभूदेका वृद्धनितम्बनी । करालरूपा निर्मुक्तफेत्कारा विलुलत्कचा ॥२३१॥
भीतो जनः कृता पूजा, पृष्टा धूपं प्रदाय सा । का त्वं भट्टारिकेऽसीति, साऽऽहास्मि वनदेवता ॥२३२॥
मयैव वामदेवोऽयं, विहितो मृतसन्निभः । यदनेनापदम्भोऽपि, विमलो वञ्चितः सुहृत् ॥२३३॥
अस्य रत्नं हृतं न्यस्तं, प्रदेशेऽन्यत्र पाप्मना । गृहीत्वा तद्भिया नष्टः, पाषाणं पुनरागतः ॥२३४॥
दृष्ट्वा ग्रन्थिस्थपाषाणमानीतो राजपुरुषैः । आलजालमिदं चक्रे, वृत्तमित्यखिलं मम ॥२३५॥
वनदेवतया प्रोक्तं, तद्देशस्थं च दर्शितम् । रत्नमाह च सा दुष्टो, हन्तव्योऽयं मयाऽधुना ॥२३६॥
विमलः प्राह मा कार्षीरित्थमस्यानघे ! व्यथाम् । निहतोऽहं भविष्यामि, हते ह्यस्मिंस्तपस्विनि ॥२३७॥
वनदेवतया मुक्तो, विमलप्रार्थनात् ततः । हसितो बालसार्थेन, निखिलैर्निन्दितो जनैः ॥२३८॥

विमलवञ्चनेन क्रुद्धया वनदेवतया वामदेवशरीरे रोगस्योत्पादनम् ।

विमलकृता जिन-स्तुतिः।

बहिष्कृतोऽहं स्वजनैर्लघु जातस्तृणादपि। तथापि प्राक्तनस्थित्या, विमलो मां विलोकते ॥२३९॥
न विप्रियं दर्शयति, भाषते मूर्खभाषितैः। न शोच्यं भवता मित्र! दुराराधो ह्ययं जनः ॥२४०॥
दुष्टेऽपि मयि शिष्टत्वं, विमलो नैव यज्जहौ। छिन्दतोऽपि तरोश्छायां, प्रकृतिर्ददतो हि सा ॥२४१॥
सज्जनाः सज्जना एव, दुर्जना एव दुर्जनाः। विशदा न तमोव्यूहा[1], मलिना न विधोः कराः ॥२४२॥
खलतायास्तथा दृष्टिः, सज्जनेन बहिष्कृता। खलचेष्टां यथा नायं, पुरःस्थामपि पश्यति ॥२४३॥
विमलेनाश्रित इति, स्नेहात्[2] त्यक्तोऽप्यहं जनैः। मदन्वितोऽन्यदा प्राप्तो, विमलो जिनमन्दिरम् ॥२४४॥
स्तोतुं प्रावर्ततार्हन्तं, स विधायाखिलां क्रियाम्। अत्रान्तरे रत्नचूडः, संप्राप्तः खेचरान्वितः ॥२४५॥
आकर्ण्य सोऽथ मधुरां, विमलस्य स्तुतिध्वनिम्। सह स्त्रिया च खचरैश्चित्रन्यस्त इव स्थितः ॥२४६॥
अथ तुष्टाव विमलः, पश्यन्निव पुरःस्थितम्। उद्भिन्नपुलकोऽर्हन्तं, गम्भीरमधुरध्वनिः ॥२४७॥
नृत्यन्निव ध्यानलयैर्भृशं मज्जन्निवामृते। क्षालयन्निव कल्याणीभक्तिर्हर्षाश्रुभिर्मलम् ॥२४८॥
पुण्याब्धिविस्तारकरः सुवृत्तः, पीयूषवर्षी तमसां विहन्ता। करोति मन्नेत्रचकोरकस्य, मुदं भवानिन्दुरिवोरुदीप्तिः ॥२४९॥
भक्तिं चरीकर्ति विभो! त्वदीया-माज्ञां बरीभर्ति च यो विशुद्धाम्। न संसरीसर्ति स तस्य नूनम्, पुरो नरीनर्ति महोदयश्रीः ॥
न विस्मयो मोहमलिम्लुचो यत्, त्वद्ध्यानभाजो बहिरेति चित्तात्। पञ्चाननाधिष्ठितकाननात् किम्, शृगालबालो न पलायते वा ॥

१ तमोगुहा की. मु.। २ स्नेहत्यक्तो की. मु.।

प्रशान्तदृष्टिं स्थिरसन्निवेशाम्, विकारहीनामतिसुप्रसन्नाम्। न नाथ! मुद्रामपि तीर्थिकास्ते-ऽनुकुर्वते क्वान्यगुणप्रवृत्तिः ॥२५२॥
जगद्धृतं येन दुराशयेन, सोऽपि त्वयाऽहन्यत मोहमल्लः। भानुः समुद्यन् प्रबलप्रतापः, सर्वंकषं किं न तमः प्रमार्ष्टि ॥२५३॥
त्वदाननेन्दुं जिनराज! दृष्ट्वा, मनो मदीयं द्रवतीन्दुकान्तम्। शमामृतापूर्णगुणालवालैः, प्रवर्धतां त्वत्करुणालतान्तः ॥२५४॥
निहत्य मिथ्यात्वपिशाचमीश!, तव प्रसादात् पटुतां गतोऽस्मि। तथाऽपि तृष्णा छलयत्यहो मां, स्वामिन्! पिशाची विनिवारयैनाम्॥
ममैकतस्त्वद्वचनानुवृत्ति-स्तथाऽन्यतः संसृतिपाशबन्धः। बद्धस्य मार्गे गमनं तदेत-न्न शोभते त्याजय सर्वबन्धम् ॥२५६॥
त्वं निर्घृणः कर्म चमूविनाशे, न मोहबन्धुः परवत् कदाऽपि। त्वद्भक्तमचित्तविनाशिभूरि-भावारिघाते किमुपेक्षसे तत् ॥२५७॥
सिक्तोऽस्मि सद्दर्शनतस्त्वयाऽहम्, द्रुमो विवेकैरथ पुष्पितोऽस्मि। गुणाश्रयैः पल्लवितोऽसि रागैः, कर्मक्षयात् तत् फलिनं कुरुष्व ॥
नरेन्द्रदेवेन्द्रविभूतयो या-स्त्वदंह्रिभक्तेरनुषङ्गलभ्याः। न तासु लुब्धं मम चित्तमुच्चै-र्मुख्ये फले धावति मोक्ष एव ॥२५९॥
कथं समर्थोऽपि कषायलुप्तं, मां वीक्ष्य चित्ते करुणां न धत्से। अमी कषायाः स्फुटपौरुषस्य, हुंकारमात्रेण तव म्रियन्ते ॥२६०॥
किं कृत्रिमोऽस्ति त्वयि मेऽनुरागो, नाहं कृपायास्तव भाजनं यत्। निरीक्षितोऽहं कृपया त्वया तु, पिबामि कुम्भोद्भववद् भवाब्धिम्॥
कायः प्रणामैकरतस्तवायं, स्तोत्री गुणानां तव भारती मे। त्वय्येव लीनं हृदयं सदेति, स्वकिङ्करे किं कुरुषे न तोषम् ॥२६२॥
माता पिता त्वं मम नायकश्चा-नौपाधिकस्त्वं जिन! बान्धवो मे। फलं ततो भक्त्युचितं प्रदेहि, किमालजालैर्मम विप्रलापैः ॥२६३॥
इत्येवं विमलः स्तुत्वा, जिनं यावन्महाशयः। पञ्चाङ्गप्रणतिं चक्रे, ब्रह्माद्वैतानुभूतिभाग् ॥२६४॥

---

१ जगद्धृतं डे. श्रा.। २ -लतातः रा. श्रा.। ३ किमुपेक्षते रा. श्रा.। ४ -प्रकृतिं रा. श्रा.।

तावत् प्रादुरभूद् रत्नचूडः खेचरसंयुतः। स्तवनं वीतरागस्य, कृतं साध्वीति कीर्तयन् ॥२६५॥
धन्यस्त्वं कृतपुण्यस्त्वं, भक्तिर्यस्येदृशी जिने। भवात् त्वं मुक्त एवासि, निर्लेपः पद्मपत्रवत् ॥२६६॥
अभिनन्द्येति विमलं, जिनं भक्त्याऽभिवन्द्य सः। निषण्णो विमलाभ्यर्णे, विधिवच्छुद्धभूतले ॥२६७॥
विधायोचितकर्तव्यं, निषण्णा चूतमञ्जरी। विद्याधरनरेन्द्राश्च, निषण्णा नतमौलयः ॥२६८॥
अथ पृष्टसुखोदन्तौ, संलापं तौ प्रचक्रतुः। रत्नचूडो जगौ कालविलम्बो यो ममाजनि ॥२६९॥
बुधाचार्यश्च नानीतो, यत् तत्र शृणु कारणम्। इतो गतोऽहं वैताढ्ये, दृष्टा माता शुचाऽर्दिता ॥२७०॥
पिता च मद्वियोगार्त्तो, मया संधीरितौ च तौ। गते दिने प्रमोदाढ्ये, शय्यायां निश्यहं स्थितः ॥२७१॥
ध्यायतः परमात्मानं, क्षीणकर्मसमुच्चयम्। आगता द्रव्यतो निद्रा, भावतो जागरस्य मे ॥२७२॥
उत्तिष्ठ कृतपुण्येति, गिरं शृण्वन्नहं ततः। विबुद्धः पुरतोऽद्राक्षं, देवता भास्वरत्विषः ॥२७३॥
ताः प्राहुः पूजनीयोऽसि, जैने धर्मे स्थिरोऽसि यत्। रोहिण्याद्या वयं विद्याः, पुण्याकृष्टास्त्वागताः ॥२७४॥
सर्वाः पञ्चनमस्कारमन्त्रमाहात्म्ययन्त्रिताः। प्रवेशं ते करिष्यामः, शरीरे पुण्यपावने ॥२७५॥
भाव्यं चास्मत्प्रवेशेन, भवता चक्रवर्तिना। विद्याधरबलं चेदं, द्वारि तिष्ठति भृत्यवत् ॥२७६॥
ततः प्रविश्य प्रणतं, तत् प्रातस्तूर्यनिस्वनैः। सह वैतालिकानां च, प्रसृता मधुरा गिरः ॥२७७॥
तदाऽचिन्ति मया नूनमिदं धर्मस्य पाटवम्। अतर्कितोपनम्रा यद्, विद्याः सिद्धा ममाखिलाः ॥२७८॥

षष्ठः स्तबकः। विमलेन सह रत्नचूडस्य समागमः।

रत्नचूडस्य विद्याधरचक्रवर्त्तित्वम्

हर्षस्थानं न चेदं मे, यद् विघ्नोऽयमुपस्थितः। विमलेन समं दीक्षाग्रहणं न भविष्यति ॥२७९॥
उक्तो हेममयो बन्धः, पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यपि। विद्याभृच्चक्रवर्तित्वमुक्तं मे चन्दनेन च ॥२८०॥
तन्मे का गतिरित्येवं, भृशं भावयतस्ततो। विद्याः प्रविष्टा राज्ये चाभिषिक्तोऽहं नभश्चरैः ॥२८१॥
नवराज्योचितं कृत्यं, कुर्वतो मे कियत्स्वपि। ततो दिनेष्वतीतेषु, त्वदादेशो हृदि स्मृतः ॥२८२॥
चिन्तितं च मया सूरिर्न बुधाख्यो गवेषितः। नानीतो विमलाभ्यर्णं, प्रमत्तत्वमहो मम ॥२८३॥
भ्रान्तो भूमण्डलं भूरि, ततोऽहं तं गवेषयन्। दृष्टश्चैकत्र नगरे, त्वद्वार्ता च निवेदिता ॥२८४॥
तेनोक्तं भद्र! गच्छ त्वं, वदेदं विमलाय च। पश्चादेष्याम्यहमयं, हेतुस्तद्बन्धुबोधने ॥२८५॥
प्रच्छन्नो रत्नचूडेन, विमलायोदितस्ततः। बुधाचार्यस्य संदेशः, स तु नाकर्णितो मया ॥२८६॥
रत्नचूडो जगावेवं, विलम्बोऽभून्ममाधुना। नानीतो बुधसूरिश्च, विमलः प्राह शोभनम् ॥२८७॥
ततः प्रविष्टाः सर्वेऽपि, नगरे मोदपूरिताः। स्वस्थानं रत्नचूडोऽगात्, स्थित्वा द्वित्रांश्च वासरान् ॥२८८॥ विमलस्य निर्वेदः।
विमलस्तत आरभ्य, मुक्तेरासन्नभावतः। तानवात् कर्मजालस्य, सद्भावाभ्यासपाटवात् ॥२८९॥
प्राबल्याज्जीववीर्यस्य, ज्ञानशुद्धेः शमोदयात्। राज्यश्रियं नाद्रियते, वपुर्भूषां करोति न ॥२९०॥
वन्ध्यग्रामधर्मस्य, न च गन्धमपीच्छति। कालं नयति सद्ध्यानाद् विरक्तो भवचारकात् ॥२९१॥
तं तथाविधमालोक्य, पित्रोश्चिन्तोदपद्यत। यदयं यौवनस्थोऽपि, विषयेषु न लीयते ॥२९२॥

तदेतदस्य चरितं, लोकातीतं विजृम्भते । मुनिवद् वर्तमानेऽस्मिन्, राज्यं निष्फलमावयोः ॥२९३॥
विषयेषु कुमारोऽयं, तत् प्रवर्तिष्यते कथम् । स्वयमभ्यर्थनीयोऽयं, दाक्षिण्यान्मन्यते यथा ॥२९४॥
इति सिद्धान्तयित्वा तौ, गतौ विमलसन्निधौ । ऊचतुश्च सुतासि त्वं, राज्यधूर्धरणक्षमः ॥२९५॥
कृतार्थयसि तारुण्यं, किं न तद्दारसंग्रहैः । भुङ्क्षे भोगान् न किं किंवा, न वर्द्धयसि सन्ततिम् ॥२९६॥
व्यचिन्ति विमलेनेदं, सूक्तमाभ्यां किलानयोः । उपायः प्रतिबोधस्य, भविष्यत्ययमेव हि ॥२९७॥
ततो बभाषे विमलः, प्रमाणं पितृगीर्मम । किन्त्वेष मदभिप्रायः, पितृभ्यामवधार्यताम् ॥२९८॥
सुखं संपाद्य सर्वेषां, हृत्वा दुःखं च दुःखिनाम् । सुन्दरं यत् स्वयं राज्यप्रभुत्वमनुभूयते ॥२९९॥
निराकुलः सुखं भुङ्क्ते, यस्तु लोकेषु दुःखिषु । प्रभुता तस्य का नाम, स हि कुक्षिंभरिर्मतः ॥३००॥
दाहदीक्षागुरौ भीष्मे, तद् ग्रीष्मसमयेऽधुना । कुर्वन् ताताम्बयोराज्ञां, बन्धुवर्गेण संयुतः ॥३०१॥
समित्रः सदनारामे, मनोनन्दननामके । करोम्यहं राजलीलां, विलासै रुचितोचितैः ॥३०२॥
नियुज्यन्तां च पुरुषा, दुःखितानां गवेषकाः । समाहूय मया सार्धं, तेषां शर्मानुभाव्यताम् ॥३०३॥
इमां पुत्रगिरं श्रुत्वा, मुदितौ पितरौ हृदि । ऊचतुश्च त्वया वत्स, साधूक्तं गुरुवत्सल ! ॥३०४॥
राजाऽथाकारयत् सज्जं, छन्नं शीतगृहं घनैः । दलैरुपवनेऽब्जिन्या, हतघर्मदलैरिव ॥३०५॥
अभितः कदलीक्लसशैत्यलीलोरुविभ्रमम् । वेष्टितं गृहनद्योघैरब्धिस्थद्वीपसन्निभम् ॥३०६॥

दुःखितस-
त्वान्वेषणम्
॥१२६॥

लिप्तं चन्दनकर्पूरक्षोदैर्मोदैरिवोद्धृतैः । हृतधर्मयशोवल्लिमृणालोशिरराजितम् ॥३०७॥
कृतानि तत्र शिशिरैः, शयनीयानि पल्लवैः । मृदूनि सुखदान्युच्चैः, कल्पितान्यासनानि च ॥३०८॥
कुमारो विमलस्तत्र, सह लोकैः प्रवेशितः । स्थितोऽसौ तत्र लिप्ताङ्गः, सरसैश्चन्दनद्रवैः ॥३०९॥
पाटलादामकलितो, गुण्डितश्चन्द्ररेणुना । मुक्तादामाभिरामश्रीर्मल्लिकापुष्पराजितः ॥३१०॥
वीज्यमानस्तालवृन्तैः, सूक्ष्मकोमलवस्त्रभृत् । हारविभ्राजितश्चारुताम्बूलारुणिताधरः ॥३११॥
मोदितः काकलीगीतैः, स्फीतैर्नृत्यैस्ततोत्सवः । ललनाविभ्रमोद्वेलरतिसागरमध्यगः ॥३१२॥
प्रमोदमर्पयन् पित्रोर्बन्धून् सिञ्चन्निवामृतैः । नेत्रयोर्जनयन् सर्वलोकानां कौमुदीमुदम् ॥३१३॥
नियुक्तपुरुषा दुःस्वदौर्गत्योपहतान् जनान् । प्रवेशयन्ति तत्रोच्चैस्तेषां दुःखं प्रणुद्यते ॥३१४॥
इत्थं राज्ञि समाजे च, स्थिते संमदमेदुरे । केचिन्नियुक्तपुरुषाः, प्रविष्टाः शीतमन्दिरे ॥३१५॥
नरं संस्थाप्य तैरेका, दत्ता जवनिकाऽन्तरा । व्यजिज्ञपंस्ते नत्वैवं, देवादेशवशंवदैः ॥३१६॥
विचरद्भिर्महादुःखी, दृष्टोऽस्माभिरयं नरः । अत्रानीतोऽतिबीभत्स, इति च स्थापितोऽन्तरे ॥३१७॥
तच्छ्रुत्वा धवलोर्वीशः, प्राह युष्माभिरीक्षितः । क्वायं कथं महादुःखी, तेष्वेकः प्राह चारुगीः ॥३१८॥
देवादेशाद् वयमितो, गता दुःखिदिदृक्षवः । नगरं सततानन्दं, दृष्ट्वा प्राप्ता महाटवीम् ॥३१९॥

वैक्रियरूपेण बुधसूरेरागमनम् ।

१ -गर्गो' डे. ग्रा

भूतले तप्तलोहाभे, पादत्राणोज्झितो व्रजन् ॥३२०॥
दूरात् तत्र नरो दृष्टो, मध्याह्नार्ककराग्निना। यूयं स्थितोऽहमित्युक्त्वा, गन्तुं प्रववृते च सः ॥३२१॥
दूरादुच्चैरभिहितस्तिष्ठ भद्रेति तिष्ठत। दवदग्ध इव स्थाणुर्दृष्टः सर्वैः कृशोऽसितः ॥३२२॥
आनीतस्तरुमूलेऽसौ, बलाद् गत्वा मया ततः। क्षरत्स्वेदो गलत्कुष्टलुलत्कृमिकुलाकुलः ॥३२३॥
क्षुधितस्तापवान् खिन्नः, पिपासाशोषिताधरः। भग्ननेत्रो जराजीर्णः, शीर्णनासाकरक्रमः ॥३२४॥
शूलभृन्मुखभङ्गेन, दीर्घश्वासाज्ज्वरार्दितः। कम्बलेन सदण्डेन, युतो दारिद्र्यभाजनम् ॥३२५॥
चीवरैर्जीर्णमलिनैरलाबुयुगलेन च। उक्तश्च भद्र ! मध्याह्ने, बंभ्रमीषि किमीदृशम् ॥३२६॥
साक्षाद् ज्ञातोऽयमस्माभिर्नारको भूरिदुःखभूः। प्राहासौ गुरुनिर्देशाद्, भ्रमामि स्ववशोऽस्मि न ॥३२७॥
आश्रित्य शीतलच्छायां, न तिष्ठसि सुखेन किम्। इमां दशां गतस्यापि, पराधीनत्वमस्य यत् ॥३२८॥
तदा चिन्तितमस्माभिरहो कष्टं महत्तरम्। प्राहासाघृणिकाः सन्ति, ममाष्टौ यमसन्निभाः ॥३२९॥
ततोऽभिहितमस्माभिर्गुरुः किं ते करिष्यति। विचिन्तितं तदाऽस्माभिरिदं कष्टं महत्तमम् ॥३३०॥
ग्रन्थदानेन तेभ्यो मां, गुरुर्मे मोचयिष्यति। तन्मोचनदुराशा चेत्यतो दुःखी परोऽस्तु कः ॥३३१॥
यदीदृशदशस्यापि, दानिग्रहकदर्थना। क्षणमोक्षो यथा ते स्याद्, दारिद्र्यं च विलीयते ॥३३२॥
भाषितं च ततोऽस्माभिरेहि राजकुलेऽनघ !। कदापि नैव मुच्येऽहं, मोचितो हि भवादृशैः ॥३३३॥
प्राहासौ भवतां भद्राः !, कृतं मच्चिन्तयाऽनया।

इत्युक्त्वाऽसौ द्रुतं गच्छन्नीतोऽस्माभिर्बलादिह । सोन्मादोऽयमिति ज्ञात्वा, राजशासनकारिभिः ॥३३४॥
ततो बभाषे धवलः, क्षितीशो मेऽतिकौतुकम् । पश्याम्येनं जवनिकां, तद् दूरीकुरुत द्रुतम् ॥३३५॥
ततो जवनिकां ते द्रागपनिन्युर्निरीक्ष्य तम् । यथोक्तरूपं नृपतिः, ससमाजो विसिस्मि(ष्मि)ये ॥३३६॥
विमलस्तु सुधीर्दध्यौ, बुधाचार्यः स एष हि । अहो भगवतो लब्धिः, करुणाऽहो ममोपरि ॥३३७॥
अहो स्वसुखवैमुख्यमहो अन्यार्थनिष्ठता । अहो सौजन्यसारत्वमहो निर्व्याजबन्धुता ॥३३८॥
आह्लादाय यथा चन्द्रो, जीविताय यथाऽमृतम् । तथा लोके स्वभावेन, परार्थः साधुसंगमः ॥३३९॥
तदेष वैक्रियं रूपं, विधाय भगवानयम् । इहायातो महाभागो, बन्धून् बोधयितुं मम ॥३४०॥
अयं संदिष्टवान् रत्नचूडद्वारा हि मे पुरा । भिन्नरूपोऽहमेष्यामि, व्यक्तं वन्द्यस्त्वया च न ॥३४१॥
दुःखितान्वेषणं कार्यं, केवलं स्वार्थसिद्धये । इति संस्मृत्य विमलो, हृदा तस्मै नमोऽकरोत् ॥३४२॥
दत्तस्तेनापि मनसा, धर्मलाभः सुखावहः । अन्तःशीतगृहं सोऽथ, राजभृत्यैः प्रवेशितः ॥३४३॥
द्रागकृत्य स निषण्णोऽथ, भूतले खेदनिःसहः । गलावलम्बितश्वासः, प्रवृत्तः प्रचलायितुम् ॥३४४॥
हसन्ति तादृशं प्रेक्ष्य, जनाः केचन तं परे । शोचन्ति केऽपि निन्दन्ति, केऽप्येवं ब्रुवते मिथः ॥३४५॥
दुःखी दीनस्तथा श्रान्तस्तृषितश्च बुभुक्षितः । आनीतोऽत्रैष किं वेत्ति, न किंचित् प्रचलायते ॥३४६॥
तदाकर्ण्य वचस्तेन, क्रुद्धेन बुधसूरिणा । भापितं भास्वरौ कृत्वा, दीपवन्नेत्रगोलकौ ॥३४७॥

युष्मत्तोऽपि विरूपोऽहमाः पापा दुःखितोऽथवा। मां दुःखितं विरूपं च, यद् दृष्ट्वा हसथाधमाः! ॥३४८॥
कृष्णाः क्षुधापिपासार्ताः, कुष्ठिनः खेदविह्वलाः। ज्वरशूलजराग्रस्ताः, सोन्मादास्तापपीडिताः ॥३४९॥
यूयमेव परायत्ता, विकलाक्षा ऋणार्दिताः[1]। यूयं च प्रचलायध्वं, नाहं भो वालिशा जनाः! ॥३५०॥
यूयं प्रविष्टा निःशङ्कं, भोः पापाः कालगह्वरे। येऽधुना हसथैवं[2] मां, मुनिमुद्वीक्ष्य दुर्बलम् ॥३५१॥
दृष्ट्वा तौ भास्कराकारौ, ज्वलन्तावक्षिगोलकौ। विद्युदाभां च रसनां, श्रुत्वा च क्षोभिकां गिरम् ॥३५२॥
हनूमत्[3]कोपनिर्दग्धलङ्कादुर्गस्थरक्षसाम्। अवस्थां ययुरास्थानस्थिताः प्रक्षुभिता नराः ॥३५३॥
बभाषे धवलो राजा, तदेदं विमलं प्रति। कुमार! मर्त्यमात्रोऽयं, नास्ति दुर्लक्षलक्षणः ॥३५४॥
मलाविलं गलत्कान्ति, प्रागभूदस्य लोचनम्। मूषोत्तप्तसुवर्णाभमधुना तु विजृम्भते ॥३५५॥
राहुग्रस्तेन्दुजातीयं, प्रागभूदस्य लोचनम्। देदीप्यतेऽधुना त्वेतत् तेजसा विश्वदाहिना ॥३५६॥
भारतीं पुष्करावर्तगर्जितप्रतिपन्थिनीम्। रणधीरमपि स्वान्तं, श्रुत्वाऽस्य मम कम्पते ॥३५७॥
तच्छन्नो मुनिवेषेण, देवोऽयं कोऽपि लक्ष्यते। क्रुद्धं प्रसादयाम्येनं, यथा भस्मीकरोति न ॥३५८॥
प्रकृतौ स्थापितः श्रेयानन्तस्तेजोनिधिः खलु। कोपितोऽसौ वमत्यग्निं मथितारणिसन्निभः ॥३५९॥
जगाद विमलः सत्यं, चारु तातेन निश्चितम्। भक्तिग्राह्यः प्रसाद्योऽयं, प्रणत्या विषमो भृशम् ॥३६०॥

1 क्षणार्दिताः डे. क्षा. की. मु.। 2 हसथैव की मु हसथैवें रा. ज्ञा.। 3 हनुमत्-डे. ज्ञा. की. मु.।

तच्छ्रुत्वा लोलकोटीरो, विलसत्करकुड्मलः । प्रणनाम मुनिं राजा, समाजश्चाखिलस्ततः ॥३६१॥
जगौ भूपः सहस्वैतज्जनानां बालचापलम् । कृत्वा प्रसादं प्रह्वस्य, देहि मे दिव्यदर्शनम् ॥३६२॥
इति विज्ञप्य तं राजा, यावद् भूयः समीक्षते । तावत् स ददृशे दीप्तः, साक्षादिव दिवाकरः ॥३६३॥
निविष्टः स्वर्णकमले, विनिद्रकमलेक्षणः । वदनेनोल्लसद्भासा, पूर्णिमेन्दुं विडम्बयन् ॥३६४॥
वीक्ष्य तं तादृशं सर्वे, विस्मिताः सनृपा जनाः । परस्परमभापन्त, भृशमुत्फुल्ललोचनाः ॥३६५॥
निस्तेजाः प्रागभूदेप, साम्प्रतं महसां निधिः । जगच्चमत्कारकरी, दैवीयं कामरूपता ॥३६६॥
पप्रच्छाथ नृपो भालविन्यस्तकरकुड्मलः । कोऽसि त्वं भगवन् ! ब्रूहि, देवो वा दानवोऽथवा ॥३६७॥
मुनिः प्राह न देवोऽहं, नापि पार्थिव ! दानवः । यतिरस्मि यतित्वं हि, लिङ्गेनैवावगम्यते ॥३६८॥
भूमीन्द्रः प्राह यद्येवं, त्वया किमिति तत्कृतम् । इदानीमीदृशं रूपं, पूर्वं बीभत्सदर्शनम् ॥३६९॥
स्वदेहवर्तिनो दोपा, भवता केन हेतुना । प्रदर्शिताः कथं चाभूः, क्षणाद् दिव्याकृतिः पुनः ॥३७०॥
मुनिराह महाराज !, मया पूर्वं प्रदर्शितम् । बीभत्सरूपं जीवानां, बोधाय भववर्तिनाम् ॥३७१॥
सर्वेऽपि तादृशा जीवाः, संसारोदरवर्तिनः । स्वस्वरूपं न जानन्ति, तथाऽपि हतबुद्धयः ॥३७२॥
अतस्तत्प्रतिबोधाय, तादृग् रूपं मया कृतम् । मुनिवेषधरं यच्च, कृतं तत्कारणं शृणु ॥३७३॥
मुनयो धुतपापा ये, ते कृष्णास्तृट्क्षुधार्दिताः । कुष्ठिनोऽपि बहिर्ज्ञेयास्तत्त्वतो भूप ! सुन्दराः ॥३७४॥

बुधाचार्योपदिष्टं संसारिजीवस्वरूपम् ।

ये तु सद्धर्मविमुखा, गृहस्था भोगगृध्नवः। सुखिनोऽपि हि ते ज्ञेया, दुःखिनो रोगपीडिताः ॥३७५॥
गृहिणां कृष्णवर्णाद्या, दोषाः सन्ति यथाऽखिलाः। साधूनां च न सन्त्येते, तथा ते कीर्तयाम्यहम् ॥३७६॥
उत्तप्तस्वर्णवर्णोऽपि, बहिर्बुद्धिधनैर्जनः। पातकध्वान्तलिप्तोऽन्तः, कृष्णवर्णो निगद्यते ॥३७७॥
बहिरञ्जनवर्णोऽपि स्वान्ते स्फटिकनिर्मलः। न कृष्णः प्रोच्यते प्राज्ञैर्गौर एवाभिधीयते ॥३७८॥
साधुस्तत् कृष्णवर्णोऽपि, गौराङ्गो धर्मबद्धधीः। गृहस्थः स्वर्णवर्णोऽपि, कृष्णः पापपरायणः ॥३७९॥
इममर्थमभिप्रेत्य, मयोक्तं शत्रुशातन!। मूढा! न कृष्णवर्णोऽहं, यूयमेव तथाविधाः ॥३८०॥
सा बुभुक्षा न विषयैस्तृप्तिर्याऽधिगतैरपि। तया बुभुक्षिताः सर्वे, भवचक्रनिवासिनः ॥३८१॥
ते हि यद्यपि दृश्यन्ते, तृप्तिभाजो भृतोदराः। ज्ञेयास्तथाऽपि तुच्छाशा, बुभुक्षाक्षामकुक्षयः ॥३८२॥
साधवस्तु सदा तृप्ताः, प्रशमोद्गारमोदिताः। रिक्तोदरा अपि ज्ञेया, मुक्ता भावबुभुक्षया ॥३८३॥
धृत्वा हेतुमिमं चित्ते, बुभुक्षापीडिता मया। प्रोक्ताः सर्वे जना राजंस्तृप्तश्चात्मा प्रकाशितः ॥३८४॥
पिपासाऽनागतेष्विच्छा, भोगेषु नरनायक!। स्तम्भनी ज्ञानजिह्वायाः, शमकण्ठस्य शोषणी ॥३८५॥
पिबन्तोऽप्युदकं स्वादु, तया सर्वे पिपासिताः। जैनधर्मबहिर्भूता, जना भवविवर्तिनः ॥३८६॥
मुनयो भाविभोगेषु, निष्पिपासाः सदैव हि। तेनोक्तं निष्पिपासोऽहं, यूयं सर्वे तृषाऽर्दिताः ॥३८७॥
कुष्ठं मिथ्यात्वमुर्वीश!, कुतर्ककृमिजन्मभूः। गलदास्तिक्यजम्वालमबालमतयो विदुः ॥३८८॥

मार्गानुसारिणीं बुद्धिं, नासिकां नाशयत्यदः। कुरुते बर्बराव्यक्तघोषं जात्यादिमानतः ॥३८९॥
शमसंवेगनिर्वेदकारुण्यानि च देहिनाम्। हस्तपादसमान्येतच्छोटयत्यनिवारितम् ॥३९०॥
जैनो धर्मो न यैः स्पृष्टो, भावतस्ते हि जन्तवः। सर्वे मिथ्यात्वकुष्ठेन, नष्टाङ्गास्तेन सर्वथा ॥३९१॥
दृश्यन्ते मन्मथाकारास्ते यद्यपि बहिर्दृशा। क्षताङ्गाः कृमिजालेन, तथाऽपि परमार्थतः ॥३९२॥
कुष्ठमेतन्मुनीनां तु, नास्ति सर्वाङ्गसुन्दराः। तेन ते कर्मदोषेण, बहिःकुष्ठान्विता अपि ॥३९३॥
प्रोक्तं मयेदमालोच्य, यूयं भोः कुष्ठिनो जनाः। सम्यक्त्वेन गरिष्ठात्मा, नाहं कुष्ठी कदाचन ॥३९४॥
दुःखधूलिभृतो दीर्घो, विषमो दोषैतस्करैः। करालविषयव्यालो, विच्छिन्नप्रशमोदकः ॥३९५॥
ज्ञानच्छायोज्झितो व्याप्तः, कामैः कण्टकसन्निभैः। क्रोधभूधरभूभग्नपान्थपुण्यपराक्रमः ॥३९६॥
खेदहेतुर्जिनैर्दृष्टो, भवोऽध्वा भावचक्षुषा। वहन्त्यत्र सदा जीवा गृहीत्वा कर्मशम्बलम् ॥३९७॥
कदाऽपि धर्मरहिता, न कुर्वन्त्युत्प्रयाणकम्। तेन संसारिणो जीवा, विज्ञेया खेदविह्वलाः ॥३९८॥
दृश्यन्ते शीतलच्छायाश्रिता यद्यपि गेहिनः। तथाऽपि तत्त्वतो ज्ञेया, धावन्तस्ते भवाध्वनि ॥३९९॥
मुनयस्तु विवेकाद्रौ, सर्वदा जैनसत्पुरे। स्थिताश्चित्तसमाधानमण्डपे चन्द्रशीतले ॥४००॥
निर्वृतास्ते महात्मानो, बहिः खेदं गता अपि। तत्त्वतः खेदनिर्मुक्ता, ज्ञेयाः क्षितिपुरन्दर! ॥४०१॥

१ -नारी रा. शा. की. मु। २ -च्छादय-की. मु। ३ दुःखतस्करै रा. शा.।

निदानमिदमाशय्य, मया पूर्वं निवेदितम्। अहं न खेदनिहतो, भवन्तः खेदविह्वलाः ॥४०२॥
तृष्णाविवर्धको रागो, नाश्यो वैराग्यलङ्घनैः। कर्माजीर्णसमुत्थश्च, प्रोक्तो भावज्वरो बुधैः ॥४०३॥
तेन संसारिणः सर्वे, ज्वरग्रस्ता नराधिप!। मुनीनां तु न गन्धोऽपि रागस्य हृदि विद्यते ॥४०४॥
असातवेद्योदयतो, जातु जातज्वरा अपि। तेन ते विज्वरा ज्ञेया, ज्वरमूलप्रमाथिनः ॥४०५॥
ईर्ष्या भूप! महाशूलं, मुदितामुखभङ्गकृत्। विवेकहृदयोन्माथि, दयाश्वासनिरोधकम् ॥४०६॥
क्षमन्ते न परोल्लासमीर्ष्याशूलहता जनाः। तत् कुर्वन्ति परद्रोहाद् वक्त्रभङ्गं मुहुर्मुहुः ॥४०७॥
तच्छूलं भवमूढानामस्ति न व्रतिनां पुनः। विनिवृत्ताः परद्रोहात् ते हि सर्वहितावहाः ॥४०८॥
एकाकारा सदा भूप! जन्तवो भववर्तिनः। अनन्तदुःखदौर्गत्यवलीपलितपूरिताः ॥४०९॥
मुखरन्ध्रगलल्लालाहालाहलमृषोदितैः। आशायष्टिमवष्टभ्य, गच्छन्तोऽपि स्खलत्क्रमाः ॥४१०॥
गलत्सत्त्वरदना, निष्ठीवन्तः पदे पदे। कर्मोदयकृतक्षोभलोभश्लेष्माभिपीडिताः ॥४११॥
जराजर्जरिता दीना, अनुकम्प्या महात्मनाम्। विवेकयौवनं प्राप्तं, दीक्षाभोगोचितं न तैः ॥४१२॥
अविद्याजन्म तैर्मूढैर्जरसैवातिलङ्घितम्। न विद्याजन्म ते प्राप्ता, न मृता भावमृत्युना ॥४१३॥
मुनिभिस्तु महाराज! लब्धं विद्याऽभिधं जनुः। प्राप्तं विवेकतारुण्यं, बाल्यं नैवान्वभूयत ॥४१४॥
अप्राप्य तरुणाः सन्तो, जरां संसारदीर्घताम्। तथैव ते मरिष्यन्ति, नोत्पत्स्यन्ते यथा पुनः ॥४१५॥

ज्वरशूलजराग्रस्ता, यूयं प्रोक्तास्ततो मया । ज्वरशूलजराहीनः, स्वस्य चात्मा प्रकाशितः ॥४१६॥
कुर्वन्ति सदनुष्ठानं, न बुधैः प्रेरिता अपि । वारिता अपि कुर्वन्ति, पापानुष्ठानमादृताः ॥४१७॥
मूर्ध्नि मोहरजः क्षिप्त्वा, प्रलपन्ति यथा तथा । परिधानं त्रपां मुक्त्वा, कामनृत्यं वितन्वते ॥४१८॥
गले वल्गन्ति पूतानां, तृष्णाविड्लिप्तपाणयः । प्रवदन्तु तथा धर्मं, यथा भोगान् लभामहे ॥४१९॥
इत्थं विचेष्टमाना हि, सर्वे संसारवर्तिनः । सोन्मादा नायमुन्मादः साधूनां भूप ! विद्यते ॥४२०॥
इदं कारणमाश्रित्य, मया पूर्वं निवेदितम् । सोन्मादा भो जना ! यूयं, नाहमुन्मादबाधितः ॥४२१॥
कषायाख्यः सदा तापो, घोरः संसारवर्तिनाम् । धृतिहन्ता च्युतशमस्वेदक्लेदभयंकरः ॥४२२॥
दंदह्यन्ते हि ते तेन, लिप्ताङ्गाश्चन्दनैरपि । साधवस्तु सदा शान्ता, निस्तापास्तापसूदनाः ॥४२३॥
बाह्यस्तापोऽपि नो तेषां, शमिनामुपतापकृत् । तत् तापपीडिता यूयं, प्रोक्ता नाहं तु तादृशः ॥४२४॥
इदं पुत्रकलत्रादि, निर्मितं भिन्नकर्मभिः । कुटुम्बमेकवृक्षस्य, पक्षिसंघातसन्निभम् ॥४२५॥
निःस्नेहं चञ्चलं तुच्छं, तथाऽपि हृदयप्रियम् । अज्ञातपरमार्थानां, बालानां प्रतिभासते ॥४२६॥
क्लिश्यन्ते च तदर्थं ते, स्वयं कर्मकरा इव । धनार्जनाय धावन्ति, मोहेनान्धा दिवानिशम् ॥४२७॥
विनिद्राः शेरते रात्रौ, भुञ्जतेऽपि सुखेन न । भ्रमन्ति पशुवच्छून्याः, पूरिता भूरिचिन्तया ॥४२८॥
परायत्ताः कुटुम्बस्य, तत्त्वार्थं ते न जानते । यत् कुटुम्बार्थपापस्य, भोक्ष्येऽहं फलमेककः ॥४२९॥

मातापित्रादिसम्बन्धो, मृगतृष्णोपमोऽखिलः । सन्तोषामृतसौख्यं कस्तात्त्विकं तेन हारयेत् ॥४३०॥
कुटुम्बपञ्जरं त्यक्त्वा, ये त्वेवं भावनाभृतः । निष्क्रान्ता न परायत्तास्ते स्वाधीनसुखाब्धयः ॥४३१॥
गृहपाशविमुक्तानां, तेषां या गुर्वधीनता । सा ग्रीवाभरणं नैव, रज्जुराकर्षणी भवे ॥४३२॥
यूयमुक्ताः परायत्ताः, संचिन्तयेदं स्वमानसे । स्वाधीनत्वं मया स्वस्य, वचोऽध्वपथिकीकृतम् ॥४३३॥
पश्यन्ति नान्तः कामान्धाः, पश्यन्तोऽपि बहिर्दृशा । विकलाक्षास्ततस्ते स्युः, साधवस्तु न तादृशाः ॥४३४॥
सज्ञाक्षा एव तद् ज्ञेया, नष्टबाह्यदृशोऽपि ते । विकलाक्षा मयेत्येते, प्रोक्ता नाहं तु तादृशः ॥४३५॥
ये चाष्टाव्रणिकाः प्रोक्ताः, कर्माण्यष्ट प्रतीहि तान् । दानग्रहणिकैर्लोकाः, कदर्थ्यन्ते हि तैर्भृशम् ॥४३६॥
धार्यन्ते क्षुधिताः क्वापि, तिर्यग्भवचतुष्पथे । क्षिप्त्वा नरककारायां, पीड्यन्ते निष्कृपैः क्वचित् ॥४३७॥
चिन्तापङ्के विलोठ्यन्ते, क्वचिदाहत्य पार्ष्णिना । पुण्याख्यो ह्रियते गेहोपस्करः क्वापि दुर्गतौ ॥४३८॥
साधूनां ते न बाधायै, शुद्धप्रायमृणं हि तैः । ग्रन्थेन गुरुदत्तेन, शोधयन्ति च ते सदा ॥४३९॥
ऋणार्दितास्ततः प्रोक्ता, यूयं नाहं तु तादृशः । ऋणिका बाधका नैव, ऋणं शोधयतो हि मे ॥४४०॥
क्रूरं कर्म भवो घोरो, रौद्रं रागादिमण्डलम् । जीवितं दृष्टनष्टं च, चलाः सर्वविभूतयः ॥४४१॥
प्रमादो देहिनां शत्रुर्देहोऽयं क्षणभङ्गुरः । जरामृत्यू करगतौ, भोगाः पर्यन्तदारुणाः ॥४४२॥
इत्यादिकमनालोच्य, कामभोगाशयौ क्रमौ । प्रसार्य ज्ञानतत्पात्रसंगनेत्रे निमील्य च ॥४४३॥

अविद्याशयने सर्वे, स्वपन्ति भवजन्तवः । महाघुरघुरारावं, कुर्वन्तः क्रोधचेष्टितैः ॥४४४॥
शब्दैरपि न बुध्यन्ते, प्रदीर्वैस्ते विवेकिनाम् । बोधिता अति कृच्छ्रेण, घूर्णन्ते मोहनिद्रया ॥४४५॥
बल्गन्तोऽपि ततो ज्ञेया, गृहिणः प्रचलायिताः । मुनयस्तां विना निद्रां, सुप्ता अपि हि जाग्रति ॥४४६॥
स्वस्यान्येषां च पश्यन्ति, ते हि गत्यागती श्रुतैः । तद् यूयं प्रचलायध्वे, नाहमित्यास्थितं मया ॥४४७॥
दरिद्रा भूपते ! ज्ञेया, ये सद्धर्मविवर्जिताः । परप्रार्थनया बाढं, दीना विषयभिक्षवः ॥४४८॥
येषां तु भावरत्नानि, चित्तापवरके सदा । देदीप्यन्ते मुनिजनाः, स्वाधीना धनिनो हि ते ॥४४९॥
ते स्वयं भुञ्जते वित्त, जगत् पुष्णन्ति तेन च । अलाबुहस्ता अपि ते, विज्ञेयाः परमेश्वराः ॥४५०॥
अनादिनिधनज्ञानधनोऽहं तद् भवादृशैः । स्वं दारिद्र्यमनालोच्य, दरिद्रो भावितः कथम् ॥४५१॥
मलिनोऽपि स विज्ञेयो, यः कर्ममलभारितः । मुद्रिताशुचिकुम्भाभः, क्षालितोऽपि बहिर्भृशम् ॥४५२॥
हारतारकनाथांशुक्षीरनिर्मलमानसः । निर्मलस्तत्त्वतो ज्ञेयो, बहिर्मलधरोऽपि हि ॥४५३॥
भावमालिन्यमध्यात्वा, तदिदं स्वहृदि स्थितम् । हसितोऽहं जनैः केन, हेतुना मलभागिति ॥४५४॥
सुरासुरनरैः पूज्यो, धर्मी सौभाग्यवान् मुनिः । वैदन्त्यधर्मभूयिष्ठं, दुर्भगं भावतो नरम् ॥४५५॥
कृष्णपाक्षिकमूर्द्धन्यं, यं निन्दन्ति विवेकिनः । स दौर्भाग्यैकरः प्राणी, तं स्तुवन्ति नराधमाः ॥४५६॥

---

१ श्रिता डे. शा. । २ धर्म-की. मु. । ३ वदत्य-की मु. । ४ दौर्भाग्याकर डे. शा. ।

शीलसौभाग्यपूर्णोऽपि, मुनिवेषेण धार्मिकः। केनाहं हेतुना लोकैर्निन्दितो दुर्भगाग्रिमैः ॥४५७॥
उक्तदोषान्विता लोका, राज्यभाजोऽपि दुःखिनः। अनाख्येयरसोल्लासनिमीलितदृशोऽपि हि ॥४५८॥
व्याघ्रवक्त्रे प्रविष्टस्य, कराले तीक्ष्णदंष्ट्रया। मृगस्य यत् सुखं भूप, तत् सुखं भववर्तिनाम् ॥४५९॥
यथा शोफस्य पुष्टत्वं, यथा वा वध्यमण्डनम्। सुखाभिमानजनितो, विलासो देहिनां तथा ॥४६०॥
अशक्नुवन्तो निर्गन्तुं, दुःखाशनिहता अपि। गृहिणो धर्मरहिता भूपते! नारकोपमाः ॥४६१॥
सत्साधूनां तु नास्त्येव, क्षुद्रोपद्रवसंभवः। नष्टं मोहतमस्तेषां, ज्ञानोद्योतो व्यजृम्भत ॥४६२॥
शमामृतं परिणतं, त्रुटिता भववल्लरी। धर्ममेघसमाधिश्च, स्थिरीभूतो महोदयः ॥४६३॥
सन्तोषदा धृतिः पत्नी, श्रद्धा चित्तप्रसादकृत्। सुखासिकाऽऽह्लादकरी, हिता विविदिषा सदा ॥४६४॥
विज्ञप्तिः पाटवाधात्री, मेधा सद्बोधकारिणी। नैश्चिन्त्यकृदनुप्रेक्षा, मैत्री चित्तानुवर्तिनी ॥४६५॥
करुणा वत्सलाऽऽकालं, मुदिताऽन्तःप्रसादकृत्। उपेक्षोद्वेगहन्त्री चेत्येष तेषां प्रियागणः ॥४६६॥
इमाभिरनुरक्ताभिर्मोदमाना मुनीश्वराः। तिष्ठन्ति मग्ना संसारातीतशर्ममहोदधौ ॥४६७॥
देहादपि स्वमात्मानं, तिष्ठन्ति प्रविविच्य ये। तेषां सुखं विजानातु, कः परोऽनुभवं विना ॥४६८॥
कुमारी न यथा वेत्ति, सुखं दयितभोगजम्। न जानाति तथा लोको, योगिनां समतासुखम् ॥४६९॥
तदेवं सुखपूर्णोऽपि, निन्दितोऽहं मुधा जनैः। परमार्थमजानानैः, स्वसुखस्मयनाटितैः ॥४७०॥

नृपतिः प्राह यद्येवं, भोगा दुःखं शमः सुखम् । नेदं प्रबुध्यते कस्मात्, तदेष निखिलो जनः ॥४७१॥
मुनिराह महामोहशैलूषेण विनाटितः । जनो न बुध्यते तत्त्वं, यथा स बठरो गुरुः ॥४७२॥
भूपः प्राह भदन्तासौ, को नाम बठरो गुरुः । कथं न बुबुधे तत्त्वं, तन्मे ब्रूहि महामुने ! ॥४७३॥
मुनिराह महाराज !, सावधानमनाः शृणु । अलब्धमूलो विस्तीर्णो, ग्रामोऽस्त्येको मनोहरः ॥४७४॥
शिवायतनमस्त्येकं, तत्र रत्नौघपूरितम् । भृतं मनोज्ञैर्विविधैः, खण्डखाद्यकपानकैः ॥४७५॥
धनधान्यहिरण्याढ्यं, वरचेलव्रजान्वितम् । सम्पूर्णोपस्करं शर्मसामग्रीधाम निर्मलम् ॥४७६॥
तस्य सारगुरुर्नाम, शैवाचार्योऽस्ति नायकः । सकुटुम्बो वसंस्तत्र, स मत्तो वेत्ति नो हितम् ॥४७७॥
स्वकुटुम्बं न पुष्णाति, भवनर्द्धिं न पश्यति । ज्ञातोऽसौ तादृशो धूर्तैश्चौरैस्तद्ग्रामवासिभिः ॥४७८॥
कृतं तैस्तेन मौतेन, सह सख्यं मनोऽनुगैः । ते चौराः प्रतिभासन्ते, प्रियास्तस्य हितावहाः ॥४७९॥
स्वकुटुम्बं परित्यज्य, तैः सार्धं विलसत्यसौ । माहेश्वरा निषेधन्ति, मा कृथाश्चौरसंगमम् ॥४८०॥
न मन्यते स तद्वाचं, ततो मूर्खमवेत्य तम् । ते सारगुरुरित्याख्यां, हृत्वाऽऽहुर्बठरं गुरुम् ॥४८१॥
चौरमित्रान्वितं ज्ञात्वा, स्वामिनं बठरं गुरुम् । सर्वे माहेश्वरास्तत्र ते, विजहुर्देवमन्दिरम् ॥४८२॥
ततः सप्रसरैश्चौरैर्योगशक्त्याऽस्य वर्धितः । उन्मादो बाढमायत्तं, तत् कृतं शिवमन्दिरम् ॥४८३॥
मध्यापवरके धृत्वाऽभिभूतं तत्कुटुम्बकम् । मुद्रितं द्वारमेकोऽत्र, स्थापितस्तस्कराग्रणीः ॥४८४॥

बठरगुरु-
कथा ।

कृततालारवास्तस्याग्रतस्तं नाटयन्त्यथ। गायन्ति ध्रुवकोच्चारैर्गीतं ते स्फीतमानसाः ॥४८५॥
स्वकुटुम्बव्यतिकरं, बठरः स्वां विडम्बनाम्। हरणं भवनर्द्धेस्तद्वैरितां च न वेत्ति सः ॥४८६॥
दिवा रात्रौ च सन्तुष्टश्चौरमध्ये स नृत्यति। विपुलास्तत्र च ग्रामे, चत्वारः सन्ति पाटकाः ॥४८७॥
हीनहीनतरौ द्वौ द्वौ, श्रेष्ठश्रेष्ठतरौ तथा। क्षुधितो याचते भिक्षामथासौ बठरो गुरुः ॥४८८॥
ततस्तैरर्पितं तस्य, तस्करैर्घटकर्परम्। भिक्षामटेत्यभिहितो, मषीपुण्ड्रकचर्चितः ॥४८९॥
भिक्षार्थी तद्युतोऽथागात्, स हीनतरपाटकम्। नर्तितोऽनुगृहं तत्र, कृततालारवैश्च तैः ॥४९०॥
तत्संज्ञितैः पिङ्गलोकैस्तत्रासौ ताडितो भृशम्। यष्टिमुष्टिमहालोष्टुप्रहारैरतिदारुणैः ॥४९१॥
अनुभूय महादुःखं, निर्गतः पाटकात् ततः। भिक्षाविवर्जितो भग्नकर्परस्तस्करैः सह ॥४९२॥
तैः शरावं ततो दत्तमानीतो हीनपाटके। भिक्षां न लेभे तत्रापि, बद्धा पिङ्गजनैर्धृतः ॥४९३॥
ततः शरावके भग्ने, नीतस्तैः श्रेष्ठपाटके। दत्त्वा ताम्रमयपात्रं, भिक्षां तत्राश्नुतेऽल्पिकाम् ॥४९४॥
पिङ्गैर्देवगृहस्वामी, तत्रापि स कदर्थ्यते। नीतो भग्ने ताम्रपात्रे, स श्रेष्ठतरपाटके ॥४९५॥
राजतं भाजनं दत्तं, तत्रासौ लभतेऽद्भुताम्। भिक्षां सुसंस्कृतां स्वामी, कृतस्तैर्धूर्ततस्करैः ॥४९६॥
तं भौतं नाटयन्त्येवं, पाटकेषु पुनः पुनः। तेषु ते तस्करास्तालारवगानपरायणाः ॥४९७॥
भिक्षामात्रेण तुष्टात्मा, स तु तां स्वविडम्बनाम्। न वेत्ति द्वेष्टि च स्तेनदोषोघकथकं जनम् ॥४९८॥

राजन् ! प्रदर्शितस्तुभ्यं, स एष वठरो गुरुः । येनायं सदृशो लोको, न वेत्ति स्वहिताहितम् ॥४९९॥
भूपं भावार्थजिज्ञासुं, ज्ञात्वेत्युपनिनाय च । सूरिर्ग्रामोऽत्र संसारः, सदाऽविचलितस्थितिः ॥५००॥
विनेयं जीवलोकस्य, स्वरूपं शिवमन्दिरम् । संभृतं सुखसामग्र्या, भावरत्नौघपूरितम् ॥५०१॥
भौताचार्यश्च तत्स्वामी, जीवः स्वाभाविका गुणाः । कुटुम्बं तस्य विज्ञेयं, हितकारि मनोहरम् ॥५०२॥
उन्मत्तः कर्मयोगेन, लोको नाद्रियते च तत् । भावरत्नभृतं वेत्ति, रूपं स्वाभाविकं च न ॥५०३॥
चौरा रागादयो दोषा, धूर्ता लोकस्य वञ्चकाः । तेन मित्रीकृताः कर्मोन्मादं संवर्धयन्ति ते ॥५०४॥
तस्य रूपं वशीकृत्य, क्षिप्त्वाऽन्तस्तत्कुटुम्बकम् । मुद्रयन्ति मनोद्वारं, सद्यस्ते नाव्यविद्यया ॥५०५॥
अथ स्वाभाविकं रूपं, मुषित्वा तस्य मन्दिरम् । महामोहं बृहद्धूर्तं, चक्रुस्तत्र महीपतिम् ॥५०६॥
लोकं तस्याग्रतो हृष्टाः, सोन्मादं नाटयन्ति ते । श्रूयते तत्कलकलो, गीततालारवोद्धतः ॥५०७॥
माहेश्वरास्तु ते ज्ञेयाः, प्रबुद्धा ये जिनागमे । लोकस्य वारयन्त्येते, रागादिस्तेनसंगतिम् ॥५०८॥
हितं न मन्यते वाक्यं, स तून्मादेन विह्वलः । तत् तैः सारगुरुः प्रोक्तः, सोऽज्ञत्वाद् वठरो गुरुः ॥५०९॥
जैनमाहेश्वरैस्तस्य, त्यक्तं च शिवमन्दिरम् । रागादिचौरवशगं, लोकभौतमवेत्य तम् ॥५१०॥
भिक्षां तं याचमानं च, भोगाकाङ्क्षाक्षुधातुरम् । रागादयो भवग्रामे, भ्रामयन्ति मदोद्धताः ॥५११॥
तिर्यग्नारकमानुष्यदेवसम्बन्धिनो भवाः । चत्वारः पाटकास्तत्र, प्रोक्तरूपाः प्रकीर्तिताः ॥५१२॥

कर्परं च शरावं च, ताम्रं राजतमेव च । कीर्तितं तत् तदायुष्कं, लोकभौतस्य भाजनम् ॥५१३॥
तत्र पापमषीलिप्तो, नरकायुष्ककर्परे । दीनोऽसौ याचते भोगभिक्षां नरकपाटके ॥५१४॥
न तत्र लभते भिक्षां, रागादिस्तेनसंज्ञितैः । घोरैर्नरकपालैश्च, षिङ्गतुल्यैः प्रपीड्यते ॥५१५॥
अनन्ततीव्रदुःखौघमनुभूय ततः पुनः । आयुष्ककर्परे भग्ने, निर्गच्छेच्चौरवेष्टितः ॥५१६॥
पर्यटेदथ भिक्षार्थी, तिर्यग्जन्मनि पाटके । तत्रापि नाश्नुते भोगान् , बाध्यते च क्षुदादिभिः ॥५१७॥
निष्ठिते तिर्यगायुष्के, मानुष्यकमवाप्नुयात् । पुण्यच्छायालवात् तत्र, लभते भोगभोजनम् ॥५१८॥
तत्राप्युपद्रवैस्तैस्तैः, पीडयते धूर्तसन्निभैः । ताम्रपात्रे नरायुष्के, भग्ने गच्छेत् सुरालयम् ॥५१९॥
बिभ्राणो राजताकारममरायुष्कभाजनम् । तत्र पुण्यमहाच्छायो, लभते भोगभोजनम् ॥५२०॥
एवं लोको भवग्रामे, बंभ्रमीति पुनः पुनः । उन्मत्तस्तस्कराधीनो, हसन् गायन् रुदन् भृशम् ॥५२१॥
भिक्षालवं समासाद्य, तुच्छं वैषयिकं सुखम् । भौतवत् सुखमानी स, स्वां न वेत्ति विडम्बनाम् ॥५२२॥
भ्रंशितो यैर्महैश्वर्यात् , कुटुम्बाच्च वियोजितः । हितांस्तानेव रागादीन् , लोकोऽयं वेत्ति बान्धवान् ॥५२३॥
भिक्षाप्रायानिमान् लब्ध्वा, विषयान् प्रभुताच्युतः । तथा नृत्यति मूढात्मा, यथाऽसौ बठरो गुरुः ॥५२४॥
धरणीनाथ ! तेनेदं, लोकस्तत्त्वं न मन्यते । दुःखाब्धिमध्यपतितः, सुखित्वमभिमन्यते ॥५२५॥

१ स्तेनसंगतै. रा. शा. ।

अभावे धवलः क्ष्माभृत्, तदुन्मत्ता भृशं वयम्। लुप्तं रागादिभिश्चौरैः, स्वरूपं शिवमन्दिरम् ॥५२६॥
पर्यटामो भवग्रामे, नष्टभावकुटुम्बकाः। सुदुर्लभा भोगभिक्षा, तुष्टास्तल्लवलाभतः ॥५२७॥
मग्ना दुःखोदधावस्मात् कथं मोक्षो भविष्यति। सूरिराह तथा जातं; तस्य वार्तान्तरं यथा ॥५२८॥ तथाहि—
तैरुपद्रूयमानं तं, संप्रेक्ष्य बठरं गुरुम्। महामाहेश्वरस्याभूत्, तस्यैकस्य कृपोपरि ॥५२९॥
पृष्टस्तेन महावैद्यस्ततस्तदुपदेशतः। आत्तोपकरणो रात्रौ, गतोऽसौ शिवमन्दिरम् ॥५३०॥
नाटयित्वाऽथ तं सुप्ता, बहुवेलं मलिम्लुचाः। प्रस्तावं तं समासाद्य, तेन दीपः स्फुटीकृतः ॥५३१॥
भवितव्यतयाऽपश्यत्, खिन्नस्तं बठरो गुरुः। ययाचेऽम्बु ददौ तस्य, स ततस्तत्त्वरोचकम् ॥५३२॥
तत्पानान्नष्ट उन्मादो, नैर्मल्यं चेतना गता। धूर्ताश्चौरास्तेन दृष्टा, वज्रं माहेश्वरो ददौ ॥५३३॥
जगौ च वैरिणस्तेऽमी, तदेतेन निपातय। वज्रेण तेन ते चौरा, अथोत्थायाखिला[1] हताः ॥५३४॥
उद्घाटितः[2] स्फुरद्धामा, चित्तापवरकस्ततः। कुटुम्बं स्वं स्फुटीभूतमुदभूद् रत्नसंचयः ॥५३५॥
दृष्टाऽखिला स्वसम्रश्रीरभूत् सारगुरुस्ततः। परित्यज्य भवग्रामं, गतः शिवमठेऽथ सः ॥५३६॥
भूपः प्राह नियोज्येयं, कथमत्र जने कथा। गुरुर्जगौ महामाहेश्वरो धर्मप्रबोधकृत् ॥५३७॥
लोकभ्रांतं भवग्रामे, दृष्ट्वा रागादिपीडितम्। भिक्षामात्रेण सन्तुष्टमुन्मत्तं च कृपापरः ॥५३८॥

---

१ अहोत्थाया–रा. ना. की. मु.। २ उद्घाटितस्फु–।

अस्माद् दुःखात् कथं मोक्षः, स्यादस्येति विचिन्तयन्। जिनवैद्योपदेशेन, तद्धिताय प्रवर्तते ॥५३९॥
रागादिषु प्रसुप्तेषु, क्षयोपशमभावतः। तत्स्वरूपे दीपयति, ज्ञानदीपं शिवाश्रये ॥५४०॥
सम्यक्त्वं पाययत्यम्बु, दत्ते च चरणाशनिम्। रागादितस्करगणं, लोकस्तेन निहन्ति च ॥५४१॥
ततस्तस्य विशालः स्यान्निर्मलः कुशलाशयः। क्षीयन्ते प्राच्यकर्माणि, बध्यन्ते नूतनानि न ॥५४२॥
याति दुश्चरितावेशः, प्रभवत्यप्रमत्तता। मिथ्याविकल्पाः शाम्यन्ति, समाधिश्च प्रवर्धते ॥५४३॥
उद्घाटयत्येष ततश्चित्तापवरकं निजम्। स्वाभाविककुटुम्बं च, ज्ञानालोकेन पश्यति ॥५४४॥
जिहासति भवग्रामं, निःसज्ज्ञानन्दवांस्ततः। शाटं सूक्ष्माणवो यान्ति, रूक्षतां तस्य गच्छतः ॥५४५॥
चिन्ता व्यावर्तते योगो, जृम्भते ध्यानसंगतः। अपूर्वकरणं याति, महासामायिकस्ततः ॥५४६॥
निहत्य क्षपकश्रेण्या, घातिकर्म जिनो भवन्। अनुगृह्णाति जगतीं, समुद्घातं ततो व्रजेत् ॥५४७॥
कर्मचक्रं समीकृत्य, ततो योगान्निरुध्य च। समारोहति शैलेशीं, सर्वकर्मक्षयावहाम् ॥५४८॥
त्यक्त्वा ततो भवग्रामं, स्वाभाविककुटुम्बयुग्। गतः शिवालयमठे, सदाऽऽस्ते सुखनिर्भरः ॥५४९॥
अनेन हेतुना प्रोक्तमभूत् सारगुरोर्यथा। वार्तान्तरं तथा चेत् स्यात्, दुःखं न क्षीयते तथा ॥५५०॥
इदं श्रुत्वा मुनेर्वाक्यं हृष्टा राजान्विता जनाः। प्राहुश्च त्वां प्रपन्नानां, वृत्तान्तोऽयं न दुर्लभः ॥५५१॥
आज्ञाप्यतामिदानीं च, यदस्माभिर्विधीयते। मुनिराह भवद्भिस्तत्, क्रियतां यत् कृतं मया ॥५५२॥

बुधाचार्य-स्यात्म-वृत्तान्तः ।

निर्विण्णेन भवग्रामाद्, दीक्षा भवनिबर्हणी । मया गृहीता सा ग्राह्या, भवद्भिः सुखमिच्छुभिः ॥५५३॥
नृपः प्राह वयं नाथ, त्वया यत्नेन बोधिताः । भवांस्तु बोधितः केन, स्वयंबुद्धोऽसि वा वद ॥५५४॥
सूरिराह महाराज ! लघुतायै स्ववर्णनम् । ब्रुवे तथाऽपि सद्भूतं, त्वत्कुतूहलपूर्तये ॥५५५॥
अस्तीह कौतुकैः पूर्णं, पुरं नाम्ना धरातलम् । राजा शुभविपाकोऽस्ति, तत्र तेजोदिवाकरः ॥५५६॥
साधुता सुन्दरी तस्य, पुण्यसिंहस्थितौ दरी । तयोः सुतो बुधो जातो, विलसद्बुद्धिपाटवः ॥५५७॥
क्रमेण वर्धमानोऽसौ, बभूव गुणरत्नभूः । शीलेनालंकृतश्चारुरूपेण मकरध्वजः ॥५५८॥
भ्राता शुभविपाकस्य, महाऽनर्थकरः परः । तथाऽशुभविपाकोऽस्ति, देवी तस्यास्त्यसाधुता ॥५५९॥
ताभ्यां विपाङ्कुरः क्रूरो, मन्दो नाम सुतोऽजनि । गुणहीनोऽपि मदवान्, वर्धमानो बभूव सः ॥५६०॥
पितृव्यपुत्रभावेन, मैत्र्यभूद् बुधमन्दयोः । सर्वत्र सहितावेव, स्वैरं विचरतः स्म तौ ॥५६१॥
इतश्च धीषणा नाम, पुरेऽस्त्यमलमानसे । शुभाभिप्रायभूपस्य, जयन्तीव सुता हरेः ॥५६२॥
बुधेन परिणीता सा, गृहायाता स्वयंवरा । मनोरथौघैः सुषुवे, विचाराख्यः सुतस्तया ॥५६३॥
अन्यदा बुधमन्दाभ्यां, ददृशे भालपर्वतः । विलसच्चां निजक्षेत्रे, सानुस्थकबरीवनः ॥५६४॥
तस्याधस्ताद् गता दूरं, दृष्टा नासा महागुहा । तत्रापवरकद्वन्द्वं, दृष्टं भूयोऽन्धकारभृत् ॥५६५॥
इत्थमाश्चर्ययुतयोः, पश्यतोर्बुधमन्दयोः । गुहातो निर्गता नारी, काचित् पवनचञ्चला ॥५६६॥

दर्शयन्ती पुरः प्रीतिं, सा कृत्वा प्रणतिं तयोः। जगौ साधुकृतं नाथौ, युवाभ्यां यदिहागतम् ॥५६७॥
मन्दस्तां कोमलोल्लापैः, सस्नेहं समभाषत। का त्वं बाले! किमर्थं वा, वसस्यत्र गुहाऽन्तरे ॥५६८॥
श्रुत्वा तद्वचनं मूर्च्छां, प्राप सा शोकपीडिता। किमेतदिति पृष्टा च, स्वस्थीभूताऽऽह तं प्रति ॥५६९॥
युवयोर्विस्मृतिर्नाथ!, मम शोकस्य कारणम्। अहं भुजङ्गता नाम, युवयोः परिचारिका ॥५७०॥
अहं भवद्भ्यामेवाभ्यां, गुहायां स्थापिता पुरा। अस्यां हि घ्राणनामाऽस्ति, वयस्यो युवयोः प्रियः ॥५७१॥
तिष्ठामि भवदादेशात्, तस्याहं परिचारिका। संगतं चिरकालीनं, युवयोः सह तेन हि ॥५७२॥
पुरेऽसंव्यवहाराख्ये, स्थितिः प्राग् युवयोरभूत्। एकाक्षाख्ये गतौ कर्मपरिणामाज्ञया ततः ॥५७३॥
विकलाक्षे ततः प्राप्तौ, तत्रास्ते पाटकत्रयम्। द्वितीयपाटके तत्र, त्रीन्द्रियाख्ये यदा स्थितौ ॥५७४॥
दत्तेयं वां गुहा कर्मपरिणामेन भूभुजा। तदा तत्र प्रसन्नेन, घ्राणाख्यश्च कृतः सुहृत् ॥५७५॥
स्थानेषु तादृशेष्वेप, ततः प्रभृति वां हितः। अन्वागतो युवाभ्यां च, गुहास्थः परिलालितः ॥५७६॥
आगताभ्यां विशेषेण, लालितो नृगतिं पुरीम्। अहं भुजङ्गताऽऽख्या च, कृताऽस्य परिचारिका ॥५७७॥
तदेवं चिरसम्बद्धौ, कुरुथो गजमीलिकाम्। युवां यत् स्यात् ततोऽन्यत् किं, परं मे शोककारणम् ॥५७८॥
युवाभ्यां प्राक्तनस्थित्या, तद् धार्या प्रेमपद्धतिः। इति श्रुत्वा बुधो दध्यौ, धूर्तेयं न हितावहा ॥५७९॥

१ –वास्या की. मु.।

ईषत्स्मितं सलज्जं च, कुलस्त्री मृदु भाषते। इयं च बृहदाटोपा, वितनोति विपर्ययम् ॥५८०॥
इत्युपेक्षापरस्तस्यां, बुधो नोत्तरमप्यदात्। स्नेहक्रीतोऽभवत् तस्याः, साक्षान्मन्दस्तु किंकरः ॥५८१॥
ऊचे च किं करोम्येष, ततः प्राह भुजङ्गता। सेव्यः सुहृत् त्वया गन्धलुब्धबुद्धिरयं सदा ॥५८२॥
चन्दनागुरुकर्पूरकस्तूर्यादि सुगन्धि यत्। तद् रोचतेऽस्य नामापि, दुर्गन्धस्य न रोचते ॥५८३॥
इष्टोपनत्याऽनिष्टस्य, दूरतश्च निवारणात्। घ्राणेन लालितेनेह, तद् भावि भवतो सुखम् ॥५८४॥
मन्दः प्राह करोम्येवं, तिष्ठ भद्रे! निराकुला। साऽपि तद्वचसा तुष्टा, दधौ मौनं बुधः पुनः ॥५८५॥
दध्यौ च क्षेत्रमेतन्मे, शैलश्चेयं महागुहा। घ्राणोऽप्यस्यां स्थितः पाल्यो, मम नास्त्यत्र संशयः ॥५८६॥
अस्या नार्या गिरा कार्यं, केवलं नास्य लालनम्। आक्षेत्रमोक्षं कार्याऽस्य, धारणा लोकयात्रया ॥५८७॥
इति निश्चित्य तं घ्राणं, पालयन्नपि नो बुधः। दोषौघैर्युज्यते कीर्तिं, लभते शुद्धमार्गतः ॥५८८॥
मन्दस्तु लालयन् घ्राणं, पुरस्कृत्य भुजङ्गताम्। लोल्यात् तंतम्यते बाढं, सुगन्धिद्रव्यसंग्रहैः ॥५८९॥
शंकापिशाच्या दुर्गन्धं जिहीर्षैश्च निहन्यते। धृतिसौख्यं न लभते, हस्यते च विवेकिभिः ॥५९०॥
इतश्च प्राप्ततारुण्यो, विचारो लीलया गतः। गेहाद् देशादिदृक्षुः स, दृष्ट्वाऽऽयातोऽखिलां भुवम् ॥५९१॥
हृदि प्रहृष्टौ धिषणाबुधौ तस्मिन् समागते। मुदितं राजभवनं, कृतस्तस्यागमोत्सवः ॥५९२॥

बुधमन्दयोः घ्राण-समागमः।

१ गतः प्रोते ग. ता.। २ –दिदृक्षुश्च इ–रा. शा. २।

आकर्ण्य घ्राणसम्बन्धं, संजातं बुधमन्दयोः। रहसि स्वीयपितरं, संस्थाप्य स इदं जगौ ॥५९३॥
वयस्यो घ्राणनामाऽयं, न युक्तो दुष्टधृष्टधीः। यदहं भवचक्रेऽगां, गतो देशदिदृक्षया ॥५९४॥
राजमार्गे मम दृशोस्तत्रैका योषिदागता। मद्दर्शनात् सा मुदिता, मयूरीव घनागमात् ॥५९५॥
ममापि प्रमदो दृष्ट्वा, तामभूदनिवारितः। कुतस्त्योऽसीति पृष्टोऽहं, ततो दत्ताशिषा तया ॥५९६॥
मयोक्तं बुधराजस्य, पुत्रोऽहं धिषणात्मजः। देशान् दिदृक्षुरायातो, धरातलपुरादिह ॥५९७॥
हर्षाश्रुपूर्णनयना, श्रुत्वेदं साऽङ्गनाऽवदत्। आदावेव मनोनेत्रैर्वत्स! त्वं विदितोऽसि मे ॥५९८॥
मया त्वं बालको मुक्तस्तन्मां वेत्सि विशिष्य न। मार्गानुसारिताऽऽख्याऽहं, मातुः प्रियसखी तव ॥५९९॥
तव माता मम प्राणाः, पिता ते जीविताधिकः। तयोरेवाहमादेशाद्, देशान् द्रष्टुं विनिर्गता ॥६००॥
जातमात्रे त्वयि सुते, भागिनेयोऽसि तेन मे। सर्वस्वं परमात्मा च, किं किं त्वं मे न वर्तसे ॥६०१॥
कृतं चारु यदायातो, देशदर्शनकाम्यया। देशाटनं किल ज्ञानपूःकपाटविपाटनम् ॥६०२॥
तच्च चारुतरं वत्स!, भवचक्रे यदागतः। अत्र दृष्टेऽखिलं दृष्टमिदं सर्वाद्भुतास्पदम् ॥६०३॥
धन्याऽसि च यया दृष्टस्त्वं हृत्कुमुदचन्द्रमाः। मयाऽप्युक्तं कृतार्थोऽस्मि, मीलितोऽहं यदम्बया ॥६०४॥
दर्शयत्वधुनाऽम्बा मे, निखिलं भवचक्रकम्। साऽपि तद् बाढमित्युक्त्वा, सवृत्तान्तमदर्शयत् ॥६०५॥

१ देशाद् रा. शा. २। २ यदा रा शा की मु।

अथैकमत्र मया दृष्टं, पुरं तत्र महानगः । निविष्टं शिखरे तस्य, रमणीये परं पुरम् ॥६०६॥
ततो मयोक्तं किं नाम, पुरमेतदधःस्थितम् । किंनामाऽयं गिरिर्मातः !, शिखरे किं परं पुरम् ॥६०७॥
मार्गानुसारिता प्राह, पुरं सात्त्विकमानसम् । इदमत्रातितुङ्गोऽयं, विवेकवरपर्वतः ॥६०८॥
विख्यातं शिखरं चेदमप्रमत्तत्वनामकम् । इदं जैनपुरं तत्र, स्थित्याऽप्युच्चं गुणैरिव ॥६०९॥
इदं वदन्त्यामेवास्यां, पुरुषैर्वेष्टितो मया । दृष्ट एको नीयमानो, राजपुत्रः शरक्षतः ॥६१०॥
ततो मयोक्तमम्बैष, कः कथं च शरैः क्षतः । कुत्र वा नीयते केऽमी, लग्नाश्च परिचारकाः ॥६११॥
मार्गानुसारिता प्राह, राजतेऽत्र महागिरौ । राजा चारित्रधर्माख्यो, यतिधर्मश्च तत्सुतः ॥६१२॥
संयमो नाम तस्यायं, पुरुषः पौरुषाधिकः । गतोऽस्त्रैः क्वचिदेकाकी, महामोहादिभिः क्षतः ॥६१३॥
नेष्यन्तीमं स्वभवने, रणभूमेः पदातयः । तिष्ठन्त्यस्य पुरे जैने, बहवः खलु बान्धवाः ॥६१४॥
मयोक्तं द्रष्टुमिच्छामि, भाव्यत्र यदतः परम् । नीत्वा मां शैलशिखरे, सर्वं मातः ! प्रदर्शय ॥६१५॥
मां निनाय पुरं जैनं, ततो मार्गानुसारिता । तत्र चित्तसमाधानमण्डपे ददृशे नृपः ॥६१६॥
मोहाद्यैर्निहतं दृष्ट्वा, संयमं तत्र चागतम् । केचिन्मुञ्चन्ति हुङ्कारान्, केचित् खिद्यन्ति रोषणाः ॥६१७॥
भुजमास्फोटयन्त्यन्ये, परे भ्रुकुटिभीषणाः[1] । जायन्ते केऽपि रक्ताङ्गाः, परेऽसिधृतदृष्टयः ॥६१८॥

महामोह-
कृतसंयम
पराभवः ।

[1] भ्रुकुटि-की. मु.

केचित् प्रवृत्ताट्टहासाः, केचिदूर्जितगर्जिताः। केचित् कराहतभुवः, केऽपि साक्षात् कृशानवः ॥६१९॥
तादृशं क्षुभितं प्रेक्ष्य, निखिलं राजमण्डलम्। चारित्रधर्मराजेन्द्रं, सद्बोधो नीतिविज्जगौ ॥६२०॥
धीराणां युज्यते नायं, संभ्रमः कातरोचितः। तदेते विनिवार्यन्तां, देव! क्षुब्धाब्धिसन्निभाः ॥६२१॥
भावः परीक्ष्यतामेषामथेङ्गितनिवारिताः। चारित्रधर्मराजेन, ते सर्वे मौनमास्थिताः ॥६२२॥
स्वं स्वं विवक्षितं ब्रूतेत्युक्ताश्च पृथिवीभुजा। नृपा जगुर्योद्धुकामास्त्यागशौचानृतादयः ॥६२३॥
विलम्बोऽद्यापि नो युक्तः, संयमाभिभवे विभोः। सिंहः किं स्ववनोन्माथिगजघाते विलम्बते ॥६२४॥
वृद्धिकृद् विपद्वृक्षाणामपराधक्षमा द्विपाम्। तेषां वीर्यकुठारेण, च्छेदनं हितकारणम् ॥६२५॥
उल्लासोऽगलितेषु स्यादभ्रेष्विव रविद्विषाम्। कृतम्लानिषु नास्माकं, महामोहादिशत्रुषु ॥६२६॥
कारणं देवपादानामनिच्छैव द्विषां स्थितौ। निद्रयैव मृगारातेः, करिक्रीडा वने भवेत् ॥६२७॥
अलं वैरिचमूं हन्तुमेकैकोऽपि भटस्तव। एकोऽपि पूरः क्षुब्धाब्धेः, प्लावयत्येव काननम् ॥६२८॥
क्रोधकण्डूं रिपुतरुस्कन्धेष्वपनिनीषताम्। त्वदुपेक्षाऽङ्कुशोऽस्माकं, द्विपानां प्रतिबन्धकः ॥६२९॥
द्विषद्भिरभिभूतानां, निष्फलं देव! नोऽधुना। छन्नस्यान्तर्ज्वलत्तेजः कृशानोरिव भस्मना ॥६३०॥
प्रेक्ष्य तान् रणकण्डूलानेवं भूपान् स भूपतिः। गतो गुह्यसभां, मन्त्रिमहत्तमसमन्वितः ॥६३१॥
मदन्विताऽगात् तत्रापि, छन्ना मार्गानुसारिता। पृष्टौ राज्ञोचितं कार्यमथ मन्त्रिमहत्तमौ ॥६३२॥

महत्तमोऽवदत् तत्र, सम्यग्दर्शननामकः। उक्तं त्वयागादिधीरैर्यत् तत्क्रियैवाधुनोचिता ॥६३३॥
विनाऽपमानकृद्ध्वंसं, न स्यात् तेजस्विनः सुखम्। नाग्निः प्रज्वालयत्युच्चैराक्रामन्तं क्रमेण किम् ॥६३४॥
तस्याजननिरेवास्तु, योऽरिदग्धोऽपि जीवति। स निन्द्यः सर्वलोकानां, स लघुः पवनादपि ॥६३५॥
एकारिरपि वीर्याढ्यः, समुत्थाय जिगीषति। अत्ययुक्तं तव स्थातुं, यस्यानन्ताः किलारयः ॥६३६॥
तदरिध्वान्तसंघातं, विनिर्धूयोदयी भव। राजार्केत्यभिधायासौ, विरराम महत्तमः ॥६३७॥
चारित्रधर्मराजोऽथ, पप्रच्छ सचिवाग्रिमम्। सद्बोधं किमिह न्याय्यं, कर्तुं वैरिपराभवे ॥६३८॥
स प्राह देव! नो युक्तमन्यथा प्रतिभाषितुम्। अस्मिन्महत्तमेनेत्थं, ममाद्रेरिव भाषिते ॥६३९॥
तथाऽपि त्वत्कृपानुन्नः, किंचिदेनं प्रतिब्रुवे। इति विज्ञप्य राजानं, स जगाद महत्तमम् ॥६४०॥
दक्षोऽसि स्वामिभक्तोऽसि, धुर्यस्तेजस्विनामसि। वचो येनेदृशं प्रोक्तं, गुरुणाऽपि हि दुर्वचम् ॥६४१॥
द्विषामभिभवः सत्यं, दुःसहो मानिकेसरिन्!। सत्यं मोहादयो वध्याः, सत्यं पूर्णं बलं च नः ॥६४२॥
प्रस्तावः केवलमिहापेक्षणीयो जिगीषता। प्रस्तावं फलदं प्राहुर्नीतिपौरुषयोर्बुधाः ॥६४३॥
स्थानं यानं तथा सन्धिर्विग्रहश्च परैः सह। संश्रयो द्वैधभावश्च, षड्गुणाः परिकीर्तिताः ॥६४४॥
उपायः कर्मसंरम्भे, विभागो देशकालयोः। पुरुषद्रव्यसम्पच्च, प्रतिकारस्तथाऽऽपदाम् ॥६४५॥

सद्बोधाभिप्रायः।

१ प्रगल्भ-रा. शा। २ एकोऽरि-की. मु. रा शा. २। ३ °कर्मसंबन्धे रा शा।

पञ्चमी कार्यसिद्धिश्च, स्मृतमित्यङ्गपञ्चकम् । सामदानभेददण्डा, उपायाः परिकीर्तिताः ॥६४६॥
प्रभुत्वोत्साहमन्त्राख्याः, प्रोक्तास्तिस्रश्च शक्तयः । मित्रकाञ्चनभूमीनां, लाभाः सिद्धित्रयं ततः ॥६४७॥
आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता, दण्डनीतिस्तथाऽपरा । विद्याश्चतस्रो भूपानां, फलवत्यः स्वगोचरे ॥६४८॥
नीतिसारमिदं ज्ञेयं, राज्ञा भावार्थसंयुतम् । विना भावं तु विज्ञानमन्धस्यादर्शसन्निभम् ॥६४९॥
भावानभिज्ञोऽसाध्येऽपि, प्रवर्तेत हि वस्तुनि । ततो हास्यो भवेल्लोके, समूलश्च विनश्यति ॥६५०॥
इदं च सर्वं युद्धस्य, मूलनष्टं प्रयोजनम् । फलवांस्तावकोत्साहः, कथं तत्र भविष्यति ॥६५१॥
वयं महारयस्ते च, भवचक्रपुरं तथा । स कर्मपरिणामो राट्, सा च चित्तमहाटवी ॥६५२॥
यस्यायत्तमिदं सर्वं, भवजन्तोः स वेत्ति न । नामाप्यस्मादृशां किन्तु, मोहादीन् बहु मन्यते ॥६५३॥
यत्राधिकः पक्षपातो, बलेऽस्य विजयेत तत् । तत् तेनानादृतानां नो, युक्ता गजनिमीलिका ॥६५४॥
प्रदीपा इव विद्वांसः, संकुचन्ति प्रवृद्धये । तैलपूरमिव प्राप्य, प्रस्तावनयविस्तरम् ॥६५५॥
नश्यतोऽपि न दक्षस्य, न्यूनं भवति पौरुषम् । मेषो ह्यपसरत्येव, प्रतिमेषजिघांसया ॥६५६॥
महत्तमो जगावार्य !, सोऽस्मान् विज्ञास्यते न वा । उपस्थिताश्च रिपवः, स्वस्थैः स्थेयं कथं ततः ॥६५७॥
प्राह मन्त्री मा त्वरिष्ठाः, कालसाध्ये प्रयोजने । बलद्वये समानोऽस्ति, स कर्मपरिणामराट् ॥६५८॥
भवजन्तुस्तदायत्तः, कदाचित् तेन बोधितः । स करिष्यति नः पक्षं, हनिष्यामो रिपूंस्तदा ॥६५९॥

तेन कालविलम्बोऽत्र, रोचते मे प्रयोजने। अप्रस्तावनिशा तेजोभानोर्नाभ्युदयावहा ॥६६०॥
महत्तमो जगौ तर्हि, दूतस्तेषां प्रहीयताम्। दूतेन भर्त्सितास्ते यन्मर्यादां व्यतियन्ति न ॥६६१॥
सचिवः प्राह न प्रेष्यो, दूतः स्थेयं तु निश्चलैः। महत्तमो जगौ केयमतिभीतिर्भवादृशाम् ॥६६२॥
दण्डपूर्वश्च यदि ते, दूतस्तेषु न रोचते। प्रेष्यतां सामपूर्वस्तन्मिथःसन्धिविधौ पटुः ॥६६३॥
सक्रोधोऽथ जगौ साम, क्रुद्धे कलहवृद्धिकृत्, उद्गिरत्यग्निमेवोच्चैस्तप्तलोहे धृतं पयः ॥६६४॥
फलेन ज्ञायतामेतद्, यद्वा दूतः प्रहीयताम्। ज्ञात्वा ततश्च तद्भावं, कार्यं कार्यं यथारुचि ॥६६५॥
इदं चारित्रधर्मस्य, संलग्नं वचनं हृदि। प्रेषितः सत्यदूतोऽथ, महामोहबले गतः ॥६६६॥
मया सह गता तत्र, साऽपि मार्गानुसारिता। प्रमत्तता नदीतीरे, चित्तविक्षेपमण्डपे ॥६६७॥
महामोहनृपस्याग्रे, स्थित्वा दूतो जगाद सः। चित्तवृत्तिमहाटव्या, भवजन्तुः किल प्रभुः ॥६६८॥
बहिरङ्गान्तरङ्गाणां, पुराणां भूभुजामपि। स एवेशः स नस्तुल्यः, को विरोधस्ततो मिथः ॥६६९॥
स्वामिभक्ताः क्षयं भृत्या, न स्वपक्षस्य कुर्वते। दृढं भवतु नः प्रेम, युष्माभिः सह तन्नृप! ॥६७०॥
सत्योदितमिदं श्रुत्वा, महामोहसभास्थिताः। क्रोधान्धा जगदुः सर्वे, समं भ्रकुटिभीषणाः ॥६७१॥
स्वामी नो भवजन्तुर्यत्, तदुक्तं दुष्ट! केन ते। पातालेऽपि गतानां वो, न त्राणमनया गिरा ॥६७२॥
आलजालप्रलापैस्तद्, व्रज दूताधम! द्रुतम्। सज्जा भवत सर्वेऽपि, वयं योद्धुं समागताः ॥६७३॥

दूतस्य तर्जनामेवं, कृत्वा ते प्रस्थिताः क्रुधा। महामोहं पुरस्कृत्य, सर्वेऽपि कवचावृताः ॥६७४॥
सत्येनापि प्रभोः सर्वा, तेषां चेष्टा निवेदिता। दृष्ट्वाऽऽयातां मोहचमूम्, तेन सज्जीकृतं बलम् ॥६७५॥
आयोधनं तयोर्लग्नं, दारुणं सैन्ययोर्द्वयोः। चित्तवृत्तिमहाटव्यां, मिथःप्रथितसंभ्रमम् ॥६७६॥
तताखतडिदुद्योतं, रजःक्षेपोत्थदुर्दिनम्। घनागमसमं भूरि, तूर्यौघोर्जितगर्जितम् ॥६७७॥
पाटयन्तः परानीकं, महामोहभटाः स्फुटम्। उद्वेल्लितास्तत्र यमा, बहुरूपा इवागताः ॥६७८॥
हतवाजिरथव्रातं, दलिताखिलवारणम्। चारित्रधर्मराजस्य, चकम्पेऽथाखिलं बलम् ॥६७९॥
जितोऽरिभिस्ततो नंष्ट्वा, स्वस्थानं स गतो द्रुतम्। लीनः स्थितोऽरिसेना तु, स्थिता रुद्ध्वा मदोद्धता ॥६८०॥
महामोहनरेन्द्रस्य, राज्यं परिणतं ततः। मार्गानुसारिता प्राह, दृष्टं वत्स! कुतूहलम् ॥६८१॥
दृष्टं मयोक्तं किन्त्वत्र, ज्ञातुमिच्छामि कारणम्। सा प्राह जगतीं जेतुं, रागकेसरिमन्त्रिणा ॥६८२॥
मानुषाणि नियुक्तानि, पश्चात्मीयानि कुत्रचित्। जितानीह पुरा तानि, सन्तोषेण महस्विना ॥६८३॥
चारित्रधर्मनृपतेस्तन्त्रपालेन लीलया। कलहस्तन्निमित्तोऽयं, जातोऽमीषां परस्परम् ॥६८४॥
स्पर्शनं रसना घ्राणं, दृष्टिः श्रोत्रं तथा परम्। एतानि पञ्च निघ्नन्ति, मानुषाणि जगद्धितम् ॥६८५॥
ततो मयोक्तं पूर्णं मे, देशदर्शनकौतुकम्। अथाहं स्वगृहे यामि, तयोक्तं वत्स! गम्यताम् ॥६८६॥

१ मृता. रा ज्ञा।

महामोहेन
सह चारित्र-
राजस्य
युद्धम्।

चारित्रराज-
स्यपराजयः

अहमप्यागमिष्यामि, वेगात् तत्र तवान्तिके। ततोऽहमागतो गेहे, तद् घ्राणोऽयं न सुन्दरः ॥६८७॥
मानुषाणां तृतीयोऽयं, रागकेसरिमन्त्रिणः। जगत्प्रतारणपटुः, पर्यटत्यतिनिर्घृणः ॥६८८॥
इत्थं बुधाय धौधेये, निवेदयति सत्वरम्। मार्गानुसारिताऽऽयाता, तया तद्गीः समर्थिता ॥६८९॥
घ्राणं बुधस्ततोऽनर्थकारणं जेतुमैहत। इतो भुजंगतानुन्नो, गन्धो(मन्दो) घ्राणमलालयत् ॥६९०॥
लीलावत्याः सुगन्धानामन्यदाऽन्वेषकः सदा। स देवराजभार्याया, भगिन्या भवने गतः ॥६९१॥
सपत्नीपुत्रघातार्थं, गन्धयोगस्तया कृतः। मारणात्मा क्षणे तस्मिन्, लालाविषकरम्बितः ॥६९२॥
तां गन्धपुटिकां द्वारे, मुक्त्वा साऽन्तर्गृहं गता। दृष्ट्वा तत्रागतो मन्दस्तां चकाराशु मुत्कलाम् ॥६९३॥
ददौ घ्राणाय तान् गन्धांस्ततोऽसौ प्रलयं गतः। तां घ्राणदुष्टतां दृष्ट्वा, विरक्तो नितरां बुधः ॥६९४॥
तेन शिष्टात्मना पृष्टा, ततो मार्गानुसारिता। कथं हेयो मया घ्राणः, साऽऽह हित्वा भुजङ्गताम् ॥६९५॥
तिष्ठ त्वं साधुमध्यस्थो, दोषायेत्थमयं न ते। बुधेनापि कृतं सर्वं, तद्वचो हितकृत् तथा ॥६९६॥
ततो गृहीतदीक्षोऽसौ, परिज्ञातागमः शुचिः। आचार्यैः स्वपदे भूरिलब्धिपात्रं निवेशितः ॥६९७॥
स एषोऽहं बुधाचार्यो, भवद्बोधविधित्सया। एकाकीह गुणस्वच्छं, गच्छं त्यक्त्वा समागतः ॥६९८॥
अयं वैराग्यहेतुर्मे, जातो युष्मादृशामपि। इदं संपद्यते सर्वं, पश्यथ ज्ञानचक्षुषा ॥६९९॥

---

१ -मन्दाय, म आ रा धा २। २ त्राणाय रा धा।

जन्ममृत्युजराव्याधिबाधितोऽयं भवोऽखिलः। इदमेवाभयस्थानं, भूप! जैनेन्द्रशासनम् ॥७००॥
युज्यते क्षणमप्येकं, धीर! तन्न विलम्बितुम्। हीयतां भोगगरलं, पीयतां प्रशमामृतम् ॥७०१॥
ततो धवलराजेन, सर्वे साकूतमीक्षिताः। लोकाः प्रोक्ताश्च संलग्नं, कीदृशं भवतां वचः ॥७०२॥
प्रोचुस्तेऽनेन वचसा, जीविताः सुधया वयम्। क्रियतां तूर्णमादिष्टं, धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥७०३॥
तदाकर्ण्य परं हर्षं, राजेन्द्रः प्राप पूतधीः। राज्याभिषेकमाधातुं, प्रोवाच विमलं ततः ॥७०४॥
पुत्र! गृह्णाम्यहं दीक्षां, त्वं राज्यमनुपालय। विमलः प्राह किं चित्ते, वल्लभोऽहं तवास्मि न ॥७०५॥
यत् स्वयं यासि निर्वाणे, मां स्थापयसि संसृतौ। गले राज्यशिलाक्षेपस्ताताऽयं मे न युज्यते ॥७०६॥
तच्छ्रुत्वाऽवितरां तुष्टः, प्रोचे न त्वां त्यजाम्यहम्। राज्ये ततश्च संस्थाप्य, पुत्रकं कमलाभिधम् ॥७०७॥
दिनान्यष्टविधायोच्चैर्जिनपूजां महोदयाम्। प्रदाय च महादानं, शुभे काले समाहितः ॥७०८॥
सबान्धवः सपत्नीको, विमलेन समं नृपः। सपौरलोको निष्क्रान्तः, सम्यक्त्वं जगृहुः परे ॥७०९॥
वामदेवस्य मम तु, प्रबोधो न तदाऽप्यभूत्। ज्ञातो धूर्तो मया सूरिरसौ बहुलिकास्पृशा ॥७१०॥
राजादीनां मया दीक्षाऽवसरे चेति चिन्तितम्। मुनिः सिद्धेन्द्रजालोऽयं, लोकान् सर्वानवञ्चयत् ॥७११॥
ग्राहयिष्यति तेनैतानेष दीक्षां वशीकृतान्। विमलोऽपि वयस्यो मे, मां नेष्यति बलात् सह ॥७१२॥
तदादौ वञ्चयाम्येनमिति ध्यात्वा पलायितः। सर्वत्रान्वेषितो दीक्षादिनेऽहं विमलेन च ॥७१३॥

विमल-
धवलराज-
योर्दीक्षा।
पूर्वप्रवृत्तो
वामदेवस्य
वृत्तान्तः।

अदृष्ट्वा मां बुधाचार्यः, पृष्टः क्वागात् सुहृत् स मे। ज्ञानवान् स च निःशेषं तस्मै मच्चरितं जगौ ॥७१४॥
विमलोऽभिदधे तत् किं, न भव्योऽयं शठाशयः। सूरिः प्रोवाच नाभव्यः, प्रकृत्या सुन्दरो ह्ययम् ॥७१५॥
दोषः सर्वोऽपि चैतस्य, भगिनीभ्रातृसङ्गतः। मायाऽऽख्याऽस्ति भगिन्यस्य, भ्राता च स्तेयनामकः ॥७१६॥
तद्वशोऽयं पुरा चक्रे, रत्नस्य हरणादिकम्। विमलः प्राह तत्त्यागस्वास्थ्यं प्राप्स्यत्ययं कदा ॥७१७॥
सूरिराह गते भूरिकाले ताभ्यां वियोक्ष्यते। ऋजुताऽस्तेयते कन्ये, प्राप्य रुच्याशयादसौ ॥७१८॥
तच्छ्रुत्वा विमलेनाहमयोग्यत्वादुपेक्षितः। प्राप्तोऽथ काञ्चनपुरे, दृष्टश्च सरलो वणिग् ॥७१९॥
गतस्तस्यापणे तत्र, दीप्तिं वह्निलिका ययौ। कृतं तत्पादपतनं, चक्षुर्मोदाश्रुणा भृतम् ॥७२०॥
उक्तं मया च दृष्ट्वा त्वां, जनकस्य स्माराम्यहम्। पुत्र एवास्यपुत्रस्य, त्वं ममेति जगाद सः ॥७२१॥
नीतोऽहं स्वगृहे तेन, बन्धुमत्याः समर्पितः। स्वभार्यायास्तया स्नानभोजनादि च कारितः ॥७२२॥
पृष्टश्च नामगोत्रादि, मया सर्वं निवेदितम्। सजातीयोऽयमित्युच्चैर्मुदितः सरलो हृदि ॥७२३॥
जगौ बन्धुमतीं भार्ये !, धात्रा नूनमपुत्रयोः। पुत्रोऽयमावयोर्दत्तो, वृद्धत्वपरिपालकः ॥७२४॥
तच्छ्रुत्वा बन्धुमत्याप, मुदं मय्येव मन्दिरम्। सरलेन च निःक्षिप्तं, हट्टस्थं दर्शितं धनम् ॥७२५॥
हट्ट एव स शेते च, मद्युक्तो धनमूर्च्छया। अन्यदा तिष्ठतोर्गेहे, सन्ध्यायामावयोः सुखम् ॥७२६॥
सरलप्रियमित्रस्य, बन्धुलस्य समाययौ। गृहादाह्वायकस्तेन, प्रोक्तं चेदं सुहृद्वचः ॥७२७॥

सरलवणिजा सह वामदेवस्य मीलनम्।

यथाऽद्य मद्गृहे षष्ठीजागरस्य महोत्सवः। सुतस्यास्ति तदागत्य, वस्तव्यं भवता ध्रुवम् ॥७२८॥
ततोऽहं सरलेनोक्तो, याम्यहं बन्धुलालये। दुस्त्यजो मित्रनिर्बन्धस्तत् त्वं गत्वाऽऽपणे वस ॥७२९॥
मयोक्तं गमनेनालं, हट्टे तातोज्झितस्य मे। अम्बायाः पादमूलेऽहं, वत्स्याम्यद्याविशङ्कितः ॥७३०॥
ततोऽहो स्नेहसारोऽयमिति संचिन्तयन् हृदि। एवं भवत्विति वदन्, मुदितः सरलो गतः ॥७३१॥
स्थितो गृहेऽहं रात्रौ च, स्तेयवीर्यविजृम्भितम्। अर्धरात्रे गतो हट्टं, हर्तुमन्तःस्थितं धनम् ॥७३२॥
दृष्टश्चोद्घाटयन् हट्टमागतैः दाण्डपाशिकैः। मुक्तस्तैः प्रत्यभिज्ञाय, किं करोमीति चिन्तिभिः ॥७३३॥
तदन्तर्धनमुत्खातं, मयोद्घाट्यापणं ततः। तस्यैव पश्चाद्भूभागे, निखातं चापणस्य तत् ॥७३४॥
रात्रौ विभातप्रायायां, कृतो हाहारवो महान्। मिलितो नागरो लोकः, संप्राप्तः सरलोऽपि च ॥७३५॥
आविर्बभूवुः प्रच्छन्नाः, स्थिता ये दाण्डपाशिकाः। सरलः प्राह किं जातं, मयोक्तं मुषितं धनम् ॥७३६॥
सोऽवक् त्वया कथं ज्ञातं, मयोक्तं त्वां विनाऽधृतिः। इहागां रात्रिशेषेऽहं, दृष्टमेतत् तदेदृशम् ॥७३७॥
दध्युः श्रुत्वेत्यदो दाण्डपाशिकास्तस्करो ह्ययम्। अस्याहो वञ्चनाशक्तिरहो विश्रम्भघातिता ॥७३८॥
ततस्ते जगदुः श्रेष्ठिन्!, चित्ते भव निराकुलः। लब्धोऽस्ति चौर इति तैः, साकूतमहमीक्षितः ॥७३९॥
जातं ततो मम भयं, ग्रहीष्यामः सलोप्त्रकम्। इत्यालोच्य गतास्तावत्, प्रचण्डा दाण्डपाशिकाः ॥७४०॥
लङ्घितं तद्दिनं भूरिविकल्पाकुलितस्य मे। गच्छन् रात्रौ धनं हृत्वा, गृहीतो दाण्डपाशिकैः ॥७४१॥

चौर्येण
वामदेवस्य
विश्रम्भघा-
तित्वम्।

जातः कोलाहलो लोको, मिलितो नागरोऽखिलः। रिपुसूदनराज्ञोऽग्रे, नीतोऽहं दाण्डपाशिकैः ॥७४२॥
तेन वध्यतयाऽऽज्ञप्तः, सरलोऽथ समागतः। पतित्वा पादयो राज्ञः, प्राह मेऽसौ प्रियः सुतः ॥७४३॥
मुच्यतां कृपया तन्मे, सर्वस्वं गृह्यतामिदम्। मुक्तस्ततोऽहं राज्ञा तत्, सरलस्यार्पितं धनम् ॥७४४॥
उक्तं हितार्थिना चेदं, पुत्रोऽयं तव तिष्ठतु। मदभ्यर्णे तव गृहे, न युक्तोऽयं विपाङ्कुरः ॥७४५॥
दुश्चेष्टितैः पराभूतो, नष्टः पुण्योदयोऽथ मे। श्रेष्ठिना प्रतिपन्नं तद्, वचनं भूपतेस्तदा ॥७४६॥
स्थितो धिक्कारनिहतो, दीनोऽहं राजमन्दिरे। शान्ते बहुलिकास्तेये, राजदण्डभयान्मम ॥७४७॥
तथाऽपि सर्वकार्येषु, लोको मां परिशङ्कते। मय्येवान्यकृतं चौर्यं, दत्ते प्रत्येति नो वचः ॥७४८॥
विद्यासिद्धेन केनापि, राज्ञः श्रीगृहमन्यदा। मुषितं नैव स ज्ञातो, दोषो मय्येव सोऽर्पितः ॥७४९॥
ततोऽहं गाढरुष्टेन, राज्ञा बाढं कदर्थितः। सरलस्याऽपि वचनं, नादृतं तीव्रतेजसा ॥७५०॥
उल्लम्बितोऽहं विरटन्, जीर्णा प्राग्गुटिका मम। भवितव्यतया दत्ता, गुटिकाऽभिनवा ततः ॥७५१॥
गतः पापनिवासायां, नगर्यामन्त्यपाटके। तत्रानुभूय दुःखानि, गुटिकान्तरलाभतः ॥७५२॥ वामदेवस्य वधः।
पश्चाक्षपशुसंस्थाने, पुरे गत्वा गतस्ततः। मुक्त्वाऽसंव्यवहाराख्यं, सर्वेषु नगरेष्वहम् ॥७५३॥
प्राप्तो बहुलिकादोषात् तीर्यक्स्त्रीत्वमनन्तशः। ताभ्यां मे स्तेयमायाभ्यां, स्थाने स्थाने न किं कृतम् ॥७५४॥

निगदति भवजन्तावित्यदो धीविशाला, समुदितभवभीतिश्चिन्तयामास चित्ते।

अहह भुवि दुरन्तः स्तेयमायाविकार-स्त्यजति तदपि नैते[1] बोधहीनो मनुष्यः ॥७५५॥
कथमयमनुभूतानन्तजन्मप्रतानः, प्रभवति गुटिका कास्त्री किमस्य प्रतीपा ।
किमिदमखिलमन्तर्ग्राममित्राद्यनेनो-दितमिति हृदि भव्यो विस्मितस्तिष्ठति स्म ॥७५६॥
कलयति भुखरागाद्वीविशालैनमर्थम्, रहसि तदिदमस्याः प्रश्नयिष्यामि पश्चात् ।
इति मनसि स दध्यावागमो वेत्ति सर्वम्, सदसि सुललिता तु स्मेरनेत्रा शृणोति ॥७५७॥
संसारिजीवेनोचेऽथ,[2] प्रोक्तोऽहं निजभार्यया । त्वयाऽऽर्यपुत्र ! गन्तव्यमानन्दनगरेऽधुना ॥७५८॥
तुष्टाऽस्मि त्वयि दत्तोऽयं, सुहृत् पुण्योदयश्च ते । सहायः सागरश्चायं, मूढतारागनन्दनः[3] ॥७५९॥
तद्वचः प्रतिपद्याहं, गुटिकां प्राप्य तादृशीम् । आनन्दनगरे ताभ्यां, सहितो गन्तुमुद्यतः ॥७६०॥
इति सपदि निशम्य घ्राणदौर्जन्यवार्ता-मपि च निचितगूढस्तेयमायाविपाकम् ।
य इह निभृतचित्तः स्यात् स्वतत्त्वप्रबुद्धः, स भुवि शुचियशःश्रीभोगसौभाग्यमेति ॥७६१॥

इति श्रीवैराग्यकल्पलतायां मायास्तेयघ्राणेन्द्रियविपाकवर्णनो नाम षष्ठः स्तवकः ॥

१ एते-स्तेयमाये । २ ससारिजीवो प्रो-रा. शा. संसारिजीवे प्रो. डे. शा की. मु. । ३ मूढता-रागकेसरिणो. पुत्रः ।

सप्तमः स्तबकः ।

संसारिजीवस्य मूढताराग पुत्रसागर-सहितस्य धनशेखर-तयोत्पत्तिः

अथास्त्यानन्दनगरं, बहिरङ्गमनोहरम् । युक्तं सुपर्वभिर्लोकैः, पुरन्दरपुरोपमम् ॥१॥
तत्रास्ति केसरी भूपः, प्रत्यर्थिद्विपदर्पहृत् । गुणरत्नदरी देवी, तस्यास्ति जयसुन्दरी ॥२॥
अस्ति तन्नगराधारो, वाणिजो हरिशेखरः । भार्या बन्धुमती तस्य, सुवंशा गिरिभूरिव ॥३॥
रूपस्येव परं रूपं, श्रियो मूर्तिरिवापरा । तस्याः कुक्षावहं भद्रे, भवितव्यतया धृतः ॥४॥
प्रासूत पूर्णे काले सा, मित्राभ्यां मां समन्वितम् । हृष्टौ सा च पिता चाभ्यां, सुहृदौ मे न लक्षितौ ॥५॥
पितृभ्यां मे कृतं नाम, यथाऽयं धनशेखरः । मित्राभ्यां सहितस्ताभ्यां, जातोऽहं विलसन् सुखी ॥६॥
प्राप्तश्च यौवनं भद्रं, स्मरसिंहवनं तदा । त्यक्त्वा धर्मकलामेकां, संप्राप्ताः सकलाः कलाः ॥७॥
तदा सम्पादितास्तेन, सुहृदा सागरेण मे । वितताश्चित्तकल्लोलाः, प्रक्षुब्धेन क्षणे क्षणे ॥८॥
धनमेव जगत्सारं, श्लाघायाः कारणं धनम् । राजाद्या यद् विशिष्यन्ते, तल्लोके धनजृम्भितम् ॥९॥
तपःश्रुतवयोवृद्धा, धनवृद्धस्य किङ्कराः । एका धनकला पूज्या, तच्चान्द्रीवेश्वराश्रिता ॥१०॥
यावन्न दृष्टा रत्नौघास्तावन्मे निर्वृतिः कुतः । गत्वा देशान्तरं कुर्यां, तद् गृहं रत्नपूरितम् ॥११॥

१ हरशेखरः रा. श्रा. । २ राज्याद्या रा. श्रा. ।

तातस्य सन्निधावीदृग्विकल्पप्रेरितो गतः। उक्तं मयाऽनुजानीहि, तात! कर्तुं धनार्जनम् ॥१२॥
गच्छाम्यहं विदेशेषु, स्फोरयामि च पौरुषम्। पिता प्राह धनं तेऽस्ति, दानभोगक्षमं बहु ॥१३॥
तदेव त्वं नियुञ्जानः, कुलप्राप्तं यथेच्छया। गृहे तिष्ठ वियोगं तु, सोढुं शक्नोमि नो तव ॥१४॥
मयोक्तं पूर्वपुरुषश्रीर्मातेवोपभुज्यते। स्तनंधयेन यूनां तु, तस्या भोगस्त्रपाकरः ॥१५॥
तन्मदुत्साहभङ्गोरुभूतज्वरनिनीषया। महानियमवत् तात, सोढव्या विरहव्यथा ॥१६॥
दृढं ज्ञात्वाऽथ निर्बन्धं, जगौ मां हरिशेखरः। वत्स! संपूर्यतामिच्छा, दूरे देशान्तरं परम् ॥१७॥
विद्यन्ते कुटिला लोकाः, कामिन्यो वञ्चनोद्यताः। भूयांसो दुर्जनाः स्तोकाः, सज्जना वणिजः शठाः ॥१८॥
भाण्डजातं च दुष्पाल्यं, विकारि नवयौवनम्। निरागःकुपिताश्चौरा, दुर्बोधा कार्यपद्धतिः ॥१९॥
क्वचिद् विज्ञेन मूर्खेण, क्वचित् क्वापि दयालुना। क्वचित् क्रूरेण धृष्टेन, क्वचिद् भीतिभृता क्वचित् ॥२०॥
कृपणेन क्वचित् क्वापि, त्यागिना वक्रवृत्तिना। क्वचित् क्वापि विदग्धेन, भाव्यं तत् सुधिया त्वया ॥२१॥
मयोक्तं गीः प्रमाणं मे, तातस्येयं महोदया। आप्तार्थो गृहमेष्यामि, सत्त्वमात्रधनोऽप्यहम् ॥२२॥
इत्युक्त्वा पितरौ नत्वा, निर्गतो रुदतोस्तयोः। सार्धमान्तरमित्राभ्यामहं देशान्तरं प्रति ॥२३॥
क्रमाज्जयपुरे प्राप्तो, दक्षिणाम्भोधिपार्श्वगे। बहिर्वने निषण्णश्च, प्रवृत्त इति चिन्तितुम् ॥२४॥
उल्लङ्घ्याब्धिं चलद्वीचिं, रत्नद्वीपे व्रजामि किम्। चण्डिकां वा स्वरुधिरैस्तर्पयित्वाऽर्थये धनम् ॥२५॥

धनशेखरस्य धनार्जनेच्छया विदेशं प्रति गमनम्।

खन्यवादः।

पातालं वा खनाम्युच्चैः, शेषव्यापारवर्जितः। आनयाम्यथ वा गत्वा, महाद्रौ रसकूपिकाम् ॥२६॥
विकल्पयत इत्थं च, सागरक्षोभितस्य मे। पुरःस्थिते पपातोच्चैर्दृष्टिः किंशुकपादपे ॥२७॥
प्ररोहो भूमिसंप्राप्तस्तच्छाखाया विनिर्गतः। दृष्टो मया ततश्चायं, खन्यवादो हृदि स्मृतः ॥२८॥
नास्त्येव क्षीरवृक्षस्य, प्ररोहो धनवर्जितः। स्तोकं वा भूरि वा तत्र, ध्रुवं बिल्वपलाशयोः ॥२९॥
प्ररोहे भूरि तत् स्थूले, तनुके स्तोकमुच्यते। रात्रौ ज्वलति तद् भूरि, सोष्मणि स्वल्पमीरितम् ॥३०॥
निद्रे तत्र भवेद् रक्तं, यदि रत्नानि लक्षयेत्। अथ क्षीरं सितं रूप्यं, पीतं चेत् कनकं भवेत् ॥३१॥
प्ररोहः स्यादुपर्युच्चैर्यन्मात्रोऽधोऽपि तावति। प्रदेशे निहितं नूनं, विद्यते तन्निधानकम् ॥३२॥
उपरिष्टात् तनुश्चेत् स्यादधस्तात् पृथुलो यदि। प्ररोहोऽसौ निधिं प्राप्तो, विपरीतस्तु सोऽन्यथा ॥३३॥
अयं पुनः पलाशस्य, प्ररोहो दृश्यते तनुः। स्तोकं द्रव्यमिहास्तीति, तच्चित्ते चिन्तितं मया ॥३४॥
नखनिर्द्धात् ततः क्षीरं, पीतवर्णं विनिर्गतम्। ततो मया सुवर्णेन, भाव्यमत्रेति भावितम् ॥३५॥
तद्देशो विधिना खातः, सागरप्रेरणादथ। दृष्टं भृतं च दीनारैस्तत्रैकं ताम्रभाजनम् ॥३६॥
सहस्रमात्रं तद् वित्तं, प्राप्तं स्फीतश्च सागरः। पुण्योदयगुणो मोहान्मया तत्रैव रोपितः ॥३७॥
भाण्डमूल्यमभूत् तन्मे, प्रविष्टो नगरे ततः। बकुलश्रेष्ठिना दृष्टो, हट्टमार्गे वृषोज्ज्वलः ॥३८॥

---

१ निद्रा उ. प्रा.। २ विधिना—"नमो धरणेन्द्राय नमो धनदाय नमो धनपालाय" इति मन्त्रपाठरूप ।

जयपुरे धनशेखर-कृतं बकुल श्रेष्ठिपुत्री पाणि-ग्रहणम्।

कृतं संभाषणं तेन, वितताः स्नेहतन्तवः। नीतश्च भवने स्वीये, भोजितश्चारुभोजनम् ॥३९॥
पृष्टः कुलाभिधानादि, मया प्रोक्तं यथास्थितम्। योग्यं ज्ञात्वा कमलिनीं, स्वां पुत्रीं परिणायितः ॥४०॥
ततस्तेनोदितं वत्स, स्वीयं गृहमिदं तव। अत्र तिष्ठ निरुद्विग्नो विलसन् सह वत्सया ॥४१॥
मयोक्तं स्वार्जितं वित्तं, विना भोगो विडम्बना। प्रस्थापय सुसार्थेन, रत्नद्वीपं व्रजामि तत् ॥४२॥
श्रेष्ठी प्राह कृतं वत्स!, समुद्रोल्लङ्घनेन ते। मदीयेन धनेन त्वमत्रैव धनमर्जय ॥४३॥
मयोक्तं यदि निर्बन्धस्तवायं तत् पृथग्गृहे। स्थितः स्वीयेन वित्तेन, पणेऽहं पृथगापणे ॥४४॥
श्रेष्ठिनाऽपि तथेत्युक्ते, लग्नस्तत्र धनार्जने। तेन सागरमित्रेण, प्रेर्यमाणः क्षणे क्षणे ॥४५॥
गता दयालुता नष्टा, धर्मधीः क्षीणमार्जवम्। कर्मादानानि सर्वाणि, कृतानि बहुशो मया ॥४६॥
तृड्बुभुक्षे मया सोढे, धनलोभान्धचेतसा। रात्रावपि न सुप्तोऽहं, नापि भोगा निषेविताः ॥४७॥
क्लेशेन तावता सार्द्धं, सहस्रं तदभूत् ततः। सहस्रद्वयवाञ्छाऽभूत्, तत्प्राप्तौ चायुतेस्पृहा ॥४८॥
प्राप्तं तदप्युपायेन, ततो लक्षे गतं मनः। नानोपायप्रसक्तेन, मया तदपि मीलितम् ॥४९॥
ततोऽपि प्रयुतेच्छाऽभूत्, सागराज्ञास्थितस्य मे। कालेन भूयसा साऽपि, पूरिता क्लेशकोटिभिः ॥५०॥
कोटिप्राप्तौ ततो वाञ्छा, जाता मे साऽपि पूरिता। बहूपायैर्महारम्भैर्नृपसेवादिवृत्तिभिः ॥५१॥

नार्दने रा. क्षा.। २ अयुत दश सहस्राणि। ३ प्रयुत दश लक्षाणि।

पुण्योदयस्य माहात्म्याद्, यावत् कोटिरपूर्यत । सागरः प्रेरयामास, कोटीनां तावदर्जने ॥५२॥
इच्छाऽनिवर्तनीयाऽभूत्, ततः सागरलङ्घने । वकुलः श्रेष्ठिनः स्वीयोऽभिप्रायश्च निवेदितः ॥५३॥
स प्राह पूर्यमाणो हि, पुरुषो भूरिभिर्धनैः । ज्वालाभिरिन्धनैरग्निरिवेच्छाभिः प्रवर्धते ॥५४॥
न कदापि निवृत्तिः स्यात्, तस्य रत्नाचलैरपि । श्रेयसी तद् धृतिः पुंसां, धनलोभान्धता तु न ॥५५॥
तिष्ठात्रैव नियुञ्जानस्तदिदं द्रविणं बहु । मयोक्तं तात ! मा वादीरेवं धुर्य ! विवेकिनाम् ॥५६॥
लक्ष्मीः क्लीबादिव भवेन्निरारम्भात् पराङ्मुखी । कुटिलेव विटं त्यक्तुं सारम्भं तु न वाञ्छति ॥५७॥
यो न मुञ्चति संरम्भं, प्राप्तैः क्लेशशतैरपि । अङ्कस्थले पतत्यस्य, लक्ष्मीरेत्य स्वयंवरा ॥५८॥
स्तोकप्राप्त्यैव सन्तुष्टे, श्रियो रागो न वर्द्धते । रतिं बध्नाति करिणी, न हि स्वल्पजलाश्रये ॥५९॥
अनुजानीहि मे तात !, रत्नद्वीपे गमं ततः । श्रेष्ठी प्राह न तत्रापि, श्रीर्भाग्यं लङ्घयिष्यति ॥६०॥
तथाऽपि यदि ते वत्स, निर्बन्धो दुरतिक्रमः । अनुज्ञातो मयाऽसि त्वं, गच्छ तद् यत्र रोचते ॥६१॥
ततः प्रमुदितो मुक्त्वा, प्रमदां सदने पितुः । पृथक् पूरितपोतौघैः, सहितोऽन्यैर्महाधनैः ॥६२॥
अन्तर्मित्रयुतः काले, शुभे विहितमङ्गलः । यानपात्रं समारुह्य, चलितो वारिधावहम् ॥६३॥
मध्येऽब्धेर्यानपात्रौघैश्चलद्भिर्धनिनां हृता । अन्तर्व्योमव्रजद्देवविमानश्रीः सितध्वजैः ॥६४॥
तद्वेगविचलद्वीचिबद्धफेनोऽम्बुधिर्बभौ । सहास इव संप्रेक्ष्य, वणिगुत्साहसाहसम् ॥६५॥

धनशेखरस्य रत्नद्वीपं प्रति गमनम् ।

तरङ्गहस्तैर्विततैरालिङ्गन्निव वारिधिः। पप्रच्छ यानपात्राणां, स्वागतं गर्जितच्छलात् ॥६६॥
वार्द्धौ वेगं दधुः पोता, उत्साहा वणिजामिव। दोःस्थ्यैरिव ततः क्षुब्धैः, कच्छपैः प्रपलायितम् ॥६७॥
प्राप्तानि यानपात्राणि, रत्नद्वीपं सुवायुना। वणिग्भिः प्राभृतं दत्त्वा, तत्र भूपः प्रसादितः ॥६८॥
जगृहुः प्रतिभाण्डानि, तेऽथ भाण्डौघविक्रयात्। प्रतिचेलुः प्राप्तलाभाः, स्वदेशे शेषवाणिजाः ॥६९॥
तत्रैव स्थापितोऽहं तु, सागरेण प्रसर्पता। प्रारब्धं रत्नवाणिज्यं, विधाय विततापणम् ॥७०॥
अन्यदैकाऽऽगता वृद्धा, नारी मां प्रत्यवोचत। अस्त्यानन्दपुरे राजा, केसरी तत्प्रिये उभे ॥७१॥
जयसुन्दर्याह्वयैका, परा कमलसुन्दरी। जातान् जातान् सुतान् हन्ति, गृध्नू राज्यसुखे नृपः ॥७२॥
अपत्यस्नेहतो नष्टा, ततः कमलसुन्दरी। गर्भिणी मां सखीं लात्वा, महाटव्यां पपात च ॥७३॥
तत्रानुभूतः क्लेशौघो, रात्रिशेषे च वेदना। जाता शूलाङ्गभङ्गाद्यैस्तस्या हृदयदारिणी ॥७४॥
प्रसवासन्नतां मत्वा, वाचा साऽऽश्वासिता मया। कुर्वत्या मम तत्कालोचितं कर्म मुमूर्च्छ सा ॥७५॥
योनिद्वारेण निरगात्, दारकः स्वामिनी मृता। वज्राहतेव जाताऽहं, भूताविष्टेव शून्यहृत् ॥७६॥
प्रवृत्ता च प्रलपितुं, देहि स्वामिनि! मे गिरम्। क्व गताऽसि सुतं हित्वा, यस्यार्थे राज्यमुज्झितम् ॥७७॥
गतैवं विलपन्त्या मे, रजनी रविरुद्गतः। तत्पथेनेयुषा दृष्टा, सार्थवाहेन तादृशी ॥७८॥
आश्वास्य तेन वृत्तान्तः, पृष्टो निगदितो मया। विस्मितोऽसौ मया पृष्टः, क्व गन्तव्यं त्वयाऽनघ! ॥७९॥

हरिकुमारेण
सह मैत्री।

॥१४६॥

यास्यामि म जगौ रत्नद्वीपं ध्यातं मया ततः। नीलकण्ठोऽस्ति कमलसुन्दर्यास्तत्र सोदरः ॥८०॥
भागिनेयं सुमार्गेण, गत्वा तस्यार्पयाम्यहम्। सार्द्धं तत् सार्थवाहेन, प्राप्ता द्वीपमिमं ततः ॥८१॥
दर्शितो नीलकण्ठाय, भागिनेयो मनोहरः। वार्ता कमलसुन्दर्याः, सर्वा च कथिता मया ॥८२॥
स्वेदगर्भोऽस्य हर्षोऽभूद्, हरिरित्यभिधा कृता। दारकस्याथ सोऽस्याभूद् वर्धमानोऽतिवल्लभः ॥८३॥
ग्राहितोऽसौ कलाः सर्वाः, संप्राप्तश्चारुयौवनम्। श्रिया सुरकुमारस्याकारं न्यक्कुरुते कृती ॥८४॥
अस्योक्तः पूर्ववृत्तान्तो, मयाऽनेन श्रुतः पुनः। भवानानन्दनगरादागतो वणिजां वरः ॥८५॥
ततः स(स्व)देशजं मत्वा, त्वां द्रष्टुं सोऽभिवाञ्छति। तत्समीपं ततो गन्तुं, भवानर्हति कोविदः ॥८६॥
ततो हरिकुमारस्य, वसुमत्या तया समम्। गतोऽभ्यर्णं तया तस्य, ज्ञापितोऽहं जहर्ष सः ॥८७॥
अभ्यापयत् समालिङ्गय, गाढं मामर्धविष्टरे। जगौ चोक्तोऽम्बया तातमित्रं मे हरिशेखरः ॥८८॥
त्वं च तस्य सुतस्तेन, भ्राताऽसि मम सर्वथा। मयोक्तं यादृशस्तातो, भृत्यः केसरिभूपतेः ॥८९॥
तादृशस्तेऽहमप्यस्मि, तद् भृत्ये कोऽयमादरः। ततः सोऽकारयद् गाढं, तुष्टो मित्रागमोत्सवम् ॥९०॥
ततो हरिकुमारेण, सह लीलां वितन्वतः। दिनानि मे सुखं यान्ति, संप्राप्तोऽथ मधूत्सवः ॥९१॥
ततो हरिकुमारोऽसौ, मित्रमण्डलराजितः। मदन्वितो ययौ द्रष्टुं, वने मधुकृतश्रियम् ॥९२॥
सहकारतले तत्र, स्थितः कोकिलकूजितैः। प्रपञ्चितस्मरयशःपटहध्वनिविभ्रमे ॥९३॥

तावत् तत्रागता काचिद्, व्रतिनी रौद्ररूपभृत्। वृद्धा सा चित्रालिखितां, कन्यां तस्य करे ददौ ॥९४॥
कुमारभावं पश्यन्ती, सा ततः स्तिमिता स्थिता। सविकारं तमाक्षिप्तमालोक्य च विनिर्गता ॥९५॥
कुमारस्तां मुहुः पश्यन्, दृष्टो मित्रैः पराहतः। दीर्घनिःश्वासहुंकाराव्यक्तवाग्मूर्द्धकम्पनैः ॥९६॥
अभूत् क्षणं स मन्दाक्षः, क्षणं विस्फारितेक्षणः। क्षणं स्मेरः क्षणं लीनः, क्षणक्षणविलक्षणः ॥९७॥
सस्मितं मन्मथः प्रोचे, ततो नानारसाकुलम्। किं नरीनृत्यते चित्ते, कुमार! स्फारविभ्रमैः ॥९८॥
विदग्धः सोऽवदत् तस्मै, निह्नुवानो निजाशयम्। हृष्याम्यस्मादहमितश्चित्रकृत्करकौशलात् ॥९९॥
चित्रेऽस्मिन् लिखिता बाला, दत्ते नालापमेव हि। अन्यैस्तु विभ्रमैः सर्वैः, साक्षाद्भूतेव दृश्यते ॥१००॥
विभावयामि तदिदमेतच्चित्रैककर्मणः। बहुक्रियाव्यग्रमना, विश्वकर्माऽपि नाधिकः ॥१०१॥
किं सत्यमिदमित्यूचे, मन्मथः पद्मकेसरम्। सोऽप्याह प्राणिनां मित्र!, विचित्राश्चित्तवृत्तयः ॥१०२॥
चित्रेऽतिकुशला कन्या, भाति चित्रकृतोऽपि मे। ललितः प्राह किं चित्रं, दृष्टं क्वाप्यनया कृतम् ॥१०३॥
किंनरीणामविषये, दुर्गमे सुरयोषिताम्। विद्याधरीणां दुर्लङ्घ्ये, दुष्प्रवेशेऽन्ययोषिताम् ॥१०४॥
चित्ते गूढे कुमारस्य, सत्त्वसारे न दृश्यते। किमेतया कृतं चित्रमित्यूचे पद्मकेसरः ॥१०५॥
विभ्रमः प्राह किं चित्रं, नन्वाश्चर्यमिदं स्फुटम्। मूढ! श्लेषादिदं ह्येतदित्यूचे पद्मकेसरः ॥१०६॥
कपोलोऽवक् कथं गम्यं, हृतमस्य मनोऽनया। मूढ! लिङ्गैरतिव्यक्तैरित्यूचे पद्मकेसरः ॥१०७॥

यावन्न भवति श्रान्तं, मनः कामाध्वलङ्घनात्। न निःश्वासादयो भावास्तावदाविर्भवन्ति हि ॥१०८॥
कुमारमेव पृच्छ स्याद्, यदि न प्रत्ययो मयि। प्रोचे हरिकुमारोऽथ कृतं यत्तत्प्रलापतः ॥१०९॥
चारु प्रश्नोत्तरं किञ्चित्, पठ तावदनाविलः। जगावथ विनोदार्थं, सहासं पद्मकेसरः ॥११०॥
¹हृदि प्राप्नोति कश्चित्रं, कां चित्रामधिगत्य मे। वाचामाचारपूतात्मा, साधुस्त्यजति कां पुनः ॥१११॥
श्रुत्वेदं शून्यहुंकारं, कुमारो व्यग्रधीर्ददौ। पुनः पपाठ विस्पष्टधृतये पद्मकेसरः ॥११२॥
चित्रकन्याहृतस्वान्तस्तथाऽप्यस्थात् स तादृशः। स्मित्वा सर्वे ततोऽपश्यन्, वदनानि परस्परम् ॥११३॥
चेतो हरिकुमारस्य, प्रत्यावृत्तं तदीक्षणात्। श्लोकं श्रुत्वाऽथ तं तेनावष्टम्भाद् दत्तमुत्तरम् ॥११४॥ अहंकृतिम्।
ततोऽतिविस्मितः पद्मकेसरोऽन्यत् पुनर्जगौ। कथं बध्नाति काः प्राज्ञः, के गीतरसलम्पटाः ॥११५॥
तदपि प्रत्युदतरद्, विचिन्त्य हृदये हरिः। ¶सारंगाः॥ पप्रच्छाथ विलासोऽन्यज्जैनेन्द्रमतवासितः ॥११६॥
प्रावल्यं केन वाच्यं कलयति रसना कं भवेत् पक्षिणः का, संबुद्धिर्बुद्धिमन्तः क्व च विरचनया यत्नमुल्लासयन्ति।

¹ अहं मे वाचा चित्रा कृतिमधिगत्य हृदि चित्रमाश्चर्यं प्राप्नोमि। आचारपूतात्मा साधुरहङ्कृतिमहङ्कारं त्यजति। ¶ प्राज्ञः सारं श्रेष्ठं यथा स्यात् तथा गाः वाणीः रचनाति-प्रशस्तरचनया विरचयति। गीतरसलम्पटाः सारंगाः-हरिणाः। ² उदा उदुपसर्गेण प्रावल्यं वाच्यम्। रसना रसं कलयति। वि पक्षी, तस्य संबोधने वे। बुद्धिमन्तो गवि वाण्यां विरचनया यत्नं कुर्वन्ति। राः प्रार्थ्यः। रैशब्दः स्त्रीपुंलिङ्गः। अलस-मन्द गवा वलीवर्देन तुल्य।
गरगीः-गरशब्दः पुरार्था-नगरार्था कीदृशी स्यात्? सना नकारेण सहिता 'नगर' इति स्यात्।

हरेः मित्रैः सह प्रश्नोत्तरविनोदः

कः प्रार्थ्यः केन तुल्योऽलस इह गरेगीः(?) कीदृशी स्यात् पुराऽर्थी, व्यापद्वल्लीकृपाणी जयति जिनपतेः कीदृशी ब्रूहि वाणी ॥११७॥

हरिर्जगौ बृहद् व्यस्तमस्तं खल्विदं ततः। पुनः पठ पपाठासौ, विचार्योदतरद्धरिः ॥११८॥ उदारसंवेगविरागवासना।

तच्छ्रुत्वा निसितश्चित्ते, पुनः पप्रच्छ तादृशम्। कुमारस्य विलासार्थी, विलासः प्रश्नकोविदः ॥११९॥

[+]पूजायां किं पदं स्यात् कुरु दहनवपुर्बोधनं निःस्तनः कः, शून्यं कीदृग् पुरं स्याद् वनमपि च घनं कीदृशं नैति शोभाम्।

का वेश्या का महत्री समिति भवति कः सत्त्वभाजां भटानाम्, धावल्लावण्यपुरे वपुषि जिनपतेः का निमज्जन्ति नित्यम् ॥१२०॥

तदपि प्रत्युदतरद्, विस्फुरद्बुद्धिपाटवः। हरिः परिस्मृतव्यस्तसमस्तपदपद्धतिः ॥१२१॥ सुराङ्गनानेत्रसरोजराजयः।

जहास विमलश्चारु, कुमारोऽस्याहरन्मदम्। विलासोऽवक् पठत्वन्यः, सर्वस्वयहरो ह्ययम् ॥१२२॥

मन्मथोऽभिदधे वत्सं, मया स्पष्टान्धकद्वयम्। तदर्थं कथयत्वार्यः, सुविभाव्याविलम्बतः ॥१२३॥

[†]राजन्! रूपेण नारीणां, हरसेवालताफलम्। कामाज्ञयाऽपि वामाक्ष्यो, यान्ति नैतावतीं भुवम् ॥१२४॥

---

१ -दिह डे. शा । २ गुरगी. की. मु. । + पूजाया सु इति पदम्। दहनमग्निस्तस्य वपुषः-शरीरस्य बोधन-सबोधन कुरु। र-अग्निः, तस्याः शरीर राडम्, तत्प्रबोधन हे राड्र । नि स्तनः ना पुरुषः। अनेतृ अनायक पुर नगर शून्यम्। घन-निबीडमपि वन असरो सरोवररहित शोभा नैति। जरा वेश्या सर्वगामित्वात्, महत्री वा महत्त्वप्रापकत्वाद्। समिति-युद्धे सत्त्वभाजा भटाना जयो भवति। † प्रथमान्धके भ्रमोत्पादकशब्दरचनया 'हरसे' इति क्रियापद झटिति न स्फुरति। द्वितीये तु सदाख्य इति सबोधन शीघ्र न प्रतीयते। सती आख्या-प्रसिद्धिर्यस्य तत्सबोधने हे सदाख्य! ते तव अतिमनोज्ञश्रीर्लीलाटयगुणगौरवमभिधत्ते, पुनस्तव तेजो रणसमर्दधीरतामभिधत्ते इत्यन्वयः।

सदाख्यातिमनोज्ञश्रीली(र्ली)लाढ्यगुणगौरवम् । अभिधत्ते च तेजस्ते, रणसंमर्दवीरताम् ॥१२५॥

हरिर्निगाद हस्से, बालतायाः फलं त्रपाम् । इत्येष प्रथमे भङ्गः, सदाख्येति द्वितीयके ॥१२६॥

बाला अपि रूपातिशयात् सुरतप्रार्थनापराः कृत्वा तासां त्रपामपनयसि । कामस्तु वयःक्रमादिना धार्ष्ट्यमापादयतीति कामादप्यधिकस्त्वं रमणीनामुन्मादक इति प्रथमस्य भावार्थः ॥ द्वितीयस्य तु सुलभ एव ।

गूढतूर्यं मया पद्यमर्थकं विनिवेदितम् । सम्पूर्णः पठितः श्लोको, हरिणा परिपूर्य तत् ॥१२७॥

दाने मेघो रनो घर्मे, प्रशस्तः प्रौढतेजसा । यस्तनोति सतां प्रीतिं, यशस्तस्य समेधते ॥१२८॥

तच्छ्रुत्वा विस्मिताः सर्वे, वयस्या धीरहो परा । कुमारस्येति सोऽप्येवं, व्यस्मरच्चित्रकन्यकाम् ॥१२९॥

पागपत्तं प्रियाचाटुकारिणं प्रेक्ष्य तां स्मरन् । अथ सोऽभूद् भृशं कम्प्रः, पतच्छिल इव ह्रदः ॥१३०॥

वाताहतो दीप इव, मानीवारिपराजितः । सम्यक्त्ववानविरतो भवभीत इव क्षणात् ॥१३१॥

ततो मयोक्तं किमिदं कुमार ! तव बाधते । स प्राह नागताऽऽसीन्मे, निद्रा रात्रौ शिरोऽर्तितः ॥१३२॥

गच्छन्तु वाऽत्र तिष्ठन्तु, तदेते मन्मथादयः । एहि त्वमेको निद्रामि, यच्चन्दनलतागृहे ॥१३३॥

कुमारः प्राविशत् तत्र, मद्युक्तोऽथ गताः परे । पल्लवैः शिशिरैः शय्यामारूढोऽसौ कृतां मया ॥१३४॥

न तत्र लभते तप्तसैकते मीनवद् रतिम् । विहितेऽथोपविष्टोऽसावासने कोमले मया ॥१३५॥

तत्रापि नाश्नुते सौख्यं, शूलाग्रप्रोतचौरवत् । करोतीतस्ततो लग्नः, स्कन्धे चंक्रमणं मम ॥१३६॥

हरेः स्मरादन्तस्तापः

तथाऽपि सरतापेन, मुच्यते न महीयसा। लङ्घिता शीतलेऽपीत्थं, बृहद्वेला लतागृहे ॥१३७॥
प्रच्छन्नैस्तत् स्थितैः सर्वं कुमारस्य विचेष्टितम्। दृष्टं कुतूहलवशाद्, वयस्यैर्मन्मथादिभिः ॥१३८॥
जयध्वनिरिव प्रौढः, पुष्पेषोस्तापदायिनः। उत्थितः शङ्खनादोऽथ, मध्याह्नसमये महान् ॥१३९॥
मन्मथाद्यास्ततः सर्वे, संभूयैत्य लतागृहे। हरिमूचुर्गृहे गन्तुमधुनाऽवसरोऽस्ति नः ॥१४०॥
हरिर्जगौ यात यूयं, विमुच्य धनशेखरम्। शान्तायां शूलतापार्त्तावागमिष्याम्यहं पुनः ॥१४१॥
प्रतीत एव सर्वेषां, तस्य तद्धेतुरान्तरः। तथाप्येतादृशो जल्पश्छलान्मित्रैः प्रवर्तितः ॥१४२॥
आयुर्वेदविदग्धोऽसि, भोः कपोल! निरूपय। विकारः किंनिमित्तोऽयं, शमोपायोऽस्य कः पुनः ॥१४३॥

वातादीनां दोषाणां विचारः

कपोलः प्राह दोषाणां, वायुः पित्तं कफस्तथा। शारीरो मानसो हेतू, रजश्च तम एव च ॥१४४॥
प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो, दिव्ययुक्तिव्यपाश्रयैः। मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥१४५॥
रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः। विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥१४६॥
सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च, द्रवमम्लरसं पटु। विपरीतगुणैः पित्तं, द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥१४७॥
गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छलाः। श्लेष्मा(म)णः प्रकृतिं यान्ति, विपरीतगुणैर्गुणाः ॥१४८॥
कफं स्वाद्वम्ललवणाः, कषायकटुतिक्तकाः। जनयन्त्यनिलं पित्तं, कट्वम्ललवणा रसाः ॥१४९॥
स्वाद्वम्ललवणा वायुं, कषायस्वादुतिक्तकाः। जयन्ति पित्तं श्लेष्माणं, कषायकटुतिक्तकाः ॥१५०॥

अजीर्णप्रभवा रोगास्तच्चाजीर्णं चतुर्विधम्। आमं विदग्धं विश्र(ष्ट)ब्धं, रसशेषं तथा परम् ॥१५१॥
आमे सदृशगन्धः स्याद्, विदग्धे धूमगन्धता। विश्र(ष्ट)ब्धे गात्रभङ्गश्च, रसशेषेऽन्नद्वेषिता ॥१५२॥
आमेषु वमनं कुर्याद्, विदग्धे चाम्लकं पिबेत्। विश्र(ष्ट)ब्धे स्वेदनं कुर्याद्, रसशेषे तथा स्वपेत् ॥१५३॥
इत्थं स्थिते कुमारस्याजीर्णं तापेन लक्ष्यते। पित्तं विदग्धावस्थेन, क्षोभितं तेन वायुयुग् ॥१५४॥
अन्तस्तापश्च शूलं च, वर्धतेऽस्य ततस्तनौ। प्रकृत्याद्यविदन् यत्तत्, किं ब्रूपे विभ्रमो जगौ ॥१५५॥
कपोलः प्राह विज्ञातं प्रकृत्याद्यखिलं मया। विकारोऽयमजीर्णस्य, कुमारस्यापरस्य न ॥१५६॥
ततोऽहो मूढताऽस्येति, ध्यात्वा चक्रे स्मितं हरिः। प्राहुर्वयस्याः संसिद्धं, कार्यं नस्त्वद्विनोदतः ॥१५७॥
सा परिव्राजिकैवास्य, विकारस्य तु भेषजम्। कार्यं पर्येपणं तस्यास्तत् कुमाराविलम्बतः ॥१५८॥
ततोऽहं प्रहितस्तेन, तदन्वेपणकाम्यया। पश्यामि स्मान्तराले तां, नगराभिमुखं व्रजन् ॥१५९॥
नत्वा पृष्टा च सा चित्रपट्टिकोदन्त एप कः। केयं कन्या किमर्थं चोच्चलिताऽसि निवेदय ॥१६०॥
सा प्राह शृणु भद्रैतत्सम्बन्धमिह विद्यते। नीलकण्ठस्य नृपतेर्देवी शिखरिणी शुचिः ॥१६१॥
प्राप्ताऽहं तद्गृहे भिक्षाकृते दृष्टो विपादभाग्। सर्वः परिजनः पृष्टा, देवी तत्कारणं जगौ ॥१६२॥
मयूरमञ्जरी पुत्री, जीवितादपि मेऽधिका। बन्धुले! ते प्रतीतैव, सेयमातपनोदयात् ॥१६३॥
केनापि हेतुना शून्या, जाता तीव्रज्वरारतिः। भूपणानि न गृह्णाति, नाङ्गरागं तनोति च ॥१६४॥

नास्वादयति ताम्बूलं, कन्दुकेन न खेलति। मुहुर्धावत्यभिद्वारं, सखिभ्यः परिरुष्यति ॥१६५॥
तन्मां भगवति ! ब्रूहि, किमेषा चिन्तयत्यहो। कदा च लप्स्यतेऽभीष्टं, निमित्तेऽसि स्फुरन्मतिः ॥१६६॥
दृष्ट्वा होरां ततः प्रोक्तं, ध्वजादिन्यासतो मया। एषा जीवं चिन्तयन्ति, नरं नृपसुतं हरिम् ॥१६७॥ यतः–
ध्वजो धूमस्तथा सिंहः, श्वा बलीवर्द इत्यपि। खरो गजेन्द्रो ध्वांक्षश्च, अष्टायाः परिकीर्तिताः ॥१६८॥
कालवासरवेलानां, मुहूर्तककुभोस्तथा। नक्षत्रग्रहयोश्चैव, निसर्गबलमष्टमम् ॥१६९॥
ध्वजः खरस्तथा ध्वांक्षः, प्रस्तुते च प्रयोजने। समापन्नास्त्रयो ह्याया न्यस्ताद् गोमूत्रिकात्रयात् ॥१७०॥
प्रथमाद् ज्ञायते चिन्ता, द्वितीयात् तु शुभाशुभम्। तृतीयात् कालनिर्देशं, कुर्यादायादिति श्रुतिः ॥१७१॥ तत्र–
शुनि ध्वजे वृषे चैव, जीवचिन्ता प्रकीर्तिता। सिंहवायसयोर्मूलं, धातुर्धूमेभरासभे ॥१७२॥
ध्वजस्य प्रथमं पातात्, तज्जीवं चिन्तयत्यसौ। नरादिव्यक्तिबोधश्च, स्फुटः कालबलादिभिः ॥१७३॥
अवश्यं तस्य लाभश्च, धूमोपरि खरागमात्। अत्रैव च तृतीयस्य, पाताद् ध्वांक्षस्य यत् स्मृतम् ॥१७४॥
स्थानं लाभं च कुरुते, रासभो ध्वजधूमयोः। सिंहस्योपरि नाशं तु, शेषेषु तु स मध्यमः ॥१७५॥
ध्वजकुञ्जरयोर्वर्षं, मासो वृषभसिंहयोः। पक्षाः श्वखरयोर्ज्ञेया, धूमवायसयोर्दिनम् ॥१७६॥
ततः शिखरिणी तुष्टाऽऽसन्नजामातृलाभतः। जगाद यत् त्वया प्रोक्तं, तत्र शङ्का न काचन ॥१७७॥
अस्याः सख्या मम प्रोक्तं, प्रातर्दृष्टोऽनया हरिः। तत्रानुरागातिशयात्, ततः प्राप्ता दशामिमाम् ॥१७८॥

करोतु भगवत्येव, तदस्यास्तत्समागमम्। बोद्धुं भावं कुमारस्य, चित्रितेयं ततो मया ॥१७९॥
तत्प्रदर्शनतो ज्ञात्वा, कुमाराशयमागता। देवी प्रोक्तवती मुष्टिमध्येऽसौ मम वर्तते ॥१८०॥
तया मयूरमञ्जर्याः, प्रोक्तं प्रत्येति सा तु न। शिखरिण्या ततो राज्ञे, प्रोक्तो व्यतिकरोऽखिलः ॥१८१॥
प्रहिताऽऽनयनायाहं, हरेस्ताभ्यां ततो द्रुतम्। एष व्यतिकरश्चित्रपट्टिकागोचरोऽखिलः ॥१८२॥
एषा सा कन्यकाहेतोरितश्चोचलिताऽस्म्यहम्। ततो मयोक्तमनघे!, किं पुनस्त्वत्करेऽस्त्यदः ॥१८३॥
उक्तं बन्धुलया भद्र!, कुमारप्रत्ययावहम्। मयूरमञ्जरीहस्तलिखितं चित्रमस्त्यदः ॥१८४॥
मयोक्तं चारु विहितं, कुमारस्यार्पितास्त्वया। प्राणास्ततो मया सार्द्धं, साऽऽगता हरिसन्निधौ ॥१८५॥
मया बन्धुलया चोक्तं, हरये राजशासनम्। उक्तः सर्वोऽपि वृत्तान्तः, श्रद्धत्ते न हरिः परम् ॥१८६॥
ततोऽर्पितो बन्धुलया, हरेश्चित्रपटः करे। सरध्वजपटप्रायः, स्फुटद्विपुटचित्रितः ॥१८७॥
मद्यो हरिकुमारेण, प्रोद्घाट्य स निरूपितः। तत्रैकत्र पुटे दृष्टं, विद्याधरयुवद्वयम् ॥१८८॥
शुद्धगलिखितं वर्णैरलक्ष्यैस्तूलिकापदैः। सूक्ष्मानुरूपरेखाभिः सुविभक्ताङ्गशोभया ॥१८९॥
चित्रया बिन्दुविच्छित्त्या विस्फुटेन मनोहरम्। निम्नोन्नतविभागेन, भूषणैश्चोचितोचितैः ॥१९०॥
नवस्नेहरसावेशाद् बद्धदृष्टि परस्परम्। चित्तैक्यपिशुनस्पष्टचेष्टाजनितविस्मयम् ॥१९१॥
प्रदृष्टं लिखितं पद्यं, तस्याधस्तादिदं पुनः। शृङ्गाराम्भोधिपियूषमनवद्यं किमुद्धृतम् ॥१९२॥

धन्यास्ता दयिताः प्रियाननविधोर्लावण्यलीलासुधा, यासां नेत्रचकोरकैरविरतं पेपीयते सस्पृहम्।
यासां तद्वचनैश्च चन्दनरसैरालिप्यते हृत्तटी, ता एवाप्तजनुःफला रतिरसादेषा यथा खेचरी ॥१९३॥

ततो दृष्टं चित्रपुटं, द्वितीयं राजसूनुना। दृष्टा च तत्र लिखिता, राजहंसी विदग्धया ॥१९४॥
पद्मिनी हिमदग्धेव, म्लानेवाम्रस्य मञ्जरी। अर्काहतेन्दुलेखेव, पुष्पमालेव मर्दिता ॥१९५॥
वनवल्लिरिव प्लुष्टा, गतविद्येव खेचरी। संस्पृष्टस्याम्बुना दिव्यमुकुरस्येव दीधितिः ॥१९६॥
सर्वथा विगतच्छाया, शोकप्रसरदुर्बला। कण्ठावलम्बितप्राणा, परित्यक्ताखिलक्रिया ॥१९७॥
अधस्ताल्लिखितं पद्यद्वयं तस्याश्च वीक्षितम्। साक्षाद्वियोगावेशेन, स्वान्तस्येव दलद्वयम् ॥१९८॥

भ्रमति परितस्तीरे नीरे निजप्रतिबिम्बिनि, प्रियतमधिया गत्वा सत्त्वात् पतत्यफलश्रमा।
त्यजति वदनादात्तं दुःखान्मृणाललताङ्कुरम्, विरहविधुरा शुष्यत्येषा मरालकुटुम्बिनी ॥१९९॥

इयमिव भवत्यन्या प्रेयोवियोगकृशानुना, ज्वलितहृदया नारी भारीभवन्निजजीविता[2]।
असुखवपुषस्तस्या न स्यात् पुराऽर्जितदुष्कृता–नुभवकलनादन्यत् किञ्चित् फलं जनुषः किल ॥२००॥

ततो हरिकुमारेण, चिन्तितं यन्ममोपरि। राजपुत्र्या दृढस्नेहः, कौशलेन प्रदर्शितः ॥२०१॥
विद्याभृन्मिथुनालेखात्, स्वाभिलापः स्फुटीकृतः। इष्टाप्राप्तिकृतं दैन्यं, राजहंस्याश्च चित्रतः ॥२०२॥

१ –आलिख्यते की. मु.। २ यारिभव– रा. ज्ञा. डे. ज्ञा.

दर्शितो मन्मथादीनां, तेन चित्रपटस्ततः। तैरुक्तं राजहंस्येषा, गत्वा संधीयतां द्रुतम् ॥२०३॥
सर्वेऽपि राजसदने, ततः प्रमुदिता गताः। मयूरमञ्जरीं नीलकण्ठश्च हरये ददौ ॥२०४॥
ततः शुभेऽह्नि संजातो, विवाहस्य महोत्सवः। पाणौ गृहीत्वा तां प्राप्तो, हरिर्हर्षं रमामिव ॥२०५॥
अथ सान्तःपुर सर्वं, राजलोकाः सबान्धवाः। प्रजाश्च रागं विपुलं, गुणपूर्णे हरौ दधुः ॥२०६॥
इतश्च स हरिर्भूरिपुण्यवान् प्रेमनिर्भरः। यन्त्रितो मम पुण्येन, मद्वियोगं न वाञ्छति ॥२०७॥
प्राप्ता मया तत्प्रसादाद्, विलासा देवदुर्लभाः। यशश्च चन्द्रविमलं, सज्जनस्पृहणीयता ॥२०८॥
जनिताः कुविकल्पौघाः, सागरेण तथाऽपि मे। यन्ममायं हरेः संगो, हेतुरर्थार्जनक्षतेः ॥२०९॥
रत्नौघमिह लास्यामि, निर्विघ्नमिति चिन्तितम्। अत्रापि मित्ररूपो मे, विघ्नोऽयं समुपस्थितः ॥२१०॥
सर्वथा राजपुत्रोऽयं, त्यक्तुं शक्यश्च नाधुना। रुष्टो ह्यपहरेदेष, सर्वस्वमपि मामकम् ॥२११॥
तद् रत्नोपार्जनं कुर्वे, हरेरपि च रञ्जनम्। अत्यासङ्गस्तु मित्रेऽस्मिन्, मम स्वार्थं विनाशयेत् ॥२१२॥
कृत मया यथा ध्यातं, रत्नौघो मीलितस्ततः। क्वचित् पश्यामि रत्नानि गतो मूर्च्छां पुनः पुनः ॥२१३॥
क्वचित् स्पृशामि हस्तेन, मुहुरुच्छालयामि च। क्वचिद् वक्षःस्थले दत्त्वा, हर्षमग्नो भवामि च ॥२१४॥
निखनामि क्वचिद् गर्त्ते, गर्त्तां धूलोत्खनामि च। सुखं दिने च रात्रौ च, नाविश्वासाद् बभूव मे ॥२१५॥
ध्यानं सर्वजगद्रत्नसंग्रहस्य मया धृतम्। स्थितोऽहं सदने नित्यं, रत्नोपार्जनलोलुपः ॥२१६॥

हरिकुमारस्य मयूरमञ्जर्या सह विवाहः।

इतश्च द्वौ नरौ कालपरिणत्यनुजीविनौ। कदाचिच्चक्रतुर्जल्पं, मिथो मैथुनयौवनौ ॥२१७॥
यौवनेनोदितं मित्र! भवजन्तुर्ममाधुना। धनशेखररूपेण, गतोऽस्ति वशवर्तिताम् ॥२१८॥
तवाप्यवसरो गन्तुमस्ति तस्यान्तिकेऽधुना। भाषितं मैथुनेनापि, तत्सम्बन्धं कुरुष्व मे ॥२१९॥
यौवनेनोदितमसौ, पूर्वं संसेवितो मया। तद् दृढं तव सम्बन्धं, करिष्यामि सहामुना ॥२२०॥
एवं तु कृतसंभाषौ, प्राप्तौ यौवनमैथुनौ। उक्तश्च यौवनेनाहं, वत्सलोऽयं सुहृन्मम ॥२२१॥
अतोऽहमिव सर्वत्र, द्रष्टव्योऽयं सदा त्वया। अकृत्रिमदृशा दृष्टस्तव दास्यत्यसौ सुखम् ॥२२२॥
ततो यौवनवाक्येन, तेनाहं मुदितो हृदि। प्रतिपन्नौ च मयका, तौ प्रीतेनान्तरात्मना ॥२२३॥
मैथुनाय मया दत्तः, प्रासादः स्वान्तसंज्ञकः। यौवनाय च गात्राख्यस्तत्सम्बद्धो द्वितीयकः ॥२२४॥
कृता विलासशौर्याद्या यौवनेन गुणा मम। मैथुनेन कृतोऽतृप्तो, भुक्तैः स्त्रीणां शतैरपि ॥२२५॥
मैथुनेनेरितो यावद्, रन्तुमीहे पणाङ्गनाम्। धनरक्षापरस्तावत्, सागरो मां निषेधति ॥२२६॥
इतो मैथुननिर्देश, इतः सागरलङ्घनम्। सम्पन्नस्तदयं न्याय, इतो व्याघ्र इतस्तटी ॥२२७॥
सागरस्यातिवाल्लभ्यान्मैथुनाज्ञाऽनतिक्रमात्। ततो मया कृतं कर्म, दारुणं लोकगर्हितम् ॥२२८॥
याः काश्चिद् बालविधवा, रण्डाः प्रोपितभर्तृकाः। व्रतिन्योऽन्याश्च मूल्येन, विना ताः सेविता मया ॥२२९॥
ततोऽहं मैथुनहतस्तृप्तो नैवान्त्यजास्वपि। योषित्सम्बन्धिभिर्लोकैस्ताडितश्च विगोपितः ॥२३०॥

सप्तमः
स्तबकः।
यौवन
मैथुनयोः
धनशेखरेण
संबन्धः

हरिपुण्योदयवलात्, केवलं नैव मारितः। जीवन्मृतस्तु धिक्कारप्रहारैर्नागरैः कृतः ॥२३१॥
तथाऽपि मे न मूढस्य, व्यावृत्तं मैथुनान्मनः। जातोऽहं प्रियमित्रेऽस्मिन्निर्मिथ्यस्नेहनिर्भरः ॥२३२॥
अभूत् तुच्छमतेरित्थं, मैथुनो मम वल्लभः। ततोऽपि वल्लभतरः, सागरो रागरोचितः ॥२३३॥
मित्रयुग्मेन तेनेत्थं, मयकाऽभिमतं सुखम्। दुःखितेनाप्यखण्डाभ्यां, पक्षाभ्यामिव पक्षिणा ॥२३४॥
अन्तःपुरं पुरं राज्यं, हरौ रक्तमथाखिलम्। बभूव नीलकण्ठस्य, पराकुण्ठितविक्रमे ॥२३५॥
ततोऽभूत् तस्य विपुला, समृद्धिः कोशदण्डयोः। जनानुरागो वल्लीनां, सम्पदा नववारिदः(दे) ॥२३६॥
अथासौ कुञ्जरारूढो, राजलोकेन वेष्टितः। छत्रेण ध्रियमाणेन, चारुचामरवीजितः ॥२३७॥
युक्तो मयूरमञ्जर्या, पौलोम्या मघवानिव। पुरेऽखिले विशिष्टश्रीर्विचचार वयस्ययुग् ॥२३८॥
ततश्च वीक्ष्य विपुलं, प्रजारागं हरौ नृपः। नीलकण्ठो दधौ चित्ते, कलुषत्वं दुराशया(यात्) ॥२३९॥
अचिन्तयच्च चित्तेऽसौ, वृद्धोऽहं तनयोज्झितः। तत्र सबान्धवं सर्वमनुरक्तं हरौ मम ॥२४०॥
महाबलोऽयं द्रुमवत्, तन्मामुन्मूलयिष्यति। वर्धमानः समुत्तोल्यबलादप्रतिबन्धकः ॥२४१॥
नोपेक्षणीयस्तदयं, यतो नीतिविदो विदुः। अर्धराज्यहरं भृत्यं, यो न हन्यात् स हन्यते ॥२४२॥
अमन्त्रयत् ततो राजा, कर्तव्यं हरिमारणम्। सुबुद्धिमन्त्रिणा सार्धं, सोऽपि राजाऽनुवृत्तिभाग् ॥२४३॥
वज्राहतोऽपि चास्येन, तेन प्रत्यब्रवीदिदम्। युक्तं ते रुचितं देव, शिष्टानां युक्तबुद्धयः ॥२४४॥

हरिकुमारे नीलकण्ठस्येर्ष्या।

सुबुद्धिर्नीलकण्ठश्च, ततः स्वं स्वं गृहं गतौ। सुबुद्धेरथ संजाताः, संकल्पा मनसीदृशाः ॥२४५॥
धिग् मोहसुखलुब्धत्वं, धिग् महामोहजृम्भितम्। धिग् राज्यं काष्ठवज्जीर्णं, कुविकल्पघुणव्रजैः ॥२४६॥
जामाता भागिनेयश्च, प्रियोऽस्याभूत् पुरा हरिः। तृष्णाकृष्णाहिदष्टस्य, सांप्रतं भाति शत्रुवत् ॥२४७॥
राज्यलोभादमुं हन्तुं, राजा यद्यपि वाञ्छति। रक्षणीयस्तथाऽप्येष, नररत्नं मया हरिः ॥२४८॥
ततो दमनकं चेटं, प्रच्छन्नं प्रजिघाय सः। तत्सन्देशं हरेः सोऽवग्, देशस्त्याज्योऽधुना त्वया ॥२४९॥
सुबुद्ध्युक्तमिति श्रुत्वा, निर्भयोऽपि हरिर्मनः। समुद्रलङ्घने चक्रे, प्रोक्ता वार्ता च सा मम ॥२५०॥
यद् राजा कार्यकुपितो, मन्त्रिणा च हितैषिणा। आदिष्टमिति गन्तव्यमुल्लङ्घ्याम्बुनिधिं मया ॥२५१॥
प्रतिष्ठस्व त्वमपि तत्, त्वां विना मम नो धृतिः। मयाऽपि गाढदाक्षिण्याद्, वचस्तस्य प्रतिश्रुतम् ॥२५२॥
यानपात्रद्वयं सज्जीकारितं सुदृढं ततः। तत्रैकं मम रत्नौघैर्भृतमन्यत् पुनर्हरेः ॥२५३॥
हरिर्मयूरमञ्जर्या, वसुमत्या च संयुतः। प्रदोषेऽहं च संप्राप्तौ, तीरं वारांनिधेरुभौ ॥२५४॥
आरूढो यानपात्रे स्वे, विधावभ्युद्गते हरिः। तेनारुरुक्षुः स्वं पोतमप्यहं स्थापितोऽन्तिके ॥२५५॥
मरुद्वेगादथ तयोर्गच्छतोर्यानपात्रयोः। व्यतीयुः कतिचिद् वार्धौ, वासरा बहुलङ्घिते ॥२५६॥
अत्रान्तरे पापमित्ररूपौ सागरमैथुनौ। ममैवं चक्रतुर्बुद्धिं, नाशितह्रीकुलक्रमौ ॥२५७॥
भृतं ममैकं बोहित्थं, रत्नैरन्यद्धरेरिदम्। ममैवोपस्थितं भाग्यैस्तत् त्यक्तुं नैव युज्यते ॥२५८॥

धनशेखरेण
सह हरेः
स्वदेशं
प्रति गमनं

मयूरमञ्जरी चेयं यावद् भुक्ता न भामिनी। पद्माक्षी मन्थरगतिर्जघनस्तनगौरवात् ॥२५९॥
रम्भोरुः क्षाममध्या च, लावण्यामृतवाहिनी। तावत् किं मम रम्येण, यौवनेनावकेशिना ॥२६०॥
तदिदं रत्नवोहित्थमेनां च हरिणेक्षणाम्। हरिं व्यापाद्य गृह्णामि, नान्यथा चित्तनिर्वृतिः ॥२६१॥
ततो विस्मृत्य तस्योच्चैर्निर्व्याजस्नेहहृद्यताम्। अङ्गीकृत्य महापापं, कुलदूषणकारणम् ॥२६२॥
रात्रौ शरीरचिन्तार्थं, वोहित्थान्ते स्थितो हरिः। मया संप्रेरितो वेगात्, द्रागकृत्य पतितोऽम्बुधौ ॥२६३॥
द्रागकागदुत्थितैर्लोकैः, कृतः कोलाहलो महान्। मयूरमञ्जरी भीता, स्थितोऽहं शून्यधीरिव ॥२६४॥
कर्म मे निर्घृणं तादृक्, चुकोप प्रेक्ष्य मय्यथ। समुद्राधिपतिर्देवस्तुतोष च हरेर्गुणैः ॥२६५॥
सोऽब्धिनीरात् समुत्पाट्य, वोहित्थेऽस्थापयद्धरिम्। अर्थं कविरिव प्रौढं पद्ये हृदयगह्वरात् ॥२६६॥
मत्तः प्रातः शशीवाभ्रान्नष्टः पुण्योदयस्तदा। मत्संमुखं बभाषेऽथ, स देवो भीषणाकृतिः ॥२६७॥
रे नराधम पापिष्ठ !, श्रीह्रीधीपरिवर्जित। पापकर्मेदृशं कृत्वा, किं त्वमद्यापि जीवसि ॥२६८॥
इत्युक्त्वा कम्पमानं मां, गृहीत्वाऽसौ स्थितोऽम्बरे। हरिः प्रणम्य तं देवमेवं स्नेहाद् व्यजिज्ञपत् ॥२६९॥
मुच्यतामेष मित्रं मे, कृपालुर्मयि यद्यसि। आकृष्याब्धेरहं क्षेप्यो, न मित्रविरहावटे ॥२७०॥
अभूद् घृतं तत्कोपाग्नौ, स्नेहमुग्धं हरेर्वचः। मयि गाढतरं रुष्टस्ततो देवोऽब्रवीदिदम् ॥२७१॥
मुग्धोऽसि त्वं न जानासि, पापस्यास्य विचेष्टितम्। तद् गच्छाभिमतस्थानं, यच्छाम्यस्य फलं पुनः ॥२७२॥

इत्युक्त्वाऽहं तथा तेन, क्षिप्तोऽगाधमहोदधौ। यथा गतोऽवनितलं, पाषाण इव निष्ठुरः ॥२७३॥
आगतः पुनरूर्ध्वं मां, मृतं मत्वा ययौ सुरः। पोतद्वयं क्रमात् प्राप्तं, वेलाकूले हरेः पुनः ॥२७४॥
इतश्चानन्दनगरे, श्रुतः केसरिभूपतिः। मृतो हरिकुमारेण, तत्रागात् स ततो द्रुतम् ॥२७५॥
जग्राह पैतृकं राज्यं, वसुमत्या निवेदिते। बान्धवानां समस्तेऽपि, वृत्तान्ते क्लेशवर्जितम् ॥२७६॥
अनुरक्ताश्च सर्वेऽपि, लोका भूरिगुणे हरौ। तेनैकं रत्नबोहित्थमर्पितं जनकस्य मे ॥२७७॥
इतश्च पातालतलादुन्मग्नो जलवीचिभिः। प्रेर्यमाणो बध्यमानः, सन्ततैस्तन्तुजन्तुभिः ॥२७८॥
मत्स्यपुच्छच्छटाच्छोटैर्लुलत्कमठकण्टकैः। प्राप्तदुःखोऽतिविकटैर्बिभ्यच्च जलमानुषैः ॥२७९॥
लोलद्भिः शङ्खनिकरैर्मकरैश्च प्रसर्पिभिः। उद्वृत्तैर्नक्रचक्रैश्च, संप्राप्तप्राणसंशयः ॥२८०॥
गहनैर्विद्रुमवनैर्मुह्यमानः कथञ्चन। प्राप्तोऽहं जलधेस्तीरं, सप्तरात्रेण पातकी ॥२८१॥ चतुर्भिः कुलकम्।
तत्रानिलकृताश्वासः; क्षुत्पिपासाऽभिबाधितः। भ्रान्तः फलजलार्थी सन्, प्राप्तो मरुसमं वनम् ॥२८२॥
लब्धा तत्रापि च मया, प्राणवृत्तिः कथञ्चन। करणीयं यतोऽद्यापि, पातकं बहु वर्तते ॥२८३॥
अथाकीर्णं ग्रामपुरैर्वसन्तं देशमागतः। रिक्तत्वाल्लज्जमानोऽहमुपतातं[1] गतस्तु न ॥२८४॥
नाशात् पुण्योदयस्याथ, मित्रद्वयजुषो मम। वाणिज्याचरणेऽर्थं स्यात्, कर्षणे वृष्टिरेव न ॥२८५॥

१ –मुपताप रा. ज्ञा. की. मु.।

सेवां कुर्वंस्ततो राज्ञो, गतो योद्धुं महाऽऽहवे। तत्रापि निशितास्त्रौघप्रहारैरेव पीडितः ॥२८६॥
मयाऽन्यदा बलीवर्दा, गृहीता वाहनेच्छया। मृतास्तिलकरोगेण, सर्वे ते मदभाग्यतः ॥२८७॥
स्वस्मार्थेन वाणिज्ये, मयकाऽथ चिकीर्षिते। ससार्थो मुषितश्चौरैर्जातोऽहं कर्मकृत् ततः ॥२८८॥
वृत्तिस्तथाऽपि नो लब्धा, भूत्वाऽन्यस्याथ सेवकः। गतोऽब्धौ पोतमारुह्य, भग्नः सोऽपि मदंहसा ॥२८९॥
उत्तीर्य फलकेनाब्धिं, द्वीपं प्राप्याथ रोधनम्। प्रवृत्तः खनितुं वाढं, धूलिः प्राप्ता परं करे ॥२९०॥
अथान्यत्र नगे गत्वा, धातुवादः कृतो मया। मृद्भिर्मूलैश्च पाषाणैः, स्थितः क्षारः परं करे ॥२९१॥
कृता ततो द्यूतलीला, तत्र द्यूतकरैर्जितः। ततो लातुं विभावर्यां, प्रविष्टो रसकूपिकाम् ॥२९२॥
सिंहेन त्रासितस्तत्र, कथंचिन्न तु मारितः। विना पुण्यमभूद् व्यर्थमित्थं कर्माखिलं मम ॥२९३॥
लब्धा भिक्षाऽपि न क्वापि, बुभुक्षाक्षामकुक्षिणा। पादप्रसारिकां कृत्वा, मौनं धृत्वा ततः स्थितः ॥२९४॥
सागरः प्रेरयामास, ततो मां स्फोरयोद्यमम्। अविषादः श्रियो मूलं, पुनः कुरु धनार्जनम् ॥२९५॥
इत्याहितकुधीस्तेन, पातकेषु प्रवर्तितः। कृतानि तानि पापानि, यानि यान्यादिदेश सः ॥२९६॥
धनगन्धोऽपि न प्राप्तः, परं पुण्योदयं विना। न गतः श्वसुरस्यापि, गृहे मिथ्याभिमानतः ॥२९७॥
तदाऽपि प्रेरयन्नेव, मैथुनो यौवनान्वितः। मां तिष्ठति तदिष्टं तु, नाप्यते सुकृतं विना ॥२९८॥
इतश्चानन्दनगरे, हरिणा सूरिरुत्तमः। दृष्टो मनोरमोद्याने, निषण्णस्तं प्रणम्य सः ॥२९९॥

हरिनृपस्योत्तमसूरिसमागमः सूरेश्च देशना।

ततो भगवता तेन, देशना क्लेशनाशिनी। दत्ता नृपो जहर्षोच्चैस्तामाकर्ण्य श्रवःसुधाम् ॥३००॥
यावद् विचिन्तयामास, भगवान् सर्वभाववित्। तदिदं परिपृच्छामि, किमहो तत्र कारणम् ॥३०१॥
जातोऽहं प्राक् प्रियस्तस्य, स च मे धनशेखरः। किं पुनः क्षणमात्रेण, क्षिप्तोऽहं तेन वारिधौ ॥३०२॥
कुपितः किं स देवोऽस्मै, कुतः क्षिप्तोऽम्बुधावसौ। किं जीवति मृतो वाऽसौ, तावत् सूरिरवोचत ॥३०३॥
विरूपं त्वयि यद्भूप !, चकार धनशेखरः। तत्रापराध्यतः पापमित्रे सागरमैथुनौ ॥३०४॥
स हि चारुः स्वरूपेण, ताभ्यां च क्रियतेऽन्यथा। त्वद्बोहित्थस्य हरणे, सागरेणास्य धीः कृता ॥३०५॥
मयूरमञ्जरीभोगे, मैथुनेन कृता मतिः। तद्वशात् त्वं जले क्षिप्तस्तेनास्मै कुपितः सुरः ॥३०६॥
तेन त्वमुद्धृतः सोऽब्धौ, क्षिप्तस्तदपि नो मृतः। अधुना पापमित्राभ्यां, नानादेशेषु पीड्यते ॥३०७॥
इत्थं चतुर्ज्ञानभृता सूरिणाऽभिहिते नृपः। दध्यावहो मुनेर्ज्ञानं, पापोऽहो धनशेखरः ॥३०८॥
पुनः पप्रच्छ सूरीन्द्रं, हरिर्मयि कृपापरः। कदा त्यक्ष्यति संसर्गं, स तयोः पापमित्रयोः ॥३०९॥
सूरिराह पुरं भावप्रसादाख्यं विराजते। राजा शुद्धाशयस्तत्र, तस्य चात्मरतिः प्रिया ॥३१०॥
विद्येते तनये तस्या, उभे विततलोचने। एका ब्रह्मरतिर्नाम, द्वितीया मुक्तताऽभिधा ॥३११॥
यदा ते कन्यके भार्ये, लप्स्यसे धनशेखरः। आभ्यां पापवयस्याभ्यां, तदा नूनं वियोक्ष्यते ॥३१२॥
तयोर्विलासमासाद्य, गलद्वेद्यान्तरप्रथम्। ज्ञानानन्दघने स्थाने, शिवे स्थास्यति निर्भयः ॥३१३॥

धनशेखरस्य दुःखनाशहेतोः प्रश्नः

ततो हरिनरेन्द्रेण, पुनः पृष्टः स सूरिराट् । लप्स्यसे ते कथं कन्ये, भगवन्! धनशेखरः ॥३१४॥
सूरिराह महाराज!, प्रतीतो हि भवादृशाम् । स कर्मपरिणामाख्यो, राजाऽस्ति गुरुविक्रमः ॥३१५॥
प्रगन्नस्तव मित्राय, स कन्ये दापयिष्यति । नात्र कश्चिदुपायोऽन्यस्तन्मुञ्चाकुलचित्तताम् ॥३१६॥
तदाकर्ण्य वचः सूरेर्भूत्वा मयि निराकुलः । कृताञ्जलिः पुनः प्रोचे, सूरिराजं हरिर्नृपः ॥३१७॥
भदन्त! यत् त्वया प्रोक्तं, पापमित्रप्रसङ्गतः । तेन घोरं कृतं कर्म, प्रकृत्या तु स निर्मलः ॥३१८॥
संशये तत्र किं प्राणी, स्वरूपेणापि निर्मलः । परदोषेण दुष्टः स्यात्, सूरिणोक्तं भवेत् तथा ॥३१९॥
लोकानामन्तरङ्गाणां, दोषाः सांक्रामिका ध्रुवम् । एवं कथानकं राजन्!, शृणु तत्र समाहितः ॥३२०॥
प्रतीतमेतद् यत् कर्मपरिणामस्य भूभुजः । देव्याः कालपरिणतेश्चापत्यानि बहून्यपि ॥३२१॥
खलद्वगृदोपतो भीतैरविवेकादिमन्त्रिभिः । विनिह्नुतानि विद्यन्ते, भुवने स्थितिवेदिभिः ॥३२२॥
इतश्चास्ति महासत्त्वः, सिद्धान्तः पुरुषोत्तमः । कर्माद्यत्यन्तभेदज्ञो, हितदः सर्वदेहिनाम् ॥३२३॥
विनेयस्तस्य मृदुधीरप्रबुद्धाभिधोऽजनि । स पप्रच्छेह भगवन्!, किमिष्टं किं ततोऽन्यथा ॥३२४॥
सिद्धान्तः प्राह सर्वेषामभीष्टं देहिनां सुखम् । ज्ञेयं दुःखमनिष्टं च, प्रवृत्तिविनिवृत्तितः ॥३२५॥
अप्रबुद्धोऽब्रवीद्धेतुः, कस्तयोरथ तं जगौ । सिद्धान्तः सुखकृद् राज्यं, दुःखकारि तदेव च ॥३२६॥

सुखदुःखयोः कारणम्

१ एकमिना डे. ला. । २ एक डे. शा. ।

नोद्धान्यश्च विरोधोऽत्र, धर्मभेदव्यवस्थितेः। दुःखं दुष्पालितं दत्ते, सुखं राज्यं सुपालितम् ॥३२७॥
अप्रबुद्धोऽवदद् राज्यं, स्तोकानामेव दृश्यते। सिद्धान्तः प्राह सर्वेषामेवाभ्यन्तरमस्त्यदः ॥३२८॥
एकं वा तदनेकं वेत्यप्रबुद्धेन भाषिते। जगौ यथास्थितं तत्त्वं, सिद्धान्तो विश्ववत्सलः ॥३२९॥
एकं सामान्यतस्तद्धि नैकरूपं विशेषतः। सामान्यराज्ये संसारिजीवस्तत्र महानृपः ॥३३०॥
ज्ञानध्यानादिरत्नौघैः, कोशस्तत्र भृतः स्मृतः। गाम्भीर्यौदार्यशौर्याद्याः, स्यन्दनास्तत्र सुन्दराः ॥३३१॥
गजाः सौष्ठवसौजन्यप्रभुत्वप्रणयादयः। वाग्मित्वमुख्यास्तुरगा, दाक्षिण्याद्याः पदातयः ॥३३२॥
चारित्रधर्मनामा च, राजते प्रतिनायकः। महानृपस्य संसारिजीवस्यातिहितावहः ॥३३३॥
मन्त्री तस्यास्ति सद्बोधः, सम्यक्त्वाख्यो महत्तमः। यतिधर्मस्तथा श्राद्धधर्मश्च तनयावुभौ ॥३३४॥
सन्तोषस्तन्त्रपालश्च, सुभावाद्या महाभटाः। संसारिजीवसौराज्यं, शक्तो वक्तुं विशिष्य कः ॥३३५॥
भूमिस्तत्र महाराज्ये, चित्तवृत्तिमहाटवी। पुराणि शुभ्रचित्तादीन्यस्यां राजन्ति कोटिशः ॥३३६॥
तस्यां तद्राज्यभुक्तौ च, कषायाभिधलूपकाः। घातिकर्माख्यचरटा, भ्रमन्तीन्द्रियतस्कराः ॥३३७॥
नोकषायाख्यलुण्टाका उपसर्गपरीषहाः। भुजङ्गा विलसन्त्युच्चैः, प्रमादाः पिङ्गसन्निभाः ॥३३८॥
तेषां द्वौ भ्रातरौ सर्वप्रधानौ परिकीर्तितौ। आद्यः कर्मपरिणामो, महामोहो द्वितीयकः ॥३३९॥
दर्पिष्ठौ तौ च मन्येते, भूरियं नः परेऽत्र के। कोऽयं संसारिजीवोऽस्ति, को वा चारित्रधर्मकः ॥३४०॥

स कर्मपरिणामाख्यस्ततः सिद्धो महानृपः। रजस्तमोमुखान्येष नगराणि न्यवेशयत् ॥३४१॥
अध्यापयन्महामोहं, पल्लिप्रायेषु तेषु सः। तस्य सर्वं बलं दत्त्वा, स्वयं पश्यति नाटकम् ॥३४२॥
परं संसारिजीवस्य, शक्तिमाकलयन्निव। चारित्रधर्मराजादिबलं पश्यन्निवातुलम् ॥३४३॥
तत्मात्राज्येऽपि नात्यन्तं, निरपेक्षोऽवतिष्ठते। प्रणयं दर्शयत्येषां, कुरुते चानुवर्तनम् ॥३४४॥
ततश्चारित्रधर्माद्यैर्मध्यस्थोऽयमिति श्रितः। जातः संसारिजीवस्य, प्रष्टव्यः स्वप्रयोजने ॥३४५॥
तृणवन्मन्यते सर्वं, महामोहस्तु दोर्मदात्। बलं चारित्रधर्मादेः, सर्वैकपपराक्रमः ॥३४६॥
संसारिजीवो नो वेत्ति, यावत् स्वां राज्यसम्पदम्। तावत् तद्राज्यभुक्तिं स, स्वीकृत्य हृदि माद्यति ॥३४७॥
यदा संसारिजीवस्तां, पश्यति स्वीयसम्पदम्। स्वशत्रुणा तदा सार्द्धं, महामोहेन युध्यति ॥३४८॥
जायेते चानयोर्युद्धे, मिथो जयपराजयौ। पराजयमितं दुःखं, सुखं च जयसंमितम् ॥३४९॥
संसारिजीवः प्राप्नोति, युद्धाभ्यासाद् यदाऽतुलम्। वीर्यं तदा निजं राज्यं, गृह्णाति हतशात्रवः ॥३५०॥
ततस्तस्योन्मनीभावसमाधिध्वस्तपाप्मनः। नित्यं विज्ञानमानन्दं, ब्रह्मज्योतिः प्रकाशते ॥३५१॥
सामान्यराज्यसामग्री कारणं सुखदुःखयोः। पालनापालनाज्जाता, सेयमेकाऽपि तत्त्वतः ॥३५२॥
विशेषतस्त्वनेकत्वं, राज्यस्येत्थं विभावय। यः कर्मपरिणामाख्यो, भूपतिः कीर्तितः पुरा ॥३५३॥
गुनरस्तस्य चानन्तास्तेभ्यो दत्तमनेकताम्। इदमेव महाराज्यं, याति पात्रविशेषतः ॥३५४॥

केषांचिद् दुःखहेतुस्तत्, केषांचित् सुखकारणम्। इत्थं हि भोक्तृभेदेन, भोज्यं राज्यं विभिद्यते ॥३५५॥
अप्रबुद्धोऽवदत् कर्मपरिणामसुतेष्वथ। कुर्वत्सु तेषु तद्राज्यं, किमभूत् कस्य संदिश ॥३५६॥
सिद्धान्तः प्राह तेऽनन्ताः, कियतां वक्तुमीश्महे। वृत्तान्तं तदतो विद्धि, तद्भावं व्यक्तिसंग्रहात् ॥३५७॥
षट् पुत्रास्तस्य विद्यन्ते, निकृष्टश्चाधमस्तथा। विमध्यमो मध्यमधीरुत्तमश्चोत्तमोत्तमः ॥३५८॥
राज्यानि द्रष्टुमेतेषां, वितर्कोऽनुचरस्त्वया। प्रेष्यः षट्स्वपि राज्येषु, सर्वोऽर्थो बुध्यते यथा ॥३५९॥
प्रजिघायाप्रबुद्धोऽथ, प्रमाणीकृत्य तद्वचः। वितर्क स समायातो, वर्षषट्केऽतिलङ्घिते ॥३६०॥
प्रोवाच सोऽन्तरङ्गायां, राज्यभुक्तावहं गतः। उद्घोष्यमाणः पटहः, श्रुतस्तत्र पुरादिषु ॥३६१॥
निकृष्टो वर्तते राजा, सुखं पिबत खादत। यथेष्टं स्वस्वकृत्यानि, जनाः! कुरुत निर्भयाः ॥३६२॥
तां श्रुत्वा घोषणां क्षोभं, राजाद्याः समुपागताः। मन्त्रयन्ति च कीदृक्षो, दत्तो भूपतिरेष नः ॥३६३॥
ततो जगौ महामोहं, सचिवो निर्निमित्तकः। क्षोभोऽयमागतो भाग्यादस्माकं हीदृशः प्रभुः ॥३६४॥
यो न नः पीडने शक्तो, योऽस्मन्निर्देशकारकः। अस्मत्पदातिवर्गेऽपि, भृत्यवद् यो भविष्यति ॥३६५॥
यः कर्मपरिणामेन, कुरूपो दुर्भगः कृतः। क्रूरो लोकद्वयभ्रष्टश्चतुर्वर्गार्थवर्जितः ॥३६६॥
दीनो देवगुरुद्वेषी, दोषाणामेकमास्पदम्। निर्गुणः शक्तिशून्यात्मा, सोऽस्माकं किं करिष्यति ॥३६७॥
तपस्वी नैष जानीते, स्वराज्यबलसम्पदम्। स्वरूपमपि भावेन, नाप्यस्मान् राज्यहारकान् ॥३६८॥

षट्पुरुष-
स्वरूपम्

निकृष्ट-
वृत्तान्तः।

मन्यते बन्धुभूतान् नस्तदस्मिन् हर्षकारणे । महावर्द्धनकं कर्तुं, युज्यते जनतुष्टये ॥३६९॥
अकारयद् वर्द्धनकं, महामोहोऽथ तद्गिरा । गायन्ति स्म च तद्भृत्या, विपुलानन्दपूरिताः ॥३७०॥
येनेदमीदृशं राज्यं, संप्राप्तं भूरिभूतिभृत् । अहो सोऽसदधीनोऽभूदिदं राज्यं हितं हि नः ॥३७१॥
महोत्सवो ययौ स्फातिमेवं तन्नगरादिषु । मुदिता घातिचरटाः, प्रभविष्याम इत्यलम् ॥३७२॥
हरिष्याम इति प्रीतिं, दधुरिन्द्रियतस्कराः । कषायलूपकाः स्फातिं, लूपयिष्याम इत्यधुः ॥३७३॥
नोकषायाख्यलुण्टाका, उपसर्गपरीषहाः । भुजङ्गाश्च प्रमादाख्या, पिङ्गाश्च ननृतुस्तराम् ॥३७४॥
चारित्रधर्मसैन्ये च, श्रुत्वा तां राज्यघोषणाम् । राज्ञां क्षोभो महान् जातः, सद्बोधश्चाब्रवीत् तदा ॥३७५॥
देव ! राजा निकृष्टोऽयं, राज्यनामापि वेत्ति न । द्विषां नः पक्षपात्येष, संवित्ते जातु नैव न ॥३७६॥
महामोहादिभिस्तावदेकं वित्रासिता वयम् । द्वितीयमीदृशः स्वामी, दैवो दुर्बलघातकः ॥३७७॥
उपप्लवाय तदसौ, धूमकेतुर्न उत्थितः । इदं मन्त्रिवचः श्रुत्वा, भीताः सर्वे नरेश्वराः ॥३७८॥
श्रुत्वा निकृष्टराज्यं तत्, संजाता दीनविह्वलाः । लोकाः सात्त्विकचित्तादिनगरेषु च भूरिषु ॥३७९॥
महदन्तरमुद्वीक्ष्य, सैन्ययोरथ तादृशम् । विपुलानन्दशोकाभ्यां, जातं मे कौतुकं महत् ॥३८०॥
चिन्तितं च मया प्रेक्षे, निकृष्टोऽसौ क्व तिष्ठति । यद्वा द्रक्ष्यामि राजानं, राज्यार्थं तमिहागतम् ॥३८१॥
तावत् तस्य स्वयं राज्यं, महामोहादितस्करैः । अधिष्ठितं ततस्तत्र, प्रवेष्टुं न शशाक सः ॥३८२॥

सैन्यं चारित्रधर्मस्य, जित्वा तत् तैर्वशीकृतम् । निकृष्टस्तु बहिस्तस्थौ, तैर्बाढं गलहस्तितः ॥३८३॥
अहं जनेषु बाह्येषु, तं दिदृक्षुस्ततो गतः । राज्यभ्रष्टस्तत्र दृष्टो, निकृष्टो नृपतिर्मया ॥३८४॥
पापकर्मरतः क्रूरो, मत्सरी लोकनिन्दितः । पुरुषार्थपरिभ्रष्टो, मलक्लिन्नकलेवरः ॥३८५॥
तृणकाष्ठादि विक्रीय, स लेखानयनेन वा । करोति कर्मभिर्निन्द्यैर्दुष्पूरोदरपूरणम् ॥३८६॥
ये केऽपि क्रूरकर्माणः, श्वपाकाद्याः सुदुःखिताः । तेषां रूपं भजत्येष, तथाऽप्याद्रियते द्विषः ॥३८७॥
महामोहाभिभूतेन, राज्यं दुष्पालितं त्वया । इति तस्मै नृपः कर्मपरिणामश्चकोप च ॥३८८॥
क्षिप्तो दुःखानि सहते, तेनासौ पापिपञ्जरे । इदमज्ञानजं तस्य, जातं दुःखकदम्बकम् ॥३८९॥
राज्यं वर्षे द्वितीये भूदधमस्य तथाऽखिला । डिण्डिमोद्घोषणात् सैन्यद्वये वार्ता च पूर्ववत् ॥३९०॥
अवर्णयद् गुणांस्तस्य, महामोहाय मन्त्रिराट् । ईदृगेषोऽधमः कर्मपरिणामेन निर्मितः ॥३९१॥
अर्थकामकृतासङ्गो, विद्वेषी धर्ममोक्षयोः । परलोकानपेक्षश्च, तपःशीलविदूषकः ॥३९२॥
चारित्रधर्मसैन्यस्य, द्वेष्टाऽसद्बलभक्तिमान् । तदेतस्यापि यद् राज्यं, तदस्माकं न संशयः ॥३९३॥
केवलं न प्रवेश्योऽसौ, भुक्तिदेशे यदत्र नः । प्रविष्टश्चेष्टितं विद्याद्, वीर्यमस्त्यस्य किंचन ॥३९४॥
बहिर्धर्तुं कथं शक्य इति प्रोक्ते च भूभुजा । मन्त्री प्राह विधेयोऽसौ, प्रतिबद्धोऽर्थकामयोः ॥३९५॥
इत्थं बहिर्धृतो ह्येष, नान्तर्जातु प्रवेक्ष्यति । तदाकर्ण्य महामोहस्तत्कार्ये नियुयोज तम् ॥३९६॥

तस्यास्ति मन्त्रिणः पुत्री, दृष्टिः परमयोगिनी । सा प्राह तं करोम्येषा, वशगं नः(वः) प्रसादतः ॥३९७॥
धनकामविहीनोऽपि, निकृष्टोऽधः कृतो मया । अधमस्य बहिष्कारे, तत्सक्तस्य न मे श्रमः ॥३९८॥
ततो योग्येत्यनुज्ञाता, मन्त्रिणा च महीभुजा । ययौ दृष्टिर्बहिष्कर्तुमधमं तं नरेश्वरम् ॥३९९॥
सैन्यं चारित्रधर्मस्य, तत्प्रवृत्त्या प्रकम्पितम् । राज्येऽधमस्य संजाताः, शोकाक्रन्दादयस्ततः ॥४००॥
योगिन्यथ स्थिता गत्वा, नेत्रयोरधमस्य सा । तदावेशादसौ जातो, रूपालोकनलोलुपः ॥४०१॥
लोलनेत्रः स नारीणां, विभ्रमं मुहुरीक्षते । कक्षास्तनान्तरं तासां, गुह्योरुवदनं तथा ॥४०२॥
स पश्यन्नधमो रूपं, सुधाकुण्डे निमज्जति । अद्धत्ते नाधिकं स्वर्गं, लीलाललितदृक्सुखात् ॥४०३॥
असौ दृष्ट्येत्यमाक्षिप्य, निजराज्याद् बहिष्कृतः । स्वास्थ्यादिव रुजाऽपथ्ये, नियोज्य परिदीर्घया ॥४०४॥
ततोऽस्य निजराज्यादि, ज्ञानहीनस्य तद्धृतम् । महामोहादिभी राज्यं, हतास्तदनुजीविनः ॥४०५॥
बाह्ये सुखे निमग्नोऽसौ, बाह्यदेशस्य भूपतिः । पिङ्गप्रायोऽथ संजातो, नास्तिको ज्ञानिगर्हितः ॥४०६॥
हास्य स धार्मिकं लोकं, दिनेशमिव कौशिकः । पापं च मन्यते श्लाघ्यं, संघातं तमसामिव ॥४०७॥
अन्यदा प्रेक्ष्य मातङ्गीं, युवतीं रूपशालिनीम् । तस्यामध्युपपन्नोऽभूदसावकलितायतिः ॥४०८॥
ततश्चैनं बहिश्चक्रुर्बहिरङ्गजना अपि । त्यज्यते ह्यङ्गजातोऽपि, मलवन्मलिनो जनः ॥४०९॥
राज्याद् दुष्पालितान् कर्मपरिणामेन दारुणाम् । ततो दशां निकृष्टस्य, नीतोऽसौ पापिपञ्जरे ॥४१०॥

जातो विमध्यमो राजा, वत्सरेऽथ तृतीयके। महामोहं जगौ मन्त्री, डिण्डिमोद्घोषणे श्रुते ॥४११॥
निम्नदेशे जलस्येव, गतिः सैन्येऽस्य नः सदा। चारित्रधर्मसैन्येऽपि, स्यादूर्ध्वं च प्रयोगतः ॥४१२॥
दृढादरोऽसौ सैन्ये नः, परस्य शिथिलादरः। ऐहिकार्थरतो मध्ये, परलोकमपीक्षते ॥४१३॥
सदैव प्रतिबद्धोऽसौ, भावतो धनकामयोः। कदाचिद्धर्मकार्येऽपि, भवत्यार्यमतिः परम् ॥४१४॥
भद्रकः स्तुतिकृत् प्राज्ञः, सर्वदेवतपस्विनाम्। दानशीलपरः पूतः, सच्छास्त्रार्थाविदूषकः ॥४१५॥
अस्माकं नातिहितकृत्, तदसौ देव! भूपतिः। प्रवेशनीयो नो राज्ये, धर्तव्योऽधमवद् बहिः ॥४१६॥
तथाऽस्त्विति नृपेणोक्ते, सर्वैर्दृष्टिपुरःसरैः। असौ बहिर्कृतश्चौरैस्तद्राज्यं च वशीकृतम् ॥४१७॥
नात्यन्तं पीडितः कर्मपरिणामाज्ञया पुनः। अपेक्षाऽकारि चारित्रधर्मसैन्ये च काचन ॥४१८॥
बहिर्भूतोऽप्यसौ राज्यं, पालयत्यन्तराऽन्तरा। तेन चारित्रधर्माद्या, मनाग् यान्ति प्रसन्नताम् ॥४१९॥
प्रवर्तते यथाकालं, त्रिवर्गेऽपि विभज्य सः। भवत्यधमवत् तेन, नैकान्तासुखभाजनम् ॥४२०॥
स्थिताः स्वस्वसदाचारे, ये हि सामान्यधर्मिणः। राजानो ब्राह्मणाद्याश्च, तेषां रूपं भजत्यसौ ॥४२१॥
कर्मणाऽसौ गतस्तेनोचितेन श्लाघ्यतां जने। तस्योपरि ततस्तुष्टः, स कर्मपरिणामराट् ॥४२२॥
कदाचित् पशुसंस्थाने, सुखहेतौ नयत्यमुम्। कदाचिन्मानवासे, कदाचिद् विबुधालये ॥४२३॥
तुर्ये वर्षेऽथ राजाऽभून्मध्यमो घोषणे कृते। महामोहमहीन्द्राय, सचिवोऽभिदधे गिरम् ॥४२४॥

धर्मार्थकाममोक्षेषु, राजाऽयं मततोद्यतः। तथाऽपि मन्यते मोक्षं, पारमार्थिकमर्थवित् ॥४२५॥
सक्तस्तद्धेतुधर्मे च, न प्रसक्तोऽर्थकामयोः। चिन्तयन्नपि तद्दोषांस्तद्वृत्तिः कर्मनोदनात् ॥४२६॥
जिहासुरपि नो भावबन्धनं विजहात्यसौ। धनपुत्रकलत्रादिभवपाशेन यन्त्रितः ॥४२७॥
अस्माभिर्नापराध्योऽसौ, तेन सिंहो मृगैरिव। सेव्य एव परं स्वामिन्नित्युक्त्वा विरराम सः ॥४२८॥
शुद्धं परिचिनोति स्म, सिद्धान्तमथ मध्यमः। तस्करान् पीडयामास, मनाक् चित्ताटवीगतान् ॥४२९॥
सेवका इव तस्यागन्, महामोहादयस्ततः। देशोद्देशेन राज्यं स्वं, मध्यमेनाथ लक्षितम् ॥४३०॥
मेन्ये चारित्रधर्मस्य, बन्धुभावमबुध्यत। सिद्धान्तस्यायमादेशान्मोहादीनां च चौरताम् ॥४३१॥
वीर्योल्लासात् स्वराज्यस्य, मध्यमः क्रमतस्ततः। मध्यभागे स्थितो भूमिमाक्रम्य कियतीमपि ॥४३२॥
तेन चारित्रधर्माद्या, मनागाह्लादिता नृपाः। महामोहादयश्चौराः, कृताः कम्पितमानसाः ॥४३३॥
योगिन्यपि न तस्याभूद्, दृष्टिरत्यन्तबाधिका। आत्मीयं यापयन् राज्यं, लोकेऽसौ श्लाघ्यतां गतः ॥४३४॥
स देशविरतो जातो, रतो जैनेन्द्रशासने। अन्वतिष्ठच्च स श्राद्धानुष्ठानं शुद्धलेश्यया ॥४३५॥
ततस्तुष्टिभृता कर्मपरिणामेन भूभुजा। असंख्यसुखसम्पूर्णे, नीतोऽसौ विबुधालये ॥४३६॥
चतुर्णां भूभुजां प्रेक्ष्य, तेषां चरितमीदृशम्। अहं सकौतुको जातः, पञ्चमः किं करिष्यति ॥४३७॥
तावदत्रोत्तमो राजा, महाराज्ये विजृम्भते। इति ग्रामादिषु महान्, प्रसृतो डिण्डिमध्वनिः ॥४३८॥

उत्तम-
वृत्तान्तः।

व्याकुला घोषणां श्रुत्वा, जातास्तामान्तरा नृपाः। जगौ चारित्रधर्मं च, सद्बोधः स्वस्थताकृते ॥४३९॥
अयमस्माकमत्यन्तहितकारी नराधिपः। न भेतव्यमितः स्वामिन्नयं वेत्ति निजां स्थितिम् ॥४४०॥
अस्मांश्च लक्षयत्येप, बन्धुभूतानसंशयम्। महामोहादिकान् क्रूरांस्तथा स्वपरिपन्थिनः ॥४४१॥
वर्द्धकोऽस्मद्बलस्यायं, महामोहादिनाशकः। अस्मदीयमिदं राज्यं, तदस्य परमार्थतः ॥४४२॥
प्रीताश्चारित्रधर्माद्याः, श्रुत्वा तां मन्त्रिणो गिरम्। चक्रुर्वर्धनकं लोकाः, प्रवृत्ता गातुमुच्चकैः ॥४४३॥
अहो उत्तमराज्येऽस्मिन्, परिमोपिगतिक्षतिः। भविष्यति क्रमेणेदं, सतामानन्दकारणम् ॥४४४॥
स्थितिमुत्तमराज्यस्य, तामाकर्ण्य महोदयाम्। महामोहादयो भीता, मुक्तप्राणा इव स्थिताः ॥४४५॥
अथ राज्यं समासाद्य, पितुरुत्तमभूपतिः। तदा पप्रच्छ सिद्धान्तं, सर्वां राज्यस्थितिं निजाम् ॥४४६॥
कथं तत्र प्रवेक्ष्यामि, महाराज्येऽतिदुर्गमे। चौरान् कथं हनिष्यामि, का नीतिः श्रेयसी मम ॥४४७॥
स्फोरणीयं मया स्थाने, पौरुषं कुत्र कीदृशम्। तत् सर्वं वद वेत्ताऽस्ति, सर्वोपायविधेर्भवान् ॥४४८॥
पृष्टः सन्नुत्तमेनैवं, सिद्धान्तः समभाषत। वत्स! राज्यस्य योग्योऽसि, नात्रार्थे कोऽपि संशयः ॥४४९॥
उद्दिश्य मोक्षं तनुपे, धर्मं संसारभीतिभाग्। यशः सुखं च ते तत्र, बाधकं नानुषङ्गिकम् ॥४५०॥
पित्रा राज्यं प्रदत्तं यत्, तद् ज्ञातं तत्त्वतस्त्वया। प्रवेशोपायमेनं च, तत्र विद्धि नरोत्तम! ॥४५१॥

१ -कार्येऽस्मिन् रा. ञा.।

प्रेष्टव्या गुरवः पूर्वं, राज्ये प्रविशताऽन्तरे। अध्येतव्यं तदादिष्टं, धर्मशास्त्रं प्रयत्नतः ॥४५२॥
निभाव्यस्तस्य भावार्थः, कार्या तद्विहितक्रिया। सन्तः सेव्यास्तथाऽसन्तस्त्याज्या धार्या दया हृदि ॥४५३॥
वचः सत्यं मितं वाच्यं, नादत्तं ग्राह्यमण्वपि। कामिन्यो विषवद् ज्ञेया, मोच्यः सर्वपरिग्रहः ॥४५४॥
धार्यो व्रतोचितो वेषो, विहर्तव्यमसंगिना। आहारोपधिशय्यादिशुद्ध्या कार्याऽङ्गयापना ॥४५५॥
देयो नैवावकाशश्च, निद्राऽऽलस्यादिविद्विषाम्। जातु नाभ्युपपत्तव्यं, हृद्येषु विषयेषु च ॥४५६॥
जुगुप्सनीया न पुनः, कुरूपाद्यर्थसन्ततिः। क्षालनीयः सदैवात्मा, निर्मलैर्भावनाजलैः ॥४५७॥
धार्याः समितिमन्तोपतपःस्वाध्यायमुक्तयः। तितिक्षितव्यास्त्रिविधोपसर्गाश्च परीषहाः ॥४५८॥
यतितव्यमसम्पन्नयोगेषु धृतिधीजुषा। तत्रेत्थं कुर्वतो राज्ये, प्रवेशो नृपतेर्भवेत् ॥४५९॥
तत्र राज्ये प्रवेष्टव्यं, तत् त्वयाऽप्यनया दिशा। स्वाङ्गिकश्च ग्रहीतव्योऽभ्यासनामा सहायकः ॥४६०॥
मन्याचारित्रधर्मस्य, परो वैराग्यनामकः। समेष्यति सहायस्ते, ताभ्यां सिद्धिः करे तव ॥४६१॥
ताभ्यां युक्तेन भवता, रोद्धव्याऽन्तर्द्विषां गतिः। तत्सैनिका निहन्तव्या, स्थिरीकार्या सुहृच्चमूः ॥४६२॥
पूर्वद्वारे प्रवेष्टव्यं, तत्र राज्ये त्वया ततः। सन्ति तद्ग्रामदिग्भागे, पूर्ग्रामादीनि विद्विषाम् ॥४६३॥
सुहृदां दक्षिणे भागे, चित्तवृत्तिमहाटवी। सर्वाधारा पुनस्तेषां, तदन्ते निर्वृतिः पुरी ॥४६४॥

१ द्रष्टव्या रा. जा.। २ सर्वं. परि-रा. धा।

अस्ति पश्चिमदिग्भागे, स्थिताऽतीत्य महाटवीम् । तव राज्यफलं पूर्णं, तां प्राप्तस्य भविष्यति ॥४६५॥
तस्यामेव त्वयाऽन्यत्र, गन्तव्यमविलम्बिना। औदासीन्याभिधमहाराजमार्गममुञ्चता ॥४६६॥
आयान्ति विविधास्तत्राशयस्थानजलाश्रयाः। तद्भाववारि कलुषं, न पेयं रोगवृद्धिकृत् ॥४६७॥
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैर्निर्मलीकृतम् । पेयं च तद् यथा तापः, श्रमस्तृष्णा च हीयते ॥४६८॥
नद्यायाति विवेकाद्रेर्बहुमध्येऽस्य धारणा । प्राप्तव्या शासनस्थैर्याव्याक्षेपवलतस्त्वया ॥४६९॥
तत्रोत्थास्यन्ति ये चौरा, महाव्युत्थानगर्ततः। भवता भञ्जनीयास्ते, भावनाऽशनिनाऽखिलाः ॥४७०॥
द्रक्ष्यसि प्रगुणं धर्मध्यानदण्डोलकं ततः। गन्तव्यं तेन गत्वाऽसौ, महामार्गे पतिष्यति ॥४७१॥
सबीजयोगसंज्ञाने, गच्छतस्तत्र भावि ते। प्राबल्यं धर्मसैन्यस्य, मोहप्रलयपूर्वकम् ॥४७२॥
रजस्तमोलयाच्छुभ्रा, भवित्री राज्यभूरपि। लप्स्यसेऽवहितः शुक्लध्यानदण्डोलकं ततः ॥४७३॥
विमलः केवलालोको, भावी तत् तेन गच्छतः। ततो निर्बीजयोगाख्ये, बृहन्मार्गे पतिष्यति[1] ॥४७४॥
समुद्घातः केवलिना, विधेयस्तत्र च त्वया। विषमारीन् समीकर्तुं, हन्तव्या योगराक्षसाः ॥४७५॥
स्फुटीभविष्यति ततः, शैलेशी नाम वर्तनी। निर्वृतिं नगरीं सा त्वां, प्रापयिष्यति निश्चितम् ॥४७६॥
भावी व्यतिकरस्तेऽयमौदासीन्यममुञ्चतः। सर्वोऽन्यच्च त्वया ग्राह्या, समतायोगनालिका ॥४७७॥

१ पतिष्यमि डे. ह्रा. ।

पातनीया निजा दृष्टिस्तस्यामनुभवस्ततः । सर्वार्थविषयो भावी, तेन युक्तं करिष्यसि ॥४७८॥
व्यापारः सर्वशास्त्राणां, दिक्प्रदर्शन एव हि । पारं तु प्रापयत्येकोऽनुभवो भववारिधेः ॥४७९॥
केषां न कल्पनादर्व्वी, शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी । विरलास्तद्रसास्वादविदोऽनुभवजिह्वया ॥४८०॥
पश्यतु ब्रह्म निर्द्वन्द्वं, निर्द्वन्द्वानुभवं विना । कथं लिपिमयी दृष्टिर्वाङ्मयी वा मनोमयी ॥४८१॥
ततोऽनुभवसंसिद्धेरक्षरातीतमार्गगः । अक्षरातीतपदवीं, निर्वृतिं लप्स्यसे सुखम् ॥४८२॥
तत्रान्तरङ्गराज्यस्य, फलभोक्ता भविष्यसि । सर्वकर्मोज्झितः सिद्धः, सिद्धानन्तचतुष्टयः ॥४८३॥
राज्यप्रवेशादारम्य, वर्धमाना विभूतयः । भविष्यन्ति न कर्तव्यस्तासु सङ्गस्त्वयाऽनघ ! ॥४८४॥
पाल्याश्चारित्रधर्माद्याः, स्मर्तव्यं वचनं मम । पदं क्रमेण दातव्यं, नौत्सुक्येन विना क्रमम् ॥४८५॥
एवं ते भाविनी सिद्धिर्गच्छ राज्यं कुरुष्व तत् । परिश्रमो मे सफलः, प्राप्ते राज्यफले त्वया ॥४८६॥
यथा सिद्धान्तवचनमन्वतिष्ठदथोत्तमः । निघ्नन् मोहचमूं सर्वां, स्वराज्ये प्रविवेश च ॥४८७॥
औदासिन्याभिधं मार्गममुञ्चन्निर्वृतिं पुरीम् । गत्वा भुङ्क्ते स राज्यं स्वं, शक्रचक्रधरस्तुतः ॥४८८॥
चित्तवृत्तिमहाराज्यमेवमुत्तमभूभुजा । यत् कर्मपरिणामेन, प्रदत्तं तत् सुपालितम् ॥४८९॥
ततस्तमपि जित्वाऽसौ, संप्राप्तो निर्वृतिं पुरीम् । स्वार्थमात्रप्रसक्तानां, स्नेहो न प्रतिबन्धकः ॥४९०॥
अथोत्तमोत्तमो राज्ये, पष्ठवर्षे नियोजितः । विहितं घोषणं देशे, डिण्डिमेन यथाक्रमम् ॥४९१॥

उत्तमोत्तम-
वृत्तान्तः ।

महामोहादयश्चौरास्ततो जाता मृता इव । चारित्रधर्मसैन्यं च, पर्यालोचे दधौ मुदम् ॥४९२॥
महावर्धनकं जातं, तद्देशेषु च भूरिषु । उत्तमस्येव सम्पन्नो, वृत्तान्तोऽस्यापि चाखिलः ॥४९३॥
केवलं तेन नो पृष्टः, सिद्धान्तो राज्यसाधनम् । सर्वा राज्यस्थितिस्तस्य, विदिता स्वत एव हि ॥४९४॥
सौराज्यभाजा तेनोक्तः, सिद्धान्तो गणधारिणाम् । उपकारीति तैरङ्गोपाङ्गरूपेण निर्मितः ॥४९५॥
अस्योपदेशः सिद्धान्तस्तेनायं नोपदेशकः । येनाध्वना स्वयं याति, तमेवोपदिशत्यसौ ॥४९६॥
तं मार्गदेशकं सर्वे, सेवन्ते नृसुरासुराः । अतिशेतेऽस्य बाह्याऽपि, समृद्धिर्विश्वसम्पदम् ॥४९७॥
सौवर्णो राजतो रात्नश्चेत्येते तस्य निर्मलाः । भान्ति क्रीडाद्रयः सालास्त्रैलोक्यप्रभुताश्रियाम् ॥४९८॥
अशोकपादपो भाति, पुरस्तस्य स्फुरद्द्युतिः । उद्गिरन् सन्ततं रागं, हृन्निवेशः सतामिव ॥४९९॥
पुष्पवृष्टिः पतत्युच्चैः, पुरस्तस्य प्रसारिणी । तारालिरिव तद्वक्त्रचन्द्राराधनहेतवे ॥५००॥
व्याप्नोति तद्ध्वनिर्दिव्यो, भुवं योजनसम्मिताम् । विश्वरागजयोद्भूतविख्यातिस्फातिभागिव ॥५०१॥
राजते चामरश्रेणी, तस्य विस्तारितेजसः । प्लवमाना प्रभापूरे, हंसालिरिव निर्मला ॥५०२॥
सिंहासनानि राजन्ते, चत्वारि चतुराकृतेः ! प्रभोः कषायसिंहानां, चतुर्णां दर्पहारिणः ॥५०३॥
मूर्ध्नि भामण्डलं तस्य, ध्वस्तध्वान्तं विराजते । उदयाद्रौ प्रचण्डस्य, मार्तण्डस्येव मण्डलम् ॥५०४॥
पुरस्तस्य ध्वनन् व्योम्नि, दुन्दुभिर्दैवताडितः । विधत्ते विश्वधर्मार्थिजनाह्वायकचेष्टितम् ॥५०५॥

तस्य च्छत्रत्रयं भाति, तापत्रयनिवारणात् । कीर्त्तित्रयमिवोद्भूतं विश्वत्रयहितैषिणः ॥५०६॥
प्रातिहार्यैरहार्यश्रीरसावित्येवमादिभिः । विभ्राजते महाभागः, श्रेयःसागरचन्द्रमाः ॥५०७॥
निःस्वेदो निर्मलो देहस्तस्य हृद्यो निरामयः । रक्तं मांसं च गोक्षीरहारतारकसन्निभम् ॥५०८॥
न दृश्याऽऽहारनिर्हारचेष्टा चर्मदृशां नृणाम् । अम्भोजसुरभिः श्वासः, सहजेयं गुणावली ॥५०९॥
कोटीकोट्योऽपि मान्त्यस्य, क्षेत्रे योजनमात्रके । भाषा च भाति सर्वेषामेकाऽपि स्वस्वभाषया ॥५१०॥
भाति भामण्डलं मूर्ध्नि, मारिवैररुगीतयः । पूर्वोत्पन्नाः प्रशाम्यन्ति, नान्याः स्युस्तत्प्रभावतः ॥५११॥
योजनानां शते न स्याद्, दुर्भिक्षं तद्विहारतः । स्तेनादिभीरवृष्टिश्चातिवृष्टिश्च कदाचन ॥५१२॥
मोहक्षयोद्भवा एते, गुणास्तस्येन्दुनिर्मलाः । चारुरेप ध्वजच्छत्रसचक्रासनचामरैः ॥५१३॥
दधते काञ्चनाब्जानि, पदन्यासेऽस्य निर्जराः । वप्रत्रयेऽशोकतले, शोभतेऽसौ चतुर्मुखः ॥५१४॥
अधोमुखाः कण्टकाः स्युस्तस्मिन् विहरति क्षितौ । द्रुमा नमन्ति तस्याग्रे, दुन्दुभिर्दध्वनीति च ॥५१५॥
भवत्यवस्थितं तस्य, केशरोमनखादिकम् । ऋतवश्चेन्द्रियार्थाश्चानुकूलास्तस्य सर्वदा ॥५१६॥
भूमिर्गन्धोदकैः सिक्ता, पुष्पवृष्टिश्च जायते । पक्षिणोऽपि च कुर्वन्ति, तद्विहारे प्रदक्षिणाम् ॥५१७॥
वाति वातः सदा तस्यानुकूलो याति जातुचित् । देवकोटिर्न तत्पार्श्वादेते देवकृता गुणाः ॥५१८॥

१ पादन्यासे डे. शा ।

इत्युत्तमोत्तमस्येयं, भूतिर्वाग्गोचरातिगा। इमामनुभवन्नेष, नृपोऽगान्निर्वृतिं पुरीम् ॥५१९॥
त्वदादेशं विधायेत्थं, राज्यषट्कनिरीक्षणात्। आगतोऽहं त्वदभ्यर्णे, यथा दृष्टं च भाषितम् ॥५२०॥
वितर्कवाचं श्रुत्वैतामप्रबुद्धो व्यचिन्तयत्। सिद्धान्तेन यथोक्तं मे, तथैवेदमभूदहो ॥५२१॥
पालनापालनाद् राज्यं, कारणं सुखदुःखयोः। तेनोक्तं तद् वितर्केणापीत्थमेव समर्थितम् ॥५२२॥
निकृष्टाधमयोर्जातं, दुःखस्यैवैककारणम्। तद्राज्यं सर्वथा तेन, ताभ्यां दुष्पालितं कृतम् ॥५२३॥
विमध्यमस्य सम्पन्नं, तत् स्वल्पसुखकारणम्। बहिर्भूतेन तेनेदं, यत् कृतं मन्दपालितम् ॥५२४॥
मध्यमस्य पुनर्जातं, तद्भूरिसुखकारणम्। प्रविश्य तेन यदिदं, पालितं मध्यमादरात् ॥५२५॥
द्वयोश्चरमयोर्जातं, निःशेषसुखकारणम्। तद्राज्यं पालितं येन, ताभ्यां सर्वोचितादरात् ॥५२६॥
राज्यषट्कमिदं ज्ञात्वा, सर्वं ज्ञातं मया किल। ईदृग्विवर्तभृद् विश्वं, तथा चाहुर्मनीषिणः ॥५२७॥
येन संवत्सरो दृष्टः, सकृत् कामश्च सेवितः। तेन सर्वमिदं दृष्टं, पुनरावर्तकं जगत् ॥५२८॥
ततो जातः प्रबुद्धोऽसौ, नष्टा सर्वाऽप्रबुद्धता। इदं प्रसंगतः प्रोक्तं, मया तुभ्यं नरेश्वर! ॥५२९॥
कथं दोषोऽन्यदोषेण, स्यादिति प्रस्तुतं पुनः। निकृष्टाधमवत् तत्र, निश्चेयो दोषसंक्रमः ॥५३०॥
यथा मोहादिभिश्चौरैस्तौ[2] दृष्ट्या च प्रपीडितौ। तथाऽसौ मित्रदोषेण, पीड्यते धनशेखरः ॥५३१॥

१ –र्वाग्गौरवातिगा रा. ज्ञा. । २ तौ=निकृष्टाधमौ ।

हरिराह महासाधो !, नष्टोऽयं मम संशयः। गतेषु तेषु भूपेषु, पट्सु किं भावि तद् वद ॥५३२॥
सूरिराह महाराज !, ये केऽपि भुवि देहिनः। ते कर्मपरिणामस्य, पुत्राः सर्वेऽपि तत्त्वतः ॥५३३॥
आवर्तमानैस्तैः सर्वैः, षड्भेदान्तर्भविष्णुभिः। सा स्थितिः पाल्यतेऽन्यान्यैर्निर्लेपश्च न जायते ॥५३४॥
तिष्ठन्त्यन्ये सुतास्तस्य, विद्धि मामेव तत्सुतम्। स्वराज्ये यः प्रविष्टोऽहं, सिद्धान्तोक्तेन वर्त्मना ॥५३५॥
हतारिवर्गश्चारित्रसैन्यस्य परिपोषकः। भुञ्जानो राज्यमायातः, ख्यातकीर्तिरिहोत्तमः ॥५३६॥
स्वसंवेदनसिद्धं मे, यद् राज्ये परमं सुखम्। स्वप्नेऽपि नास्ति तद् राजन् ! शक्रचक्रभृतामपि ॥५३७॥
यथाऽहमुत्तमः कर्मपरिणामस्य नन्दनः। निकृष्टाद्यास्तथान्येऽपि, सन्त्यनन्ताः प्रवाहगाः ॥५३८॥
हरिर्जगाद यद्येवं, तदाऽहं तेषु कीदृशः। सूरिः प्राह नरेन्द्र ! त्वं, मध्यमः प्रतिभासि मे ॥५३९॥
त्रिवर्गमाराधयसि, यद् विभज्य दिवाऽनिशम्। इदं मध्यमराज्यस्य, लक्षणं च प्रकीर्तितम् ॥५४०
हरिर्मोहरिपुध्वंसहरिमाह ततो गुरुम्। अलं मध्यमराज्येन, ममानेनागरियसा ॥५४१॥
आत्मीयमुत्तमं राज्यं, भदन्त ! मम दाप्यताम्। सूरिराह महाराज, त्वया चारु विचारितम् ॥५४२॥
महान्तो नैव तुष्यन्ति, स्वल्पेन विपुलाशयाः। मृगवत् किं मृगारातिस्तृणग्रासेन तृप्यति ॥५४३॥
आपातरम्यं तुच्छं च, त्यजन् वैषयिकं सुखम्। मुक्तावुत्तिष्ठते भव्यो, भवं स्वप्नोपमं विदन् ॥५४४॥
यदि त्वमौत्तमं राज्यमादातुमभिकाङ्क्षसि। तदा भागवतीं दीक्षां, गृहाण भवनाशिनीम् ॥५४५॥

हरेः प्रव्रज्या।

इदं सूरेर्वचः श्रुत्वा हृष्टो हरिनरेश्वरः। पुत्रं शार्दूलनामानं, राज्ये संस्थाप्य चारुधीः ॥५४६॥
दिनान्यष्ट जिनेन्द्राणां, कृत्वा पूजामहोत्सवम्। दत्त्वा दानं तथाऽर्थिभ्यो, गुरून् सत्कृत्य भावतः ॥५४७॥
समं मयूरमञ्जर्याऽनेकैश्च नृपपुंगवैः। तस्योत्तमगुरोः पार्श्वे, निष्क्रान्तः शान्तशात्रवः ॥५४८॥
ततः प्राप्यौत्तमं राज्यं, विज्ञानानन्दमेदुरः। विजहार महोदारमानसः पृथिवीतले ॥५४९॥
राज्ये परिणते तस्य, पर्यायात् समवर्धत। शुक्रस्य शुक्लजात्यस्य, स्वभावजनितं सुखम् ॥५५०॥
इतश्च मैथुनेनाहं, सागरेण च नाटितः। भ्रान्तो भूरिषु देशेषु, सोढवान् क्लेशसन्ततिम् ॥५५१॥
अथान्यदा महारण्ये, पतितोऽत्यन्तभीषणे। स्वेदक्लिन्नतनुः श्रान्तः, स्थितो बिल्वद्रुमान्तिके ॥५५२॥
प्ररोहं भूमिगं दृष्ट्वा, तच्छाखानिर्गतं ततः। ज्ञात्वा निधानं तद्भूमिः, खाता लुब्धधिया मया ॥५५३॥
ततो दृष्ट्वा महाकुम्भमुद्धर्तुं रत्नपूरितम्। अधोगतं भाग्यमिव, प्रवृत्तः सागराज्ञया ॥५५४॥
स्फोटयन्निव दिग्भागांस्तावद् भीषणनादतः। कालः करालवदनः, क्रोधज्वलितलोचनः ॥५५५॥
अभाग्येन समाहूतः, कृतान्त इव मूर्तिमान्। उद्भूतस्तत्र वेतालो, दीर्घदंष्ट्रः सुदारुणः ॥५५६॥
तेनाहमारटन्नुच्चैः, क्षिप्त्वा वदनकोटरे। पातितोऽत्रान्तरे जीर्णा, गुटिका मे पुरातनी ॥५५७॥
ततस्तामपरां दत्त्वा, भवितव्यतया तया। नीतः पापिष्ठवासायां, पुर्यां सप्तमपाटके ॥५५८॥
तत्रानुभूय दुःखानि, सर्वस्थानेष्वनन्तशः। भ्रान्तोऽनन्तं पुनः कालमन्यान्यगुटिकाबलात् ॥५५९॥

धनशेखरस्य मृत्युर्भवभ्रमणं च।

प्रोक्तोऽहं कृतगत्कर्मा, भवितव्यतयाऽन्यदा। आर्यपुत्र ! त्वया स्थेयं, गत्वा साह्लादपत्तने ॥५६०॥
तथेत्युक्तवतो दत्तस्तया पुण्योदयः सखा। गुटिका च ममान्याऽथ, प्रस्थितोऽहं वरानने ! ॥५६१॥
इति मैथुनलोभदुष्टदृक्-फलधारामवधृत्य कृत्यवित्। विरतौ स्थिरतामुपैति यो, लभतेऽसौ सुयशःश्रियं शुचिम् ॥५६२॥

इति श्रीवैराग्यकल्पलतायां लोभमैथुनचक्षुरिन्द्रियविपाकवर्णनो नाम सप्तम स्तबक. ॥

अष्टमः स्तबकः।

अथास्ति नाम्ना साह्लादं, पुरं शक्रपुरोपमम्। महारत्नमयोत्तुङ्गसौधकान्तिमनोहरम् ॥१॥
तत्रोल्लासितभूमित्रमयूरानन्दकारकः। नाम्ना च परिणामेन, जीमूतो राजते नृपः ॥२॥
अस्ति तस्य महादेवी, लीला लीलेव मूर्तिभृत्। तस्याः कुक्षावहं, नीतो, भवितव्यतया तया ॥३॥ संसारिजीवस्य घनवाहनतयोत्पत्तिः।
पूर्णे काले प्रसूतोऽहं, माता तोषमुपागता। तया तदैव जातोऽपि, दृष्टः पुण्योदयस्तु न ॥४॥
सुतजन्म प्रियंकर्या, जीमूताय निवेदितम्। दत्तं तेन महादानं, कारितं वन्दिमोचनम् ॥५॥
आनन्दपूर्णचित्तेन, समयेऽथ ममोचिते। घनवाहन इत्युच्चैर्नाम पित्रा प्रतिष्ठितम् ॥६॥
इतश्चास्ति लघुर्भ्राता, जीमूतस्य महीपतेः। नीरदाख्यो महादेवी, पद्माऽऽख्या तस्य विश्रुता ॥७॥

मज्जन्मावसरे साऽपि, पूतं प्रासूत दारकम्। अकलङ्क इति व्यक्तं, नाम तस्य प्रतिष्ठितम् ॥८॥
बाल्ये धूल्यादिना सार्धं, क्रीडितावविवियोगिनौ। प्रवृद्धौ सुखसन्दोहैरहं च स च लालितौ ॥९॥
मैत्री तेनाकलङ्केन, कौमारेऽजनि मे सह। कदापि न पृथग् भूतं तया स्यूतं मनो द्वयोः ॥१०॥
अधीतवन्तावेकस्मादाचार्यात् सकलाः कलाः। क्रमेण यौवनं प्राप्तावुभौ मदनकाननम् ॥११॥
स चाकलङ्को बाल्येऽपि, कौमारेऽपि च यौवने। न निन्द्यचेष्टितैः स्पृष्टः, केसरीव श्लक्ष्णैः ॥१२॥
शान्तो विनीतः पुण्यात्मा, सत्यगीर्देवपूजकः। स्थिरस्तनुकषायश्च, प्रकृत्या स्वच्छमानसः ॥१३॥
सोऽज्ञातपरमार्थोऽपि, तत्त्वज्ञानीव भासते। जात्यस्याघटितस्यापि रत्नस्य श्रीः परैव हि ॥१४॥
जातः सुसाधुसम्पर्काद्, दक्षोऽथासौ जिनागमे। प्रज्ञापनीयः श्रद्धावान्, शुद्धमार्गानुसारिधीः ॥१५॥
स्नेहं मयि न तत्याज, सोऽकलङ्कस्तथाऽपि हि। प्राप्तश्रीरपि मेघोऽब्धेः, केकिमैत्रीं जहाति किम् ॥१६॥
अन्योन्यस्नेहमधुरैः, स वैदग्ध्याविजृम्भितैः। कृतस्मरमधुव्रीडां, क्रीडां सह मयाऽकरोत् ॥१७॥
मयोद्यानेऽन्यदा नीतो, लीलार्थं बुधनन्दने। ममोपरोधात् तत्रासौ, क्रीडित्वा प्रहरद्वयम् ॥१८॥
मध्याह्ने प्रस्थितो गन्तुं, गृहमुक्तं मया तदा। क्षणं विश्रम्य यास्यावो, वयस्यात्र वनान्तरे ॥१९॥
अकलङ्को वचः श्रुत्वा, तन्मदीयमुदारधीः। उद्यानभागमध्यस्थमविशज्जिनमन्दिरम् ॥२०॥

१ प्रवृत्तौ रा. ङ्गा.

अकलङ्केन समं मैत्री।

तत्रार्हन्तमभिष्टूय, पुराणं पुरुषोत्तमम् । तेन दृष्टा मया सार्धं, निर्गतेन सुसाधवः ॥२१॥
ते च तत्राष्टमीं मत्वा, समायाता उपोषिताः । नत्वाऽर्हन्तं बहिः सूत्रं, गणयन्तः पृथक् पृथक् ॥२२॥
निर्मलच्छवयो दीप्ताः, स्थिरा दूरे स्थिता मिथः । रात्रा दीपा इव बहिर्द्वीपेन्दव इवाथवा ॥२३॥
अकलङ्कस्ततः प्राह, कुमार घनवाहन ! । पश्येमे मुनयः सूर्या, इव तेजोविराजिताः ॥२४॥
मन्मथा इव रूपेण, गाम्भीर्येणेव सागराः । स्थैर्येणव मेरव इव, श्रिया कल्पद्रुमा इव ॥२५॥
अदृष्टसृष्टिवैषम्यापवादापनिनीषया । एकरूपाः कृता एते, धात्रा किं शक्तिपाटवात् ॥२६॥
एषां लावण्यपुञ्जानां, राज्योचितमहोभृताम् । को दीक्षाग्रहणे हेतुरिति मे हृदि कौतुकम् ॥२७॥
तदेहि तावत् पृच्छावः, प्रत्येकं मुनिपुङ्गवान् । अमून् किं कस्य वैराग्ये, कारणं समभूदिति ॥२८॥
मयेत्यगस्त्वति प्रोक्ते, पार्श्वमेकमुनेर्गतौ । अकलङ्केन पृष्टोऽसौ, किं ते वैराग्यकारणम् ॥२९॥
मुनिः प्राह शृणु ग्रामे, वास्तव्योऽहं कुटुम्बिकः । लोकोदरे तत्र निशि, प्रदीपनकमुत्थितम् ॥३०॥
प्रासर्प महाधूमो, ज्वालाजालमवर्द्धत । वंशस्फोटरवः सर्वैः, श्रुतो लोकाः समुत्थिताः ॥३१॥
रुदन्ति डिम्भरूपाणि, नार्यो धावन्ति विह्वलाः । रटन्त्यन्धाः कलकले, जाते क्रोशन्ति पङ्गवः ॥३२॥
पिङ्गाः किलकिलायन्ते, मुष्णन्ति परिमोषिणः । सर्वस्वाणि(नि) च दह्यन्ते, शोचन्ति कृपणा भृशम् ॥३३॥
अमातापितृकं सर्वं, संजातमसमञ्जसम् । कश्चित् प्रदीपने तत्र, विबुद्धो मन्त्रविन्महान् ॥३४॥

अकलङ्कस्य सुसाधूनां दर्शनं प्रत्येकं वैराग्य-कारण-पृच्छा च ।

संसारस्य जीर्णगृहोपमा ।

उत्थाय ग्राममध्यस्थे, स च गोचन्द्रके स्थितः। तेनात्मकवचं कृत्वा, रेखयाऽकारि मण्डलम् ॥३५॥
शब्देन तेन महताऽऽहूता ग्रामेयका जनाः। मण्डले मे प्रविशत, यूयमागच्छतात्र भोः ॥३६॥
न सर्वस्वाणि(नि) चाङ्गानि, दह्यन्ते भवतां यथा। तच्छ्रुत्वा प्राविशंस्तत्र, लोकाः स्वल्पतमाः किल ॥३७॥
ग्रहिला इव शेषास्तु, प्रदीपनकृतस्ततः। दह्यमानेषु गेहेषु, तृणकाष्ठादि चिक्षिपुः ॥३८॥
तस्य विध्यापनं कर्तुमीषुर्घृतभृतैर्घटैः। मण्डलस्था जगुर्वह्निशमोपायोऽस्य नैष वः(च) ॥३९॥
जलेन विध्यापयत, वह्निं प्रविशतात्र च। मण्डले यूयमस्माकमिव स्याद् वो यथा सुखम् ॥४०॥
तत् तेषां न वचः केचित्, कर्णे नाकर्णयन्त्यपि। केचिद्धसन्ति निन्दन्ति, केऽपि रुष्यन्ति केचन ॥४१॥
मण्डलस्थास्ततो लोकास्तस्थुर्मौनावलम्बिनः। कैश्चित्तु वचनं तेषामादृतं पुण्यभाजनैः ॥४२॥
ममापि प्रतिभातं तद्, भवितव्यतया वचः। प्रविष्टो द्रुतमुत्प्लुत्य, ततोऽहं तत्र मण्डले ॥४३॥
ते ग्रामीणा मया दृष्टाः, प्राप्य प्रबलमारुतम्। प्रदीपनेन दीप्तेन, दह्यमाना हताशयाः ॥४४॥
मण्डलस्थेषु लोकेषु, प्रव्रजत्सु कियत्स्वथ। अहं प्रव्रजितो भद्र !, वैराग्ये हेतुरेष मे ॥४५॥
इमां मुनेर्गिरं श्रुत्वाऽकलङ्को मुदितो हृदि। चलितोऽन्यमुनेः पार्श्वे, न बुद्धोऽर्थो मया परम् ॥४६॥
अकलङ्को मया पृष्टस्ततः किमयमाह ते। कं भावमाकलय्य त्वं, हृष्टोऽस्यथ जगाद सः ॥४७॥
योऽयं लोकोदरो ग्रामः, स्ववासार्हो निवेदितः। मुनिना विद्धि संसारं, तं मित्र घनवाहन ! ॥४८॥

रात्रिस्तत्र सदाऽविद्या, लग्नं तस्यां प्रदीपनम् । रागद्वेषाग्निना धूमस्तामसो भाव उत्थितः ॥४९॥
ज्वालौघो राजसो भावो, वंशस्फोटरवोपमाः । कलहास्तत्र भावाग्नेरुत्तिष्ठन्ति च जन्तवः ॥५०॥
रुदन्ति डिम्भरूपागाः, कषाया हृदयग्रहाः । अशुद्धलेश्या संज्ञाश्च, नार्यो धावन्ति विह्वलाः ॥५१॥
भवकोलाहले मूर्गा, रटन्त्यन्धा इवातुराः । ज्ञानिनोऽपि क्रियाशून्या, जनाः क्रोशन्ति पङ्गवः ॥५२॥
उच्चैः किलकिलायन्ते, नास्तिकाः पिङ्गसन्निभाः । मुष्णन्तीन्द्रियचौराश्च, धर्मसर्वस्वमङ्गिनाम् ॥५३॥
रागाग्निना च दह्यन्ते, सर्वस्वानि शरीरिणाम् । किं कुर्म इति शोचन्ति, तद् दृष्ट्वा कृपणाः परे ॥५४॥
भवप्रदीपनं रौद्रं, वर्णितं मुनिनेदृशम् । अमातापितृकं चैतदुक्तं त्रातुरभावतः ॥५५॥
निबुद्धो मन्त्रवित् तत्र, सर्वज्ञः परमेश्वरः । तेन चोत्थाय विहितं, विशालं तीर्थमण्डलम् ॥५६॥
गोचन्द्रकाकृतौ तच्च, मध्यलोके प्रकाशितम् । धृत्वा धर्मात्मकवचं, सूत्रमन्त्रस्य रेखया ॥५७॥
तेन देशनयाऽऽह्वानं, समुत्साह्याङ्गिनां कृतम् । प्राविशन्मण्डले स्तोका, भवस्थानन्तभागगाः ॥५८॥
कुर्वन्त्यन्ये च नार्यादिपाशस्था धनसंचयम् । क्षेपोऽयं तृणकाष्ठादेर्ज्ञेयो जन्मप्रदीपने ॥५९॥
क्षेपोऽत्र घृतकुम्भानां, कषायोद्दीपनं मुहुः । तिष्ठन्ति वारितास्ते च, न मूढा मण्डलस्थितैः ॥६०॥
शमाम्बुना न कुर्वन्ति, शान्तिं न प्रविशन्ति च । मण्डले नैव शृण्वन्ति हितं हासादि कुर्वते ॥६१॥

१ धूमरूपा रा. पा.

केचिदेव प्रबुध्यन्ते, यथाऽसौ बुद्धिमान् मुनिः। प्रतिबुद्धो गिरा तेषां, प्रविष्टस्तीर्थमण्डले ॥६२॥
दृष्टाश्चानेन ते लोकाः, संसारग्रामवासिनः। रागद्वेषाग्निनाऽत्यन्तं, दह्यमानाः प्रसर्पता ॥६३॥
अशुद्धभावपवनप्रेरितोऽसौ महानलः। दहत्यतिभरीभूतो, जीवान् ग्रामेयकानिव ॥६४॥
दृष्ट्वाऽसौ तांस्तथाभूतान् , भीतो यत् प्राव्रजद् भवात्। तत् तीर्थमुख्यसाधुत्वं, शिश्रायेति विनिश्चिनु ॥६५॥
मुनिमध्यस्थितश्चैष, न संसारप्रदीपने। दह्यते धर्ममेघेन, विध्यापयति तत् परम् ॥६६॥
प्रदीपनकमुद्दिष्टं, तदिदं मुनिनाऽऽवयोः। प्रतिबोधाय तद्भावबोधात् प्रीतिमहं गतः ॥६७॥
भावश्चायं मुनेरत्र, युवयोर्दह्यमानयोः। प्रदीपने ध्रुवं युक्तः, प्रवेशस्तीर्थमण्डले ॥६८॥
भावोऽयं रोचते मह्यं, तुभ्यं किं रोचते न वा। इति श्रुत्वाऽकलङ्कस्य, वचोऽहं मौनमास्थितः ॥६९॥
द्वितीयस्य मुनेः पार्श्वमकलङ्को मया सह। गत्वा नत्वाऽथ तं भक्त्याऽपृच्छद् वैराग्यकारणम् ॥७०॥
स प्राह गृहवासो मे, वैराग्यायानघाभवत्। तथाहि गृहमेकत्र, ग्रामे जीर्णमभून्मम ॥७१॥
निशि चौराः समागत्य, खनन्ति तदनारतम्। मुष्णन्ति यदि पश्यन्ति, धनं क्वचन किंचन ॥७२॥
क्रूराः पतन्ति मार्जारास्तत्र निर्यान्ति पन्नगाः। वृश्चिकाः संचरन्त्युच्चैर्दुःखयन्ति च मूषकाः ॥७३॥
भग्नाऽभूत् तत्र शय्या मे, वासः शटितमेव च। चौरैर्मुषितवित्तस्य, प्राणवृत्तिश्च भिक्षया ॥७४॥
कुरूपा दन्तुरा काणा नित्यं कलहकारिणी। भार्या च बह्वपत्यानां, जनयित्री ममाभवत् ॥७५॥

संसारस्य
प्रदीपन-
कोपमा।
॥१६७॥

मलमूत्रैरपत्यानां, नासावशुचि लिम्पति । गृहं तनोति नातिथ्यमतिथेरागतस्य च ॥७६॥
पुञ्जं च तृणधूलीनां, गृहान्नापनयत्यसौ । तमोमय्यां न शर्वर्यां, दीपमुद्दीपयत्यपि ॥७७॥
गृहपार्श्वे ममाभूवंश्चाण्डालाः प्रातिवेश्मिकाः । व्याधाश्च मैनिका म्लेच्छा, मद्यपाश्च सहस्रशः ॥७८॥
अस्थिभित्तद्विनिक्षिप्तैरन्यैश्चाशुचिसंचयैः । नाभूद् गृहविभागो मे, तद्गृहेभ्यः कदाचन ॥७९॥
मर्त्योऽपि मादृशः प्रायस्तद्ग्रामस्थो जनो यतः । तन्न केनाप्यहं तत्र, निषिद्धो नापि निन्दितः ॥८०॥
दुरवस्थां गतस्यापि तादृशीं कुरुते रतिम् । विड् गर्ताशूकरस्येव, गृहवासः स मे सदा ॥८१॥
गृहस्थानन्यदाऽद्राक्षमेकत्राहं गतः पुरे । महासौधस्थितान् पूतांस्तैरहं प्रतिबोधितः ॥८२॥
तद्ग्रामगृहवासस्य, स्वरूपं तैर्निवेदितम् । संहृता मोहमाया च स्वतुल्यस्तैरहं कृतः ॥८३॥
ततः कुर्वे कृपां दृष्ट्वा, तद्ग्रामगृहवासिनः । तदयं गृहवासो मे, जातो वैराग्यकारणम् ॥८४॥
तदाकर्ण्य प्रवृत्तोहो, जातिस्मृतिमवाप्नुवन् । अकलङ्कः स्मृताभ्यस्तश्रुतो भावमलक्षयत् ॥८५॥
तं नत्वा चलितः सोऽथ, तृतीयमुनिसम्मुखम् । किमनेनोक्तमित्युच्चैर्मया पृष्टो जगाविदम् ॥८६॥
ग्रामो भवभ्रमाहाख्यः, प्रोक्तोऽनेन महात्मना । गृहं चानादिचैतन्यं, जीर्णं पर्यायहानितः ॥८७॥
खनन्ति तदविद्यायां, रात्रौ विषयतस्कराः । मुष्णन्ति शुभसंकल्पं, धनं पश्यन्ति ते यदि ॥८८॥
पतन्तीन्द्रियमार्जाराः, शममूषकभक्षिणः । मदानामुदयस्तत्र, व्यालनिर्गमसन्निभः ॥८९॥

वृश्चिकानां च संचारो, दैन्योद्दीपनलक्षणः। संकल्पा मूषका ध्यानसारग्रन्थिच्छिदाऽर्तिदाः ॥९०॥
भङ्गश्च सुखशय्यायास्तत्र दुःखप्रहारतः। वसतस्तत्र तुच्छाशावासः शटितमिष्यते ॥९१॥
भिक्षया प्राणवृत्तिश्च, वासवादेरपीष्यते। भवस्थस्य पराधीनपुद्गलादानलक्षणा ॥९२॥
भार्या च ममतादोषदन्तोच्चत्वेन दन्तुरा। परलोकेक्षणाभावात् काणा कार्ष्ण्यात् कुरूपिणी ॥९३॥
कुरुतेऽसावभिमतालाभेन कलहं सदा। सूतेऽनन्तान्यपत्यानि, रागादीनि पुनः पुनः ॥९४॥
विकारैर्मृदुतीव्रैश्च, तन्मूत्रमलसन्निभैः। सन्तोषगोमयरसैर्गृहं नाशुचि लिम्पति ॥९५॥
अतिथेः कुलधर्मादिप्रसंगादागतस्य सा। आतिथेयीं वितनुते, न नाम परमात्मनः ॥९६॥
स्वचैतन्यगृहात् कर्मफलसंवित्तिलक्षणम्[1]। नोत्सारयति सा हन्त, तृणधूलिकदम्बकम् ॥९७॥
सत्सङ्गाख्यमविद्यायां, रात्रौ दीपं तनोति न। भार्यारूपेण तदसौ, संपन्ना गृहभङ्गकृत् ॥९८॥
अनेन घातिकर्माणि, चाण्डालाः प्रातिवेश्मिकाः। खलसंगा मता व्याधा, गुणौघमृगघातिनः ॥९९॥
मैनिका मूर्खतोन्मादा, मेधामीननिबर्हणाः। मिथ्यात्वसंचया म्लेच्छा, भाषादेशार्यताभिदः ॥१००॥
मद्यपाः कुमनोरूपा, व्यत्यासमदघूर्णिताः। अविवेकास्थिविक्षेपाशुचीनि प्रक्षिपन्ति ते ॥१०१॥
ततोऽस्य गृहपार्थक्यं, न सतां लक्ष्यतां गतम्। न निन्द्यतां च तादृक्षसर्वतद्ग्रामवासिनाम् ॥१०२॥

१ कर्मचेतनाफलचेतनालक्षणम्। रागादिरूपतया चेतनायाः परिणतिः कर्मचेतना, सुखदुःखरूपतया परिणतिः फलचेतना।

अन्यदा च महात्माऽसौ, पुरे जैनाभिधे गतः । तत्र सत्साधवो दृष्टाः, समताभार्यया युताः ॥१०३॥
स्थिता ज्ञानमहासौधे, भावरत्नकृते नवे । तेजस्विनो महावीर्याः, सर्वदोषविवर्जिताः ॥१०४॥
युताः सत्यादिभिः पुत्रैः, शोभनप्रातिवेश्मिकाः । तात्त्विकीं श्रेयसां भूमिं, कलयन्तो गृहस्थताम् ॥१०५॥
तैः सम्यक्त्वौषधीं दत्त्वा, मोहमायाऽस्य संहृता । उद्विग्नोऽसौ ततो ज्ञात्वा, स्वीयगार्हस्थ्यदुःस्थताम् ॥१०६॥
गार्हस्थ्यमुररीचक्रे, तां विहायैव तात्त्विकम् । भवग्रामगृहस्थेषु, जाताऽस्याथ महाकृपा ॥१०७॥
प्रदर्शयन्नयं स्वीयगृहवासस्य दुःस्थताम् । वैराग्योदीपनात् स्वान्तमाक्षिपत्यावयोरपि ॥१०८॥
यादृशो गृहवासोऽस्य, निन्द्यो दुःखैककारणम् । छन्नोऽप्यज्ञानसंमोहादावयोरपि तादृशः ॥१०९॥
त्यागार्होऽयं न तन्मित्र, किं तवाप्यवभासते । वाचमित्यकलङ्कस्य, श्रुत्वाऽहं मौनमास्थितः ॥११०॥
मुनेरथ तृतीयस्य, सोऽकलङ्को मयाऽन्वितः । गतोऽन्तिकमपृच्छत् तं, कुतोऽभूस्त्वं विरागवान् ॥१११॥
तेन प्रोक्तं मया भद्र, मद्यापानकमीक्षितम् । तदेव मम संपन्नं, भववैराग्यकारणम् ॥११२॥
आसं तत्र मदोन्मत्तो, बोधितो ब्राह्मणैस्ततः । अकलङ्को बभाषे तं, यादृगापानके स्थितः ॥११३॥ संसारस्यापानकोपमा
बोधितो ब्राह्मणैर्यैश्च, तत्सर्वं वक्तुमर्हसि । मुनिः प्राह ततः स्वीयमापानकविचेष्टितम् ॥११४॥
चित्रासवसुरापूर्णं राजितं शितिनीरजैः । लोकैश्च चारुचषकसरकैर्मदघूर्णितैः ॥११५॥

१ मद्यापानक म जा. की मु. । आपानक पानगोष्ठी मद्यपानार्थसमेतयर्थः ।

नानाविधविलासाढ्यं, कृततालमहारवम्। मत्तकान्तजनाकीर्णं, प्रौढस्त्रीकृतविभ्रमम् ।।११६।।
वीणामर्दलकांस्यादिनादवर्धितसंमदम्। सेवितं सर्वसामग्रीयुक्तमापानकं मया।।११७।।
तत्रानन्ता न चेष्टन्ते, न भाषन्ते च घूर्णिताः। मदेन व्यवहारं च, नैव कुर्वन्ति लौकिकम्।।११८।।
अन्येऽप्यनन्तास्तद्रूपाः, सन्ति तत्र जनाः परम्। कार्यं लोकव्यवहृतेस्ते कुर्वन्त्यन्तराऽन्तरा।।११९।।
तादृशास्तत्र सन्त्यन्येऽप्यसंख्याः पार्थिवादयः। परे पुनरसंख्याता, निर्भरं मद्यपायिनः।।१२०।।
न जिघ्रन्ति न पश्यन्ति, नापि शृण्वन्ति किंचन। लिहन्ति जिह्वया किंचित्, किन्त्वारारटिमुचो भृशम्।।१२१।।
न शृण्वन्ति न पश्यन्ति, संख्यातीताः परे पुनः। जिघ्रन्ति केवलं किंचित्, परे संख्याऽतिगाः पुनः।।१२२।।
नाकर्णयन्ति किन्त्वक्ष्णा, पश्यन्ति पुरतः स्थितम्। तत्रासंख्याः परे मद्याद्, दधते चित्तशून्यताम्।।१२३।।
अन्ये पुनरसंख्याता, दृष्टा विस्पष्टचेतनाः। दुर्मद्यमत्तता तेषु, किन्त्वाकालमवस्थिता।।१२४।।
पाट्यन्ते ते च भिद्यन्ते, छिद्यन्ते रिपुभिर्भृशम्। मदोद्धताश्च कुर्वन्ति, तीव्रां ते वेदनां मिथः।।१२५।।
भ्राम्यन्ति मदिरोद्भ्रान्तास्तत्रासंख्याः परेऽपि च। अज्ञा अव्यक्तघोषास्ते, गच्छन्ति जननीमपि।।१२६।।
अन्येऽपि तत्र विद्यन्ते, संख्याऽतीता मनुष्यकाः। गाढमत्तास्तथाऽन्ये च, ते पुनर्द्विविधाः स्मृताः।।१२७।।
तत्र ये गाढमत्तास्ते, विलुठन्तो भुवस्तले। वान्तं पित्तं मलं मूत्रं, भक्षयन्ति मुहुर्मुहुः।।१२८।।
इतरे भद्र! संख्यातास्ते पुनर्मदिरामदात्। गायन्ति परिनृत्यन्ति, युध्यन्ते च हसन्ति च।।१२९।।

भूयो लुठन्ति धावन्ति, वल्गन्ति च परस्परम्। चुम्बन्ति वक्रनेत्राणि, बालानां योषितां तथा ॥१३०॥
कुर्वन्तेऽनार्यकार्याणि, सहन्ते तीव्रवेदनाः। न तु मद्याद् विरज्यन्ते, राजभिर्दण्डिता अपि ॥१३१॥
अन्ये सन्ति मदाध्माताश्चतुर्वृन्दव्यवस्थिताः। सदा केलिप्रियाः संख्याऽतीता नृत्यादिनिर्भराः ॥१३२॥
आपानकस्था मध्यस्थाः, संख्याताः सन्ति चापरे। अमद्यपा मद्यपैस्ते, ब्राह्मणा ईर्ष्ययोदिताः ॥१३३॥
स्थिता अनन्ता मोदन्ते, परे त्वापानकाद् बहिः। आपानकस्य वैषम्यं, पश्यन्तो मदवर्जिताः ॥१३४॥
आद्येषु तत्र लोकेषु, स्थित्वाऽहं मदविह्वलः। गतो दैवाद् द्वितीयेषु, तृतीयेषु ततः पुनः ॥१३५॥
इत्थं चैतेषु भेदेषु, त्रयोदशसु हिण्डितः। अनन्तशो विमुच्याहं, भेदमाद्यं तथाऽन्तिमौ ॥१३६॥
पुनर्न दृष्टो मुक्तः स, आद्यभेदः कथंचन। भूयो भूयो गतः पापाद्, दशभेदेष्वहं पुनः ॥१३७॥
विण्मूत्रश्लेष्मजम्बालवान्तपित्ताशुचिस्थले। क्वचिल्लुठन् क्वचिद् रिङ्खन्, दुर्मद्यात् क्वचिदारटन् ॥१३८॥
उत्तिष्ठन् निपतन् धावन्, हसन् नृत्यन् रणं सृजन्। कुट्यमानो जनैर्दुःखघोरणीरनुभूतवान् ॥१३९॥
ब्राह्मणैरन्यदा दृष्टस्तैरापानकमध्यगैः। कृतः कृपालुभिर्मद्यत्याजनाय मयि श्रमः ॥१४०॥
यत्नः पूत्कुर्वतां तेषामहं तु मदघूर्णितः। न किंचिद् ज्ञातवान् भ्रान्तस्ततस्तत्र पुनः पुनः ॥१४१॥
अथान्यदा क्वचित् तेषां, वचने हुंकृतं मया। यतितं तैश्च यावन्मे, मद्यघस्मरको गतः ॥१४२॥
तैर्मद्यदोषाः कथिता, मयि संलब्धचेतने। कारितो मद्यविरतिं, जातोऽहं ब्राह्मणस्ततः ॥१४३॥

तेपु प्रव्रजितश्चाहं, यदद्यापि न जीर्यति । मद्यं तज्जारयिष्यामि, भावप्रव्रज्ययाऽखिलम् ॥१४४॥
इदं मुनिवचः श्रुत्वा, भावज्ञानान्मुदं श्रयन् । अकलङ्को मया पृष्टो, व्याजहाराशयं मुनेः ॥१४५॥
आपानकतया भद्र, भवमेव जगौ मुनिः । जीवा अनन्ताः सन्त्यत्र, मद्यपाः कर्म मद्यति ॥१४६॥
विशिष्य चासवायन्ते, कषाया घातिकर्मणाम् । पटलानि सुरायन्ते, भाजनन्त्यायुरालयः ॥१४७॥
चपकन्ति तदाधारतया गात्राणि जन्मिनाम् । कर्ममद्योपयोगित्वान्नीलाञ्जन्तीन्द्रियाणि च ॥१४८॥
घूर्णन्ते कर्ममद्येन, मत्ताः सर्वेऽपि जन्तवः । विलासहासविब्बोककोलाहलपरायणाः ॥१४९॥
कलहा मर्दलायन्ते, खलानामत्र संकथाः । लसत्कंसालकायन्ते, दैन्यं वीणायतेऽर्थिनाम् ॥१५०॥
वंशवाद्यायते लोकशोकाक्रन्दितसन्ततिः । मुखवाद्यायते गाढमग्नमूर्खविचेष्टितम् ॥१५१॥
मत्तकान्तजनायन्ते, सदानन्दा इहामराः । उदारविभ्रमाः प्रौढकान्तायन्तेऽप्सरोगणाः ॥१५२॥
संसारापानकमिदं, लोकाकाशप्रतिष्ठितम् । लोल्याय जडबुद्धीनां, वैराग्याय विवेकिनाम् ॥१५३॥
लोकानां मुनिनोद्दिष्टा, भेदा ये च त्रयोदश । कीर्तितः प्रथमो राशिस्तत्रासांव्यवहारिकैः ॥१५४॥
वनस्पतय आख्यातास्ततः सांव्यवहारिकाः । क्षित्यम्बुवह्निपवनाः, कथितास्तदनन्तरम् ॥१५५॥
ततो द्व्यक्षास्तत्र्यक्षास्ततश्च चतुरिन्द्रियाः । ततश्चासंज्ञिपञ्चाक्षाः, कीर्तिता नारकास्ततः ॥१५६॥
ततः पञ्चाक्षतिर्यञ्चस्ततः संमूर्च्छगर्भजाः । नराश्चतुर्विधा देवाः, संगीतास्तदनन्तरम् ॥१५७॥

आत्मोपुत्त्यपा ततः प्रोक्ताः, ब्राह्मणा इति संयतैः । मुक्तात्मानस्ततो गीता, भवापानकनिर्गताः ॥१५८॥
एतेषु स्थानदशके, भ्रान्तिं स्वस्य पुनः पुनः । वदन्नदीपयदसौ, भवापानकदुःस्थताम् ॥१५९॥
यत्तु तैर्ब्राह्मणैः पश्चाद्, दृष्टो यत्नेन बोधितः । अहमित्यादि कथितं, युक्त्या तद् युज्यतेऽखिलम् ॥१६०॥
अनादिभव्यभावेन, प्राप्ता घर्षणघोलनात् । उत्कृष्टादिस्थितिह्रासे, द्रव्यश्रुतिरनन्तशः ॥१६१॥
तथाऽपि यन्न लभते, सद्ज्ञानं न च दर्शनम् । न चारित्रं च जीवोऽसौ, कर्मघसरकः स्मृतः ॥१६२॥
भ्रान्तचित्तः स तेनैव, बंभ्रमीति भवोदधौ । सद्दर्शनमवाप्नोति कदाचित् कश्चिदेव हि ॥१६३॥
कालादियोगतो भित्त्वा, कर्मग्रन्थिं शुभाशयात् । ततः साधुवचोबोधो, योऽसौ हुङ्कार उच्यते ॥१६४॥
दर्शनं मुक्तिबीजं च, सम्यक्त्वं तत्त्ववेदनम् । दुःखान्तकृत् सुखारम्भः, पर्यायास्तस्य कीर्तिताः ॥१६५॥
सति चास्मिन्नधन्यात्मा, रमते भववारिधौ । रूपं निरूपयत्यस्य, स्पष्टं नष्टाक्षिरोगवत् ॥१६६॥
तद् दृष्ट्वा चिन्तयत्येवमहो भीमो भवोदधिः । दुःखाय जन्ममरणव्याधिशोकैरुपद्रुतः ॥१६७॥
सुखाय केवलं मोक्षः, सकलक्लेशवर्जितः । तस्य हेतुरहिंसादिर्हिंसादिर्भवकारणम् ॥१६८॥
बुद्ध्वैवं भवनैर्गुण्यं, मुक्तेश्च गुणरूपताम् । मोक्षोपाये प्रयतते, यथागममुदारधीः ॥१६९॥
शमारोग्यलवं प्राप्य, संसारव्याधिपीडितः । निःशेषतत्क्षयोपाये, दुष्करेऽपि प्रवर्तते ॥१७०॥
मदुपायफलप्राप्तेश्चारित्रोत्साहतः क्रमात् । भूत्वा स सर्ववित् क्षीणकर्मा याति शिवालयम् ॥१७१॥

संसारोऽरघट्टोपमः।

सुसाधुगुरुसम्पर्कजन्येयं श्रेयसां ततिः। युक्तमुक्तमतस्तेन, बोधितो ब्राह्मणैरहम् ॥१७२॥
सर्वे ह्यविरता जीवाः, कर्ममद्यरताः किल। स्थिता अपि भवापाने, साधवस्तत्पराङ्मुखाः ॥१७३॥
प्रव्राजितोऽसौ तैरेव कर्ममद्यान्निवारितः। जरयित्वा व्रतैर्गन्ता, तदजीर्णं भवाद् बहिः ॥१७४॥
तद् भवापानके स्थातुमीदृशे नावयोरपि। युक्तमित्यकलङ्कस्य, गीर्नाद्यापि मयाऽऽदृता ॥१७५॥
स्थितोऽहं मौनमाधाय, शून्यारण्ये यथा मुनिः। अकलङ्को ययौ तुर्यमुनेः पार्श्वे मयाऽन्वितः ॥१७६॥
सोऽपि नत्वाऽकलङ्केन, पृष्टो वैराग्यकारणम्। तेनोक्तमरघट्टो मे, जातो वैराग्यकारणम् ॥१७७॥
नित्यायुक्तो मया दृष्टोऽरघट्टो भवनामकः। रागद्वेषार्त्तरौद्राख्याश्चत्वारस्तत्र कर्षकाः ॥१७८॥
सर्वशीरपतिस्तत्र, महामोहः प्रकीर्तितः। कषायसंज्ञका दृप्ता, बलिवर्दास्तु षोडश ॥१७९॥
कर्मकाराः स्मृतास्तत्र, हास्यशोकभयादयः। जुगुप्साऽरत्यरत्याद्यास्तेषां च परिचारिकाः ॥१८०॥
मिथ्यात्वं च प्रमादश्च, तत्र तुम्बद्वयं महत्। विलासविभ्रमोल्लासरूपास्तत्रारकाः स्मृताः ॥१८१॥
असंयमाभिधः कूपस्तत्र दृष्टो भयंकरः। अनन्तदुःखपानीयभृतोऽदृष्टतलः सदा ॥१८२॥
जीवलोको घटीयन्त्रं, तेन पूरितरेचितम्। मरणाख्यैर्वहन्नित्यं, षाट्कारैरेष लक्ष्यते ॥१८३॥
आत्मा ज्ञानेन रहितो, ज्ञेयस्तत्र प्रतीच्छकः। मिथ्याभिमानसंज्ञं च, तस्य वार्घटिकं दृढम् ॥१८४॥
तत्र निर्वहणी क्लिष्टचित्तताभोगलोलता। कुल्या दीर्घाऽन्यान्यजन्मगणाः केदारका मताः ॥१८५॥

बीजं च कर्मजालाख्यं, वापकस्तत्र कीर्तितः। तज्जीवपरिणामाख्यो, विकाराः सस्यसम्पदः ॥१८६॥
पानान्तिकोऽस्त्यसद्बोधः, कर्मक्षेत्रस्य सेचने। मोहादिष्टः सदोद्युक्तोऽरघट्टपरिपालकः ॥१८७॥
भवारघट्टे तत्राहं, प्रसुप्तः सततभ्रमे। बोधितोऽनेन गुरुणा, ध्यानस्थेन महात्मना ॥१८८॥
उक्तं चानेन भोक्ताऽस्ति, क्षेत्रस्यास्य फलं भवान्। जन्तो! भवारघट्टस्य, स्वरूपं किं न वेत्सि भोः ॥१८९॥
अयं भवारघट्टस्ते, दुःखानामेककारणम्। परित्यज तदेनं चेत्, सुखेन स्थातुमिच्छसि ॥१९०॥
मया प्रोक्तं यथा त्यक्तो, भवत्येप तथा वद। मुनिराह महाभाग!, भावदीक्षां गृहाण तत् ॥१९१॥
भवारघट्टस्तैस्त्यक्तो, भावतो ये हि साधवः। ततस्तदाज्ञां स्वीकृत्य, प्रव्रज्येयं मयाऽऽहता ॥१९२॥
अयं वैराग्यहेतुर्मे, श्रुत्वेति मुनिभाषितम्। अकलङ्कस्त्वया सुष्ठु, बुद्धमित्यन्वमोदत ॥१९३॥
ततस्तं साधुमानम्य, सोऽकलङ्को मया सह। पञ्चमस्य मुनेः पार्श्वं, ययौ तं प्रणनाम च ॥१९४॥
सोऽपि तेन महाभागो, मम बोधविधित्सया। वैराग्यकारणं पृष्टः, स्पष्टमाचष्ट शुद्धधीः ॥१९५॥
चट्टमठोपमः संसारः
नानारूपा वयं चट्टास्तिष्ठामः स्म क्वचिन्मठे। तत्र चायातमस्माकं, भृशं भक्तं कुटुम्बकम् ॥१९६॥
अनेकमानुपोपेतं, पञ्चमानुपतन्त्रितम्। तदस्माभिर्हितं बुद्धं, शत्रुभूतमपि स्फुटम् ॥१९७॥
कृतं च भोजनं तत्र, चित्रं तेनाथ भक्षितम्। छात्रैरज्ञातसद्भावैस्तैस्तद्भोजनलोलुपैः ॥१९८॥
केपांचित् सन्निपाताय, तदभून्मन्त्रयोगजम्। उन्मादकृच्च केपांचिच्छात्राणां बहुभक्षिणाम् ॥१९९॥

ततो मिलितकण्ठास्ते, स्तब्धजिह्वाः सुविह्वलाः। क्वचित् तप्ताः क्वचिच्छीताः, क्वचिदुद्भ्रान्तमानसाः ॥२००॥
भृशं घुरघुरायन्तो, लोलमाना भुवस्तले। क्वचिज्झगझगायन्तश्छात्राः शोच्यां दशां गताः ॥२०१॥
ये तून्मत्ताः समापन्नास्ते देवगुरुनिन्दिनः। लपन्ति विपरीतानि, पशुवन्नष्टधर्मकाः ॥२०२॥
इतश्च योऽसौ स्वाध्यायलीनः साधुपुरन्दरः। महावैद्यकनिष्णातो, दृष्टस्तेनाहमातुरः ॥२०३॥
सन्निपातहतस्तेषां, चट्टानां मध्यगो जडः। स्वौषधैः सन्निपातं मे, कृपयाऽपनिनाय सः ॥२०४॥
ततो जातो मनाक् स्पष्टचेतनोऽहमथाहरत्। उन्मार्गे छात्रसंसर्गजनितं यत्नतः स मे ॥२०५॥
महाशयस्ततश्चायं, स्वस्थचित्तं निरीक्ष्य माम्। उन्मत्तान् संनिपातार्त्तांश्चट्टान् सर्वानदर्शयत् ॥२०६॥
दृष्टाश्च ते मया छात्राः, क्रन्दन्तो व्याधिविह्वलाः। मुनीश्वरो बभाषे मां, गाढजातभयं ततः ॥२०७॥
भद्र ! भोजनदोषेण, प्रागभूस्त्वमपीदृशः। मत्कृतोपायतो जातः, साम्प्रतं स्वस्थमानसः ॥२०८॥
अस्त्यद्यापि तवाजीर्णं, किंचिद् देहे ततो न चेत्। करिष्यसि मदुक्तं तत्, पुनरीदृग् भविष्यसि ॥२०९॥
भयात् प्रत्ययलाभाच्च, ततस्तेनोदिता मया। प्रव्रज्या स्वीकृतेयं तद्भोजनाजीर्णनाशिनी ॥२१०॥
यां यामुपदिशत्येष, क्रियां तां तां करोम्यहम्। अधुना विधिना मेऽभूदिदं वैराग्यकारणम् ॥२११॥
अकलङ्कस्तदाकर्ण्य, मुदितोऽन्यमुनिं प्रति। ययौ कोऽस्यार्थ इत्युच्चैर्मया पृष्टो जगाविदम् ॥२१२॥
अनेनापि भवो मित्र !, प्रोक्तश्चट्टमठोपमः। परस्परमसम्बद्धाश्चट्टाभास्तत्र जन्तवः ॥२१३॥

माता पिता च नामीषां, तत्त्वतोऽस्ति न वा धनम्। न बान्धवाश्च मिलिताः, सर्वे भिन्ना हि जन्तवः ॥२१४॥
तेषां च जीवचट्टानां, संसारमठवर्तिनाम्। बन्धहेत्वभिधं भक्तमायात्येव कुटुम्बकम् ॥२१५॥
वक्तयः सन्ति तल्लोकाः, पञ्च संग्राहकाः परम्। प्रमादो योगमिथ्यात्वे, कषायाविरती तथा ॥२१६॥
अनादिसंसारवशाद्, बन्धहेतुकुटुम्बकम्। इदं च जीवचट्टानां, हितकृत् प्रतिभासते ॥२१७॥
छात्रभोजनतुल्यं तत्, कर्म सम्पादयत्यलम्। भुञ्जन्ते जीवचट्टास्तन्मोहमन्त्रेण संस्कृतम् ॥२१८॥
अनायतिज्ञास्ते तेन, पूरयन्त्युदरं निजम्। तद्विपाकाद् यदज्ञानं, प्राप्नुवन्ति सुदारुणम् ॥२१९॥
अनभिग्रहमिथ्यात्वसन्निपातोऽयमिष्यते। अनेनैकेन्द्रियत्वे स्युः, काष्ठवन्नष्टचेतनाः ॥२२०॥
भृशं घुरघुरायन्ते, द्वीन्द्रियत्वे च जन्तवः। त्रीन्द्रियत्वे च लोलन्ते, भुक्तदोषादितस्ततः ॥२२१॥
चतुरक्षासंज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वे च वितन्वते। तामेव चेष्टामधिकां, भृशं झगझगायितम् ॥२२२॥
गर्भजत्वे वितन्वन्ति, तेऽपर्याप्ता भवन्ति च। रुद्धकण्ठाः स्तब्धजिह्वा, भूरिदुःखौघविह्वलाः ॥२२३॥
बाध्यन्ते तापशीताद्यैर्गताश्च नरकेषु ते। आपन्नाः पशुभावं च, चेतयन्ते न किञ्चन ॥२२४॥
मनुष्यत्वे च मुह्यन्ति, देवत्वे शेरते भृशम्। दारुणा जीवचट्टानां, दशेयं सन्निपातजाः ॥२२५॥
ये तु स्वाभिनिवेशेन, विपरीतं जिनागमात्। एकान्तक्षणिकाद्यर्थं, मन्यन्ते कुनयाश्रिताः ॥२२६॥
आभिग्रहिकमिथ्यात्वोन्मादस्तेषामसौ स्मृतः। सन्मार्गदूषणात् ते हि, प्रलपन्तीव विह्वलाः ॥२२७॥

हसन्तीव तपःसत्यचारित्रगुणनिह्नवात् । वल्गन्तीव विना हेतुं, नास्त्यात्मेत्यादिवादतः ॥२२८॥
सर्वज्ञमतनिष्णातै रुदन्तीव निराकृताः । यथेष्टचेष्टाकरणान्नृत्यन्तीव लसत्कराः ॥२२९॥
गायन्तीव पठन्तश्च, तर्कदण्डोलकान्निजान् । एवं कर्मविषोन्मादाद् , भवन्ति ग्रहिला जनाः ॥२३०॥
यच्चोक्तं मुनिना तेन, मोचितोऽहं कृपालुना । महावैद्यकदक्षेण, सन्निपातात् सुदारुणात् ॥२३१॥
तद् युक्तमेव यदमी, भवन्त्येव कृतश्रमाः । सिद्धान्ते वैद्यकाकारे, मुनयः शुद्धबुद्धयः ॥२३२॥
लक्षयन्ति स्वरूपं च, ते सर्वभववर्तिनाम् । दयां च कुरुते कर्मभोजनात् सन्निपन्नके ॥२३३॥
अत एव सुसाधूनामाक्रोशादिपरा अपि । न रुषां विषयाः किन्तु, कृपाया भवजन्तवः ॥२३४॥
सन्निपातात् तथोन्मादात् , कर्मणां ये प्रपीडिताः । आक्रोशादिपरायत्ताः, कुर्वते तेषु किं रुषा ॥२३५॥
कोपो न युज्यते तेषु, क्षारक्षेप इव क्षते । कथमेषामयं दोषो नश्येदिति कृपोचिता ॥२३६॥
कर्मवेष्टितजन्तूनां, चेष्टितानि विवेकिनाम् । शाणत्वं यान्ति वैराग्यशस्त्रोत्तेजनहेतवे ॥२३७॥
लब्ध्वापि नृभवं जन्तूनुन्मत्तान् सन्निपन्नकान् । दृष्ट्वा जिनमतज्ञः को, रज्येत भवचारके ॥२३८॥
ततोऽयं करुणाढ्येन, गुरुणा सन्निपन्नकः । स्वस्थीकृतः सुवैद्येन, च्छात्राभो वचनौषधैः ॥२३९॥
यच्चोक्तं छात्रसंसर्गादुन्मादोऽपि ममोदितः । नाशितोऽनेन गुरुणा, तदेवमवबुध्यताम् ॥२४०॥
गुरुणा सन्निपाताभे, मिथ्यात्वेऽस्यानभिग्रहे । हते तदाभिग्रहिकमभूत् तीर्थिकसंन्निभः ॥२४१॥

१ सगतः की. मु.।

निरस्तं गुरुणा यत्नात् , तदप्युन्मादसन्निभम् । ततश्चट्टमठाकारः, संसारोऽस्य प्रदर्शितः ॥२४२॥
ततो भवमठे दृष्टा, जीवाश्चट्टा इवामुना । उन्मत्ताः सन्निपातार्त्ता, दुःखभाजः प्रलापिनः ॥२४३॥
ततः संजातभीरेष, प्राच्यां स्वस्येदर्शी दशाम् । गुरुणोक्तां समाकर्ण्य, तदुक्तां कुरुते क्रियाम् ॥२४४॥
तत्कर्म भोजनाजीर्णं, जरयत्येष नोदितः । अयं स्ववैराग्यहेतुर्मुनिना मित्र ! भाषितः ॥२४५॥
न केवलं मुनिरसौ, तेनाजीर्णेन बाधितः । आवामपि तथाभूतौ, युक्ता दीक्षाऽऽवयोरपि ॥२४६॥
कर्मान्नाजीर्णहरणी, लातुमारोग्यकारिणी । प्रयाति न फलाढ्यत्वमन्यथा नृभवद्रुमः ॥२४७॥
तादृगप्यकलङ्कस्य, वचस्तन्न मयाऽऽदृतम् । मदन्वितो गतः सोऽथ, साधोः षष्ठस्य सन्निधौ ॥२४८॥
पृष्टं तस्यापि वन्दित्वा, तेन वैराग्यकारणम् । स प्राह मम वैराग्ये, हेतुरेकं कथानकम् ॥२४९॥
गुरुणोक्तमिदं भद्र !, तत् ते संकीर्तयाम्यहम् । वसन्ताख्ये पुरेऽभूवंश्चत्वारः केऽपि वाणिजाः ॥२५०॥
चारुर्योग्यो हितज्ञश्च, मूढश्चेत्यभिधानतः । परस्परं वयस्यास्ते, रौद्रमुल्लङ्घ्य वारिधिम् ॥२५१॥
रत्नद्वीपं गता रत्नसमूहार्जनकाम्यया । चकार रत्नवाणिज्यं, तत्र चारुरनन्यधीः ॥२५२॥
रत्नद्वीपेऽपि नाप्यन्ते, रत्नान्युद्यममन्तरा । पूर्णेऽपि हि तटाके कः, पिबन्त्यम्बु विनाऽञ्जलिम् ॥२५३॥
इत्यावर्जयता लोकान् नानोपायकृताऽमुना । पूरितं मङ्क्षु बोहित्थमर्जितै रत्नराशिभिः ॥२५४॥
रत्नानां गुणदोषज्ञः, काननादौ न कौतुकी । इत्येष सत्क्रियो ज्ञानी, तत्र स्वार्थमसाधयत् ॥२५५॥

चतुर्णां वणिग्-मित्राणां कथानकम्

योग्योऽपि, कुरुते किञ्चिद् , रत्नानां गुणदोषवित् । अर्जनं तस्य किं त्वस्ति, कौतुकं काननादिषु ॥२५६॥
तेन रत्नार्जनं तस्य, राजवेष्टिसमं भवेत् । कौतुकेन वृथा यान्ति, वासराः काननादिषु ॥२५७॥
मिलितानि बहोः कालात् , तथाऽप्यस्य कियन्त्यपि । रत्नानि किं त्वनेनेह, स्वल्पेन बहु हारितम् ॥२५८॥
हितज्ञस्तु स्वयं वेत्ति, रत्नानि न परीक्षितुम् । परोपदेशतस्तानि, लक्षयत्येष केवलम् ॥२५९॥
विहारारामचित्रादिविलोकनकुतूहलात् । करोति रत्नवाणिज्यं, नासौ तीव्रप्रमादभाग् ॥२६०॥
रत्नबुद्ध्यैव गृह्णाति, काचशङ्खकपर्दकान् । रत्नद्वीपेऽपि संप्राप्तो, धूर्तलोकैः स वञ्चितः ॥२६१॥
मूढस्तु न स्वयं वेत्ति, रत्नराशीन् परीक्षितुम् । उपदेशं परस्यापि, श्रद्धत्ते नैव मोहतः ॥२६२॥
अत्यन्तकौतुकी चासौ, चित्रोद्यानादिदर्शने । गृह्णाति सत्यरत्नद्विद् , काचादीन् धूर्तहस्ततः ॥२६३॥
स्वस्थानं भृतबोहित्थो, यियासुश्चारुरित्यथ । व्यचिन्तयद् मदीयानां, मित्राणां का व्यवस्थितिः ॥२६४॥
इति ध्यात्वा गतो योग्यसमीपं स जगौ गृहम् । यास्याम्यहं प्रवृत्तिः का, तव योग्यस्ततोऽब्रवीत् ॥२६५॥
बोहित्थं पूर्यतेऽद्यापि, न ममार्जितवानहम् । स्वल्परत्नान्यथ प्राह, चारुः किमियदन्तरम् ॥२६६॥
ततो योग्यो जगौ सर्वं, स्वप्रमादविजृम्भितम् । चारुणोक्तं तवायुक्तमात्मवञ्चनमीदृशम् ॥२६७॥
जानीषे सुखहेतुत्वं, रत्नानां त्वमशङ्कितः । तथाऽपि तानि नादत्से, काननादिकुतूहलात् ॥२६८॥
धृतिस्ते कौतुकादस्मान्न चिरादपि भाविनी । तद् वरं स्वार्थसम्पत्तिः, स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥२६९॥

जिह्रेषि किं न रत्नानां, रत्नद्वीपेऽप्यनर्जनात् । अतः प्रमादं संत्यज्य, कुरु रत्नार्जनं दृढम् ॥२७०॥
अन्यथाऽहं प्रयास्यामि, मम सिद्धं प्रयोजनम् । इत्थं विचेष्टमानस्त्वं, भ्रष्टः स्वार्थाद् भविष्यसि ॥२७१॥
इदं चारुवचः श्रुत्वा, ह्रीणो योग्यो भृशं हृदि । सर्वं कुतूहलं मुक्त्वा, जातो रत्नार्जनोद्यतः ॥२७२॥
अथ चारुर्हितज्ञस्य, गत्वा पार्श्वमवोचत । अहं स्थाने गमिष्यामि, तव किं मित्र ! वर्तते ॥२७३॥
ततश्चारोर्हितज्ञेन, काचादि स्वार्जितं धनम् । दर्शितं स्नेहसारेण, कथितं चात्मचेष्टितम् ॥२७४॥
ततश्चारुः कृपापूर्णो, हितज्ञं प्रत्यभाषत । मित्र ! त्वं विप्रलब्धोऽसि, धूर्तै रत्नापरीक्षकैः ॥२७५॥
रत्नद्वीपमुपेतस्य, तव कर्तुं न युज्यते । कौतुकं काननादौ च, स्वार्थसंसिद्धिमिच्छतः ॥२७६॥
निशम्य तद्वचश्चारोर्हितज्ञः स्वहितार्थिताम् । विदंस्तस्य तदादेशात् , त्यक्त्वा सर्वं कुतूहलम् ॥२७७॥
तत्प्रसादेन जानानः, सर्वरत्नगुणागुणान् । संगृह्णंश्चारुरत्नानि, काचादीनि परित्यजन् ॥२७८॥
स्वयं परीक्षको जातः, स्वार्थसिद्धिपरायणः । अथ चारुर्जगादैवं, गतो मूढस्य सन्निधौ ॥२७९॥
अहं गृहे व्रजिष्यामि, प्रवृत्तिस्तव मित्र ! का । मूढः प्राह गृहे गत्वा, किं भवान् साधयिष्यति ॥२८०॥
वापीकूपमहारामपुष्पराजिविराजिते । द्वीपेऽत्र सुचिरं भोक्तुं, सुखं युक्तं मनोरमे ॥२८१॥
स्थित्वाऽत्र सुचिरं पश्चाद् , गमिष्यामो निजालये । भृतं मयाऽपि वोहित्थं, वर्तते रत्नराशिभिः ॥२८२॥
इत्युक्त्वा दर्शितं चारोः, शङ्खकाचाक्षपूरितम् । वोहित्थं तेन तद् दृष्ट्वा, चारुश्चित्ते व्यचिन्तयत् ॥२८३॥

अहो मूढोऽयमुन्मत्तः, कौतुकग्रस्तमानसः । वञ्चितो धूर्तलोकेन, शिक्षयामि तथाऽप्यमुम् ॥२८४॥
इति ध्यात्वा स तं प्राह, न युक्तं तव कौतुकम् । इदं हि रत्नवाणिज्यबाधकं स्वात्मवञ्चनम् ॥२८५॥
अरत्नानि गृहीतानि, रत्नबुद्ध्या परित्यज । इमानि धूर्तदत्तानि, सुरत्नानि गृहाण च ॥२८६॥
इदं च लक्षणं तेषां, सम्यक् चित्तेऽवधारय । इति यावत् कथयति, चारुस्तावत् क्रुधा ज्वलन् ॥२८७॥
मूढः प्राह व्रज त्वं भो, नागमिष्याम्यहं पुनः । वचसाऽनेन भवतः स्फुटीभूता वयस्यता ॥२८८॥
ममैकं मुत्कलाचारं, यन्निराकुरुते भवान् । द्वितीयं दूषयत्युच्चैर्मामकं रत्नसंचयम् ॥२८९॥
यद्येतानि न रत्नानि, भास्वराणि भवन्ति मे । तदा श्रद्धाधिकै रत्नैः, पर्याप्तं तावकैः परैः ॥२९०॥
ततश्चारुः पुनर्वक्तुकामस्तेन निराकृतः । तमशक्यप्रतीकारं, मत्वा मौनमशिश्रयत् ॥२९१॥
[1]स्वाश्रयत्वार्जितार्थाभ्यां, मूढं त्यक्त्वाऽथ शुद्धधीः । सार्द्धं योग्यहितज्ञाभ्यां, चारुः स्थानं निजं ययौ ॥२९२॥
प्रापुस्त्रयः सुखं तत्र, ते रत्नविनियोगतः । भाजनं भूरिदुःखानां, मूढस्तु समजायत ॥२९३॥
केनचित् क्रुद्धभूपेन, द्वीपान्निष्काशितस्ततः । अगाधे विषमावर्ते, क्षिप्तो भीमे महोदधौ ॥२९४॥
इदं वैराग्यकृज्जातं, गुरूक्तं मे कथानकम् । तच्छ्रुत्वा लब्धभावार्थः, सोऽकलङ्को मुदं दधौ ॥२९५॥
मदन्वितः प्रवृत्तोऽथ, तं नत्वाऽन्यमुनिं प्रति । मयोक्तं किमनेनोक्तं, मुनिनेदमसंगतम् ॥२९६॥

१ स्वाश्रवत्वा- डे. ज्ञा. ।

कथानकस्योपनयः।

अकलङ्कोऽवदन्नेदमनद्धं घनवाहन ! । भावार्थं कीर्तयाम्यस्य, व्यक्तं शृणु तमादृतः ॥२९७॥
अनन्तपुरतुल्योऽत्र, राशिरव्यवहारिकः । चतुर्विधा वाणिजकास्ततो जीवा विनिर्गताः ॥२९८॥
समुद्रोऽत्र पुनर्जन्मजरामृतिपयोभृतः । पतन्मोहमहावर्तो, दुःखयादःसमाकुलः ॥२९९॥
मूर्च्छन् कपायपातालकुम्भोत्थाश्रवमारुतैः । पापाविरतिगम्भीरो, भवविस्तार एव हि ॥३००॥
रत्नद्वीपस्य तु स्थाने, ज्ञेयो मानुष्यको भवः । कुतूहलं च विपयाभिलापः काननादिषु ॥३०१॥
शङ्खाश्मकाचशकलस्थाने धर्माः परोदिताः । धूर्ताः कुतीर्थिका ज्ञेया, बोहित्थं जीवलक्षणम् ॥३०२॥
स्वस्थानगमनं मोक्षावाप्तिः शुद्धनयस्थितैः । मूढस्योपरि यः क्रुद्धो, नृपोऽसौ कर्मनामकः ॥३०३॥
क्षेपः समुद्रमध्येऽस्य, दुरन्तभवमज्जनम् । परीक्षकस्य यच्चारोः, प्रयतस्यार्थसाधनम् ॥३०४॥
तद् भवत्येव चारित्रप्राप्तेः साधोर्महात्मनः । सम्यक् तत्त्वार्थबोधेनाविप्रलभ्यस्य तीर्थिकैः ॥३०५॥
अव्याक्षिप्तस्य विपयेष्वनित्यत्वादिभावनात् । क्षान्त्यादिभावरत्नानामविलम्बेन संग्रहात् ॥३०६॥
योग्यस्य जानतोऽप्युक्तं, कौतुकं यच्च बाधकम् । श्राद्धेषु युक्तं तत्सर्वं, भावरत्नविदो हि ते ॥३०७॥
सद्गुणग्रहवाणिज्य, कुर्वन्ति कियदप्यमी । गमयन्ति परं कालं, व्यर्थं विपयकौतुकात् ॥३०८॥
तथाऽपि बहुकालेन, मीलयन्ति कियन्त्यपि । गुणरत्नानि न पुनः, साधुयोग्यगुणोच्चयम् ॥३०९॥
ज्ञानादिभावरत्नौघैः, पूर्णश्चारुमुनीश्वरः । मोक्षे यियासुः स्वस्थाने, वदत्येवेति तान् प्रति ॥३१०॥

भो भद्राः ! किं मनुष्यत्वे, स्वाधीने सद्गुणार्जने। परिपूर्णगुणा यूयं, न सम्पन्ना यथा वयम् ॥३११॥
आत्मप्रतारणमिदं, विषयव्यसनं हि नः। जीवितं धर्मसंतप्तपतत्रिगलचञ्चलम् ॥३१२॥
सन्ध्याभ्ररागसदृशं, तारुण्यं स्वजनाश्रयः। स्नेहो विद्युद्विलसितं, योषितो दोषभूमयः ॥३१३॥
ज्ञानं दीपः सुमार्गस्य, दुर्गतिध्वंसि दर्शनम्। चित्तोत्सवानां चारित्रमर्पकं शोधकं तपः ॥३१४॥
संयमोऽनागतानां च, कर्मणां विनिवारकः। त्याज्यो हेतुर्भवस्येति, मोक्षस्यादेय एव च ॥३१५॥
युष्माकं विषयात्यागे, मानुष्यं निष्फलं ततः। भगवद्दर्शनप्राप्तिरप्यकिंचित्करी हहा ॥३१६॥
त्यक्त्वाऽसत्सन्निधौ भोगपङ्कं गृह्णीत तद् व्रतम्। असत्सन्निध्यभावे तु, स्वार्थभ्रष्टा भविष्यथ ॥३१७॥
इदमाकर्ण्य वचनं, मुनीनां देशसंयताः। लज्जमानाः प्रपद्यन्ते, संयमं पारमेश्वरम् ॥३१८॥
पूरयन्त्यात्मबोहित्थं, गुणरत्नैरनारतम्। सेयं चारुगिरा योग्यकार्यसिद्धिगतिः स्फुटा ॥३१९॥
हितज्ञं प्रति यत् साधोः, स्वाभिप्रायनिवेदनम्। भद्रकानामभिमुखीकरणं तन्महात्मनः ॥३२०॥
साधुभिर्भद्रका धर्मदेशनाऽऽमन्त्रणे कृते। वदन्ति वयमप्युच्चैर्धर्मं स्नानादि कुर्महे ॥३२१॥
विलसामो वरैर्भोगैर्विचरामो निजेच्छया। उल्लासयामः स्वां कीर्तिं, जन्मसारमवाप्नुमः ॥३२२॥
काचादिकूटरत्नानां, वनादेः कौतुकस्य च। तदिदं पुरतश्चारोर्हितज्ञस्य निवेदनम् ॥३२३॥
ततो वदन्ति मुनयो, भव्यमिथ्यादृशः प्रति। सत्यमात्मधिया धर्मं, यूयं कुरुथ सादराः ॥३२४॥

विशेषं विद्म नो किन्तु, विप्रलब्धाः कुतीर्थिकैः । स्नानादिहिंस्रकर्माणि, यान्ति नो धर्महेतुताम् ॥३२५॥
सर्वभूतदयासारो, धर्मः खलु जगद्धितः । स्नानादीनि च कर्माणि, तद्विरोधीनि सर्वदा ॥३२६॥
यत्पुनर्ब्रूथ जन्तुषो, वयं सारं लभामहे । भोगाद्यैः प्राज्ञलोकानां, हास्यं तद् वो विजृम्भितम् ॥३२७॥
काये सन्निहितापाये, रोगौघे परिवल्गति । जरायां त्वरमाणायां, वियोगे चित्तदाहिनि ॥३२८॥
प्रत्यवस्थातरि यमे, शीर्यमाणे शरीरके । गत्वरे यौवनेऽयोगविप्रिये प्रियसंगमे ॥३२९॥
पुद्गलस्कन्धसम्बन्धतुच्छेषु विषयेषु यः । नृणां सुखविपर्यासो, विभ्रमः स हि कर्मजः ॥३३०॥
अनन्तभवसन्तानहेतुरेष ततोऽनघाः ! । प्राप्तायां धर्मसामग्र्यामस्मासूपदिशत्सु च ॥३३१॥
ज्ञानश्रद्धाक्रियायत्ते, मोक्षलाभे स्ववञ्चनम् । कर्तुं न युक्तं भवतामीदृशैर्मोहचेष्टितैः ॥३३२॥
साधुवाक्यं तदाकर्ण्य, भद्रकाः शुद्धवासनाः । सद्धर्मोपार्जनोपायं, पृच्छन्ति विनयान्विताः ॥३३३॥
ग्राहयन्ति ततस्तेषां, साधवस्तं महाशयाः । यथैतदादौ कर्तव्यमिच्छद्भिर्धर्मयोग्यताम् ॥३३४॥
सेव्या दयालुता कोपो, मोक्तव्यः खलसंगमः । त्याज्यो गुणानुरागश्चाभ्यसनीयो निरन्तरम् ॥३३५॥
अब्रह्मासत्यगर्वाणां, त्यागः कार्यः प्रयत्नतः । मान्याश्च देवगुरवः, सत्कर्तव्यः परिच्छदः ॥३३६॥
पूरणीयाः प्रणयिनोऽनुविधेयः सुहृद्गणः । परनिन्दा न कर्तव्या, ग्राह्याः परगुणाः सदा ॥३३७॥
संभाव्याः प्रथमं शिष्टाः, स्वगुणानां विकत्थने । लज्जनीयमणीयोऽपि, सार्यं परकृतं हितम् ॥३३८॥

भाव्यं सुवेषचरितैरनुमोद्याश्च धार्मिकाः। यतितव्यं परार्थे च, मानसे धार्यमार्जवम् ॥३३९॥
भवतामीदृशाचारचारुभावाद् भविष्यति। सर्वज्ञोपज्ञसद्धर्मानुष्ठाने खलु योग्यता ॥३४०॥
योगोऽकल्याणमित्राणां, संत्याज्यो गृहिभिस्ततः। कल्याणमित्रसेवा च, कार्या पाल्योचितस्थितिः ॥३४१॥
अपेक्षितव्यो लोकाध्वा, मान्या च गुरुसंहतिः। एतत्तन्त्रैः सदा भाव्यं, धार्या दानादिवासना ॥३४२॥
सारपूजाऽर्हतां कार्या, निरूप्यं साधुलक्षणम्। श्रोतव्यं विधिना धर्मशास्त्रं निभृतभावनम् ॥३४३॥
अनुष्ठेयस्तदर्थश्चावष्टब्धव्या च धीरता। पर्यालोच्याऽऽयतिर्भाव्यं परलोकाविरोधिभिः ॥३४४॥
सेव्यो गुरुजनः कार्यं, सद्योगपटदर्शनम्। तद्रूपादि हृदि स्थाप्यं, धर्तव्या चारुधारणा ॥३४५॥
विक्षेपमार्गो हातव्यः, सोत्साहैर्योगसिद्धये। अर्हद्बिम्बादि संपाद्यं, लेखनीयो जिनागमः ॥३४६॥
कर्तव्यो मंगलजपश्चतुःशरणसंयुतः। अनुमोद्यं च सुकृतं, निन्द्या दुष्कृतसन्ततिः ॥३४७॥
सच्चेष्टितं च श्रोतव्यं, पूज्याः सन्मन्त्रदेवताः। उदारैरुत्तमज्ञाने, वर्तितव्यमशङ्कितैः ॥३४८॥
ततो वो भविता शुद्धसाधुधर्मस्य योग्यता। विहाय संगं ग्रहणा(ण)शिक्षा सेव्योचिता ततः ॥३४९॥
विधेया तत्त्वजिज्ञासा, स्वपरागमगोचरा। यथार्थगुरुसंयोगात्, कार्यस्तद्विनयो दृढम् ॥३५०॥
भवितव्यं विधिपरैर्मण्डल्यादिप्रयततः। ज्येष्ठक्रमः पालनीयो, सेव्या युक्ताऽशनक्रिया ॥३५१॥
संत्याज्यो विकथाक्षेपो, धार्या शुद्धोपयोगता। शिक्षणीयः श्रुतिविधिर्भाव्यं सत्प्रत्ययस्थिरैः ॥३५२॥

सयो न कार्यो ज्ञानर्द्धैर्हसनीयाश्च नाबुधाः । त्याज्यो विवादोऽबुद्धानां, न कार्यं बुद्धिभेदनम् ॥३५३॥
कार्यः कुपात्रे न न्यासः, पात्रतैवं भविष्यति । भवतां विग्रहवती, शमश्रीर्भाविजन्मभूः ॥३५४॥
ततः सिद्धान्तमाराणि, दास्यन्ति गुरवो मुदा । स्पष्टमष्ट ततो वृद्धिमुपयास्यन्ति धीगुणाः ॥३५५॥
शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा । ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वन्यवसितिश्च ते ॥३५६॥
सेव्याऽऽस्यासेवना शिक्षा, भजनीया प्रमार्जना । प्रत्युपेक्षणमानेयं, भिक्षाचर्या च सात्मताम् ॥३५७॥
दातव्याऽऽलोचना सम्यक्, शिक्ष्या निर्दोषभोजिता । परिकर्मविधिः पात्रगतो ग्राह्यो यथाऽऽगमम् ॥३५८॥
विचारचर्याऽनुष्ठेया, प्रेक्ष्याः स्थण्डिलभूमयः । शुद्धमावश्यकं कार्यं, कालग्रहविधिस्तथा ॥३५९॥
स्वाध्यायनिरतैर्भाव्यं, कार्या प्रतिदिनक्रिया । पञ्चाचाराः पालनीयाः, स्थातव्यं चाप्रमद्वरैः ॥३६०॥
भावी ततो वो निर्माणप्रगुणो गुणसंचयः । एवं गुणार्जनोपायं, दर्शयन्ति महाधियः ॥३६१॥
भवन्ति भावरत्नानां, भद्रकास्ते परीक्षकाः । ततस्तदुक्तक्रियया, जायन्ते स्वार्थसाधकाः ॥३६२॥
अयं ज्ञेयो हितजनस्य, चारूक्तवरशिक्षया । रत्नौघैर्निजबोहित्थभरणस्योद्यमक्रमः ॥३६३॥
मूर्द्धन च न चारूक्तं, प्रतिपन्नं विचेष्टितम् । प्रत्युत प्रतिकूलं यत्, तत्रेयं मित्र ! भावना ॥३६४॥
मूढानभिमुखीकर्तुं, यतन्ते मुनयो यदा । दूरभव्यानभव्यान् वा, तदेत्थं ते प्रचक्षते ॥३६५॥
श्रमणा ! भवदिष्टेन, कार्यं मोक्षेण नास्ति नः । भवतामपि तत्रालं, गमनेन सुखोज्झिते ॥३६६॥

न तत्र खाद्यं नो पेयं, न गीतं हसितं च न। न तत्र कान्ता मदिरा, मदघूर्णितलोचनाः ॥३६७॥
न तत्र प्रियसंयोगा, न स्निग्धाऽऽलापपद्धतिः। लीलाविलासविस्तारा, न तत्रेन्द्रियशर्मदाः ॥३६८॥
अयं संसारविस्तारो, रम्यो नः प्रतिभासते। यथेष्टमनुभूयन्ते, यत्र लीलाविभूतयः ॥३६९॥
कृतं तन्मोक्षवादेन, संसारः सुखकारणम्। भुक्त्वाऽत्र विपुलं सौख्यं, पश्चान्मुक्तौ गमिष्यथ ॥३७०॥
भवन्तो धर्मवादेन, येन सन्ति च गर्विताः। अस्माकमपि सोऽस्त्येव, देवातिथिमुदावहः ॥३७१॥
कुर्महे चण्डिकादीनां, तृप्तिं छागादिशोणितैः। गवाश्वमनुजच्छागैस्तथा यागं चतुर्विधम् ॥३७२॥
निहत्य दुःखितान् दुःखं, मोचयामः कृपालवः। पापद्धर्याऽवारितं सत्रं, मांसैर्दद्मो यथेच्छया ॥३७३॥
तदाकर्ण्य प्रभाषन्ते मुनयो भवतामसौ। नैव युक्तो भवासंगः, सुखं नास्त्यत्र तात्त्विकम् ॥३७४॥
भोगा भोगा इवाहेयाः, भीषणा क्लेशवर्द्धनाः। मायाकरण्डिका नार्यो, विलासाश्च विडम्बनाः ॥३७५॥
मोक्षस्त्वात्मन्यवस्थानं, व्याधिक्षयसमं सुखम्। तस्मात् तमुत्सृज्य भवन्यासंगो वः स्ववैरिता ॥३७६॥
धर्मानुष्ठानबुद्ध्या च, यदिदं जन्तुघातनम्। तदप्यनन्तसंसारवर्द्धनं पापकारणम् ॥३७७॥
मा कुरुध्वमतो धर्ममीदृशं धूर्तवञ्चिताः। कुरुध्वं सुमुनिप्रोक्तं, तमहिंसादिलक्षणम् ॥३७८॥
मूढा वितन्वते द्वेषं, श्रुत्वेदं मुनिभाषितम्। वदन्ति यात यूयं भोः, शिक्षणीया वयं तु न ॥३७९॥
नियन्त्रयथ नो भोगैर्निषिद्धैर्निन्दथाऽधमाः!। अस्माकं धर्मरत्नानि, तद् यूयं नो महारयः ॥३८०॥

यदि वो रोचते नान्तः, सद्धर्मोऽस्माकमीदृशः । ततोऽलं भवदीयेन, धर्मेण पुरुषाधमाः ! ॥३८१॥
इदमाकर्ण्य मुनयो, ब्रूयुर्यावत् कृपापराः । भूयो धर्मगतिं तावत्, कुपिताः प्रहरन्ति ते ॥३८२॥
मुनयस्तानुपेक्षन्ते, निश्चित्यासाध्यतां ततः । न दोहने भवेद् भावो, गोर्वन्ध्यात्वे हि निश्चिते ॥३८३॥
श्राद्धानां भद्रकाणां च, भव्यमिथ्यादृशां ततः । भवेत् कृतार्थता नूनं, दिशा साधूपदिष्टया ॥३८४॥
मूढास्तु मरुणा कर्मपरिणामेन भूभुजा । रत्नद्वीपान्तरभवान्निष्काश्यन्ते तमोभृताः ॥३८५॥
पात्यन्ते भवपाथोधौ, लभन्ते दुःखसन्ततिम् । इमं कथानकस्यार्थं, बुद्ध्वाऽसौ विरतो मुनिः ॥३८६॥
हेतावीदृग्विवेकस्य, कर्मवज्रविभेदने । श्रुते कथानके ह्यस्मिन्, को वा न विरतिं श्रयेत् ॥३८७॥
को वा भूत्वाऽऽत्मबोहित्थं, भावरत्नैः शिवालयम् । न गच्छेन्नृभवं प्राप्य, रत्नद्वीपसमं कृती ॥३८८॥
भद्रेऽगृहीतसंकेते !, ततस्तच्छृण्वतो मम । अकलङ्कवचो ह्यासं, बह्वी कर्मस्थितिर्गता ॥३८९॥
भद्रकत्वमभूत् तन्मे, वचः किंचित् सुखायितम् । स्थितस्तथाऽप्यहं तूष्णीमकलङ्को मदन्वितः ॥३९०॥
सप्तमस्य मुनेः पार्श्वं, गतस्तं प्रणनाम च । प्रस्तावे सोऽपि वैराग्यहेतुं पृष्टो जगाद तम् ॥३९१॥
संसृतिर्नाम नगरी, विद्यतेऽनादिरक्षया । हट्टमार्गस्तदीयो मे, जातो वैराग्यकारणम् ॥३९२॥ संसृति-नगर्यां हट्टमार्गः
योऽयं ध्यानस्थितः साधुस्तेन मेऽसौ प्रदर्शितः । दीर्घस्थित्यापणश्रेणिर्जन्मसन्ताननामकः ॥३९३॥
सुखदुःखाभिधैः पण्यैः, पूरितस्वार्थतत्परैः । आश्रितः संचयोद्युक्तैर्जीववाणिजकैः सदा ॥३९४॥

मूल्यैः पण्यानि लभ्यन्ते, जघन्योत्कृष्टमध्यमैः। भावैस्तदनुरूपाणि, तत्रोद्घाटापणे सदा ॥३९५॥
तत्र नाम्ना महामोहो, बलाधिकृत उच्यते। कामादयश्च तद्भृत्या, रोरा निष्पुण्यका जनाः ॥३९६॥
तत्र जीवाधमर्णानां, धनिकैः कर्मनामकैः। विधीयते धरणकं, दुर्मोचं खेदकारणम् ॥३९७॥
मत्ताः कलकलायन्ते, कषायास्तत्र डिम्भकाः। भ्रमन्ति च प्रमादाख्याः, षिङ्गाश्चित्रविलोकिनः ॥३९८॥
अञ्जिते मुनिना ज्ञानाञ्जनेनात्र स्थितस्य मे। अनेनाक्ष्णि ततोऽत्रस्था, दृष्टाः सर्वेऽपि दुःखिताः ॥३९९॥
ज्ञानाञ्जनस्य माहात्म्याद्, दृष्टो दूरे स्थितो मया। हट्टवीथिमतिक्रम्य, शिवसत्राभिधो मठः ॥४००॥
तत्र दृष्टा मयाऽनन्ताः, सिद्धा व्याधिविवर्जिताः। सर्वातिशयितानन्दा, उपयोगस्वलक्षणाः ॥४०१॥
ततो हट्टाध्वनो मेऽभून्निर्वेदो मठरागतः। उक्तश्चायं महाभागो, मया साधुः कृपाम्बुधिः ॥४०२॥
जायते क्षणमप्यत्र, हट्टमार्गे रतिर्न मे। त्यक्त्वैनं तत् त्वया सार्द्धं, मठे यामि शिवालये ॥४०३॥
मुनिनोक्तं यियासुश्चेन्मठे दीक्षां गृहाण तत्। मयोक्तं दीयतां नाथ!, तेन दत्ता प्रसेदुषा ॥४०४॥
उपदिष्टा मठप्राप्तेरितिकर्तव्यता च मे। तिष्ठामि तामहं कुर्वन्नकलङ्कस्ततोऽभ्यधात् ॥४०५॥
कीदृशी गुरुणोक्ता ते, मठस्य प्रापिका क्रिया। मुनिराह महाभाग!, गुरुरित्थं ममादिशत् ॥४०६॥
परिग्रहेऽस्ति ते, सौम्य! वासापवरकः किल। कायाभिधानः पञ्चाक्षगवाक्षकृतविभ्रमः ॥४०७॥
तत्र कार्मणतन्वाख्यमस्ति गर्भगृहं बृहत्। गवाक्षाभिमुखानेकक्षयोपशमरन्ध्रभृत् ॥४०८॥

तत्रास्ति कपिरूपं च, चित्ताख्यमतिचञ्चलम् । सदैव तेन भवता, दीक्षा ग्राह्या सुखेच्छुना ॥४०९॥
नाकाण्डे शक्यते त्यक्तुं, तत् कर्तव्यं सुरक्षितम् । विद्यते गर्भगृहके, भूयांसोऽस्य ह्युपद्रवाः ॥४१०॥
तत्रेदं भक्ष्यते दीनं, कषायैर्दुष्टमूषकैः । वृश्चिकैर्नोकषायैश्च, दशद्भिः परिपीड्यते ॥४११॥
मोहमार्जारदुःसंज्ञामार्जारीभिश्च खाद्यते । रागद्वेषाभिधश्यामोन्दुराभ्यां च विलुप्यते ॥४१२॥
ताप्यते दंशमशकैरुपसर्गपरीषहैः । विह्वलीक्रियते वज्रतुण्डैर्दुर्बोधमत्कुणैः ॥४१३॥
पीड्यतेऽलीकचिन्ताभिर्गृहगोधाभिरन्वहम् । कृकलासैः प्रमादाख्यैर्दारुणैरभिभूयते ॥४१४॥
त्रोट्यते षट्पदीजालैरविरत्यभिधैः सदा । मिथ्यादर्शननाम्ना च, तमसा परिभूयते ॥४१५॥
ततः पतति तद्भूरिवेदनाभरनिःसहम् । रौद्रध्यानमहागर्ते, दुष्टव्यालचतुष्टये ॥४१६॥
अप्रमत्तेन तदिदं, रक्षणीयं त्वया सदा । तस्यायं रक्षणोपायः, श्रूयतां शुद्धचेतसा ॥४१७॥
सन्ति तत्रापवरकगवाक्षद्वारपञ्चके । विस्तारभाजः पञ्चैव, विषया विषपादपाः ॥४१८॥
दारुणास्ते स्वरूपेण, नाम्नाऽपि व्यथयन्त्यदः । घूर्णयन्त्यपि गन्धेन, चलयन्त्यपि दर्शनात् ॥४१९॥
निघ्नन्ति स्मरणेनापि, स्पर्शनास्वादनोद्यतम् । निपातयन्ति यदिदं, तत्राश्चर्यं किमुच्यते ॥४२०॥
ते चास्योपद्रवार्त्तस्य, भान्ति हृद्याम्रका इव । तानभ्येति गवाक्षैस्तैस्ततो गाढाभिलाषतः ॥४२१॥
रज्यते सुन्दरत्वेन, केषुचित् तत्फलेषु तत् । विद्वेष्ट्यसुन्दराणीति, कानिचित् तत्फलानि च ॥४२२॥

तच्छाखासु भ्रमत्युच्चैर्लोलुठीत्यर्थसञ्चये । तदधःपतिते पत्रफलपुष्परजोभरे ॥४२३॥
गुण्ड्यते कर्मसंज्ञेन, तत्पुष्पफलरेणुना । भोगस्नेहाभिधेनार्द्रीक्रियते च रसेन तत् ॥४२४॥
चिन्तितं मयका चित्ते, भावार्थग्राहिणा ततः । सामान्यरूपाः शब्दाद्या, अभिप्रेता विषद्रुमाः ॥४२५॥
तद्विशेषाश्च कुसुमान्यस्फुटाः प्रकटाः पुनः । फलानि शाखाः स्थानानि, तदाधारस्य वस्तुनः ॥४२६॥
लोकोपचाराद् गदिता, तेषु चित्तकपेर्गतिः । वदन्ति हि जना व्यक्तं, मनोऽगादमुकत्र मे ॥४२७॥
सोत्साहेनेति बुद्ध्वोच्चैर्मया प्रोक्तं गुरुं प्रति । अयं भावो मया बुद्धो, भाषितव्यमतः परम् ॥४२८॥
गुरुराह ततश्चास्य, विषवृक्षरजःस्पृशः । महाक्षतानि जायन्ते, देहो दाहेन दह्यते ॥४२९॥
ततः क्वचिच्छरीरेऽस्य, जायते कृष्णरूपता । क्वचिच्च रक्तता गर्भगृहोक्तोपद्रवास्ततः ॥४३०॥
तदप्रमादसंज्ञोग्रवज्रदण्डभृता त्वया । आस्फोट्य वीर्यहस्तेन, वारणीयं प्रसह्य तत् ॥४३१॥
बहिर्गवाक्षैर्निर्गच्छेत् फलानां भक्षणेच्छया । द्रुमेषु विषयाख्येषु, लौल्योद्रेकात् पुनः पुनः ॥४३२॥
बहिःप्रचारहीनस्य, ततोऽस्यानभिलाषिणः । शोषं यास्यति देहस्य, भोगस्नेहकृताऽऽर्द्रता ॥४३३॥
शटिष्यति ततो रौक्ष्यात्, तद्रजश्च प्रतिक्षणम् । क्षतान्यपि च रोक्ष्यन्ति, दाहोऽपि शममेष्यति ॥४३४॥
भविष्यति न कृष्णत्वं, रक्तता च विनङ्क्ष्यति । आविर्भविष्यति श्वैत्यं, स्थैर्यं च रमणीयता ॥४३५॥

१ शाखास्था- की. मु ।

तेऽप्यप्रमाददण्डेन, निष्पेष्या मूषकादयः । ततो गर्भगृहस्थायि, निर्बाधं तद् भविष्यति ॥४३६॥
तदयं रक्षणोपायस्तस्य ते कीर्तितो मया । मयोक्तं रक्षितेनार्थः, कस्तेन भगवन्! मम ॥४३७॥
गुरुराह शिवप्राप्तिः, स्यादित्थं रक्षितात् ततः । अरक्षितस्य तस्य स्याच्चक्रकाद् भ्रमणं भवे ॥४३८॥ तथाहि–
तत् तैरुपद्रवैर्गाढं, मूषकाद्यैः प्रपीडितम् । मूषकाद्याः प्रगल्भन्ते, भक्षणादेव तस्य ते ॥४३९॥
भूयश्च पीड्यमानं तैराभ्रकेष्वेव धावति । पुनर्गुण्डनमेवास्य, स्नेहेन पुनरार्द्रता ॥४४०॥
पुनश्च क्षतसम्पत्तिः, पुनः सर्वेऽप्युपद्रवाः । अस्य वानररूपस्य, चक्रकं दुस्तरं हृदः ॥४४१॥
विधेयश्चक्रकोच्छेदो, रक्षता तददस्त्वया । उपायेन मदुक्तेन, शुद्धमार्गेण गच्छता ॥४४२॥
ततो भावार्थविदुषा, मयेदं परिचिन्तितम् । रागाद्युपद्रुतं चित्तं, विषयेषु प्रवर्तते ॥४४३॥
प्रवृत्तस्य च तेष्वस्य, जायते कर्मगुण्डनम् । ततस्तस्यार्द्रता या स्यात् , सा भोगस्नेहवासना ॥४४४॥
ततो भवन्ति संसारसंस्काराश्च क्षतोपमाः । व्यथयन्ति ततश्चित्तं, सर्वे रागाद्युपद्रवाः ॥४४५॥
मूषकाद्याः प्रगल्भन्ते, ततः सर्वे प्रतिक्षणम् । धावति प्रेर्यमाणं तैर्भूयश्च विषयेषु तत् ॥४४६॥
पुनः कर्म पुनः स्नेहः, पुनः सर्वेऽप्युपद्रवाः । तदस्मिन् चक्रके मग्नं, चित्तमेतन्न मुच्यते ॥४४७॥
रक्षको वज्रदण्डोऽस्य, गुरुणा मेऽभ्यधायि यः । तमप्रमादमादाय, वारयिष्यामि तद् दृढम् ॥४४८॥
भावयिष्यामि संसारविलासं स्वप्नसन्निभम् । निर्वर्त्स्यते ततश्चित्तबन्धो मे भवजालतः ॥४४९॥

१ गिर्तो रा. ना. ।

अनाद्यभ्यासनमेव, बहिर्गन्तुमन पुनः पुनः । आत्मन्येव सदाधार, स्थापयिष्यामि यत्नतः ॥४५०॥
तत्रैवं स्थिरयिष्यामि, बहिर्निर्यासि चित्त ! किम् । एकत्र तिष्ठ निभृतं, यथाऽऽनन्दे निमज्जसि ॥४५१॥
किं बहिर्विषये भ्रान्त !, भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विषीदसि । स्थिरं स्वमाश्रयस्वैव, स्थिरता दर्शयिष्यति ॥४५२॥
ज्ञानदुग्धं विनश्येत, क्षोभविक्षोभकाञ्जिकैः । अस्थैर्याद्विनाश्यैर्यादिति मत्वा स्थिरीभव ॥४५३॥
त्वयाऽन्तःस्थं महाशून्यपर्यन्तं यदि नोद्गतम् । क्रियोपचयस्य को दोषस्तदा गुणमयच्छतः ॥४५४॥
स्थैर्यरत्नप्रदीपश्चेद्, दीप्रः संकल्पदीपकैः । तत्कृतैर्विकल्पैः धूमैरलं धूमैस्तथाऽऽश्रवैः ॥४५५॥
उदीरयिष्यसि स्वान्त ! यद्यस्थैर्यमहाऽनिलम् । समाधेर्धर्ममेघस्य, घटां विघटयिष्यसि ॥४५६॥
हित्वा बहिर्भ्रमं चित्त !, तदात्मन्येव संचर । तत्रात्मचारो निर्वाणं, बहिश्चारो भवोदधिः ॥४५७॥
सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् । बहिश्च परवत्ता ते, सुखं स्वाधीनमात्मनि ॥४५८॥
दंदह्यमानं भोगाग्नौ, बहिर्भ्रमसि संभ्रमात् । धृतं शमामृतभृते, किं चित्तात्मनि ताम्यसि ॥४५९॥
तिष्ठात्मन्येव तच्चित्त !, गुणपूर्णे निराकुलम् । अत्र स्थितस्य ते भोगस्नेहशोषाद् रजःक्षतिः ॥४६०॥
दुर्वासनाव्रणौघस्य, रोहणं च भविष्यति । ततस्ते व्याधिहीनस्य, भोगरागो विनङ्क्ष्यति ॥४६१॥
ये मुहूर्तं सुखाभासा, भुक्ताः स्युः क्षतवर्द्धनाः । न सेव्यास्ते त्वया भोगाः, कण्डूकण्डूयनोपमाः ॥४६२॥
संक्लिष्टवासनाध्यानदारुणक्षतकारकान् । हित्वा भोगान् निराबाधमध्यात्मपदमाश्रय ॥४६३॥

॥१८१॥

शिक्षयित्वेदमित्येवं, चित्तं तद्रक्षणोद्यमम् । करिष्ये धारयिष्यामि, धारणापञ्जरे च तत् ॥४६४॥
तत्पीडकान् कषायाद्यान् , हनिष्याम्यप्रमादतः । भावीदमित्थं विक्षिप्तयातायातदशोर्ध्वगम् ॥४६५॥
श्लिष्टं भूत्वा ततः स्थाण्णुस्वरूपे स्वास्थ्यमाप्स्यति । यास्यन्ति प्रलयं सर्वे, ततो रागाद्युपद्रवाः ॥४६६॥
विद्योदयेन ध्यानेन, प्रतिपक्षनिषेवया । उपद्रवेषु लीनेषु, सुलीनं तद् भविष्यति ॥४६७॥
विमुक्तविषयग्राममात्मारामभिदं ततः । घटिष्यते शिवायैव, शान्तरागाद्युपद्रवम् ॥४६८॥
तिष्ठामीत्याकलय्याहं, तथा कुर्वन्निहाधुना । अकलङ्कोऽवदद् बुद्धं, त्वया साधु गुरोर्वचः ॥४६९॥
प्रारब्धं तदनुष्ठानं, शोभनं च मयाऽप्यदः । भदन्त ! चक्रकं श्रुत्वा, कल्पितं चक्रकान्तरम् ॥४७०॥
तत् किं युक्तमयुक्तं वा, मुनिराह निवेदय । अकलङ्कोऽवदच्चित्तं द्रव्यभावतया द्विधा ॥४७१॥
आद्यं पर्याप्तिमज्जीवगृहीतं पुद्गलात्मकम् । गीयते भावचित्तं च जीवस्तदुपयोगवान् ॥४७२॥
तद् भावचित्तं नियमाज्जीवो जीवश्च तन्न वा । येन केवलिनो भावचित्तहीनाः प्रकीर्तिताः ॥४७३॥
इत्थं च कार्मणस्थैतद् विपर्यासविजृम्भितात् । आसक्तिमनिशं धत्ते, जीवो रागादिवस्तुषु[1] ॥४७४॥
स्नेहतन्तुभिरादत्ते, ततः कर्माणुसंचयम् । जन्मान्तरं प्रारभते, ततस्तेन वशीकृतः ॥४७५॥
पुनस्तत्र विपर्यासः, पुना रागादिसन्ततिः । पुनश्च विषयाकाङ्क्षा, पुनस्ते स्नेहतन्तवः ॥४७६॥

---

[1] रागादिषु स्निग्धरूपा प्रवर्तमानो विषयास्वङ्क्षां तनोतीत्यर्थः । रा. ज्ञा. डे. ज्ञा. टिप्पनी ।

पुनः कर्मसमादानं, पुनर्जन्मोद्भवस्ततः । पुनस्तत्र विपर्यासः, पुना रागादिकः क्रमः ॥४७७॥
भवानिष्ठाकरमिदं, विपर्यासादि चक्रकम् । मयाऽभ्यूहितमत्रार्थे, संवादो मृग्यते तु वः ॥४७८॥
मुनिराह महाभाग !, सत्यमेतन्न संशयः । शास्त्रार्थमार्गं नात्येति, मतिर्मार्गानुसारिणी ॥४७९॥
मयाऽप्यभ्यूहितं ह्येतच्चक्रके गुरुभाषिते । समर्थितं च गुरुभिस्तदुक्तार्थानतिक्रमात् ॥४८०॥
अनिष्ठितभवे हेतुर्विपर्यासादिचक्रकम् । अत एव समुच्छेद्यो, विपर्यासो मुमुक्षुणा ॥४८१॥
काष्ठेयं तत्त्वबोधस्य, विवेकोऽयमनुत्तरः । अयं निराश्रवो धर्मो, यद् विपर्यासवर्जनम् ॥४८२॥
अविपर्यस्तविज्ञातुरप्रमत्तस्य पश्यतः । स्वस्माद् भिन्नान् मनोभावान् , मोहशक्तिः प्रलीयते ॥४८३॥
अयं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत् । अयमेव च नञ्पूर्वः, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥४८४॥
यश्चिद्दर्पणविन्यस्तसमस्ताचारचारुधीः । क्व नाम स परद्रव्येऽनुपयोगिनि मुह्यति ॥४८५॥
अमूढस्य च न द्वेषो, दुःखे नापि सुखे स्पृहा । संचिनोति न कर्माणि, रागद्वेषोज्झितः पुनः ॥४८६॥
ततोऽसौ बीजविरहान्नारभेत भवान्तरम् । ततश्च चक्रकोच्छेदो, जायतेऽनुद्भवात्मकः ॥४८७॥
द्वयोश्चक्रकयोर्वेत्ति, प्रवर्तननिवर्तनम् । योऽनयोस्तस्य संसारे, कथं स्याच्चित्तनिर्वृतिः ॥४८८॥
भावाद् भवानिवृत्तस्तु, वेत्ति नो चक्रकद्वयम् । ज्ञानं सम्यक्प्रवृत्त्यैव, फलवत् ब्रुवते बुधाः ॥४८९॥
सम्यगभ्यूहितं तेन, त्वयेदं भद्र ! चक्रकम् । उक्तोऽस्य गुरुणा नाशश्चित्तवानररक्षणात् ॥४९०॥

अकलङ्कोऽवदत् केनोपायेन स्वान्तवानरम्। शिवालयमठे प्रोक्तं, गुरुणा नयनक्षमम् ॥४९१॥
मुनिगह स तत्रैतां, दिशं गुरुरदर्शयत्। सन्ति गर्भगृहे तत्र, लेश्याः षट् परिपालिकाः ॥४९२॥
क्रमात् क्रूरतमाः क्रूरतराः क्रूराः स्वरूपतः। तद्वानराहिता गर्भगृहानर्थप्रपञ्चिकाः ॥४९३॥
दुःस्थाकुले हट्टमार्गे, तत्राप्यत्रैव धारिकाः। निवारिका मठगतेस्तिस्रस्तत्रादिमाः स्मृताः ॥४९४॥
उपरिस्थाः पुनः शुद्धविशुद्धातिविशुद्धकाः। चित्तस्य हितदा गर्भगृहशुद्धिविधायिकाः ॥४९५॥
निस्सारिकास्तत्राप्यस्माद्धट्टमार्गाद् विगर्हितात्। तिस्रोऽनुकूला वर्तन्ते, शिवालयमठे गतेः ॥४९६॥
परिणामाभिधः षड्भिरप्यमूभिश्च दर्दरः। कृतोऽस्ति गर्भगेहेऽस्मिन्नुपर्यारोहणार्थकः ॥४९७॥
तत्रोर्ध्वमध्यवमितिस्थानाख्याः पदिकाः कृताः। पृथक् पृथगसंख्याताः, स्वस्ववर्णसमत्विषः ॥४९८॥
संस्थितं तत्र पदिकास्वाद्यत्रयकृतासु तत्। चित्तवानरमुत्प्लुत्य, विषवृक्षेषु धावति ॥४९९॥
ततो भवत्यनर्थानां, भाजनं प्रोक्तया दिशा। क्वचिन्नष्टं कचिल्लीनं, क्वचित् तप्तं क्वचिज्जडम् ॥५००॥
आरोहणीयं तेनोर्ध्वं, ताभ्यो निस्सार्य तत् त्वया। आरोहतस्ततस्तुर्यपदिकासु प्रतिक्षणम् ॥५०१॥
यास्यन्त्युपद्रवाः कार्श्यं, तापः स्तोको भविष्यति। तस्याग्रकाभिलापश्च, मनागल्पीभविष्यति ॥५०२॥
शोषं यास्यत्यार्द्रतेषद्, रजः किंचिन्त्रुटिष्यति। ततो मनाक् सुखं लब्ध्वा, तद् भविष्यति भास्वरम् ॥५०३॥
कृतास्वारोहणीयं तत्, ततः पञ्चमलेश्यया। पदिकास्वस्य सन्तापो, भावी स्तोकतरस्तदा ॥५०४॥

उपद्रवास्तनुतरा, भविष्यन्ति तनीयसी। भविष्यत्याम्रवाञ्छा च, देहः शुष्कतरस्तथा ॥५०५॥
मनाक् क्षतानि रोक्ष्यन्ति, रजो भूरि पतिष्यति। प्राप्स्यत्येतन्महाह्लादं, धावल्यं धारयिष्यति ॥५०६॥
वर्धिष्यते तदङ्गेन, भविष्यति महोन्नतम्। आरोहणीयं तत् षष्ठपदिकासु ततस्त्वया ॥५०७॥
तासु चारोहतस्तस्य, लयं यास्यन्त्युपद्रवाः। दुःखासिका स्तोकतमीभविष्यति च सर्वथा ॥५०८॥
अत्यल्पतमतां यास्यत्याम्रवृक्षाभिलापिता। तद्रजःपङ्कनिकरे, लुठनेच्छा त्रुटिष्यति ॥५०९॥
कात्स्न्र्येन चार्द्रता शोषं, प्रयास्यति तदङ्गतः। भूयिष्ठो रेणुनिचयस्ततः परिपतिष्यति ॥५१०॥
भविष्यति सदानन्दं, शुद्धस्फटिकनिर्मलम्। आप्यायितं च तत् तत्र, धर्मध्यानेन वायुना ॥५११॥
सुखकारितया मन्दः, शीतः सन्तापनाशनात्। गुणाम्बुजरजःसङ्गात्, सुरभिश्च समेति सः ॥५१२॥
अस्ति वानरयूथं च, तत्रोच्चपदिकात्रये। संलीनं विषवृक्षेषु, सर्वथा विगतस्पृहम् ॥५१३॥
शमसन्तोषसत्याद्यैर्वानरैः परिवारितम्। वानरीभिर्धृतिश्रद्धाधारणाद्याभिराश्रितम् ॥५१४॥
समाधिब्रह्मशौचादिवरवानरराजितम्। तस्य वानरजीवस्य, तदत्यन्तहितावहम् ॥५१५॥
आरूढस्योच्चपदिकास्वाविर्भूय करिष्यति। शुक्लध्यानाख्यगोशीर्षचन्दनद्रवसेचनम् ॥५१६॥
ततोऽर्धमार्गेऽतिक्रान्ते, गाढानन्देन निर्भरम्। नात्युच्चपदिकास्वेतत्, समारोक्ष्यति निःसहम् ॥५१७॥
आत्मभूतेन तेनोच्चैर्नीतस्त्वं तावतीं भुवम्। निस्सहं तत्र तन्मुक्त्वा, गच्छेरूर्ध्वं समाधिमान् ॥५१८॥

पर्यन्ते पदिकामार्गमपि त्यक्त्वा स्वशक्तितः। पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारकालं स्थित्वा विहायसि ॥५१९॥
निरालम्बेन रूपेणोड्डीय गन्तव्यमुच्चकैः। शिवालयमठे स्थेयं, शाश्वतानन्दशालिना ॥५२०॥
दिशाऽनया वानरकं, तन्मठे नयनक्षमम्। इति मे गुरुणा प्रोक्तं, तदाज्ञा क्रियते मया ॥५२१॥
अथाकलङ्को मौनीन्द्रवचोभावविदब्रवीत्। चारु चारूपदिष्टं ते, गुरुणा ज्ञानभानुना ॥५२२॥
चारु तद्वचनं कर्तुं, मुनिराज! प्रवर्तसे। प्रत्यासीदति मुक्तिस्त्वां, कृतेदृशमनोजयम् ॥५२३॥
ततोऽगृहीतसंकेते!, सोऽकलङ्को महाशयः। आर्द्रीकर्तुं मम मनो, ववर्षेमां वचःसुधाम् ॥५२४॥
स्फुटाक्षरैरनेनेत्थं, मुनिना यन्निवेदितम्। तद् भद्र! भवताऽबोधि, किं न वा घनवाहन! ॥५२५॥
चित्तमेव ममाख्यातमनेन क्लेशवर्जितम्। मोक्षस्य प्रापकं मुख्यं, सामग्र्यन्या तदर्थिका ॥५२६॥
लेश्यानां परिणामेन, तत् क्लेशत्याजनक्षमम्। शुद्धेष्वध्यवसायेषु, गच्छदेवोपपद्यते ॥५२७॥
इदं हेतुर्भवस्यापि, शिवस्यैव न केवलम्। यत् पूर्वपदिकारूढं, हट्टमार्गे नयत्यदः ॥५२८॥
असंख्याध्यवसायेषु, चरत् तत् चित्तवानरम्। विचित्रयोनिरूपस्य, संसारस्य विधायकम् ॥५२९॥
पदिकायां समारुह्य, मरणोत्प्लवनं हि तत्। करोति प्राणभाजस्तत्पदिकास्थभवे नयेत् ॥५३०॥
सदोषं भवहेतुस्तत् निर्दोषं मोक्षदं मनः। अत एव परेऽपीत्थमामनन्ति मनीषिणः ॥५३१॥
चित्तमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम्। तदेव तैर्विनिर्मुक्तं, भवान्त इति कथ्यते ॥५३२॥

गुह्याद् गुह्यतरं तत्त्वं, तदिदं कथयामि ते। चित्तमेव हि सद्रत्नं, रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥५३३॥
यावद्धावति चित्तं ते, जवनं पवनादपि। कामेषु सुखगन्धोऽपि, तावत् तव न विद्यते ॥५३४॥
यदा बहिर्भ्रमं त्यक्त्वा, स्थिरीभावं प्रपद्य च। निस्पृहं भावि चित्तं ते, तदा ते परमं सुखम् ॥५३५॥
यदा ध्यानसरोमध्ये, निलीनं स्वगुणाम्बुजे। भविष्यत्यलिवच्चित्तं, तदा ते परमं सुखम् ॥५३६॥
अभिरामासु रामासु, श्यामासु च मषीषु ते। यदा समं भवेच्चित्तं, तदा ते परमं सुखम् ॥५३७॥
प्रत्यवस्थातरि क्रुद्धे, स्वान्तशुद्धे च सज्जने। यदा मनस्ते निर्भेदं, तदा ते परमं सुखम् ॥५३८॥
स्फुरत्कान्तिषु रत्नेषु, मृत्स्नायां च न भेदिनी। यदा ते स्यान्मनोवृत्तिस्तदा ते परमं सुखम् ॥५३९॥
अनभ्रानुपरागेन्दुनिर्मलं ते यदा मनः। रजस्तमोऽनभिभवात्, तदा ते परमं सुखम् ॥५४०॥
प्रतिष्ठा शौकरी विष्ठा, राज्यं चित्ते यदा रजः। भोगा रोगा इवाभान्ति, तदा ते परमं सुखम् ॥५४१॥
व्याघ्रादिवान्यनिन्दायाः, परद्रोहादहेरिव। यदा बिभेति चित्तं ते, तदा ते परमं सुखम् ॥५४२॥
धर्मश्चित्ते परिणमेच्चन्दने गन्धवद् यदा। आकालमेकभावेन, तदा ते परमं सुखम् ॥५४३॥
शीततापादिभिर्भावैः, स्याच्चित्तस्यानुपद्रुता। सर्वंसहा यदा वृत्तिस्तदा ते परमं सुखम् ॥५४४॥
यदा न प्रेर्यते चित्तं, चिन्मात्रप्रतिबन्धतः। अनादिवासनावातैस्तदा ते परमं सुखम् ॥५४५॥
ज्ञाननीरैर्व्रतक्षारैर्धौतपापमलं यदा। चित्तवस्त्रं भवेच्छुद्धं, तदा ते परमं सुखम् ॥५४६॥

संपूर्य ब्रह्मणा सर्वं, समसुखात्मकं जगत्। यदा ध्यायति ते चित्तं, तदा ते परमं सुखम् ॥५४७॥
संहृत्य बुद्बुदप्रायान्, भावान् सांसारिकान् यदा। चित्तोदधिः स्थिरस्ते स्यात्, तदा ते परमं सुखम् ॥५४८॥
परस्यप्रेक्षितां त्यक्त्वा, दासतां लप्स्यते मनः। यदाऽनुभवसाम्राज्यं, तदा ते परमं सुखम् ॥५४९॥
न सुषुप्तं यदा चित्तं, न सुप्तं नापि जागरम्। तुर्यावस्थानुभवभृत्, तदा ते परमं सुखम् ॥५५०॥
इति चित्तं विना नान्यः, सुखहेतुर्जगत्त्रये। चित्तवृत्तिं ततो रक्ष, लक्षयन् वास्तवीं स्थितिम् ॥५५१॥
ततोऽहमकलङ्कस्य, सिक्तस्तद्वचनामृतैः। शर्मागृहीतसंकेते!, मनाक् चित्तेऽनुभूतवान् ॥५५२॥
भिन्नं मे कर्मपटलं, तदुद्दष्टान्तरयोघनैः। अतीत्याहं स्थितिं बह्वीं, कर्मग्रन्थ्यन्तिके स्थितः ॥५५३॥
इतश्च सैन्यं चारित्रधर्मराजस्य यत् स्थितम्। चित्तवृत्तिमहाटव्यां, निरुद्धं मोहसेनया ॥५५४॥
तदा तत् तादृशं दृष्ट्वा, पीडितं शत्रुभिर्बलम्। सद्बोधमन्त्री चारित्रधर्मभूपमभाषत ॥५५५॥
कर्तव्यो देव! नो खेदो, दृश्यते कुसुमोद्गमः। अस्मन्मनोरथतरोः, संसार्यस्ति यदुन्मुखः ॥५५६॥
दृष्टाऽधुना मनाक् शुभ्रां, चित्तवृत्तिमहाटवीम्। ऊहे संसारिजीवस्यासद्ज्ञानाभ्यर्णवर्तिताम् ॥५५७॥
अस्य दृष्टौ च शक्तिर्नः, शत्रुघाते स्फुरिष्यति। मन्त्राधिष्ठायकस्येव, मन्त्रशक्तिर्महीयसी ॥५५८॥
तमापृच्छ्य ततः कर्मपरिणाममहीभुजम्। पार्श्वे संसारिजीवस्य, प्रेष्यतां कोऽपि मानवः ॥५५९॥
भूयसाऽनेहसा बाढं, ततस्तेनाकुलितः। सतृष्णो दर्शनेऽस्माकं, स निर्मिथ्यं भविष्यति ॥५६०॥

ततश्चारित्रधर्मेण, प्रोक्तं कः प्रेपणोचितः। सद्बोधः प्राह सर्वेपामुपकारी सदागमः ॥५६१॥
संस्तवात् सोऽस्य बहुशो, दिदृक्षुर्नो भविष्यति। तस्मै कर्मपरिणामस्ततोऽस्मान् ज्ञापयिष्यति ॥५६२॥
ततो वयं हनिष्यामः, शत्रून् श्रुत्वेति मन्त्रिणः। वाचं नृपो मदभ्यर्णे, प्रजिघाय सदागमम् ॥५६३॥
प्रत्यब्रवीच्च सचिवं, सम्यग्दर्शननामकः। अनेन सार्धमेषोऽपि, किं न प्रेष्यो महत्तमः ॥५६४॥
सद्बोधः प्राह भात्युच्चैर्युक्तोऽनेन सदागमः। प्रस्तावाभावतः किन्तु, नाधुनैष प्रहीयते ॥५६५॥
भूपः प्राह कदा मन्त्रिन्! प्रस्तावोऽस्य भविष्यति। मन्त्र्याहोच्चैर्यदा गन्ता, रागमेप सदागमे ॥५६६॥
तदैव प्रेषणीयोऽयं, तस्य पार्श्वे महत्तमः। भूयः सदागमासंगाद्, योग्यता सा भविष्यति ॥५६७॥
यथा रत्ने शतक्षारपुटशोध्ये फलावहः। उत्तरेण श्रमः प्राच्यस्तथा ज्ञेयः सदागमे ॥५६८॥
प्राप्नोति जीवः संसारी, भूयो भूयः सदागमात्। वीर्यं यदाऽस्यावसरस्तदा सम्यक्त्वयोजने ॥५६९॥
प्रपन्ने मन्त्रिवचने, ततस्तेन महीभुजा। सदागमः सन्निधानं, क्रमान्मम समागतः ॥५७०॥
ज्ञानसंवरणो नाम, महामोहनियुक्तकः। लीनः स्थितस्ततो दृष्ट्वा सदागमसमागमम् ॥५७१॥
अकलङ्कोऽथ संप्राप्तो, ध्यानारूढस्य सन्निधौ। मया सह निषण्णश्च, तं प्रणम्य महामुनिम् ॥५७२॥
धर्मलाभाशिषं दत्त्वा, पूर्णध्यानः स देशनाम्। अकलङ्काय दत्ते स, मोहमत्तेभकेसरी ॥५७३॥
तस्य पार्श्वे मया दृष्टः, स महात्मा सदागमः। ज्ञापितश्चाकलङ्केन, वयस्यायं सदागमः ॥५७४॥

एते हि मुनयोऽस्याज्ञां, लङ्घयन्ति न कर्हिचित्। सूरिरेषोऽस्य जानीते, महिमानमुदारधीः ॥५७५॥
सर्वेषां जायते ज्ञानमस्मादेव सदागमात्। त्वमप्येनं प्रपद्यस्व, कोविदाचार्यसेवया ॥५७६॥
मया तदनुरोधेन, प्रतिपन्नः सदागमः। मुदितेन ततः किंचिद् विरलीभूतकर्मणा ॥५७७॥
तद्गुणान् कोविदाचार्यो, मम कांश्चिदबोधयत्। भद्रकत्वं ततः किंचिज्जातं श्रद्धानवर्जितम् ॥५७८॥
साधुदाननमस्कारपाठार्हद्वन्दनादिकम्। अकलङ्कानुरोधेन, मया किंचित् तदा कृतम् ॥५७९॥
अकलङ्कस्तु संपृच्छय, मातापित्रादिकं जनम्। जग्राह कोविदाचार्यसन्निधौ संयमं तदा ॥५८०॥
विजहार च तेनैव, सार्द्धमन्यत्र शुद्धधीः। नष्टाज्ञानः शिवाकाङ्क्षी, कष्टानुष्ठानकारकः ॥५८१॥
इतश्चाह महामोहं, सदागमहतच्छविम्। ज्ञानसंवरणं ज्ञात्वा, रागकेसरिमन्त्रिराट् ॥५८२॥
इयन्तं यद्बलात् कालं, वयं चिन्तोज्झिताः स्थिताः। ज्ञानसंवरणो भीतः, स समेतात् सदागमात् ॥५८३॥
असौ संसारिजीवस्य, तन्नोपेक्ष्यः स्थितोऽन्तिके। नखच्छेद्यं हि न प्राज्ञः, कुठारच्छेद्यतां नयेत् ॥५८४॥
इदं मन्त्रिवचः श्रुत्वा, महामोहसभाऽखिला। क्षुब्धा योधा महाक्रोधाः, सर्वे जाता रणोद्यताः ॥५८५॥
हन्तव्यः स महापापो, मया गत्वा सदागमः। इति प्रत्येकमुक्त्वा ते, स्थिता नृपमुखेक्षिणः ॥५८६॥
महामोहोऽवदद् वत्सा !, यूयं कर्तुमिदं क्षमाः। मया हतो हतो नूनं, सर्वैर्युष्माभिरेव सः ॥५८७॥
अतोऽहं यामि तं हन्तुं, यूयमत्रैव तिष्ठत। प्रतिजागरणं कार्यं, युष्माभिर्मेऽन्तराऽन्तरा ॥५८८॥

परिग्रहं नयाम्येकं, स्वाङ्गभूतमिमं सह। रागकेसरिपुत्रस्य, सागरस्य वयस्यकम् ॥५८९॥
ज्ञात्वा निर्बन्धमखिलैः, प्रतिपन्नं वचोऽस्य तत्। ममागतौ ततः पार्श्वं, महामोहपरिग्रहौ ॥५९०॥
वीक्षितौ तौ मया स्नेहः, सह ताभ्यामभून्मम। अनाद्यभ्यासयोगेन, दूतेन कृतनिर्भरः ॥५९१॥
इतश्चाभूद् यशःशेषो, जीमूतो भूमिवासवः। स्थापितोऽहं च साम्राज्ये, मन्त्रिबन्धुमहत्तमैः ॥५९२॥
जातः सीम(मा)न्तभूपालभालचुम्बितपत्कजः। दिनस्यार्क इवोर्जस्वी, राज्यस्य परिणामतः ॥५९३॥
तत्र पुण्योदयो हेतुर्मया मोहान्न लक्षितः। विषयेष्वथ मुह्यन्तं, मामाचष्टे सदागमः ॥५९४॥
बहिश्चरेषु भावेषु, तुच्छेषु घनवाहन!। माकार्षीर्निःस्वभावेषु, मूर्च्छां दुःखैकधामसु ॥५९५॥
गर्जद्ज्ञानगजोत्तुंगरङ्गद्ध्यानतुरङ्गमाः। चित्ताबन्धाय युक्तास्ते, शमसाम्राज्यसम्पदः ॥५९६॥
भूतिसाम्राज्यभोगादि, महामोहस्तु मेऽखिलम्। वक्ति वस्तु स्थिरं पूर्णमात्मनीनं सुखात्मकम् ॥५९७॥
दत्ते हितोपदेशं च, नास्ति जीवो न निर्वृतिः। न पुण्यपापे न स्वर्गो, भूतमात्रमिदं जगत् ॥५९८॥
अतो यथेष्टं चेष्टस्व, भोगान् भुङ्क्ष्व दिवाऽनिशम्। मा मूढवचनं कृत्वा, वृथा भूः सुखवञ्चितः ॥५९९॥
परिग्रहस्तु मां ब्रूते, कुरु स्वर्णादिसंग्रहम्। असन्तुष्टोऽर्थलाभे हि, जायते सुखभाजनम् ॥६००॥
अहं त्वाकर्ण्य वचनं, त्रयाणामपि तादृशम्। चित्ते दोलायितो यावद्, वाताधूत इव द्रुमः ॥६०१॥
ज्ञानसंवरणो राजा, तावदाक्रम्य मां स्थितः। महामोहप्रसादार्थी, तत्सैन्यबलपोषकः ॥६०२॥

ततः सदागमप्रोक्तं, मया वाक्यं न बुध्यते। परिग्रहमहामोहवाक्यास्वादस्तु लभ्यते ॥६०३॥
ततो धर्मक्रियां त्यक्त्वा, जातोऽहं भोगमूर्च्छितः। निवार्य साधुदानादि, धनसंग्रहणे रतः ॥६०४॥
करेण पीडिता लोकास्ततो मूर्च्छाभृता मया। नारोचत महामोहदोषान्मह्यं सदागमः ॥६०५॥
परिग्रहस्य वीर्येण, पूर्णा तृष्णा न मे धनैः। सदागमो गतो दूरे, मत्वा मां तादृशं ततः ॥६०६॥
निष्कण्टकौ ततस्तुष्टौ, महामोहपरिग्रहौ। आगतः कोविदः सूरिरकलङ्कयुतोऽन्यदा ॥६०७॥
तस्याकलङ्कदाक्षिण्याद्, गतोऽहं नतिहेतवे। स सूरिरकलङ्कश्च, ससाधुर्वन्दितो मया ॥६०८॥
इतश्च दुश्चरित्रं मे, ज्ञातं कोविदसूरिणा। ज्ञानालोकेन लोकोत्तरकलङ्केन चाखिलम् ॥६०९॥
ततो व्यजिज्ञपत् सूरिमकलङ्को निवेद्यताम्। सदागमस्य महिमा, खलसंगे च दूषणम् ॥६१०॥
घनवाहनभूपाय, यथाऽसौ सुखमश्नुते। भक्तः सदागमे दुष्टसंगत्यागी विशेषवित् ॥६११॥
सूरिराह शृणोत्वेष, प्रह्वः श्रोतुमहं स्थितः। ततोऽकलङ्कदाक्षिण्यादथ सूरीन्दुरभ्यधात् ॥६१२॥
क्षमातलपुरे राजा, विद्यते मलसंचयः। मलपक्त्यभिधा तस्य, देवी जातौ तयोः सुतौ ॥६१३॥
कोविदो बालिशश्च द्वौ, तत्र जन्मान्तरेऽजनि। सार्द्धं सदागमेनोच्चैः, कोविदस्यातिसंस्तवः ॥६१४॥
ततो यावत् पुनर्दृष्टस्तावदूहादि कुर्वतः। जाता जातिस्मृतिस्तस्य, हितत्वेनादृतश्च सः ॥६१५॥
तेन सरूपं तस्योच्चैर्बालिशाय निवेदितम्। न तेन प्रतिपन्नं तु, समाक्रान्तेन पाप्मना ॥६१६॥

श्रुति-संग-वृत्तान्तः।

इतश्च प्रहिता कर्मपरिणामेन भूभुजा। स्वयंवरा श्रुतिः कन्या, प्रति कोविदबालिशौ ॥६१७॥
दासः संगाभिधो वष्टस्तस्याश्च प्रहितोऽग्रगः। पटुः सम्बन्धघटने, तौ द्वावपि समागतौ ॥६१८॥
वृतौ तौ भ्रातरौ श्रुत्या, तयोरस्ति परिग्रहे। पर्वतो निजदेहाख्यो, मूर्द्धाख्यं तस्य सानु च ॥६१९॥
विद्येते सपरिक्षेपे, तस्य चोभयपार्श्वयोः। श्रवणाख्यापवरिके, तया ते प्रविलोकिते ॥६२०॥
निवासो रुचितस्तस्यास्तयोर्भर्त्रोरनुज्ञया। स्थिता तयोः सा व्यलसत् , ताभ्यां सिद्धेहिता सह ॥६२१॥
अथ तां प्राप्य मुदितो, दध्यौ चेतसि बालिशः। धन्योऽहं यस्य-सम्पन्ना, श्रुतिर्भार्या मनोहरा ॥६२२॥
ततो मत्वा श्रुतौ रक्तं, तं संगः समभाषत। दम्पत्योर्युवयोः स्नेहः, सम्पन्नो घटमानकः ॥६२३॥
परं संवर्धनीयोऽयं, प्रियसम्पादनात् त्वया। बालिशोऽभिदधेऽस्याः किं, प्रियं संग! निवेदय ॥६२४॥
संगेन भाषितं नाथ!, प्रियोऽस्या मधुरध्वनिः। बालिशः प्राह यद्येवं, पूरयिष्यामि तं ततः ॥६२५॥
अथ तं दारकं तुष्टं, दधार हृदि बालिशः। श्रुतिं चालालयद् बाढं, वीणादीनां कलस्वनैः ॥६२६॥
श्रुतेः स लालने सक्तः, संगदासवशंवदः। धर्माद् दूरे स्थितः षिङ्गो, जातो हास्यो विवेकिनाम् ॥६२७॥
इतश्च कोविदेनापि, पृष्टः शिष्टः सदागमः। एषा प्रिया मम हिता, किं वा नेति निगद्यताम् ॥६२८॥
सदागमोऽवदन्नेयं, ससंगा ते हिता प्रिया। इयं जगद् वशीकर्तुं, प्रहिता रागमन्त्रिणा ॥६२९॥
शुभाशुभकरः कर्मपरिणामो नृपोऽस्ति यः। विश्वासभूर्नृणां तस्य, भ्रातृव्यो रागकेसरी ॥६३०॥

प्रसिद्धशठो लोके, तस्यामात्यो विशेषतः। तत्पुत्रीयं श्रुतिर्भद्र, विश्ववञ्चनतत्परा ॥६३१॥
इयं नरकन्येति, लोको मा भूदनादृतः। महाराजसुतात्वेन, संगोऽमूं ख्यापयत्यतः ॥६३२॥
न हितेयं यतो भार्या, भवतो भर्तृवैरिणी। विश्वासमस्यां मा कार्षीः, सर्पिण्यामिव सर्वथा ॥६३३॥
अकाण्डे शक्यते नेयं, त्यक्तुं त्याज्यस्तु सर्वथा। दासः संगाभिधो येन, नेयं स्याद् दुःखकारिणी ॥६३४॥
संगेनैव श्रुतिर्दुष्टा, वाटिकेव विपद्रुणा। तद्विहीना तु माध्यस्थान्न ते तात! विबाधिका ॥६३५॥
त्यागमर्हति तद् दुष्टो, चष्टोऽयं संगदारकः। सदागमस्य वचनं, प्रपन्नं कोविदेन तत् ॥६३६॥
दासस्त्यक्तः श्रुतेः संगस्ततः श्लाघ्योऽभवद् भुवि। श्रावयन्नप्यसौ शब्दान्, श्रुतेरौत्सुक्यवर्जितः ॥६३७॥
इत्थं च ललमानौ तौ, श्रुत्या कोविदबालिशौ। त्यक्तसंगान्यथाभूतौ, जातौ लब्धसुखासुखौ ॥६३८॥
अन्यदा तौ समारूढौ, बहिरङ्गे महागिरौ। तुङ्गशृङ्गेऽस्ति तत्रैकं, रन्ध्रं देवविनिर्मितम् ॥६३९॥
अदृष्टमूलं मनुजैर्विशालं भूतले गतम्। गान्धर्वं कैन्नरं चेति, यद् गातुं तत्र यामलम् ॥६४०॥
ततो द्वे विहिते रन्ध्रे, दैविके तत्परीक्षकैः। अथ तत्र तदाऽऽयातं, जिगीषुमिथुनद्वयम् ॥६४१॥
ताभ्यां गीतं समारब्धं, मधुरं श्रुतिसौख्यकृत्। परस्परेर्ष्यया ग्रामरामणीयकमूर्च्छितम् ॥६४२॥
तावद्रिशिखरारूढौ, ततः कोविदबालिशौ। वाढं रन्ध्रस्थमिथुनगीतश्रुत्या प्रबोधितौ ॥६४३॥
ततश्च हृदयस्थेन, संगेन प्रेरितो न्यधात्। श्रुतिं तां बालिशो द्वारे, गीताकर्णनतत्पराम् ॥६४४॥

तथा कृतः स संगेन, श्रुतिलौल्येन शून्यहृत्। यथा द्रागुत्कृत्य पतितो, रन्ध्रे शैलशिलोपमः ॥६४५॥
तदास्फोटेन कुपितैः, सर्वैर्गन्धर्वकिन्नरैः। चूर्णितो बालिशस्तत्र, दुःखमारेण मारितः ॥६४६॥
कोविदस्तु तदा मूर्च्छां, श्रुतियुक्तोऽपि नो ययौ। गीते सदागमादेशात्, तत्र संगेन वर्जितः ॥६४७॥
ततस्तं बालिशं दृष्ट्वा, हन्यमानं स कोविदः। गिरिशृङ्गादपक्रान्तः, परं संवेगमागतः ॥६४८॥
धर्मघोषाभिधं प्राप्य, सूरिं तस्यान्तिके ललौ। दीक्षां तेन निजे स्थाने, क्रमाच्चासौ निवेशितः ॥६४९॥
स एषोऽहं महीपाल !, विज्ञेयः कोविदस्त्वया। भ्राता मे बालिशः संगकुमित्रेण विनाशितः ॥६५०॥
अहं सदागमेनैव, दुःखजालाद् विमोचितः। सम्प्रत्यपि करोम्याज्ञामतोऽस्यैव हितैषिणः ॥६५१॥
दुष्टः संगस्ततस्त्याज्यो, न त्याज्यश्च सदागमः। हितैषिणामिदं तत्त्वं, स्वचरित्रेण दर्शितम् ॥६५२॥
आकर्ण्येदं गुरोर्वाक्यं, मयेदं परिभावितम्। त्याजयत्येष मां हन्त, महामोहपरिग्रहौ ॥६५३॥
सदागमेन सार्द्धं च, संस्तवं कारयत्यलम्। ततः किं करवाणीति, यावच्चिन्तापरः स्थितः ॥६५४॥
भावं ज्ञात्वाऽकलङ्केन, तावन्मां प्रति जल्पितम्। बुद्धं भागवतं वाक्यं, किं न वा घनवाहन ! ॥६५५॥
मयोक्तं सुष्ठु बुद्धं स, प्राह तत् क्रियतामिदम्। अकलङ्काश्रयप्रेम्णो, गाढरूढतया ततः ॥६५६॥
अचिन्त्यत्वात् प्रभावस्य, कोविदाचार्यसन्निधेः। कर्मग्रन्थेः पुनः प्रत्यासन्नत्वादुत्तराक्षमः ॥६५७॥
अकलङ्कस्य वचनमहं तत् प्रतिपन्नवान्। भूयः सदागमोऽभ्यर्णे, तदा मम समागतः ॥६५८॥

अष्टमः
स्तबकः।

श्रुतिसंगाद्
बालिश-
मृत्युः।
कोविदस्य
दीक्षा च।

धनवाहनस्य परिग्रहशोकसंबन्धः ।

शीलिता सकला चैत्यवन्दनादिक्रिया पुनः । गुणितं पूर्वपठितं, नमस्कारादि किञ्चन ॥६५९॥
प्रवर्तितं च दानादि, पात्रेषु श्रमणादिषु । दूरीभूतौ मनाग् मत्तौ, महामोहपरिग्रहौ ॥६६०॥
लज्जयेत्यकलङ्कस्य, श्राद्धोऽहं द्रव्यतोऽभवम् । निर्मूर्च्छ इव संसारे, सन्तुष्ट इव वैभवे ॥६६१॥
ततो मां तादृशं ज्ञात्वा, सोऽन्यत्र सह सूरिणा । विजहाराकलङ्कोऽथ, महामोहपरिग्रहौ ॥६६२॥
मत्वा तं दूरगं पार्श्वे, मम प्रोल्लसितौ पुनः । गतः सदागमो दूरे, क्रिया सा शिथिलीकृता ॥६६३॥
जातोऽहं भोगमूर्च्छान्धो, धनसंग्रहतत्परः । कृतानि स्त्रीसहस्राणि, हेमकूपा मया भृताः ॥६६४॥
उद्विग्ना कृता पृथ्वी, मयाऽन्यधनहारिणा । न कृतं यन्मया मोहात्, तत् पापं नास्ति भूतले ॥६६५॥
ततः पुण्योदयः क्रुद्धो, दृष्ट्वा दुश्चरितं मम । मृता शूलान्महादेवी, नाम्ना मदनसुन्दरी ॥६६६॥
अत्रान्तरे महामोहपार्श्वे भृत्यः समागतः । शोकाख्योऽवसरं ज्ञात्वा, स मामालिङ्गति स्म च ॥६६७॥
स्मृत्वा स्मृत्वा ततो देवीं, प्राणेभ्योऽप्यतिवल्लभाम् । मुक्तकण्ठं रुदन् दीनो, जातोऽहं दुःखपूरितः ॥६६८॥
राज्यकार्यं परित्यक्तं, संस्कारश्च तनोरपि । ग्रहाविष्टसमानोऽहं, जातो विह्वलमानसः ॥६६९॥
श्रुत्वाऽकलङ्कस्तां वार्तां, लोकास्यान्मामुपाययौ । दृष्ट्वा मामतिशोकार्तं, कृपयेदमभाषत ॥६७०॥
धनवाहन ! किं कर्तुमारब्धमसमञ्जसम् । शोकदावाग्निजलदो, विस्मृतः किं सदागमः ॥६७१॥
शोकोऽयं तव संस्मार्य, देवीं मदनसुन्दरीम् । स्वान्तं यद् बाधते भद्र !, तद्बीजं किं न बुध्यसे ॥६७२॥

कृतान्ताहिमुखे सर्वे, पतिताः सन्ति जन्तवः । जीव्यते क्षणमप्येतैर्यत् तदेव महाद्भुतम् ॥६७३॥
अपेक्षते दशां नैप, प्रेमसम्बन्धबन्धुराम् । सर्वान्निर्दलयत्येव, जनान् सर्वंकषो यमः ॥६७४॥
मृत्युर्न भेषजैश्चित्रैर्नापनेयः सुरैरपि । इत्यशक्यप्रतीकारे, तत्र को विह्वलो भवेत् ॥६७५॥
अन्तं स्वकर्मणा नीतां, तां देवीं मुग्ध! मा शुचः । आत्मैवान्तं त्वया शोच्यो, नेष्यमाणः स्वकर्मणा ॥६७६॥
करोत्येवमविश्रान्तः, स सुधीर्धर्मदेशनाम् । दृढशोकानुवृत्त्या तु, तामहं लक्षयामि न ॥६७७॥
प्रलपामि च हा बाले!, हा चार्वङ्गि! वरानने! । हा सुभ्रु! हा विशालाक्षि!, हा रम्भोरु! प्रियंवदे! ॥६७८॥
हा भर्तृवत्सले देवि!, हा हा मदनसुन्दरि! । क्व गताऽसि रुदन्तं मां, विहाय घनवाहनम् ॥६७९॥
दीयतां दर्शनं देवि!, पीयतां त्वद्वचो मया । लीयतां मम देहे च, त्वया शोकोऽपनीयताम् ॥६८०॥
अकलङ्कस्य वचनमिति प्रलपता मया । नादृतं स पुनः प्राह, मां कृपार्द्रमना मुनिः ॥६८१॥
विधातुं बालचरितं, नेदं युक्तं भवादृशाम् । घनवाहन! धीरत्वं, भज क्लैब्यं परित्यज ॥६८२॥
स्मरात्मानं कुरु स्वस्थं, मनो मोहमपाकुरु । परिग्रहेण सहितं, शोकं च शिथिलीकुरु ॥६८३॥
समाचरोपदेशं मे, सदागममनुव्रज । भवप्रदीपनादीन् किं, दृष्टान्तान्न सरस्यहो? ॥६८४॥
व्यसनानि करस्थानि, भवस्थानां हि देहिनाम् । वियोगाः सुलभास्तीव्रव्याधयश्चाविदूरगाः ॥६८५॥
प्रत्यासन्नानि दुःखानि, ध्रुवा च यमयातना । विना विवेकं न त्राणं, पुरुषस्य किलापरम् ॥६८६॥

ततोऽगृहीतसंकेते !, शीधुमत्तो भयादिव। मन्त्रादिवाहिना दष्टः, सुप्तो बोधध्वनेरिव ॥६८७॥
ततोऽकलङ्कवचनाज्जातोऽहं लब्धचेतनः। नत्वा प्रोक्तोऽथ शोकेन, मोहो देव ! व्रजाम्यहम् ॥६८८॥
न ममात्रागितुं दत्तेऽकलङ्कः प्राह मोहराट्। दुष्टोऽयं भावि नो विघ्नः, किमस्मादावयोरपि ॥६८९॥
गननाहनमेषोऽमुं, प्रतारयति तद् व्रज। अधुना त्वं पुनः कार्यं, प्रतिजागरणं मम ॥६९०॥
तथेन्युक्त्वा गतः शोको, मया तत् स्वीकृतम् वचः। आकलङ्कं धृतश्चित्ते, प्रियत्वेन सदागमः ॥६९१॥
स्मारितं पूर्वपठितं, मनाग् मोहपरिग्रहौ। त्यक्तौ कियान् कृतोऽपूर्वश्रुतस्य ग्रहणादरः ॥६९२॥
कारिता जिनचैत्यैर्भूः, शुभ्रा यात्राः प्रवर्तिताः। तुष्टोऽकलङ्को जातो मे, श्रमोऽत्र फलवानिति ॥६९३॥
परिग्रहस्य मित्रस्य, विरहार्त्तेन मेऽन्तिके। आगन्तुं सागरेणाथ, प्रश्नितो रागकेसरी ॥६९४॥
आज्ञां तस्य ददौ सोऽपि, ततो बहुलिकाऽवदत्। छायेव सागरस्याहमनुगच्छामि तेन तम् ॥६९५॥
रागकेसरिणा प्रोक्तं, वत्से ! यातु भवत्यपि। प्राणभूता कृपणताऽप्यनुगच्छतु सागरम् ॥६९६॥
समागतानि मत्पार्श्वे, ततस्तानि तदाज्ञया। हृष्टौ तद्दर्शनाद् बाढं महामोहपरिग्रहौ ॥६९७॥
मामालिलिङ्ग मोत्साहमादौ कृपणता ततः। जाता धीः किमदृष्टार्थं, ममेयद्द्रविणव्ययैः ॥६९८॥
अकलङ्कश्च मामेष, प्रोत्साहयति सर्वदा। यदि भावस्तवेऽशक्तस्ततो द्रव्यस्तवं कुरु ॥६९९॥
तद्द्वारा व्ययितं भूयो, धनं किं करवाण्यथ। ध्यायन्तमालिलिङ्गेत्थं, स्नेहाद् बहुलिकाऽथ माम् ॥७००॥

अकलङ्कोपदेशात् परिग्रहशोकापगमः।

सागर-कृपणता-समागमः।

ततः कुबुद्धिर्जाता मे, यथेतः कर्षयाम्यमुम् । अकलङ्कं स्निग्धगिरा, यथा न स्याद् धनव्ययः ॥७०१॥
ततोऽकलङ्कोऽभिहितो, मया यूयं समागताः । उपकाराय युष्माभिः, स च सम्पादितो मम ॥७०२॥
सम्पूर्णो मासकल्पो वो यूयं विरहतेत्यथ । सूरयो मोन्मनीभूवन्, मोपालम्भश्च भून्मम ॥७०३॥
चिन्ता न कार्या निर्देशं, करिष्ये भवतामहम् । अकलङ्को निशम्येदं, विहृतो गुरुमभ्यगात् ॥७०४॥
ततो निवार्य भूयोऽपि, धर्महेतोर्धनव्ययम् । रक्तः परिग्रहे जातः, सागरस्याहमाज्ञया ॥७०५॥
ततः परिग्रहेणोक्तः, सागरः साध्वहं त्वया । रक्षितः क्षीयमाणाङ्गो, वैद्येनैव रुजाऽर्दितः ॥७०६॥
त्वत्तोऽप्येषा कृपणता, प्राणदाऽभून्ममाधिका । हिता बहुलिकाऽप्यासीद्, यया निर्वासितो रिपुः ॥७०७॥
तच्चारु चारु विहितं, त्वयाऽऽगत्य नरोत्तम ! । भक्तिस्तवेयं सद्भावसौहृदद्रुममञ्जरी ॥७०८॥
एवं ब्रुवाणं प्रत्याह, महामोहः परिग्रहम् । साधूदितं त्वया वत्स !, सागरोऽयं ममासवः ॥७०९॥
निर्मिथ्यो मम भक्तोऽयं, न्यासस्थानं ममौजसः । मत्पुत्रराज्ययोग्योऽयमयं रक्षाक्षमस्तव ॥७१०॥
महामोहेन तेनैव, सागरो गीतगौरवः । परिभूय मम स्वान्तं, बाधते स्म सदागमम् ॥७११॥
ततः स्फीतधनाकाङ्क्षो, बहिष्कृतसदागमः । जातोऽहं पूर्ववत् त्यक्तधर्मा विषयभिक्षुकः ॥७१२॥
ततस्तं मम वृत्तान्तमाकर्ण्य करुणोदधिः । सोऽकलङ्को मदभ्यर्णमागन्तुं पुनरैहत ॥७१३॥
विज्ञप्ताः कोविदाचार्यास्ततस्तेन प्रणेमुषा । घनवाहनबोधाय, व्रजामीत्यथ तेऽवदन् ॥७१४॥

मा गास्तदन्तिकं क्लेशस्तवायं निष्फलो यतः। तत्पार्श्वे जागरूकौ स्तो महामोहपरिग्रहौ ॥७१५॥
तयोः पार्श्वे समायान्ति, सागराद्याः पुनः पुनः। मूर्च्छाशोषादिका दोषाः, प्रलापज्वरयोरिव ॥७१६॥
तेषामाश्रयभूतौ तावन्धिनद्याविवाम्भसाम्। तद्वशस्य च तस्य स्यात्, क सदागममीलकः ॥७१७॥
ऊषरे बीजवपनमन्धायादर्शदर्शनम्। उद्वर्तनं शवस्येदं, तस्य या धर्मदेशना ॥७१८॥
अत्यल्पस्तस्य संस्कारः, पूरयेत् त्वद्गिरा वपन् (भवन्)। न स्वाध्यायक्षतिं गुर्वीं, कूपं जलमिवाञ्जलेः ॥७१९॥
घनवाहनपार्श्वे तत्, पर्याप्तं गमनेन ते। विपरीतफले कार्ये, निष्फले च यतेत कः ॥७२०॥
अकलङ्कस्ततः प्राह, कदैताभ्यां वियोक्ष्यते। घनवाहनराजोऽयमथ सूरिरभाषत ॥७२१॥

चारित्रधर्मस्य नरेश्वरस्य, महत्तमो योऽस्ति जगत्प्रसिद्धः। विद्याभिधानाऽस्ति तदीयकन्या, मनोभवा ज्ञातजगत्स्वभावा ॥७२२॥
जगत्त्रयातीतवरेण्यपुण्य-लावण्यलीलागुणकल्पवल्लिः। ब्रह्मव्रतस्थैर्यभृतां पदं सा, धत्ते मुनीनामपि मानसेषु ॥७२३॥
तारुण्यमेषा विषयावभासं, व्यतीत्य बाल्यं रुचिरं बिभर्ति। आत्मावभासं शुचिभावकान्तिविस्तारविक्षोभितरागिवर्गम् ॥७२४॥
अस्या वपुर्भूषणतां बिभर्ति, तत्त्वावभासो विनिवृत्तिरूपः। बाह्यं पुरो यस्य सुवर्णरत्नविभूषणं भाति सतां न किञ्चित् ॥७२५॥
इयं जगत्क्षेमवनाम्बुधारा, धर्मान्तरायद्रुमपर्शुधारा। आनन्दसन्दोहकरी बुधानां, विश्राममूर्मिर्मनसां पवित्रा ॥७२६॥
भिन्नो महाभाग्यभृतः किलास्याः, प्राप्नोति नेच्छन्नपि चाङ्गशर्म। भृङ्गं विनाऽन्यो न वसन्तफुल्लवासन्तिकासौरभभोगयोग्यः ॥

विद्यानिरीहतयोः स्वरूपम्।

१ ग्रामनिवीणी-डे. ना.।

यदा वदान्यः परिणेष्यतीमां, कन्यां नरेन्द्रो घनवाहनोऽयम् । असात् तदा यास्यति मोहदोषो, मलः सुवर्णादिव शुद्धिभाजः ॥
विभर्ति मोहेन समं विरोधं, छायेव सा यद् ध्रुवमातपेन । दवाग्निनेवाम्बुदवारिधारा, दौर्गत्यदुःखेन सहेव लक्ष्मीः ॥७२९॥
चारित्रधर्मस्य तथाऽस्ति कन्या, निरीहता नाम निधिर्गुणानाम् । भ्रात्रोरभीष्टा विरतेश्च कुक्षि–समुद्भवा राज्यविवृद्धिकर्त्री ॥७३०॥
प्रवर्द्धिता मन्त्रिमहत्तमाभ्यां, सन्तोषनाम्नाऽपि च तन्नपेन । उदारभावार्णवपूर्णिमेन्दु–ज्योत्स्ना जगद्दुःखलताकृपाणी ॥७३१॥
स्वभावरम्या न हि वाञ्छतीयं, रत्नादिसाध्यानि विभूषणानि । दूष्याणि भूष्याण्यपि तानि नास्याः, कुतस्तरां भूषणताऽस्तु तेषु ॥
स्वर्णैर्न रूप्यैर्न न रत्नपूगैः, कदाऽपि सा लोभयितुं च शक्या । एकं विना भाग्यमिहैव साधोः, स्वर्गापवर्गोचितशर्मदायि ॥७३३॥
सहस्रशः सन्त्यधिभूमि कन्याः, सा रत्नभूर्ग्रावभुवस्तदन्याः । न कास्तटिन्यः कलुषं वहन्ति, जगत् पुनीते सुरसिन्धुरेका ॥७३४॥
कलत्रमेषा यदिनाम लब्धा, राज्येन किं भूरिधनेन किं वा । कलत्रमेषा यदि नैव लब्धा, राज्येन किं भूरिधनेन किं वा ॥७३५॥
अस्या नरेन्द्रो घनवाहनोऽसौ, यदा विवाहाद् भविता कृतार्थः । परिग्रहस्त्यक्ष्यति पार्श्वमस्य, तदैव दैवव्यतिवृत्तिभीतः ॥७३६॥

अकलङ्कोऽवदन्नाथ, कदा ते परिणेष्यति । अयं कन्ये गुरुः प्राह, कालेनाद्यापि भूयसा ॥७३७॥
प्रत्यूचेऽथाकलङ्कस्तं, ते कन्ये लम्भयाम्यहम् । गुरुराहाधिकारोऽत्र, नाद्याप्यस्ति भवादृशाम् ॥७३८॥
दापयिष्यति ते कर्मपरिणामो महीपतिः । तस्मै कन्ये परः कोऽपि, तयोरस्ति न दायकः ॥७३९॥
दापनायोद्यते तस्मिन् , सति युष्मादृशा अपि । हेतुभावं व्रजन्त्येव, तदत्रास्यैव निर्भरः ॥७४०॥
तत् त्यक्त्वा वस्तुनिर्बन्धं, तिष्ठ त्वं स्वस्थमानसः । ततोऽकलङ्कः स्वीकृत्य, तत् तथेति स्थितः सुखम् ॥७४१॥

मोहादि-कृतवि-डम्बना।

अहं पुनर्महामोहपरिग्रहसमाश्रितः। तद्भृत्यैः पीडितोऽनेकैर्भूयो भूयो गतागतैः ॥७४२॥

एके गच्छन्ति तद्भृत्याः, प्रत्यागच्छन्ति चापरे। सामुद्रा इव कल्लोला, वनवत् प्लावयन्ति माम् ॥७४३॥

तदा मम महामोहे, पार्श्वस्थे सर्वनायके। नास्थात् तत्सैनिकः कोऽपि, येन नाहं समाश्रितः ॥७४४॥

मूर्च्छितो बालभावेषु, महामूढतया कृतः। मिथ्यादर्शनसंज्ञेन, त्याजितोऽहं सदागमम् ॥७४५॥

पापानि धर्मबुद्ध्याऽहं, कारितस्तन्महेलया। कुदृष्ट्या विषयेष्वास्था, रागकेसरिणा कृता ॥७४६॥

तद्भार्यया मूढतया, हृता मे भवदोषधीः। तथा द्वेषगजेन्द्रोऽन्तस्तापं कुर्वन् व्यजृम्भत ॥७४७॥

तस्याविवेकिता भार्या, विवेकं संजहार मे। प्रवर्तितोऽहं भोगेषु, रागकेसरिमन्त्रिणा ॥७४८॥

विडम्बितः पुनस्तस्य, भार्यया भोगतृष्णया। भोगानां मूर्च्छयाऽऽप्तानामनाप्तानां च काङ्क्षया ॥७४९॥

हासेन हासितोऽनर्थं, गाम्भीर्यं नाशितं च मे। गात्रेषु रमितो रत्या, मलपूर्णेषु योषिताम् ॥७५०॥

अरत्याऽपि कृतो भद्रे !, सन्तापोद्वेगविह्वलः। नाटितश्च भयेनाहं, राज्यभ्रंशादिशङ्कया ॥७५१॥

शोकेनाप्यभिभूतोऽहं, धननाशादिहेतुना। जुगुप्सयाऽपि दलिता, तत्त्वमार्गमतिर्मम ॥७५२॥

सुतैर्द्वेषगजेन्द्रस्य, रागकेसरिणस्तथा। विहितं यत् कषायैर्मे, तत्तु वक्तुं न पार्यते ॥७५३॥

ज्ञानसंवरणेनापि, हृतो ज्ञानलवोऽपि मे। दर्शनावरणेनाहं, स्वापितो गाढनिद्रया ॥७५४॥

---

१ -ताऽगाणि क्री. मु.।

क्वचिदाह्लादितः क्वापि, वेदनीयेन तापितः । घनवाहनरूपेण, धारितश्चायुषा तदा ॥७५५॥
नामनाम्ना स्ववीर्यं च, शरीरे मम दर्शितम् । तथा गोत्रान्तरायाभ्यां, स्वस्वकार्यैर्विनाटितः ॥७५६॥
रौद्रार्त्तध्यानकलुषः, कृतो दुष्टाभिसन्धिना । अन्यैरपि बलं मोहभटैः स्वं स्वं प्रदर्शितम् ॥७५७॥
अथायातो नितान्तं मां, कदर्थयितुमन्यदा । महामोहमहीशक्रसमीपे मकरध्वजः ॥७५८॥
तुष्टो मोहः समायातं, तं दृष्ट्वा सपरिच्छदम् । सोऽपि तद्दर्शनात् तुष्टः, शिखीव घनदर्शनात् ॥७५९॥
गन्धेभ इव सन्नद्धो, महामोहस्तदन्वितः । विधाय विषयैरन्धं, मामत्यन्तमपीडयत् ॥७६०॥
मग्नो भोगपुरीषेऽहं, ततो रात्रिंदिवं स्थितः । भूयसाऽपि न कालेन, तृप्तिर्मे समपद्यत ॥७६१॥
भोगेनैव च भोगानां, वृद्धा मे भोगतृष्णिका । तस्यामौर्वानले साधूपदेशोऽम्भ इवाभवत् ॥७६२॥
ततः सदागमो नष्टः, सिद्ध्यन्ति च मनोरथाः । मम पुण्योदयस्तत्र, हेतुर्बुद्धो मया न सः ॥७६३॥
ततो विधूय निखिलं, राज्यकार्यं दिवानिशम् । स्त्रैणमन्तःपुरगतं, भुञ्जानोऽहं मुदा स्थितः ॥७६४॥
तथा या या मया दृष्टा, कुलजाऽकुलजाऽथवा । सुरूपा स्त्री समाकृष्य, सा सा स्वान्तःपुरे धृता ॥७६५॥
गणितं न मया पापं, कलङ्कं ददता कुले । निवारकाणां वचनं, मन्त्रिणामप्युपेक्षितम् ॥७६६॥
ततो मे बान्धवा ह्रीणा, मद्दुश्चरितवीक्षिणः । विरक्ताः सर्वसामन्ता, निर्विण्णं चाखिलं पुरम् ॥७६७॥
भृत्या अपि निनिन्दुर्मां, गुणाः पूज्या न संस्तवः । मया तु लोकगर्हा सा, नादृता भोगभिक्षुणा ॥७६८॥

अथाग्रीन्मे कनिष्ठो यो, भ्राता नीरदवाहनः। पराक्रमी त्रपाशीलो, विनीतो नीतिपारगः ॥७६९॥
सर्वैरिरक्तमन्तोऽसौ, पौरमन्त्रिमहत्तमैः। एकवाक्यैश्च सामन्तैर्भाषितो रहसि स्थितः ॥७७०॥
अगम्यगामी मूढात्मा, निर्लज्जो धर्मवर्जितः। श्वेव राज्यश्रियो नायं, योग्योऽस्ति घनवाहनः ॥७७१॥
अयं स्ववंशदाहाय, समुत्पन्नो दवानलः। विध्यापयितुमर्हस्तत्, त्वद्राज्यस्नात्रवारिभिः ॥७७२॥
यावन्न प्रतिराज्येषु, वृत्तान्तोऽयं प्रसर्पति। विचार्य कार्यं राजा त्वं, तावद् भवितुमर्हसि ॥७७३॥
नो चेत् तवैष न भ्राता, न राज्यं न विभूतयः। न वयं न यशः शुभ्रं, पुरं नेदं भविष्यति ॥७७४॥
यथोक्तचेष्टं तं दृष्ट्वा, पर्यालोचं चकार सः। नष्टो मम दुराचीर्णोद्विग्नः पुण्योदयस्तदा ॥७७५॥
पापमत्यर्गलीभूतं, वृद्धं भावद्विषां बलम्। स्थितिर्द्राघीयसी चाभूत्, सर्वेषां कर्मणां पुनः ॥७७६॥
ततस्तद्वचनं लग्नं, भ्रातुश्चेतसि संगतम्। एवमस्त्विति तेनोक्ते, क्षीबो बद्धो जनैरहम् ॥७७७॥
मध्ये मत्परिवारस्य, निषेद्धा कोऽपि नोत्थितः। क्षिप्तोऽहं चारके क्रूरैस्ततो मन्त्रिमहत्तमैः ॥७७८॥
राज्ये च स्थापितो हर्षपूर्णैर्नीरदवाहनः। तुष्टाः कुस्वामिनाशेन, लोकाः सुस्वामिनो गुणैः ॥७७९॥
चारकेऽहं स्थितस्तत्र, पङ्कविण्मूत्रपिच्छले। तृषितः क्षुधितो बद्धस्ताडितो बालकैरपि ॥७८०॥
राज्यभ्रंशसमुत्थेन, महादैन्येन पीडितः। प्राप्तो नारकवत् तापं, शारीरं मानसं तथा ॥७८१॥
तथाऽपि मोहदोषेण, निर्विण्णो न भवादहम्। सुचिरं चारके तत्र, दुःखाण्यनुभवन् भृशम् ॥७८२॥

घनवाहनस्य राज्यभ्रंशः संसारे परिभ्रमणं च।

क्रोधान्धः सर्वलोकेषु, नानासंकल्पकीलितः। रौद्रध्यानशिलाक्रान्तो, भूरिकालमहं स्थितः ॥७८३॥
अथ गुटिका जीर्णा सा, प्राक्तनी भवितव्यता। दत्त्वाऽपरां तां पापिष्ठावासपुर्यां निनाय माम् ॥७८४॥
सप्तमे पाटके तत्राप्रतिष्ठानगृहे स्थितः। सागराणि त्रयस्त्रिंशन्निर्भिन्नो वज्रकण्टकैः ॥७८५॥
पञ्चाक्षपशुसंस्थाने, ततश्च शफरोऽभवम्। पुनर्गतोऽप्रतिष्ठानं, शार्दूलोऽहं ततोऽभवम् ॥७८६॥
ततः पापिष्ठवासायां, गतोऽहं तुर्यपाटके। ततो मार्जारतां प्राप्तः, सोढं दुःखं मयाऽतुलम् ॥७८७॥
मुक्त्वाऽसंव्यवहाराख्यं, नगरं भवितव्यता। इत्थं स्थानेषु सर्वेषु, परिभ्रमयति स्म माम् ॥७८८॥
भोजयन्त्या महामोहपरिग्रहफलान्यहम्। तयाऽगृहीतसंकेते !, योनौ योनौ विडम्बितः ॥७८९॥
भ्रमतोऽनन्तकालं मे, तुष्टाऽथ भवितव्यता। श्रान्ता इव तनूभूता, मोहाद्या अपि विद्विषः ॥७९०॥
पुनर्ग्रन्थिसमीपस्था, जाता मे कर्मणः स्थितिः। नीतोऽहं भरतक्षेत्रे, भवितव्यतया ततः ॥७९१॥
साकेतनगरे नन्दवणिजो जनितः सुतः। भार्याया धनसुन्दर्या, गुटिकादानयोगतः ॥७९२॥
अमृतोदर इत्याख्या, मम पित्रा प्रतिष्ठिता। प्राप्तोऽहं यौवनं हृद्यं, स्मरसिंहगुहोपमम् ॥७९३॥
दृष्टः सुदर्शनः साधुर्मयोद्याने दिदेश सः। धर्मं तदा तदभ्यर्णे, भूयो दृष्टः सदागमः ॥७९४॥
किञ्चिद् भद्रकभावेन, नमस्कारादिपाठकृत्। द्रव्यश्राद्धस्ततो जातो, गतो मृत्वा सुरालये ॥७९५॥
स्थितो भवनवासित्वे, सार्द्धपल्योपमस्थितिः। सुखानि तत्र भुञ्जानो, विस्मृत्यैव सदागमम् ॥७९६॥

भार्यया पुनरानीतः, पुरेऽहं मानवालये। बन्धुदत्तवणिग्भार्या, तत्रासीत् प्रियदर्शना ॥७९७॥
तस्यास्तनयभावेन, कृतोऽहं बन्धुनामकः। संप्राप्तयौवनोऽद्राक्षं, सुसाधुं सुन्दराभिधम् ॥७९८॥
मया तस्य समीपस्थो, दृष्टो भूयः सदागमः। पुनरप्यस्य सम्बन्धि, ज्ञानमल्पं च शिक्षितम् ॥७९९॥
ततोऽहं श्रमणो जातो, द्रव्यतस्तत्प्रभावतः। महर्द्धिर्व्यन्तरो देवो, जातोऽहं विबुधालये ॥८००॥
विस्मृतस्तेन नो नीतो, मया तत्र सदागमः। पुनश्च मानवावासे, गतेन प्रविलोकितः ॥८०१॥
इत्थं चानन्तशः कालमनन्तं भ्रमता भवे। मया सदागमो दृष्टो, विस्मृतश्च पुनः पुनः ॥८०२॥
विस्मृतेऽस्मिन् मया भ्रान्तं, भवचक्रं निरन्तरम्। द्रव्यश्राद्धयतित्वेन, पुनर्दैवादलम्भि सः ॥८०३॥
क्वचिद् दीर्घा क्वचिद् ह्रस्वा, भ्रमतो भवचक्रके। जाता कर्मस्थितिर्जाताः, क्वचिन्मे प्रबला द्विपः ॥८०४॥
क्वचित् सदागमो जातः, प्रबलस्तन्निवारकः। इत्थं चानन्तकालीनोऽभ्यासो जातः सदागमे ॥८०५॥
ततश्च निर्मलां दृष्ट्वा, चित्तवृत्तिमहाटवीम्। सद्बोधमवदत् सम्यग्दर्शनाख्यो महत्तमः ॥८०६॥
आर्य! विज्ञप्यतां देवः, प्रस्तावो गमनस्य मे। पार्श्वे संसारिजीवस्य, त्वदुक्तो वर्ततेऽधुना ॥८०७॥
सद्बोधेनोदितं सम्यक्, त्वया संलक्षितोऽवधिः। तद्विज्ञप्तेन स ततो, राज्ञा मे प्रहितोऽन्तिके ॥८०८॥
तेनोक्तं देव! विधेयं, प्राभृतीक्रियते यदि। तदा संसारिजीवस्य, सन्तोषो जायते महान् ॥८०९॥
सद्बोधोऽत्रोचताद्यापि, प्रस्तावोऽस्या न विद्यते। येन संसारिजीवस्त्वां, सामान्येनैव भोत्स्यते ॥८१०॥

विशेषतश्च त्वद्रूपं, यावत् तेन न बुध्यते। न तावद् युज्यते दातुं, तस्मै कन्येयमुत्तमा ॥८११॥
अज्ञातकुलशीलोऽस्याः, कुर्याच्चेत् स पराभवम्। तन्निमित्तं तदा शल्यं, स्यादस्माकं दुरुद्धरम् ॥८१२॥
तद् गच्छ त्वं विना विद्यां, चन्द्रः पूर्णकलामिव। भूयसाऽनेहसा रूपं, भोत्स्यतेऽसौ तव स्फुटम् ॥८१३॥
आदायाहं तदा विद्यामागमिष्यामि तेऽन्तिके। स लप्स्यते शरच्चन्द्रज्योत्स्नोत्सवमुदं तदा ॥८१४॥
सदागमस्य सान्निध्यं, मोहादीनां च तानवम्। भवजन्तोः शमलवास्वादो देवदिदृक्षुता ॥८१५॥
हृदि स्रोतसिका खेदविश्रामश्चेत्यमी गुणाः। विद्यां विनाऽपि भवतो, गच्छतस्तत्र भाविनः ॥८१६॥
ततो महामन्त्रिवचो, राज्ञश्चाज्ञां प्रमाणयन्। एक एवागतस्तूर्णं, मत्पार्श्वं स महत्तमः ॥८१७॥
इतश्चानन्दनन्दिन्योः, सूनुर्नाम्ना विरोचनः। जातोऽहं मानवावासे, संप्राप्तश्चारु यौवनम् ॥८१८॥
गतोऽहं कानने चित्तनन्दने तत्र संयतः। धर्मघोषो मया दृष्टः, तदाऽभूत् कर्मतानवम् ॥८१९॥
निषण्णस्तं महाभागं, वन्दित्वा शुद्धभूतले। तेन मां भद्रकं ज्ञात्वा, कृता सद्धर्मदेशना ॥८२०॥
अत्रान्तरे प्रादुरभूत्, पुनर्मम सदागमः। रुचितं तद्वचः पृष्टो, मुनिः किमुचितं मम ॥८२१॥
मुनिराह त्वया चिन्त्या, दोषाः संसारगोचराः। आराध्यः परमात्मा च, सिद्धानन्तचतुष्टयः ॥८२२॥
वन्द्यास्तदुपदिष्टाध्वगामिनो मुनयोऽनघाः। ज्ञेयानि नव तत्त्वानि, पेयं जिनवचोऽमृतम् ॥८२३॥
नेयं तदङ्गाङ्गीभावमनुष्ठेयं हितं निजम्। उपचेयं शुभोपायैः, पुण्यं पुण्यानुबन्धि च ॥८२४॥

संसारि-
जीवस्य
विरोचन-
भवे
सम्यग्दर्शन
समागमः।

विधेयं निर्मलं स्वान्तं, हेयं संकल्पमण्डलम् । ज्ञेयं गुरुवचः सारं, देयं चेतस्तदादरे ॥८२५॥
अवगेयं खलवचः, स्थेयमक्षुब्धचेतसा । इत्थं ब्रुवाणे सूरीन्द्रे, संप्राप्तोऽसौ महत्तमः ॥८२६॥
वीक्षितश्च मुदुर्भेद्ग्रन्थिभेदादसौ मया । श्रद्धानमात्मरुच्याऽभून्मौनीन्द्रे वचने ततः ॥८२७॥
वृद्धो वन्धुधिया सम्यग्दर्शनाख्यो महत्तमः । मुनिं प्रत्युक्तमादेशं, करिष्ये भवतामहम् ॥८२८॥
तं मुनीन्द्रं ततो नत्वा, गतोऽहं भवने निजे । ततः प्रभृति संजातः, सद्दृष्टिर्ज्ञानवर्जितः ॥८२९॥
तदेव सत्यं निःशङ्कं, यज्जिनेन्द्रैः प्रवेदितम् । एतावन्मात्रतुष्टोऽहं, जातः कुग्रहवर्जितः ॥८३०॥
ज्ञानं सदागमेनापि, वितीर्णं मे तदा बहु । सूक्ष्मो भावः परं दृष्टो, न मया मन्दचक्षुषा ॥८३१॥
पटुवाचोऽपि गुरवः, सूक्ष्मज्ञानस्य हेतवः । विशिष्टयोग्यताऽभावान्न तदानीं ममाभवन् ॥८३२॥
सूक्ष्मज्ञानोज्झितं जातं, ततः श्रद्धानमेव मे । पल्योपमपृथक्त्वे तु, क्षीणे श्राद्धत्वमागतम् ॥८३३॥
सामान्यतस्तदादेशान्नियमाः पालिता मया । श्रद्धया तत्प्रभावेन, गतोऽहं विबुधालये ॥८३४॥
सौधर्मे तत्र शयनात् , स्फुरत्कुसुमसौरभात् । प्रवरोच्छोचसन्तानाच्छन्नात् कोमलवाससा ॥८३५॥
समुत्थितः क्षणार्द्धेन, ज्योतिर्द्योतितदिक्पथः । स्फुरत्कोटीरकटकहारकेयूरकुण्डलः ॥८३६॥
स्तुतो देवैश्च देवीभिः, सुस्निग्धमधुरोक्तिभिः । हरिचन्दनमन्दारसन्तानस्रग्विराजितः ॥८३७॥
विलोक्य तादृशीं भूतिं, विस्मितः पर्यचिन्तयम् । कृतं मया किं सुकृतं, ज्ञानं प्रादुरभूत् ततः ॥८३८॥

धर्मघोषसूरेरुपदेशात् सम्यग्दर्शनश्राद्धत्वप्राप्तिः ।

विरोचनभवावस्था, मया तेनावधारिता । समायातौ च सम्यक्त्वमहत्तमसदागमौ ॥८३९॥
बन्धुत्वेन प्रपन्नौ तौ, कृतं कृत्यमथोचितम् । विलोक्य पुस्तकं रात्नं, भगवत्पूजनादिकम् ॥८४०॥
ततः स्वहृदयानन्दिविषयग्रामलालितः । स्थितस्तत्र मनाग्न्यूनसागरद्वितयावधि ॥८४१॥
ततश्च मानवावासे, सुनुर्मदनरेणयोः । आभीरोऽहं कलन्दाख्यो, भवितव्यतया कृतः ॥८४२॥
न मामन्वागतौ तत्र, महत्तमसदागमौ । तन्नान्तरीयको दृष्टः, श्राद्धधर्मश्च तत्र न ॥८४३॥
जातः प्राचीनसंस्कारात् केवलं पापभीरुकः । ज्योतिष्कोऽहं ततो जातो, भद्रकत्वानुभावतः ॥८४४॥
तत्र लालयता भोगैरिन्द्रियाणि सदा मया । सेवितौ दृढरागेण, महामोहपरिग्रहौ ॥८४५॥
ततोऽहं दर्दुराकारो, रुष्टया प्रियया कृतः । नानाविधेषु स्थानेषु, बहुशो भ्रामितस्ततः ॥८४६॥
ततश्च मानवावासे, काम्पिल्यनगरे कृतः । धराया वसुबन्धोश्च, तनयो वासवाभिधः ॥८४७॥
शान्ता(न्त्या)ख्यं सूरिमासाद्य, तत्र सद्धर्मदेशकम् । पुनर्दृष्टौ मया भद्रे, महत्तमसदागमौ ॥८४८॥
द्वितीयकल्पे संप्राप्तस्तत्प्रभावात् सुरालये । तत्रापि स्मृतिमारूढौ, महत्तमसदागमौ ॥८४९॥
भुक्त्वाऽतुलं सुखं तत्र, सुचिरे काञ्चने पुरे । आगतो मानवावासे, मोहात् तौ तत्र विस्मृतौ ॥८५०॥
इत्थं संख्यातिगा वारा, दृष्टौ नष्टौ च तावुभौ । सामान्यश्राद्धधर्मोऽपि, दृष्टः सति महत्तमे ॥८५१॥
असंख्यवारास्तद्दृष्टास्त्रयोऽमी वरबान्धवाः । दृष्टश्च केवलोऽप्येषोऽनन्तवारः[1] सदागमः ॥८५२॥

१ –नन्तवारा डे ला.

आभीरभवे महत्तमसदागमाभावे श्राद्धधर्माभावः, पुनर्भवभ्रमणं च । वासवभवे शान्तिसूरेरुपदेशात् महत्तमसदागमपरिचयः ।

संजातो मत्समीपस्थो, यत्र यत्र महत्तमः। तत्र तत्राभवत् पुण्योदयः सुखनिबन्धनम् ॥८५३॥
जाता कर्मस्थितिर्लघ्वी, लीना मोहादयोऽपि च। यदा ते प्रबला जातास्तदा पुण्योदयो गतः ॥८५४॥
जितौ मोहादिभिः क्वापि, महत्तमसदागमौ। देशकालबलं प्राप्य, क्वचित् ताभ्यां च ते जिताः ॥८५५॥
इत्थं कालमनन्तं ते, जाता भङ्गजयस्पृशः। मत्पक्षपाताद् विजयो, भङ्गोऽभूत् तद्विपर्ययात् ॥८५६॥
कृतोऽन्यदा शालिभद्रकनकप्रभयोरहम्। सुतो विभीषणः पत्न्या, वणिक् सोपारके पुरे ॥८५७॥
अथ सूरिं सुधाकूपं, संप्राप्य शुभकानने। पुनर्दृष्टौ मया बन्धू, महत्तमसदागमौ ॥८५८॥
ततो गुरूपरोधेन, जातोऽहं श्रमणस्तदा। तत्त्वश्रद्धानसहितो, भावचारित्रवर्जितः ॥८५९॥
लिङ्गमादाय मौनीन्द्रं, मुनिमध्येऽपि तिष्ठतः। कर्मदोषान्मनो मेऽभूद्, वैभाष्यनिरतं तदा ॥८६०॥
ततः प्रबलतां प्राप्ता, महामोहादयो द्विपः। भावतो विगतौ दूरे, महत्तमसदागमौ ॥८६१॥
तपस्विनां सुशीलानां, जातोऽहं निन्दकस्ततः[1]। अन्येषामपि निन्दौघैर्मुखमुद्धूलितं मया ॥८६२॥
किमन्यत् तीर्थनाथानां, श्रुतस्य गणधारिणाम्। संघस्य चाशातनया, पापकूपो मया भृतः ॥८६३॥
यतिवेषोऽपि जातोऽहं, मिथ्यात्वी गुणदूषकः। ततोऽनन्तं पुनः कालं, भ्रामितो दुष्टभार्यया ॥८६४॥
न सा विपन्न सा पीडा, न सा तीव्रविडम्बना। अपार्द्धपुद्गलावर्तं, या न सोढा मया तदा ॥८६५॥

१ 'निभृतः' इत्युपमितौ। २ 'शु गभूत्' इत्युपमितौ।

परिग्रहमहा-
मोहयोर्दुर-
न्तत्वम्।

स्वकीयवृत्तान्तमिति ब्रुवाणे, संसारिजीवे श्रवणामृताभम्। भावार्थलेशात्प्रिमुदाऽगृहीत-संकेतया चित्रमधारि चित्ते ॥८६६॥
अहो महामोहपरिग्रहौ द्वौ, दुरन्तदोषावनिवार्यवीर्यौ ॥८६७॥
प्रज्ञाविशालाऽपि निशम्य वाचं, तां तादृशीं चिन्तयति स्म चित्ते। तत्संयुताभ्यां भवपातमाभ्यां, श्रुत्वा तु चित्रीयत एव चेतः ॥८६८॥
क्रोधादिदोषादिगतैरनर्थैः, सम्यक्त्वहीनान्नहि विस्मयः स्यात्। इमौ त्वहो दुष्टतरौ पयोदराहूपमौ तद्रुचिनाशदक्षौ ॥८६९॥
ते के नु दोषाः भुवि ये भवन्ति, सम्यक्त्वसूर्यस्य पुरस्तमांसि। तदेतयोरीदृशकष्टजातसंपादकत्वं न हि चित्रकारि ॥८७०॥
इमौ समस्ताः समुदायरूपौ, क्रोधादिदोषा अपि वाऽनुयान्ति। तथाऽपि चासावनयोर्विशेषो-ल्लेखार्थमेवेत्थमुदाजहार ॥८७१॥
क्रोधादयोऽयि प्रभवन्ति घाते, बाढं गुणानामनिवार्यमाणाः। प्रबुध्यते सद्गुरुवाक्यलक्षैः, किं कुर्महे तत्र बहूपचारैः ॥८७२॥
इत्थं महामोहपरिग्रहोत्थं, फलं निशम्यापि न पापलोकः। तथाऽपि मोहान्धतया जनोऽस्याः,कथं वृथा धावति लालनाय ॥८७३॥
एषाऽप्यशेषाऽपनयप्रसूतिः, श्रुतिः श्रुता कोविदसूरिवाक्यैः। ख्यातं त्वया किं निजगाद साऽपि, सर्वं प्रवक्ष्यामि निराकुला ते ॥
उन्नीतभावामिति धीविशालां, संप्रेक्ष्य भव्यो वदति स्म मातः[1]!। अनेन सर्वं स्वचरित्रमुक्तप्रायं तदस्य द्रुतमस्तु पूर्तिः ॥८७५॥
दत्तावधानः शृणु तावदस्य, वाक्यं कृथा मा तरलत्वमन्तः।

ततस्तत्र स्थिते तूर्णीं, नृपपुत्रे स सादरम्। संसारिजीवः प्रोवाच, शिष्टमात्मकथानकम् ॥८७६॥
नीतोऽहमन्यदा पत्न्या, भद्दिलाख्यपुरे तया। कृतः स्फटिकराजस्य, तनयो विशदाह्वयः ॥८७७॥
विमलाकुक्षिजो रम्ये, यौवने वर्तमानकः। सुप्रबुद्धमुनिं दृष्ट्वा, प्रतिबोधमुपागतः ॥८७८॥

---

१ -मतैर-डे. ञा.

भूयस्तत्र मया दृष्टौ, महत्तमसदागमौ । पालितौ तौ सदा सम्यग्, गृहिधर्मेण संयुतौ ॥८७९॥
श्रद्धायुक्तः स्थितस्तत्र, सूक्ष्मज्ञानेन तूज्झितः । गृहिधर्मानुभावाच्च, जातः पुण्योदयोऽनवः ॥८८०॥
ततस्तृतीयकल्पेऽहं, भोगसंमर्दसुन्दरे । तया पत्न्या सदानन्दे, धृतः सागरसप्तकम् ॥८८१॥
ततश्च मनुजावासे, ततश्च विबुधालये । गमनागमनं भूरिवारमित्थं च कारितः ॥८८२॥
द्वादशापि मया स्वर्गा, बान्धवत्रयसंयुजा । प्रत्येकं प्रेक्षिता भद्रे !, क्वचित् त्यक्तश्च बान्धवैः ॥८८३॥
तयाऽथ द्वादशस्वर्गान्मनुजावाससम्मुखम् । प्रस्थापितो विशालाक्षि !, पुण्योदयसुहृद्युतः ॥८८४॥
भवति विगतस्वान्तध्वान्तः परिग्रहमोहयोः, परिणतिमिमां श्रुत्वा दुष्टां श्रुतेरपि यः सुधीः ।
स इह लभते धर्मध्यानप्रथाप्रसरज्जिन-प्रवचनकथानीतस्वात्मानुभूतियशःश्रियम् ॥८८५॥

इति श्रीवैराग्यकल्पलतायां महामोहपरिग्रहश्रवणेन्द्रियविपाकवर्णनो नामाष्टम स्तवक ॥

१ -भीतरा-की. मु. ।

नवमः स्तबकः।

अथास्ति सप्रमोदाख्यं, पुरं कैलाससन्निभम्। यत् सर्वमङ्गलोल्लासिमहेश्वरविराजितम् ॥१॥
निरीक्ष्याद‍ृष्टपूर्वान् यल्ललनालोकविभ्रमान्। जाता किं विस्मयादेव, निर्निमेषाः सुराङ्गनाः ॥२॥
तत्रोन्मूलितशत्रुस्त्रीपत्रवल्लिर्विराजते। राजा राजन्यगन्धेभसन्निभो मधुवारणः ॥३॥
योगीवाभूत् परपुरप्रवेशैककुतूहली। यत्खड्गस्तद्यशःक्षीरपानमात्रधृतव्रतः ॥४॥
क्षुब्धोऽब्धिर्यन्महादानजलसात्कारवाञ्छया। पितुर्दुःखादतो दग्धा, कुक्षिर्लक्ष्ममिषाद् विधोः ॥५॥
तस्य चास्ति महादेवी, लावण्यगुणशालिनी। कृतरम्भामनःस्तम्भा, धाम्ना नाम्ना सुमालिनी ॥६॥
निवेशितोऽहं तत्कुक्षौ, पुण्योदययुतस्तया। निष्क्रान्तः कालपर्यायात्, सह पुण्योदयेन च ॥७॥
संजातं मयि जाते च, सोल्लासं नृपमन्दिरम्। उद्गते महसां पत्यावम्भोरुहवनं यथा ॥८॥
कृतं पित्रोचिते काले, नाम मे गुणधारणः। संप्राप्तो लालितो वृद्धिं, धात्रीभिः पञ्चभिस्ततः ॥९॥
इतश्चास्ति सगोत्रो मत्पितुर्मित्रं नरेश्वरः। यथार्थनामा तनयस्तस्य चास्ति कुलन्धरः ॥१०॥
वर्धमानो दृढस्नेहः, सह तेन सुमेधसा। जातोऽहमर्पितस्वीयमनःसद्भावगोचरः ॥११॥
कृतक्रीडौ समं सार्द्धं, कलाभ्यासपरायणौ। स्मरद्विपमदावस्थामावां तरुणतां गतौ ॥१२॥

संसारि-
जीवस्य
गुणधारण-
तयोत्पत्तिः

कुलन्धरेण
मैत्री।

इतश्चास्ति पुरादूरे, स्वशोभाजितनन्दनम् । आह्लादमन्दिरं नाम, वनं द्रुमलताघनम् ॥१३॥
तत्र सेवितमात्राभ्यां, नेत्रानन्दि दिने दिने । दूरे योषिद्द्वयं दृष्टं, गताभ्यां तत्र चान्यदा ॥१४॥
उद्गिरन्तीव लावण्यमङ्गैः शृङ्गाररङ्गिभिः । तत्रैकाऽस्थात् सितास्यैव, द्वितीयाऽपि तदन्तिके ॥१५॥
अथ सा कुटिलैस्तीक्ष्णैराकर्णान्तावलम्बितैः । नामितभ्रूधनुर्मुक्तैर्दृग्बाणैर्मामताडयत् ॥१६॥
उल्लासितस्तनी चूतशाखामालम्ब्य सा स्थिता । मनो बिभेद मे कामकन्दुकोत्क्षेपलीलया ॥१७॥
कटाक्षान् विक्षिपन्ती सा, प्रोल्लासितकुचद्वया । निचखानाश्मगोलाभ्यां, हृदि स्मरशरान्मम ॥१८॥
संभ्रान्तं विस्मितं स्निग्धं, साकूतं लज्जितं तथा । तस्याश्चित्तं मयाऽलक्षि, लक्षणैः स्नेहनिर्भरम् ॥१९॥
स्वान्ते प्रविश्य सा रक्ता, मम स्वान्तमरञ्जयत् । अभेदरञ्जनविधिः, स्मरस्यायमलौकिकः ॥२०॥
ततो मया हृदि ध्यातं, किं रम्भेयं रतिः किमु । किन्नरी वा गुणदरी, किं वा श्रीर्मूर्तिशालिनी ॥२१॥
इति ध्यायन्नहं चित्ते, जातः स्मरविकारभाक् । साकूतं सुहृदा दृष्टस्तेन विज्ञातचेतसा ॥२२॥
आकारगोपनं कृत्वा, मयेत्थं चिन्तितं तदा । सकामदृष्ट्या नो युक्तं, परस्त्रीदर्शनं सताम् ॥२३॥
तदस्मान्मद्विलसितात्, किमनेन विचिन्तितम् । इति ह्रीणो मुखं तस्य, परीक्षार्थं न्यभालयम् ॥२४॥
ततो ज्ञाताशयः कृत्वा, निगूढां काकलीं जगौ । कुलन्धरो मामधुना, कुमारौकसि गम्यताम् ॥२५॥
बृहद्वेलां विलसितमपराह्णोऽथ वर्तते । मयोक्तं तव चित्ते यद्, रोचते तद् विधीयताम् ॥२६॥

आह्लाद-मन्दिरे मदनमञ्जरीदर्शनम्

आवां ततो गतौ गेहे, कृतं कार्यं दिनोचितम्। उपस्थिताऽथ मदनज्वरवेलेव शर्वरी ॥२७॥
तस्यां विविक्तशय्यायां, तिष्ठतो मम सा प्रिया। सिंहमध्या फणिस्फारवेणिदण्डा गता हृदि ॥२८॥
सा शल्यं मनसः शोच्यामकरिष्यद् दशां मम। नाभविष्यत् सुहृत्पुण्योदयो यदि समीपगः ॥२९॥
विलगन्त्यपि सा चित्ते, ततोऽभून्नातिबाधिका। स हि सांसारिकार्थेषु, मनोबाधानिरासकृत् ॥३०॥
स्मृत्वा तथापि तां काममाहात्म्येन ममाजनि। कस्येयं कीदृशी वेति, मनाक् चिन्तातुरं मनः ॥३१॥
ध्यात्वेत्यहं गतो निद्रां, न्यवर्तत विभावरी। समायातः समीपं मे, प्रभाते च कुलन्धरः ॥३२॥
मनाक् तद्दर्शनाकाङ्क्षावशात् सोऽभिहितो मया। पुनर्वयस्य ! गच्छावः, किं तत्राह्लादमन्दिरे ॥३३॥
ततः कुलन्धरः प्राह, गिरा स्मितपवित्रया। किं तत्र गम्यते किं ते, निधानं तत्र विस्मृतम् ॥३४॥
भावज्ञोऽयमिति ज्ञात्वा, मयोक्तं मित्र ! मुच्यताम्। हासो गत्वा वने कस्य सा कीदृग् वेति वीक्ष्यताम् ॥३५॥
भवित्री परभार्या चेत्, तदा ग्राह्या न जातु मे। कन्यका चेन्न मुञ्चामि धावतस्तां हरेरपि ॥३६॥
ततः कुलन्धरेणोक्तमधैर्यं मित्र ! मा कृथाः। रोचते यद् वयस्याय, गच्छावस्तद् विधीयते ॥३७॥
ततो गतौ तत्र वने, स्थानं तत् सुनिरीक्षितम्। अदृष्ट्वा तत्र तां बालामुद्विग्नोऽहं मनाग् हृदि ॥३८॥
वने पर्यट्य चूतं तं, प्रेक्षमाणः पुनः पुनः। यावत् तत्र निषण्णोऽहं, कुलन्धरसमन्वितः ॥३९॥
नार्येका मध्यमावस्था, तावद् दृष्टा सुविग्रहा। ततोऽभ्युत्थितमावाभ्यामुत्तमाङ्गं च नामितम् ॥४०॥

प्रौढनार्या तया दृष्टः, सविशेषमहं तथा। प्रोक्तं वत्स! चिरं जीव, त्वं ममापि प्रियायुषा ॥४१॥
उक्तः कुलध(न्ध)रोऽप्युच्चैर्दीर्घायुर्भवताद् भवान्। भवतोर्वाच्यमस्तीति, नृपपुत्रं निवेशय ॥४२॥
प्रपन्नं तद्वचस्तेन, निविष्टं निखिलैस्ततः। मामुद्दिश्याह सा वत्स!, शृणु चित्ते समाहितः ॥४३॥
अस्ति विद्याधरस्थानं, वैताढ्याख्यो महागिरिः। तत्र गन्धसमृद्धाख्यं पुरं सर्वसमृद्धिमत् ॥४४॥ मदनमञ्जरी वृत्तान्तः।
शास्ति विद्याभृतां चक्री, तद्भूपः कनकोदरः। अहं तस्य महादेवी, वर्ते कामलताऽभिधा ॥४५॥
निरपत्यतया भूयान्, विषादोऽभवदावयोः। ग्रहशान्त्यादिविहितमुपचारशतं ततः ॥४६॥
मम प्रादुरभूद् गर्भस्ततो वयसि मध्यमे। प्रसूताऽहं सुतां देहद्युतिद्योतितदिग्मुखाम् ॥४७॥
जातो राज्ञो महान् तोषः, कारितश्चोत्सवो महान्। कृतं तन्नाम मदनमञ्जरीति शुभे दिने ॥४८॥
वर्धिता सा सुखभरैर्जाता चित्तप्रमोदकृत्। कलौघं ग्राहिता सार्द्धं, सख्या लवलिकाख्यया ॥४९॥
उद्यौवना कलारूपातिशयैर्न ममोचितः। पुरुषोऽस्तीति बुद्ध्याऽभूत्, पुरुषद्वेषिणी ततः ॥५०॥
ज्ञात्वा पुत्र्याः स्वरूपं तद्, विषण्णाऽहं भृशं हृदि। मया निवेदितं राज्ञे, सोऽपि खेदमुपागतः ॥५१॥
सोऽकारयत् समुत्पन्नधीः स्वयंवरमण्डपम्। सर्वे तेन समाहूता, विद्याधरनरेश्वराः ॥५२॥ मदन-मञ्जर्याः
आगत्य सर्वे सर्वद्ध्या, ते स्वयंवरमण्डपे। यथास्थानं स्थिता मध्ये, राजाऽपि सपरिच्छदः ॥५३॥
प्रविष्टाऽहं गृहीत्वा तां, वत्सां मदनमञ्जरीम्। तत्र प्रदर्शितास्तस्या, रूपतो गुणतश्च ते ॥५४॥ स्वयंवरः।

दृष्ट्वा सा तत्र निखिलान्, विद्याधरनरेश्वरान् । न्यवारयत् घृणां धृत्वा, तन्मिथ्यागुणवर्णनम् ॥५५॥
जगौ च मातनैंतेपु, कोऽपि मे रोचते वरः । तदाकर्ण्य विषण्णाऽहं, तद् भूपाय निवेदितम् ॥५६॥
विषण्णः सोऽपि मां प्राह, वत्सा वेश्मनि नीयताम् । माऽस्या भूद् वपुरस्वास्थ्यं, चित्तदुःखोदयादिति ॥५७॥
निर्गताऽहं ततो लात्वा, तां स्वयंवरमण्डपात् । प्राप्ता सा स्वीयभवनं, निषण्णाऽविरताग्रहा ॥५८॥
ततो लवलिका प्राह, मां मातः! को भविष्यति । अस्याः पाणिग्रहोपायो, मया प्रोक्तं न वेद्म्यहम् ॥५९॥
इयं तव प्रियसखी[1], नूनं दुष्कररोचिका । प्रष्टव्या तद् भवत्यैव, पर्यालोचो हतोऽत्र नः ॥६०॥
इत्युक्त्वा रोदितुं लग्ना, विकीर्णैरहमश्रुभिः । ततो लवलिका प्राह, विषादं स्वामिनि! त्यज ॥६१॥
प्रश्नयिष्याम्यहमिमां, नेयं सन्तापकारिणी । पित्रोर्भविष्यतीत्येवं, मम स्वास्थ्यं कृतं तया ॥६२॥
इतश्च खेचरोर्वीशास्ते स्वयंवरमण्डपात् । दृष्ट्वाऽवृतवरामेव, गतां मदनमञ्जरीम् ॥६३॥
विलक्षा हृतसर्वस्वा, इव लोष्टुहता इव । कनकोदरराजेन्द्रं, रुषाऽसंभाष्य निर्गताः ॥६४॥
ततो राजा ययौ शोकं, लङ्घितं वर्षवद् दिनम् । सुप्तो रजन्यां नायाता, निद्रा दुःखेन केवलम् ॥६५॥
निद्रालवेऽथ गमितप्रायायामागते निशि । स्वप्ने चत्वारि सोऽपश्यद् द्वौ नरौ द्वे च योषितौ ॥६६॥
तैः प्रोक्तं मुञ्च खेदं त्वं, नरेन्द्र कनकोदर! । वरो दृष्टचरोऽस्माभिस्तव पुत्र्या भविष्यति ॥६७॥

1 प्रिया सखी की. मु.।

तत्रान्यान्वेषणेनालमियं नान्यवरोचिता । द्वेण्या अस्माभिरेवास्याः, कृता विद्याभृतोऽखिलाः ॥६८॥
जातं प्रभातं स्वमार्थं, बुद्ध्वा स्वस्थोऽभवन्नृपः । अथापृच्छल्लवलिका, सखी मदनमञ्जरीम् ॥६९॥
अधुना वद किं कार्यं, सा प्राह पितरौ यदि । आज्ञां दत्तस्तदा भ्रान्त्वा, स्वयमेव वसुन्धराम् ॥७०॥
वरं वृणोमि रुचितं, पूरयामि मनोरथम् । प्राह तन्मे लवलिका, मया राज्ञे निवेदितम् ॥७१॥
अनेन चिन्तितं चित्ते, वत्सया चारु मन्त्रितम् । लाभोपायो वरस्यायं, स्वमोक्तस्य भविष्यति ॥७२॥
साऽनुज्ञाता ततस्तेन, वरार्थं भूदिदृक्षया । गता लवलिकायुक्ता, व्यतीताः केऽपि वासराः ॥७३॥
अहं राजा च तत्स्नेहाद्, स्थितौ सोन्माथकौ भृशम् । अत्रान्तरे लवलिका, सविषादा समागता ॥७४॥
एकाकिनीं विषण्णां च, तां दृष्ट्वा चित्तमावयोः । विषण्णं सा मया पृष्टा, भद्रे! कुशलिनी सुता ॥७५॥
सा प्राह मातः! कुशलं, सुतायास्तव विद्यते । संपन्नो यस्तु वृत्तान्तः, सर्वं तं कथयामि ते ॥७६॥
निर्गत्येतः किलावाभ्यां, प्रेक्षितं भूमिमण्डलम् । भूरिग्रामपुराकीर्णं, नानावृत्तान्तसंकुलम् ॥७७॥
सप्रमोदपुरं प्राप्ते क्रमात् तत्र बहिर्वनम् । आह्लादमन्दिरं दृष्टं, स्थिते तस्योपरि क्षणम् ॥७८॥
सुकुमाराकृती तत्र, दृष्टौ राजसुतावुभौ । स्मरार्त्ताऽभूत् प्रियसखी, पश्यन्त्येकं तयोः पुनः ॥७९॥
अवतीर्य मया सार्धं, भूतले सा ततः स्थिता । तयोर्दृग्गोचरे चूतवने दूरस्थिते मनाक् ॥८०॥
प्रेक्षमाणा नृपसुतं, तमेव चानिमेषदृग् । न्यस्ताऽब्जद्रोहिणी दृष्टिस्तस्यास्तेनापि सम्मुखम् ॥८१॥

पत्युरन्वेषणाय मदनमञ्जर्याः प्रवासः ।

गुणधारणे प्रीतिः ।

ततः सा स्निग्धदृक् पीतचन्द्रिकेव चकोरिका । स्फुटामोदा विकसिता, पद्मिनीव रवेः करैः ॥८२॥
प्रनृत्यन्ती मयूरीव, पयोदप्रेक्षणोन्मदा । अमान्ती स्वान्तकल्लोलैस्तटिनीव रयोद्धता ॥८३॥
सा विस्मितसुधापूरैः, श्रुश्रितद्रुमपल्लवा । मया रसान्तरे मग्ना, दृष्टा पश्यति वल्लभे ॥८४॥
ततस्तां तादृशीं प्रेक्ष्य, मया मनसि चिन्तितम् । तोषिताऽनेन यूनेयमहो दुष्कररोचिका ॥८५॥
सुभ्रुवो भ्रूविधानेऽस्या, भग्नचापोऽपि वेधसा । अहो अस्य गुणैरेव, हन्ति बालामिमां स्मरः ॥८६॥
आनुरूप्येण मिथुनमिदं धात्रैव योजितम् । सद्भावमीलनात् सिद्धमधुना नः समीहितम् ॥८७॥
संयोगमनयोर्युक्तं, विधाय कुरुतां विधिः । अयोग्ययोगजनितस्वकलङ्कापमार्जनम् ॥८८॥
अथ सार्द्धं वयस्येन, ततः स्थानाद् गतो युवा । ततः सा प्राप संकोचं, गते सूर्य इवाब्जिनी ॥८९॥
गतरत्नेव जाता च, भृशं मनसि विह्वला । ततो मयोक्तं कः खेदो, यद्यसौ रुचितो वरः ॥९०॥
समीपे गम्यतां भर्तृदारिके ! जनकाम्बयोः । तयोः स्वां रुचिमुद्भाव्य, त्वरया व्रियतामयम् ॥९१॥
सप्रमोदपुरेशस्य, मधुवारणभूभुजः । भविष्यत्येष तनयो, गुणैर्योग्यस्तवेदृशैः ॥९२॥
क्ष्माभृद्भिर्न यदाक्रान्तं, निखिलैरपि ते मनः । आक्रामन् दृक्त्रिभागेन, तदेष क्ष्माभृतां गुरुः ॥९३॥
तयोक्तं मे लवलिके ! रुचितोऽयं भृशं जनः । अहं तु रुचिता नास्मै, तूर्णं गच्छेत् कुतोऽन्यथा ॥९४॥
उन्मूलयति धैर्यं मे, स्नेहस्तेनैकपाक्षिकः । निर्भग्नैकतटः सिन्धुपूरः प्रान्तद्रुमं यथा ॥९५॥

मयोक्तमेवं मा वादीर्न स्वामिनि ! रुचिं विना । स स्यात् तव मुखज्योत्स्नापानलम्पटलोचनः ॥९६॥
रुचिनाऽसि भृशं तस्य, शङ्कामपनयानघे ! । रोचते किं न भृङ्गाय, प्रफुल्ला मालती मधौ ॥९७॥
वैदग्ध्यादेवा तूर्णं च, तेनापक्रमणं कृतम् । परिणामगुरुः स्नेहः, सतामापाततो लघुः ॥९८॥
इति मद्वचसा किंचित्, स्वस्थीभूताऽपि साऽब्रवीत् । सखि ! गन्तुं न शक्नोमि, वपुरस्वस्थमस्ति मे ॥९९॥
न मोक्तव्यं मयोद्यानमिदं तातम्बयोर्वद । त्वं च वार्तामिमां तूर्णं, गत्वा तत्त्वार्थकोविदे ! ॥१००॥
ततो मत्वाऽऽग्रहं तस्या, दुर्वारं विनिवेश्य ताम् । गुप्तद्रुमलतामध्ये, तल्पे पल्लवनिर्मिते ॥१०१॥
आगताऽहमिहोत्पत्य, तमालश्यामलं नभः । देवोऽम्बा च तदत्रार्थे, प्रमाणं वाच्यमुत्तरम् ॥१०१॥
ततो राज्ञोदितं देवि !, त्वं तावद् याहि सत्वरम् । वत्सां संधीरयैष्यामि, सामग्रीसम्पदा त्वहम् ॥१०३॥
यन्मे मनोऽस्ति साशङ्कं, रुषा विद्याधरा गताः । तद्वृत्तान्तोपलम्भाय, प्रयुक्तश्चङ्कुलो मया ॥१०४॥
तेन सम्पादनं युक्तं, सामग्र्याः प्राभृतस्य च । वरयोग्यस्य तत् कालविलम्बो मे भविष्यति ॥१०५॥
तन् तूर्णं देवि ! गच्छेति, धृत्वाऽऽज्ञां मूर्ध्नि तां प्रभोः । वेगादिमां लवलिकां, पुरस्कृत्याहमागता ॥१०६॥
दृष्टा पल्लवतल्पे सा, स्थिता मदनमञ्जरी । तत्रैव किंचिद् ध्यायन्ती, योगिनीव वचोऽतिगम् ॥१०७॥
ज्ञाता लवलिकावाचा, स्निग्धया लब्धचेतना । मामागतां समुत्थाय, पतिता मम पादयोः ॥१०८॥
मया प्रोक्तं चिरं जीव, वत्से ! प्राप्नुहि वल्लभम् । मनोऽभिवाञ्छितं भुङ्क्ष्व, सुखानि सुभगा भव ॥१०९॥

ततश्चोत्थाप्य साऽऽघ्राता, मूर्ध्न्युत्सङ्गे निवेशिता। उक्ता च खेदं मा कार्षीः, सिद्धं तव समीहितम् ॥११०॥
त्वरां करोति सामग्र्याः, कार्येऽत्र जनकस्तव। तत् श्रुत्वेयत् क्व मे भाग्यमित्युक्त्वा न्यग्मुखी स्थिता ॥१११॥
अत्रान्तरे गतो भानुरस्तमुल्लसितं तमः। प्रक्षालितनभोमार्गा, चन्द्रज्योत्स्ना च पप्रथे ॥११२॥
विनोद्य तां विचित्राभिः, कथाभिर्गमिता ततः। कृच्छ्रान्निशोदिते सूर्ये, प्रोक्ता लवलिका मया ॥११३॥
निरूपय निजस्वामिमार्गं स्थित्वा विहायसि। चिरयत्येष किं सोर्ध्वं, तथेत्युक्त्वा स्थिताऽम्बरे ॥११४॥
स्थित्वा च क्षणमात्रं सा, समुत्तीर्णा प्रमोदभाग्। मयोक्तं किं सहर्षाऽसि, किं स्वामी ते समागतः ॥११५॥
अनया प्रोक्तमद्यापि, स्वामी नो न समागतः। किन्त्वागतौ राजसुतौ, तौ द्रष्टुं भर्तृदारिकाम् ॥११६॥
निरीक्षितं वनं ताभ्यां, न दृष्टा भर्तृदारिका। ततो विषण्णस्तत्प्रेयान्, द्वितीयेनेति भाषितः ॥११७॥
स्थेयं चूतवने तत्र, कुमार गुणधारण!। सा सुभ्रूर्यत्र दृष्टाऽऽसीदन्यत्र भ्रमणेन किम् ॥११८॥
कदाचिद् दैवयोगेन, सा तत्रैवोपलभ्यते। एवमस्त्विति तेनोक्ते, तं देशं तौ प्रजग्मतुः ॥११९॥
ततोऽहं मुदिताऽस्मीति, सा निशम्यापि तद्वचः। प्रत्यायिताऽपि शपथैः, प्रत्ययं न दधौ हृदि ॥१२०॥
मया प्रोक्तं लवलिके!, कुमारं मे प्रदर्शय। येन स्वयं तमानीय, वत्सामाह्लादयाम्यहम् ॥१२१॥
ततस्तयाऽहमानीता, कुमार! तव सन्निधौ। तदुत्थाय कुमारस्तां, दुःखार्तां द्रष्टुमर्हति ॥१२२॥
कुलन्धरस्य वदनं, मया संप्रेक्षितं ततः। तेनोक्तं गम्यतामत्र, किं कुमार! विरुध्यते ॥१२३॥

मदन-मञ्जर्या गुणधारण-समागमः।

जातः सुखामृते मग्नस्तद्दर्शनरसादहम् ॥१२४॥

ततोऽस्माभिर्गतं तत्र, सा दृष्टोद्दिष्टलक्षणा। जातः सुखामृते मग्नस्तद्दर्शनरसादहम् ॥१२५॥

प्राप्तः प्रेयान् स एवायमिति हृष्टाऽवलोक्य माम्। उत्का चिराद् दृष्ट इति, क्वागच्छेदिति तर्कभाग् ॥१२६॥

स्वप्नोऽयं प्रत्यय इति, सविषादा स्थिरत्वतः। सनिर्णया वियोगेऽपि, जीवितेत्युदितत्रपा ॥१२७॥

प्रपत्स्यते कथमसौ, मामित्युद्वेगपूरिता। प्रेक्षते मामयमिति, सविकारा च साऽभवत् ॥१२८॥

अनेकभावसंकीर्णरसनिर्मग्नमानसा। सा वीक्षिता मया स्निग्धलोललोचनपङ्कजा ॥१२९॥

ततः सा कामलतया, प्रोक्ता ते प्रत्ययोऽजनि। वत्से! लवलिकावाक्ये, स्मित्वाऽथाधोमुखी स्थिता ॥१३०॥

जातः प्रमोदः सर्वेषामागतोऽत्रान्तरे नृपः। स्फुरद्रत्नप्रभाजालैर्भूरिविद्याधरैर्युतः ॥१३१॥

आह्लादमन्दिरोद्यानमवतीर्य नभस्तलात्। रत्नैर्भृतविमानौघः, सानन्दः कनकोदरः ॥१३२॥

कृतमस्माभिरुत्थानं, प्रतिपत्तिः कृतोचिता। स्थिताः सर्वे यथास्थानं, तेनाहं वीक्षितश्चिरम् ॥१३३॥

निश्चितश्च स एवायमित्यथानन्दशालिना। पृष्टा कामलता साऽऽख्यद्, वृत्तान्तं निखिलं मम ॥१३४॥

ईदृशे नररत्ने या, निर्बन्धं मनस्तया। स्वाग्रहो देवि! निर्व्यूढः, प्राहेति कनकोदरः ॥१३५॥

ततः कामलता प्राह, सत्यमेतन्न संशयः। कदापि किं कामयते, शक्रादन्यं पुलोमजा ॥१३६॥

अत्रान्तरे समागत्य, चटुलेन निवेदितम्। कनकोदरभूपस्य, कर्णे किमपि धीमता ॥१३७॥

ततो विलम्बेन कृतमिति कामलतां प्रति। वदन् मदनमञ्जर्या, विवाहं कनकोदरः

अकारयन्मां संक्षेपात्, स्थाने तत्रैव पावने। अदर्शयद् विमानौघं, नानारत्नभृतं ततः ॥१३८॥
कुलन्धराय प्रोचेऽमून्, रत्नपूगानिहानयम्। राजपुत्रस्य कोशार्थं, तदेतान् स्वीकरोत्वसौ ॥१३९॥
स प्राह यूयमेवात्र, प्रमाणं प्रश्न एष कः। तान् दत्त्वा प्रययौ तोषं, राजाऽथ कनकोदरः ॥१४०॥
हृष्टा कामलता बाढं, चिन्तासन्तापशान्तितः। प्रीतो लवलिकादिश्च, परिवारोऽखिलस्तदा ॥१४१॥
अहं मदनमञ्जर्या, रत्नपूगाढ्यया तया। शोभां रविरिव प्राप्तो, धामाढ्यदिवसश्रिया ॥१४२॥
अत्रान्तरे महामेघनिकुरम्बमिवाग्रतः। विद्याधरबलं दूरादागच्छद् व्योम्नि वीक्षितम् ॥१४३॥
कुन्ततूणीरचक्रासिशक्तिनाराचतोमरैः। शूलप्रासधनुर्दण्डगदाभिश्च भयानकम् ॥१४४॥
सिंहनादमहोत्कृष्टिध्वानैर्मुखरिताम्बरम्। कृताद्भुतं महायोधैर्मूर्तैः शौर्यरसैरिव ॥१४५॥
स्मयमानमिव प्रेङ्खत्प्रभाजालैर्मदोद्धुरम्। तत्क्षणेनागतं पार्श्वे, दृष्टमस्माभिरुन्मुखैः ॥१४६॥
ततो विद्याधरान् प्राह, स्वकीयान् कनकोदरः। सज्जीभवत सर्वेऽपि, चटुलोक्तमभूत् स्फुटम् ॥१४७॥
मण्डपान्मामसंभाष्य, पूर्वं ये निर्गता रुषा। ज्ञात्वाऽऽगताः सुतां दत्तां, किंचिदालोच्य ते मिथः ॥१४८॥
इदमेषामभिप्रेतं, यदयं गुणधारणः। हीनो न भूचरोऽसत्त्वः, कन्यां स्वीकर्तुमर्हति ॥१४९॥
खगानिव खगानेतात्, भूचरस्योपजीविनः। निरस्य मानमेतेषां, तद् यूयं हन्तुमर्हथ ॥१५०॥
आकर्ण्य रणकण्डूलभुजास्तत् स्वामिनो वचः। नभश्चरा व्यवसितास्तेऽथोत्पतितुमम्बरे ॥१५१॥

अत्रान्तरे मयाऽचिन्ति, चारु नेदमजायत। यतोऽत्र प्रलयोऽमीषां, मम हेतोर्भविष्यति ॥१५२॥
स्तम्भितं तद्बलद्वन्द्वं, तदानीमेव केनचित्। उत्ताननेत्रमूर्द्धाधश्चित्रन्यस्तमिव स्थितम् ॥१५३॥
निर्व्यापारं निराटोपं, ददृशे तद्बलद्वयम्। मनःखेदात् कुमारस्य, द्विधाभूतमिवाम्बरम् ॥१५४॥
तेषामथ नभःस्थानामहं दृग्गोचरं गतः। सार्द्धं मदनमञ्जर्या, निविष्टो विष्टरे सुखम् ॥१५५॥
ततो मां प्रेक्ष्य तैर्ध्यातमहो रूपमहो गुणाः। अहो नरोत्तमस्यास्य, माहात्म्यं वाक्पथातिगम् ॥१५६॥
अहो मदनमञ्जर्याः, सुसमीक्षितकारिता। वृतोऽयमीदृशो भर्ता, यया सौभाग्यभाग्यभूः ॥१५७॥
अनेन स्तम्भिता नूनं, वयं स्वीयेन तेजसा। सह मित्रेण पत्न्या च, स्वयं यन्मुत्कलोऽस्त्ययम् ॥१५८॥
तद् दुष्ठु कृतमस्माभिरीदृशो यन्नरोत्तमः। जिघांसित इतो जाड्यात्, स्तम्भोऽस्माकं न नोचितः ॥१५९॥
अतः परमयं स्वामी, वयं चास्य पदातयः। ध्यायन्त इति ते चित्ते, केनचिन्मुत्कलीकृताः ॥१६०॥
लग्नास्ते खेचरास्तूर्णमागत्य मम पादयोः। रणार्थः पर्यवसितस्तदुत्साहो मम स्तवे ॥१६१॥
उक्तस्तैरहमस्माकं, क्षन्तव्यं दुष्कृतं त्वया। वयं जाता गुणक्रीता, नाथ! भृत्यास्तवाधुना ॥१६२॥
ततोऽभूत् तेषु कनकोदरो विगतमत्सरः। जातश्च मुत्कलः सर्वैरन्योन्यं क्षमितं ततः ॥१६३॥
सर्वे प्रमुदिता जाताः, खेचरा बान्धवाधिकाः। वार्तां श्रुत्वाऽऽगतस्तत्र, तां राजा मधुवारणः ॥१६४॥
अम्बा चान्तःपुरैः सार्द्धं, शेषा अप्यागता जनाः। ततः पितृपदद्वन्द्वं, मयाऽन्यैश्च नृपैर्नतम् ॥१६५॥

समं मदनमञ्जर्या, माताऽपि प्रणता मया । अन्येऽपि लोका विधिना, यथार्हं बहुमानिताः ॥१६६॥
आलिङ्गितोऽहं तातेन, हर्षाश्रुप्लुतचक्षुषा । कुलन्धरेण वृत्तान्तः, सर्वोऽप्यस्मै निवेदितः ॥१६७॥
सर्वेऽपि खेचराः प्रोचुस्तातस्याग्रे सुतस्तव । धन्योऽयं वरवीर्योऽयं, पूताऽनेन वसुन्धरा ॥१६८॥
अयं जीवितदोऽस्माकं, देवोऽयं गुरुरेष नः । इत्यम्बरचरस्तुत्या, मुदितौ पितरौ मम ॥१६९॥
अथ सर्वे प्रमोदेन, सप्रमोदपुरेऽविशन् । तातेनाह्लादितोऽत्यन्तं, सबन्धुः कनकोदरः ॥१७०॥
सर्वे विद्याधरास्तुष्टाः, प्रहृष्टा नगरी जनैः । अनिर्वाच्यसुखोत्कर्षं, तद्दिनं मम लङ्घितम् ॥१७१॥
प्रियाया रत्नराशेश्च, लाभात् प्रत्यर्थिभङ्गतः । ताताम्बाचित्ततोषाच्च, मुदितोऽहं भृशं हृदि ॥१७२॥
समं मदनमञ्जर्या, स्थितोऽहं वाससद्मनि । तत्रानुभूतवान् रात्रौ, रतोत्सवसुखं महत् ॥१७३॥
अत्यन्ताबाधितस्वान्तः, केवलं लौल्यहानितः । लब्धनिद्रासुखः प्रातः, प्रबुद्धः प्रियया सह ॥१७४॥
कृतं प्राभातिकं कृत्यं, ताताम्बानमनादिकम् । सन्निधानमथायातो, मित्रं मम कुलन्धरः ॥१७५॥
मां प्रत्यभिहितं तेन, निराकुलहृदा मया । त्रयः पुमांसो द्वे नार्यावद्य स्वप्ने निरीक्षिताः ॥१७६॥
तैरुक्तं विहितोऽस्माभिः, सुखौघो गुणधारणे । शुभमस्याखिलं कुर्मो, वयमेव कुलन्धधर ! ॥१७७॥
तिरोबभूवुरित्युक्त्वा, मानुषाणि ममाग्रतः । तानि कानीति नो विद्मः, कार्यं कुर्वन्ति यानि ते ॥१७८॥
मयोक्तं जनकादीनां, स्वप्न एष निवेद्यताम् । व्यक्तो यथा स्याद् भावार्थस्तेनोक्तस्तातपर्षदि ॥१७९॥

नगर-
प्रवेशः ।

कुलन्धरस्य
पञ्चमानुषः
स्वप्नः ।

उक्तस्तदर्थस्तातार्धैरेकवाक्यतया ततः । कुमारस्यानुकूलानि, देवरूपाणि कानिचित् ॥१८०॥
ईदृशी यैः कुमारस्य, कृता कल्याणधोरणी । यैश्चास्य प्रियमित्रस्य, स्वप्ने सर्वं निवेदितम् ॥१८१॥
निशम्य तत् कामलतावचनं च सरस्रहम् । सन्देहदोलामारूढः, स्वीयचित्ते व्यचिन्तयम् ॥१८२॥
चत्वारि मानुषाणि प्राक्, किं नृपः कनकोदरः । किं वा कुलन्धरस्तानि, स्वप्ने पश्चाद्य दृष्टवान् ॥१८३॥
कानि वा देवरूपाणि, मम कार्याणि कुर्वते । किं च कारणमाश्रित्य, सर्वथा गहनं ह्यदः ॥१८४॥
अतीन्द्रियज्ञं साधुं चेत्, प्रेक्षे कुर्वेऽत्र निर्णयम् । मयेदक्संशयेनापि, तातासुक्तं न दूषितम् ॥१८५॥
अथ ते खेचराः सर्वे, कनकोदरसंयुताः । मुदिताः कतिचित् स्थित्वा, दिनानि मम मन्दिरे ॥१८६॥
मद्भृत्यभावमादृत्य, गताः स्वस्थानमन्यदा । सुखं तदुपनीतं मे, पूर्णकाममवर्धत ॥१८७॥
सार्धं मदनमञ्जर्या, कौमुद्येवामृतद्युतिः । लौल्यतापोज्झितः सौख्यं, भुञ्जानोऽहं स्थितोऽतुलम् ॥१८८॥
अन्यदा सुहृदा युक्तस्तत्रैवाह्लादमन्दिरे । अद्राक्षं कन्दनामानं, सभार्योऽहं मुनीश्वरम् ॥१८९॥
तं प्रणम्य निषण्णोऽहं, तस्याग्रे शुद्धभूतले । विहिता तेन सद्धर्मदेशनाऽऽह्लाददायिनी ॥१९०॥
पुनस्तदाऽऽगतौ तौ मे, बान्धवौ लक्षितौ मया । सदागमोऽयमेषोऽत्र, सम्यग्दर्शननामकः ॥१९१॥
गुरुवाक्यप्रबुद्धेन, तौ मया हितकारिणौ । बुद्धौ सातनरेन्द्रेण, तदा मयि विजृम्भितम् ॥१९२॥
अभूद् यो मयि रक्तात्मा, सत्पुरे विबुधालये । विललास मया सार्द्धं, सप्रमोदपुरे च यः ॥१९३॥

स्वप्न-विषयः संशयः

कन्दमुनि-दर्शनम्

स हि पूर्वं तिरोभूतः, प्राग् ददौ मे सुखासिकाम् । आविर्भूतस्तदाऽभूत् तावागतौ बान्धवौ यदा ||१९४|| ततश्च—
सत्कान्तारत्नपूगादिलाभात् याऽभूत् सुखासिका । ततोऽनन्तगुणा जाता, गुरुवाक्यश्रुतौ मम ||१९५||
तदा कुलन्धरेणापि, महत्तमसदागमौ । तया मदनमञ्जर्या, प्रपन्नौ मुनिसन्निधौ ||१९६||
विशिष्य देशनां चक्रे, ततस्तुष्टोऽधिकं मुनिः । चित्तवृत्तौ ततो भीता, मोहाद्या रोधकं जहुः ||१९७||
चारित्रधर्मराजेन, सद्बोधः सचिवस्तदा । उक्तः संप्रति शुभ्राऽभूत् , चित्तवृत्तिमहाटवी ||१९८||
ईषद्दूरे च रिपवः, सन्ति संत्यक्तरोधकाः । संसारिजीवसविधे, विद्यामादाय तद् व्रज ||१९९||
उपकन्दमुनिं ज्ञातः, स्थितः स च चरैर्मया । तत्रावश्यं भवन्तं च, स्नेहेन प्रतिपत्स्यते ||२००||
सद्बोधः प्राह राजेद्र !, युक्तमुक्तमिदं त्वया । अत्र प्रयोजनेऽद्यापि, विलम्बः किन्तु युज्यते ||२०१||
स हि पुण्योदयस्तस्य, स च साताभिधः सुहृत् । कियन्तमपि कालं स्तो, भूरिभोगफलावहौ ||२०२||
यावत् तदनुवृत्त्याऽयमध्यास्ते भोगभाग् गृहम् । तावन्न मे सविद्यस्य, युक्तं गन्तुं तदन्तिके ||२०३||
धर्मादपि भवन् भोगो, रुणद्धि चरणागमम् । चन्दनैरपि संछन्नो, मार्गो भवति दुर्गमः ||२०४||
केवलं प्रेष्यतां तस्य, पार्श्वेऽसौ स्वसुतः प्रभो ! । गृहिधर्मः सभार्यस्तत्प्रस्तावोऽस्त्यधुना शुभः ||२०५||
इमं देव ! स भावेन, गतमात्रं प्रपत्स्यते । इष्टा भवित्री तस्यास्य, कान्ता सद्गुणरक्तता ||२०६||

१ भीमा डे. शा. । २ शुद्धा की. मु. ।

सदागमस्य सान्निध्यात्, द्रव्यतोऽनन्तशोऽमुना । असौ प्राप्तो यदा तस्य, गतः पार्श्वं महत्तमः ॥२०७॥
तदा तेनाप्ययं नीतो, वात्सल्यातिशयात् सह । पल्योपमपृथक्त्वे तु, गते प्राप्तः स भावतः ॥२०८॥
ततो यदा यदा दृष्टौ, महत्तमसदागमौ । असंख्यवारास्तेनैष, भावेनाप्तस्तदा तदा ॥२०९॥
अधुना तस्य पार्श्वे स्तो, महत्तमसदागमौ । प्रहीयतां विशेषेण, तत्पार्श्वे तदसौ द्रुतम् ॥२१०॥
कर्मह्रासो मनःशुद्धिर्गुर्वी चैव सुखासिका । तस्यास्मदाभिमुख्यं च, स्याद् विशिष्यास्य संस्तवात् ॥२११॥
प्रस्थाप्यतां ततस्तस्य, गृहिधर्मोऽयमन्तिके । यास्यामि पश्चात् प्रस्तावं, मत्वाऽहं विरयाऽन्वितः ॥२१२॥
मन्त्रिणो वचनं श्रुत्वा, तदिदं नीतिनिर्मलम् । चारित्रधर्मराजेन्द्रः, प्रजिघाय सुतं निजम् ॥२१३॥
आपृच्छय स ततः कर्मपरिणाममहीभुजम् । मदन्तिके समायातस्तत्रैवाह्लादमन्दिरे ॥२१४॥
आविर्भूतो ममाग्रेऽसौ, शृण्वतः कन्ददेशनाम् । प्रकाशितश्च तेनापि, श्रितो बन्धुधिया मया ॥२१५॥
गुणरक्ततया युक्तस्तथा, द्वादशमानुषैः । कुलन्धरेण स श्राद्धधर्मः पत्न्या च मे श्रितः ॥२१६॥
मया पृष्टो मुनीन्द्रोऽथ, कन्दः स्वप्नार्थसंशयम् । स प्राह निर्णयो नस्यादस्यातिशयिनं विना ॥२१७॥
गमेशा गुरवः सन्ति, दूरे मे निर्मलाभिधाः । तान् वन्दिष्ये यदा तेऽमुं, तदा प्रक्ष्यामि संशयम् ॥२१८॥
संशयो हृदि ते जातो, योऽयं स्वमद्वयाध्वना । एकमार्गप्रणाल्या तं, ते छेत्स्यन्ति महाधियः ॥२१९॥
मया प्रोक्तं कथंचित् ते, भदन्त! गुरवो यदि । अत्रायान्ति भवेत् तर्हि, शोभनादपि शोभनम् ॥२२०॥

गुणरक्तता-युक्तगृहिधर्मस्यागमनम् ।

मुनिराह महाभाग !, गतोऽहं गुरुसन्निधौ। विज्ञप्य त्वद्गिरा तांस्ते, पूरयिष्यामि कामितम् ॥२२१॥
ज्ञात्वाऽत्र ते भवद्भावमेष्यन्ति स्वयमेव वा। सम्यक्त्वसहितः पाल्यो, गृहिधर्मस्त्वया परम् ॥२२२॥
इदं कन्दमुनेर्वाक्यं, श्रुत्वा तच्छासनस्थितः। समित्रश्च सभार्यश्च, तं नत्वाऽहं गृहं गतः ॥२२३॥
ततः सोऽपि मुनिर्युक्तो, मुनिभिर्गुरुसन्निधौ। प्रययावुपविन्ध्याद्रि, करीव कलभान्वितः ॥२२४॥
अथ लोकान्तरीभूतः, पिता मे मधुवारणः। ततो राज्येऽभिषिक्तोऽहं, बन्धुमन्त्रिमहत्तमैः ॥२२५॥
उज्ज्वलैरपि रक्ताऽभूद्, गुणैर्मम नृपावलिः। मरुद्भिरपि सद्भक्तिस्थैर्यं मयि समाहतम् ॥२२६॥
न नामितं क्वचिच्चापं, कृता भ्रूर्नैव भङ्गुरा। तथापि मां नताः सर्वे, शत्रवो भयभङ्गुराः ॥२२७॥
एकच्छत्रमभूद् राज्यं, परच्छत्रहृतेर्मम। तथाऽपि विपुला च्छाया, चित्रं जगति पप्रथे ॥२२८॥
तथाविधेऽपि साम्राज्ये, प्रक्षुब्धं नैव मे मनः। पुण्योदयस्य माहात्म्यात्, किन्तु बाढं धृतिं दधौ ॥२२९॥
बिभ्रतः शुचि सम्यक्त्वमुद्युक्तस्य सदागमे। गृहिधर्मादरभृतः, साताह्लादितचेतसः ॥२३०॥
पुण्योदयपवित्रस्य, मग्नस्यानन्दसागरे। सुशीलपरिवारस्य, कालो भूयान् गतो मम ॥२३१॥
कल्याणो नाम कल्यांणीभक्तिर्मा प्रियदारकः। अन्यदा प्रणिपत्यैवमास्थानस्थं व्यजिज्ञपत् ॥२३२॥
आह्लादमन्दिरे देव !, देवदानवमानवैः। पूजिता निर्मलाचार्या, महाभागाः समागताः ॥२३३॥

१ समाहतम् डे. धा.।

नवम स्तबकः। निर्मलाचार्याणामागमनम्। गुणधारणस्य राज्याभिषेकः।

चित्ते वहिस्ताः प्रसृताः, प्रसादव्यपदेशतः ॥२३४॥
श्रुत्वा कल्याणवचनं, तन्मुदो मम नो ममुः । दीनाराणां मया लक्षं, तुष्टेन प्रियभाषिणे ॥२३५॥
ततोऽङ्गलग्नभूषादियुक्तं तस्मै समर्पितम् । नगरान्निर्गतः सूरिपदवन्दनहेतवे ॥२३६॥
ततः सर्वसमृद्ध्याऽहं, सवयस्यः सभार्यकः । सुरयो देशनोद्युक्ता, मुनिवृन्देन वेष्टिताः ॥२३७॥
अथ दृष्टा सुरकृतस्वर्णाम्भोजस्थिता मया । प्रविष्टस्तदवग्रहे ॥२३८॥
ततस्त्यक्तासिकोटीरचामरच्छत्रवाहनः । अहं कृतोत्तरासङ्गः, प्रविष्टस्तदवग्रहे ॥२३८॥
दत्त्वा भगवतः सम्यग्, द्वादशावर्तवन्दनम् । मुनीन् यथाक्रमं नत्वाऽशेषान् लब्ध्वा तदाशिषः ॥२३९॥
निषण्णो भूतले शुद्धे, प्रीतोऽहं सपरिच्छदः । देशनाऽऽरम्भि गुरुणा, ततः कर्मविपापहा ॥२४०॥
भवाम्भोधौ महोद्दामदुःखकल्लोलभीषणे । भो भव्याः ! शरणं धर्मं, विनाऽन्यन्नास्ति देहिनाम् ॥२४१॥
संयोगा विप्रयोगान्ता, विपदन्ताश्च सम्पदः । जरान्तं चारु तारुण्यं, किं पर्यन्तसुखे भवे ॥२४२॥
भवे यन्मधुलिप्तासिधारास्वादसमं सुखम् । तत्रास्था धीमतः कस्य, युज्यते दुःखमिश्रिते ॥२४३॥
सर्वद्वन्द्वविमुक्तानां, सिद्धानामेव तात्त्विकम् । संसिद्धसर्वकार्याणां, निर्द्वन्द्वं वर्तते सुखम् ॥२४४॥
जन्माभावे जरामृत्योरभावो हेत्वभावतः । तदभावे च सिद्धानां, सर्वदुःखक्षयात् सुखम् ॥२४५॥
वृत्तिभ्यां देहमनसोर्दुःखे शारीरमानसे । भवतस्तदभावाच्च, सिद्धौ सिद्धं महासुखम् ॥२४६॥

१ किं पर्यन्तगुरु ड. मा. ।

त्यक्तबाह्यान्तरग्रन्थैरथवा लभ्यते सुखम् । तात्त्विकं मुनिभिः शान्तैर्विरक्तैर्भवचारकात् ॥२४७॥
सुखिनो विषयातृप्ता, नेन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्यहो । भिक्षुरेकः सुखी लोके, ज्ञानतृप्तो निरञ्जनः ॥२४८॥
सर्वे दुःखद्विषो जीवाः, सर्वे च सुखकाङ्क्षिणः । न विना साधुतां हन्त, सुखदुःखक्षयौ पुनः ॥२४९॥
निश्चित्य तदिदं तत्त्वं, संसारं प्रविहाय भोः ! । विधीयतां महासत्त्वा ! भवद्भिः साधुसाधुता ॥२५०॥
इदं मे भगवद्वाक्यं, रुचितं लघुकर्मणः । कुर्वे भगवदादिष्टमिति चित्ते च चिन्तितम् ॥२५१॥
सूरीन्द्रे देशनां दत्त्वा, विरतेऽत्रान्तरे मुनिः । कन्दनामाऽऽह भगवन् !, विलम्बः कस्य नोचितः ॥२५२॥
भगवानाह जिज्ञासोः, सशङ्कस्यान्तिके गुरोः । कन्दः प्राह तदा शङ्कां, भूभुजश्छेत्तुमर्हथ ॥२५३॥
भगवानाह साधूक्तं, मया प्रोक्तं मुनिं प्रति । भदन्तानुगृहीतोऽहमेवं प्रश्नयता त्वया ॥२५४॥
ततः कन्दमुनिः प्राह, योग्या यूयमनुग्रहे । भगवद्वचनं रुच्यमाकर्णयत सम्प्रति ॥२५५॥
अहं नतोत्तमाङ्गः सन्, स्थितः प्रह्वतरस्ततः । भगवानाह सन्देहस्तवायं गुणधारण ! ॥२५६॥
स्वप्ने दृष्टानि चत्वारि, कनकोदरभूभुजा । कुलन्धरेण पञ्चैव, मानुषाणीति का भिदा ॥२५७॥
कानि तानि किमर्थं वा, मम कार्याणि कुर्वते । किं तानि देवरूपाणि, किं वा स्वप्नद्वयं मृषा ॥२५८॥
महत्यस्ति कथा तत्र, कथं सर्वा निवेद्यताम् । मयोक्तं कथयन्त्वल्पां, भगवन्तो हिताय मे ॥२५९॥

स्वप्नविषयसन्देहापगमः

१–रतैर्भ–ङे. ज्ञा. ।

ततः संक्षेपतः प्रोक्ता, मम वक्तव्यताऽखिला। आरभ्याव्यवहाराख्यान्नगरात् सर्ववेदिना ॥२६०॥
उक्तं न फलितं तेन, महामोहादिभिस्तव। राज्यमुद्दालितं ह्यासीदियन्तं कालमान्तरम् ॥२६१॥
चारित्रधर्मराजाद्या, हितास्तैश्च बहिष्कृताः। त्वत्प्रतीपोऽतनोत् कर्मपरिणामोऽपि तद्बलम् ॥२६२॥
अधुना नानुकूल्यं ते, सार्वभौमः करोत्यसौ। तेनैव च कृता कालपरिणत्यृजुता त्वयि ॥२६३॥
प्रमादिता च तेनैव, भार्या ते भवितव्यता। प्रह्वीकृतोऽङ्गभूतस्ते, स्वभावः स्वमहत्तमः ॥२६४॥
प्रोत्साहितः सहचरस्तव पुण्योदयस्तथा। आश्वासिताश्चारित्राद्या, मोहाद्याश्चावधीरिताः ॥२६५॥
यतः प्रभृति जातौ ते, महत्तमसदागमौ। बान्धवौ तत आरभ्यानुकूलस्त्वय्ययं नृपः ॥२६६॥
ततस्तेन सुखश्रेणी, दत्ता ते विबुधालये। प्रोत्साहितोऽधुनाऽप्येष, सुहृत् पुण्योदयस्तव ॥२६७॥
तेन संपादिता चाद्या, भार्या मदनसुन्दरी। तेनैव दर्शितः स्वप्नः, कनकोदरभूभुजः ॥२६८॥
वरो मदनमञ्जर्या, दृष्टोऽस्माभिस्तवात्र का। चिन्तेति तत्र यत् प्रोचे, मानुषाणां चतुष्टयम् ॥२६९॥
तत् कर्मपरिणामादिरूपं तेन प्रकाशितम्। गोपितं स्वस्य माहात्म्यं, गाम्भीर्यात् पुनरात्मना ॥२७०॥
विद्याधरेषु वैमुख्यं, तस्या यज्जनितं स्वयम्। तन्मुखेनैव तदपि, प्राकाशयदयं कृती ॥२७१॥
ततोऽसौ भाषितः कर्मपरिणामेन भूभुजा। स्वात्मा यद्गोपितश्चारु, पुण्योदय! न तत् कृतम् ॥२७२॥
त्वां विना सुन्दरं कार्यं, न वयं कर्तुमीश्महे। प्रकाशनीयस्तेनात्मा, नान्यथा नः सुखं भवेत् ॥२७३॥

१ कर्मपरिणाम–कालपरिणति–स्वभाव–भवितव्यतालक्षणानि चत्वारि मानुषाणि, पुण्योदयसहितानि तु तानि पञ्च।

नीतस्त्वं विबुधावासे, ततः पुण्योदयान्वितः । आनीतो मनुजावासे, कृता कल्याणसन्ततिः ॥३०२॥
पुनः पापोदयो दत्तस्त्याजितास्ते सुबान्धवाः । बन्धुसंयोगविरहावित्थं तेऽसंख्यशः कृतौ ॥३०३॥
त्वत्तोऽधुना तु तैर्दूरतरे पापोदयः कृतः । मधुवारणपुत्रत्वे, तूष्णीमास्ते ततो ह्यसौ ॥३०४॥
आसन्नास्ते कृतास्तैश्च, सातपुण्यादयोऽधुना । पापानुबन्धिविरहाद् , दिव्याः पुण्यानुबन्धिनः ॥३०५॥
तेन ते वर्धते नित्यं, लौल्यमुक्ता सुखावलिः । हिते ते स्वप्नदृष्टानि, मानुषाण्येव जाग्रति ॥३०६॥
यदा हि प्रतिकूलानि, तान्यभूवंस्तवोपरि । तदा पापोदयद्वारा, दुःखं तैस्तव दर्शितम् ॥३०७॥
अनुकूलैस्तु तैः पुण्योदयद्वारा सुखासिका । दत्ता ते तेन तान्येव कारणं ते शुभाशुभे ॥३०८॥
मयोक्तं तत् किमत्रार्थे, वर्तेऽकिंचित्करोऽन्वहम् । सूरिराह महासत्त्व !, मैवं मंस्थाः कदाचन ॥३०९॥
अमूनि परिवारस्ते, त्वमेवाखिलनायकः । त्वद्योग्यतामपेक्ष्यैव, तेषां तास्ताः प्रवृत्तयः ॥३१०॥
ततस्ते कारणं मुख्यं, सुन्दरेतरवस्तुषु । योग्यताऽनादिशक्त्याख्या, परे तु सहकारिणः ॥३११॥
हेतुस्त्वं परिणामित्वात् , कार्याणामात्मभाविनाम् । तन्मुख्यः प्रतिपद्यन्ते, गौणत्वं चान्यहेतवः ॥३१२॥
मयोक्तं नाथ ! यद्येवं, कार्यसम्पादको मम । किमियानेव हेत्वोघः, किं वाऽस्त्यधिकमप्यतः ॥३१३॥
सूरिराह महाराज ! शृणु या निर्वृतिः पुरी । अस्ति निर्द्वन्द्वसुखभूर्निरातङ्का निरामया ॥३१४॥
अस्ति तस्यां महाराजः, सुस्थितः परमेश्वरः । सुन्दरेतरकार्याणां, हेतुस्ते जगतश्च सः ॥३१५॥
एकरूपोऽप्यनेकोऽसावचिन्त्यगुणभाजनम् । अव्ययो निष्कलः शुद्धः, परमात्मा सनातनः ॥३१६॥

निजयोग्यता मुख्यं कारणम्

स बुद्धः स महादेवः, स विष्णुः स पितामहः । स वीतरागो भगवान्, कथितस्तत्त्वदर्शिभिः ॥३१७॥
निरिच्छो न करोत्येष, तत्कार्यव्यूहमिच्छया । किन्त्वाज्ञा विद्यते तस्य, लोकानां करणोचिता ॥३१८॥ यदुत–
कार्या निरन्धकारेयं, चित्तवृत्तिर्महाटवी । हन्तव्यं रिपुबुद्ध्या च, महामोहादिकं बलम् ॥३१९॥
चारित्रधर्मराजाद्यं, पोष्यं बन्धुधिया बलम् । आज्ञेयमियती विश्वहितकृत् पारमेश्वरी ॥३२०॥
ध्यानेन नमविधिना, स्तवेन व्रतचर्यया । इयमाराध्यते शिष्टैर्दुष्टाचारैर्विराध्यते ॥३२१॥
तां च यो यावतीं धीमानाराधयति सर्वदा । अजानतोऽपि तद्रूपं, तस्य तावद् भवेद् सुखम् ॥३२२॥
यो यावत् कुरुते मूढस्तदाज्ञाया विराधनम् । तावद् दुःखं भवेत् तस्य, तद्रूपावेदिनोऽपि हि ॥३२३॥
तदाज्ञालङ्घनाद् दुःखं, तदाज्ञाकरणात् सुखम् । ततः स निर्वृतिस्थोऽपि, जगतां हेतुरुच्यते ॥३२४॥
शुभाशुभानां कार्याणामतस्ते गुणधारण ! । स एव परमो हेतुरिष्यते नात्र संशयः ॥३२५॥
पूर्वं तदाज्ञालोपात् ते, जाता दुःखपरम्परा । अधुना सुखलेशोऽयमीदृशस्ते विधायिनः ॥३२६॥
यदा तु तस्य सम्पूर्णामाज्ञामाराधयिष्यति । तदा प्रकृष्टं यद् भावि, सुखं तद् ज्ञास्यसि स्वयम् ॥३२७॥
प्रधानगुणभावेन, तदेते हेतवोऽखिलाः । मिलिताः कुर्वते कार्यं, नत्वेकेनापि वर्जिताः ॥३२८॥
मयोक्तं कार्यसामग्री, सम्पूर्णेयं निवेदिता । सूरिराह महाराज !, प्रायशः प्रतिपादिता ॥३२९॥
अन्तर्भावोऽवशिष्टानां, हेतूनामत्र कीर्त्यते । यथा यदृच्छानियती, प्रविष्टे भवितव्यताम् ॥३३०॥

सुस्थिताज्ञाऽऽराधन-विराधने सुख-दुःखयोः कारणम् ।

१ कर्णोचिता के. भा. । २ नत के. भा. ।

पुण्यस्य सामर्थ्यम्।

तदाज्ञपारतन्त्र्येण, स्वात्मान्तर्भावतस्ततः। कुलन्धराय पञ्चासौ, मानुपाणि न्यरूपयत् ॥२७४॥
इदं तेषां चतुर्णां च, पञ्चानां च प्रदर्शने। कारणं तत्र सन्देहं, मा कार्षीर्गुणधारण! ॥२७५॥
मयोक्तं भगवन्नारात्, प्रियालाभान्ममाखिलः। सुखावगाहः किं पुण्योदयेनैव विनिर्मितः २७६॥
भगवानाह निहितं, न केवलमियत् तव। पुण्योदयेन कार्याणि, भूयांसि तव चक्रिरे ॥२७७॥
समं कनकमञ्जर्या, नन्दिवर्धनजन्मनि। योगस्ते जनितोऽनेन, प्रेमाम्बुधिविधूदयः ॥२७८॥
रिपुदारणकाले च, लम्भिता नरसुन्दरी। वामदेवदशायां च, विमलस्ते सुहृत् कृतः ॥२७९॥
धनशेखरकाले च, प्रापिता रत्नराशयः। प्रदत्तं च महाराज्यं घनवाहनजन्मनि ॥२८०॥
अकृत्रिमोऽकलङ्कस्य, स्नेहश्चोत्पादितस्त्वयि। सर्वस्थाने सुखं दत्तं, न ज्ञातोऽयं परं त्वया ॥२८१॥
निःशेषदोषपुञ्जेषु, हिंसावैश्वानरादिषु। आरोपितो गुणव्यूहो, भवता मूढचेतसा ॥२८२॥
मयोक्तं नाथ! यद्येवं, मम पुण्योदयः सुहृत्। प्रागप्यासीत् तदेतावद्दिनदुःखमभूत् कुतः ॥२८३॥
भगवानाह नित्यं ते, चित्तवृत्तौ बलद्वयम्। अस्ति चारित्रधर्माद्यं, तथा मोहनृपादिकम् ॥२८४॥
तत्र साधारणः कर्मपरिणामो बलद्वये। बलवृद्धिकरस्तत्तदुदयापेक्षलक्षणः ॥२८५॥

कर्मपरिणामस्य पापपुण्योदयाभिधौ सेनापती

तस्य सेनापती द्वौ स्तः, पापपुण्योदयाभिधौ। प्रतिकूलः स्वभावेन, तत्र पापोदयस्तव ॥२८६॥
यत् कर्मपरिणामस्य, सैन्यं [1]विद्वेषि ते दृढम्। तदेवाधिकरोत्येष, हितः पुण्योदयस्तु ते ॥२८७॥

१ -स्तत्तुद-की. मु.।

यत् कर्मपरिणामस्य, सैन्यं ते बान्धवाधिकम् । तदेवाधिकरोत्येष, पूर्णिमाविधुनिर्मलः ॥२८८॥
कनिष्ठेन ददौ पुण्योदयं च भवितव्यता । स च पापोदयोऽनादिरूढस्त्वामन्ववर्तत ॥२८९॥
अनन्तकालभ्रमणदुःखं तेन व्यधायि ते । हिंसादिषु हितत्वं च, तेनैव परिकल्पितम् ॥२९०॥
पुण्योदयश्च तद्दोषाद्, हितकारी न लक्षितः । तेनैव चित्तवृत्तेस्त्वं, महाराज्याद् बहिष्कृतः ॥२९१॥
छादितं तेन चारित्रधर्मादिबलमाङ्गिकम् । महामोहादि सैन्यं च, पोषितं दुःखकारि ते ॥२९२॥
पुण्योदयोऽपि नो तेनानुबद्धोऽनुबबन्ध ते । सुखौघमन्तःसंलीनज्वरानुद्भवसन्निभः ॥२९३॥
दोषः पुण्योदयस्यास्य, तन्न कश्चन विद्यते । किन्तु पापोदयस्यैव, दोषः सर्वोऽप्ययं द्विषः ॥२९४॥
मयोक्तं भगवन्! पापोदयोऽसावधुना कथम् । तूष्णीमास्ते गुरुः प्राह, स्वतन्त्रोऽयं न कर्हिचित् ॥२९५॥
यत् कर्मपरिणामादिनिर्देशेन प्रवर्तते । दूरीकृतोऽसावधुना, तैर्दुरात्मा त्वदन्तिकात् ॥२९६॥
यतः प्रभृति पार्श्वे ते, समायातः सदागमः । अमीभिस्तत आरभ्य, तत्प्राबल्यं निराकृतम् ॥२९७॥
दूरेऽगात् स मनाक् तेन, प्राप्तः पुण्योदयोऽन्तिके । ततः सदागमे प्रीतिः, संजाता तेऽन्तराऽन्तरा ॥२९८॥
तन्माहात्म्यात् सुखं लब्धं, त्वया तैस्त्वं कचित्पुनः । कृतः पापोदयं दत्त्वा, दुःखी त्यक्तसदागमः ॥२९९॥
आलोच्यालोच्य तैरेव, मीलितोऽनन्तशस्तव । पापोदयान्तरात् पुण्योदययुक्तः सदागमः ॥३००॥
यदा त्वं[1]तैस्तवानीतः, सविधे गृहिधर्मयुग् । महत्तमो दूरतरीकृतः पापोदयस्तदा ॥३०१॥

---

1 पदैरिति की. मु. ।

नीतस्त्वं विबुधावासे, ततः पुण्योदयान्वितः । आनीतो मनुजावासे, कृता कल्याणसन्ततिः ॥३०२॥
पुनः पापोदयो दत्तस्त्याजितास्ते सुबान्धवाः । बन्धुसंयोगविरहावित्थं तेऽसंख्यशः कृतौ ॥३०३॥
त्वत्तोऽधुना तु तैर्दूरतरे पापोदयः कृतः । मधुवारणपुत्रत्वे, तूष्णीमास्ते ततो ह्यसौ ॥३०४॥
आसन्नास्ते कृतास्तैश्च, सातपुण्यादयोऽधुना । पापानुबन्धिविरहाद् , दिव्याः पुण्यानुबन्धिनः ॥३०५॥
तेन ते वर्धते नित्यं, लौल्यमुक्ता सुखावलिः । हिते ते स्वप्नदृष्टानि, मानुषाण्येव जाग्रति ॥३०६॥
यदा हि प्रतिकूलानि, तान्यभूवंस्तवोपरि । तदा पापोदयद्वारा, दुःखं तैस्तव दर्शितम् ॥३०७॥
अनुकूलैस्तु तैः पुण्योदयद्वारा सुखासिका । दत्ता ते तेन तान्येव कारणं ते शुभाशुभे ॥३०८॥
मयोक्तं तत् किमत्रार्थे, वर्तेऽकिंचित्करोऽन्वहम् । सूरिराह महासत्त्व !, मैवं मंस्थाः कदाचन ॥३०९॥
अमूनि परिवारस्ते, त्वमेवाखिलनायकः । त्वद्योग्यतामपेक्ष्यैव, तेषां तास्ताः प्रवृत्तयः ॥३१०॥
ततस्ते कारणं मुख्यं, सुन्दरेतरवस्तुषु । योग्यताऽनादिशक्त्याख्या, परे तु सहकारिणः ॥३११॥
हेतुस्त्वं परिणामित्वात् , कार्याणामात्मभाविनाम् । तन्मुख्यः प्रतिपद्यन्ते, गौणत्वं चान्यहेतवः ॥३१२॥
मयोक्तं नाथ ! यद्येवं, कार्यसम्पादको मम । किमियानेव हेत्वोघः, किं वाऽस्त्यधिकमप्यतः ॥३१३॥
सूरिराह महाराज ! शृणु या निर्वृतिः पुरी । अस्ति निर्द्वन्द्वसुखभूर्निरातङ्का निरामया ॥३१४॥
अस्ति तस्यां महाराजः, सुस्थितः परमेश्वरः । सुन्दरेतरकार्याणां, हेतुस्ते जगतश्च सः ॥३१५॥
एकरूपोऽप्यनेकोऽसावचिन्त्यगुणभाजनम् । अव्ययो निष्कलः शुद्धः, परमात्मा सनातनः ॥३१६॥

निजयोग्यता मुख्यं कारणम्

स रुद्रः स महादेवः, स विष्णुः स पितामहः । स वीतरागो भगवान् , कथितस्तत्त्वदर्शिभिः ॥३१७॥
निरिच्छो न करोत्येष, तत्कार्यव्यूहमिच्छया । किन्त्वाज्ञा विद्यते तस्य, लोकानां करणोचिता ॥३१८॥ यदुत–
कार्या निर्ग्रन्थकारेयं, निवृत्तिर्महाटवी । हन्तव्यं रिपुबुद्ध्या च, महामोहादिकं बलम् ॥३१९॥
चारित्रधर्मराजाद्यं, पोष्यं बन्धुधिया बलम् । आज्ञेयमियती विश्वहितकृत् पारमेश्वरी ॥३२०॥
ध्यानेन ब्रह्मविधिना, स्तवेन व्रतचर्यया । इयमाराध्यते शिष्टैर्दुष्टाचारैर्विराध्यते ॥३२१॥
तां च यो यावतीं धीमानाराधयति सर्वदा । अजानतोऽपि तद्रूपं, तस्य तावद् भवेद् सुखम् ॥३२२॥
यो यावत् कुरुते मूढस्तदाज्ञाया विराधनम् । तावद् दुःखं भवेत् तस्य, तद्रूपावेदिनोऽपि हि ॥३२३॥
तदाज्ञालङ्घनाद् दुःखं, तदाज्ञाकरणात् सुखम् । ततः स निर्वृतिस्थोऽपि, जगतां हेतुरुच्यते ॥३२४॥
शुभाशुभानां कार्याणामतस्ते गुणधारण ! । स एव परमो हेतुरिष्यते नात्र संशयः ॥३२५॥
पूर्वं तदाज्ञालोपात् ते, जाता दुःखपरम्परा । अधुना सुखलेशोऽयमीदृशस्ते विधायिनः ॥३२६॥
यदा तु तस्य सम्पूर्णामाज्ञामाराधयिष्यति । तदा प्रकृष्टं यद् भावि, सुखं तद् ज्ञास्यसि स्वयम् ॥३२७॥
प्रधानगुणभावेन, तदेते हेतवोऽखिलाः । मिलिताः कुर्वते कार्यं, नत्वेकेनापि वर्जिताः ॥३२८॥
भवोक्ता कार्यसामग्री, सम्पूर्णेयं निवेदिता । सूरिराह महाराज !, प्रायशः प्रतिपादिता ॥३२९॥
अन्तर्भावोऽवशिष्टानां, हेतूनामत्र कीर्त्यते । यथा यदृच्छानियती, प्रविष्टे भवितव्यताम् ॥३३०॥

सुस्थिताज्ञाऽऽराधन-विराधने सुख-दुःखयोः कारणम् ।

---

१ स्वर्गा॰ डे. धा. । २ अत डे. ज्ञा. ।

ततोऽहं गतसन्देहस्तत् स्वीकृत्य गुरोर्वचः । तं परं पृष्टवान् चित्ते, संदेहं प्राग् वितर्कितम् ॥३३१॥
भूमौ व्योम्नि च सस्पर्द्धं नभश्चरबलद्वयम् । स्तम्भितं केन भगवंस्तदा रणरसोद्धतम् ॥३३२॥
सूरिर्बभाषे तत्रापि, हेतुः पुण्योदयस्तव । परमस्तस्य माहात्म्यात् प्रसन्ना वनदेवता ॥३३३॥
तया बलद्वयं सद्यः, स्तम्भितं रक्षिता मृतिः । त्वदिच्छया खेचराणां, मुक्तास्ते शान्तविग्रहाः ॥३३४॥
तयाऽपि यत् कृतं कार्यं, ज्ञेयं पुण्योदयस्य तत् । अयमेव हि सत्कार्ये, बाह्यहेतुप्रचोदकः ॥३३५॥
पुण्यपापोदयौ तस्मान्मुख्यहेतू शुभाशुभे । निमित्तमात्रं बाह्यास्तु, पदार्था गुणधारण ! ॥३३६॥
मयोक्तं भगवन् ! नष्टोऽधुना मे संशयोऽखिलः । बुद्धं च तत्त्वं यत् पूर्वं, सुस्थिताज्ञाविलङ्घनात् ॥३३७॥
तैः कर्मपरिणामाद्यैर्महामोहादिपोपिभिः । क्रुद्धैः प्रचोदितात् पापोदयाद् दुःखं बभूव मे ॥३३८॥
यदा स्वयोग्यतापेक्षसुस्थितानुग्रहान्मम । जातं ज्ञानं कृतः पोपश्चारित्रादिबलस्य च ॥३३९॥
तैः कर्मपरिणामाद्यैरनुकूलैस्तदा मम । प्रौढपुण्योदयद्वारा, दाप्यते सुखमालिका ॥३४०॥
केवलं भगवद्भिर्यत्, प्रोक्तं पुण्योदयेन ते । ईदृक् सुखलवो दत्तस्तत्र मे कौतुकं महत् ॥३४१॥
यतो यस्मिन् दिने लब्धा, मया कनक(मदन)मञ्जरी । दिव्यरत्नसमूहाश्च, भाभिर्भानुसनाभयः ॥३४२॥
चिन्तामात्रेण स(श)मितं, खेचराणां च विड्वरम् । बन्धूभूता मिथस्ते च, प्रपन्ना मम भृत्यताम् ॥३४३॥
तातास्वादिमनस्तोषः, कृतस्तैः खेचरैः सह । प्राप्तो महोत्सवैर्गेहं, गीतं सर्वैर्यशश्च मे ॥३४४॥
तद्दिनं मे महानन्दात्, प्रतिभातं सुधामयम् । वर्धमाने च मदनमञ्जरीस्नेहपादपे ॥३४५॥

पुण्यपापोदयौ मुख्यहेतू ।

ज्ञाते कन्दमुनीन्द्रस्य, दर्शने मित्रतां गते । साते सदागमे श्राद्धधर्मे सम्यक्त्वभाजि च ॥३४६॥
राज्ये परिणतेऽत्यन्तं, यः सुखातिशयोऽजनि । जाता तेन ममावज्ञा, स्वर्गलोकसुखेष्वपि ॥३४७॥
भगवत्यधुना दृष्टे, तथा भक्त्याऽभिवन्दिते । नष्टे च चित्तसन्देहे, यत् सुखं तद् वचोऽतिगम् ॥३४८॥
तत् कथं सुखलेशो मे, भगवद्भिर्निवेदितः । अस्मिन् सुखलवे पूर्णं, सुखं किन्तु भविष्यति ॥३४९॥
सूरिराह महाराज !, यदा त्वं परिणेष्यसि । दश कन्यास्तदा पूर्णं, ज्ञास्यसेऽनुभवेन तत् ॥३५०॥
तत्प्रेमपरिणामोत्थनर्मशर्मण्यपेक्षया । तवायमधुना शर्मलेश एवावसीयते ॥३५१॥
ततो मयोक्तं भगवन् !, कान्तां मदनमञ्जरीम् । त्यक्त्वैनामपि शिष्यस्ते, भविष्यामीति मेऽस्ति धीः ॥३५२॥
दश कन्या भवत्प्रोक्ताः, परिणेष्यामि तत् कथम् । भगवानाह तेव ता, विना प्रव्रजितेन किम् ॥३५३॥
वयं प्रव्राजयिष्यामो, भवन्तं ताभिरन्वितम् । तादृश्यो हि कुटुम्बिन्यस्त्यागार्हा न कदाचन ॥३५४॥
तेनकृताऽहं गुरुर्ब्रूते, किमेतदिति विस्मितः । ततः कन्दमुनिः प्राह, का नु कन्या भदन्त ! ताः ॥३५५॥
भगवानाह नगरं, चेतःसौन्दर्यमस्ति यत् । राजा शुभाशयस्तत्र, विद्येते द्वे च तत्प्रिये ॥३५६॥
स्थिरताशान्तते नाम, कन्ये क्षान्तिदये तयोः । मनोनैर्मल्यसंज्ञानं, तथाऽस्ति नगरं परम् ॥३५७॥
राजा हिताशयस्तत्र, नम्रतापूर्णताऽभिधे । देव्यौ तस्य तयोः कन्ये, मृदुतासत्यताभिधे ॥३५८॥
तथाऽन्यदस्ति नगरं, स्वान्तवैशद्यसंज्ञकम् । राजा रुच्याशयस्तत्र, तद्भार्ये शुद्धिशिष्टते ॥३५९॥

संपूर्णसुख-जिज्ञासा ।

तत्प्राप्तौ कारणं दशकन्या-पाणिग्रहणम्

१ भाता की. मु. । २ तन्कृत्वा 'किमेतद् गुरुर्ब्रूते' इत्यह विस्मित इत्यन्वय ।

ऋजुताऽचौरते नाम, द्वे कन्ये तत्तनूद्भवे। परं भावप्रसादाख्यं, पुरमस्ति मनोहरम् ॥३६०॥
राजा शुद्धाशयस्तत्र, तस्यात्मरतिरुच्यते। देव्यौ कन्ये तयोर्द्वेऽन्ये, द्वे ब्रह्मरतिमुक्तते ॥३६१॥
अन्या च मानसी सम्यग्दर्शनेन विनिर्मिता। स्ववीर्येणास्ति विद्याख्या, कन्या सन्न्यायवासभूः ॥३६२॥
चारित्रधर्मराजस्य, देव्याश्च विरतेः परा। अस्ति कुक्षिसमुद्भूता, कन्या नाम्ना निरीहता ॥३६३॥
वासाभिजननामानि, तदेवं कीर्तितानि ते। दशानामपि कन्यानामार्यकन्दमुने! स्फुटम् ॥३६४॥
ततः कन्दमुनिः प्राह, लप्स्यते ताः कथं नृपः। बभाषे भगवान् कर्मपरिणामानुकूल्यतः ॥३६५॥
अनेन योग्यता कार्या, गुणाभ्यासेन केवलम्। यथा तस्य पितॄणां च, तासां स्यादत्र रक्तता ॥३६६॥
प्राह कन्दमुनिर्नाथ! युष्मदाज्ञावशंवदः। अयमस्ति वदन्त्वस्य, तल्लाभौपयिकान् गुणान् ॥३६७॥
बभाषे भगवानार्य!, क्षान्तिं समभिकाङ्क्षता। मैत्री समस्तसत्त्वेषु, भावनीया प्रयत्नतः ॥३६८॥
पराभवः परकृतः, सोढव्यस्तत्प्रसङ्गतः। अनुमोद्या परप्रीतिश्चिन्त्यः स्वानुग्रहस्ततः ॥३६९॥
निन्द्यो हेतुतया चात्मा, परिभावकृदुर्गतेः। हितबुद्ध्या प्रपत्तव्याः, स्वस्य न्यक्कारकारिणः ॥३७०॥
संसारासारदर्शित्वप्रवृद्धगुरुभावतः। विधेयं सर्वथा स्वान्तं, निष्प्रकम्पमनाविलम् ॥३७१॥
परापकारः स्तोकोऽपि, दयां परिणिनीषता। त्याज्यो निखिलसत्त्वानां, दर्शनीया च बन्धुता ॥३७२॥
परोपकारः कर्तव्यः, सेव्या च समता सदा। नोदासितव्यमन्येषां, व्यसनेषु महात्मना ॥३७३॥
मोक्तव्यो जातिवादश्च, मृदुतां स्वीकरिष्यता। कुलाभिमानः संत्याज्यो, वर्जनीयो बलस्मयः ॥३७४॥

दशकन्यालाभौपयिका गुणाः।

ज्ञानाद् गहयितव्यश्च, रूपोत्सेकः प्रसृत्वरः । परिहार्यस्तपोगर्वो, निर्वास्यो धनितामदः ॥३७५॥
श्रुतावलेपः क्षेप्तव्यो, लाभावष्टम्भसंयुतः । वाल्लभ्यकस्यानुशयः, कार्यश्च शिथिलः सदा ॥३७६॥
विनयोऽभ्यसनीयश्च, मात्मीकार्या च नम्रता । नवनीतसहाध्यायि, कर्त्तव्यं सर्वथा मनः ॥३७७॥
त्यजतो मर्यनक्रूल्यं, परिहासमकुर्वतः । अनुद्घाटयतो मर्म, परेषां शान्तचेतसः ॥३७८॥
वाक्पारुष्यं च पैशुन्यं, मौखर्यं चोक्तिवक्रताम् । अभूतोद्भावनं भूतनिह्नवं चाप्यतन्वतः ॥३७९॥
चरणमजमागत्य, स्वयमेव निधास्यति । गुणानुरक्ता दयिता, कण्ठे राज्ञोऽस्य सत्यता ॥३८०॥
गङ्गासगारमाचारमनुशीलयता स्फुटम् । त्यजता चित्तकौटिल्यमृजुदण्डोपमात्मना ॥३८१॥
शल्यमुद्धरता प्रत्याहरता क्लिष्टलेश्यताम् । ऋजुता नृपरत्नेन, वशीकार्या प्रयत्नतः ॥३८२॥
परपीडापरद्रोहभीरुतां हृदि बिभ्रति । जानाने च परद्रव्यापहारापायहेतुताम् ॥३८३॥
संम्भृत्य दुर्गतेः पातं, कम्पमाने च रागिणी । अचौरता महीपाले, भाविनी संगमोत्सुका ॥३८४॥
विवेकनिर्भरः कार्यो, मुक्ततां पुनरिच्छता । भाव्याऽऽत्मनः सदा बाह्याभ्यन्तरग्रन्थभिन्नता ॥३८५॥
प्रदीमार्थपिपासा च, शमनीया शमाम्भसा । अर्थकामाम्बुपङ्काभ्यामूर्द्ध्वं स्थेयं च पद्मवत् ॥३८६॥
पाणौ जिघृक्षता ब्रह्मरतिं कन्दमुनेऽमुना । स्वकीया मातर इव, प्रेक्ष्याः सर्वा अपि स्त्रियः ॥३८७॥
न वस्तव्यं तद्वसतौ, न कार्या जातु तत्कथा । न सेव्या तन्निषद्या न, प्रेक्ष्यं तत्सुन्दरेन्द्रियम् ॥३८८॥

वन्दिता मुनयः सर्वे, पृष्टा निर्मलसूरयः। निशोदन्तमभूत् किं मे, तादृशी वरभावना ॥४१७॥
किं वा तादृक् समुत्पन्नः, प्रमोदो विस्मयावहः। भगवानाह भूमीश!, समाकर्णय कारणम् ॥४१८॥
तुष्टस्ते सदनुष्ठानात्, स कर्मपरिणामराट्। गत्वा सविद्यः सद्बोधस्तेन प्रोत्साहितः स्वयम् ॥४१९॥
यथा गच्छ भजस्वोर्वीवासवं गुणधारणम्। ततः स्वप्रभुमापृच्छ्य, प्रस्थितोऽसौ त्वदुन्मुखम् ॥४२०॥
ज्ञात्वा प्रवृत्तिमेतां च, महामोहादयो द्विषः। पापोदयं पुरस्कृत्य, पर्यालोचं प्रचक्रिरे ॥४२१॥
जगाद तत्र विषयाभिलाषो निहता वयम्। सद्बोधो यदि संसारिजीवपार्श्वे व्रजेदयम् ॥४२२॥
सर्वेऽपि पथि कुर्वन्तु, तदस्य स्खलनोद्यमम्। तदा पापोदयः प्राह, किमार्य! क्रियतेऽधुना ॥४२३॥
यत् कर्मपरिणामोऽपि, जातः सद्बोधपक्षकृत्। पुरा हि बलवान् पक्षो, बलादस्य बभूव नः ॥४२४॥
उदासीनोऽपि देवश्चेद्, भवेदत्र बलद्वये। तदाऽपि युज्यते योद्धुमस्माकमरिभिः समम् ॥४२५॥
इदानीं याति सद्बोधस्तत्पार्श्वे देवशासनात्। तन्नास्य स्खलनं युक्तं, देवो दूरीकरोति नः ॥४२६॥
अधुना संस्थिता यूयं, प्रस्तावं लब्धुमर्हथ। सद्बोधो यातु तत्पार्श्वं, पश्चाद् विज्ञास्यतेऽखिलम् ॥४२७॥
इदमाकर्ण्य कुपितो, ज्ञानसंवरणो नृपः। जगाद यदि तत्पार्श्वे, सद्बोधो याति लीलया ॥४२८॥
जीवितेन तदा किं मे, मलिनेनायशोभरैः। यूयं तिष्ठत तद् भीता, यातव्यं तु मया ध्रुवम् ॥४२९॥
इत्युक्त्वा चलिते तस्य, प्रतिस्खलनकाम्यया। ज्ञानसंवरणे राज्ञि, सर्वेऽपि चलिता ह्रिया ॥४३०॥

रुद्धो मार्गस्तदाऽऽगत्य, मद्बोधसचिवस्य तैः। आसीच्चारित्रसैन्यं चात्रागतं तावतीं भुवम् ॥४३१॥
घोरमायोधनं लग्नं, ततश्च बलयोस्तयोः। परस्परममाह्वानरोपनिर्घोषतो मिथः ॥४३२॥
एकतो विधुवच्छुभ्रं, भ्रमरच्छवि चान्यतः। बलद्वयं मिलद्गंगाकालिन्दीजलवद् बभौ ॥४३३॥
भग्नयोधं हतगजं, छिन्नच्छत्रं पतद्रथम्। बलयोस्तदभूद् युद्धं, गुरुपौरुषशालिनोः ॥४३४॥
जयः स्यादिह कस्येति, द्रष्टुं संशयसंक्रमात्। जयश्रीः संशयारूढा, मन्ये नैकमपि श्रिता ॥४३५॥
स कर्मपरिणामाख्यस्तदेवं पर्यचिन्तयत्। पक्षपात स्फुटं कुर्वे, कस्य साधारणो ह्यहम् ॥४३६॥
मोहाद्या भिन्नचित्ताः स्युः, मद्बोधस्य स्फुटे कृते। पक्षपाते तदा तैः स्यात्, सार्द्धं चाकाण्डविड्वरम् ॥४३७॥
न च तन्मम युक्तं यत्, साम्प्रतं मेऽस्ति वल्लभम्। बलं संसारिजीवस्य, रुच्या चारित्रभूपतेः ॥४३८॥
दोषेष्वेव निबध्नीयाद्, भूयोऽप्येष यदा मनः। तदा चिरन्तनस्थित्या, गतिर्मोहादयो मम ॥४३९॥
तत्र तेषां मनो मेद्यं, पोष्यं धर्मबलं च मे। इति तेन भवचित्ते, वर्धिता वरभावना ॥४४०॥
यावत् स भावनामौषमारूढो गुणधारण!। तावत् सद्बोधसहितं, बलं प्रबलतां गतम् ॥४४१॥
स्फीते तद्भावनामन्त्रे, मोहाद्याः क्षीणतां गताः। ततः सद्बोधसैन्येन, सर्वं मोहबलं हतम् ॥४४२॥
दत्तः प्रहारः मर्मेषां, महामोहादिविद्विषाम्। चूर्णितश्च विशेषेण, ज्ञानसंवरणो नृपः ॥४४३॥
मन्दाक्षलक्ष्या निःस्पन्दाः स्थिताः पापोदयादयः। पार्श्वे संविग्नः सद्बोधस्तत्र निर्विघ्नमागतः ॥४४४॥

सद्बोध-ज्ञानसंवरणयोर्युद्धम्

सद्बोध-विजयः।

स्थेयं रतिस्थमिथुनकुड्याभ्यर्णे कदापि न। न स्मार्यं पूर्वललितं, न(ना)हार्यं स्निग्धभोजनम् ॥३८९॥
त्याज्या तदतिमात्रा च, राढा च तनुगोचरा। रताभिलापिता सर्वोद्दलनीया च यत्नतः ॥३९०॥
अनित्यतामशुचितां, दुःखतामात्मभिन्नताम्। पुद्गलानां भावयते, देहादिपरिणामिनाम् ॥३९१॥
त्यजते कुविकल्पौघं, तत्त्वं विमृशते हृदि। सद्बोधोऽस्मै समानीय, विद्याकन्यां प्रदास्यति ॥३९२॥
भोगाभिलापास्तापाय, मनसो मृतये जनुः। कुटुम्बसङ्गः क्लेशाय, वियोगाय प्रियागमः ॥३९३॥
शोकाय जनवाञ्छ्यमात्मबन्धाय कल्पना। कीटस्य कोट(श)कारस्य, तन्तूनां रचना यथा ॥३९४॥
प्रवृत्तिः परमं दुःखं, निवृत्तिः परमं सुखम्। इत्यस्य ध्यायतो रक्ता, भविष्यति निरीहता ॥३९५॥
तदेते सद्गुणास्तासामुपलम्भाय भूभुजा। दशानामपि कन्यानां, संस्तोतव्याः प्रयत्नतः ॥३९६॥
राज्ञोऽस्य कुर्वतश्चैवं, स कर्मपरिणामराट्। चारित्रधर्मराजाद्यं, स्वबलं दर्शयिष्यति ॥३९७॥
अनुरूपगुणाभ्यासाद्, रञ्जनीयाश्च ते भटाः। रक्तास्तेऽस्य हनिष्यन्ति, मोहादिद्विपतां बलम् ॥३९८॥
भावराज्यं ततो लब्ध्वा, निष्कण्टकमयं नृपः। कान्ताभिर्विलसंस्ताभिः, प्रकृष्टं शर्म लप्स्यते ॥३९९॥
ततः कन्दमुनिः प्राह, कालेन कियता पुनः। महाराजस्य भगवन्! सेत्स्यतीदं प्रयोजनम् ॥४००॥
भगवानाह षण्मास्या, मयोक्तं त्वरयाम्यहम्। आदातुं भगवन्! दीक्षां, विलम्बस्तदियान् वृथा ॥४०१॥
सूरिराह महाराज!, त्वरयाऽत्र कृतं तव। इयमेव हि सद्दीक्षा, यन्मदुक्तस्य पालनम् ॥४०२॥

द्रव्यलिङ्गं हि भवता, प्राग् गृहीतमनन्तशः । विनोक्तस्थितिमात्रं तु न विशिष्टफलं ततः ॥४०३॥
कुर्वंस्तिष्ठोपदिष्टं मे, मा त्वरिष्ठास्ततोऽनघ ! । प्राह कन्दमुनिः स्वामिंस्तद्विवाहे क्रमोऽस्य कः ॥४०४॥
सूरिगह्वार्यपार्श्वेऽस्य, मदुक्तमनुतिष्ठतः । विद्यां कन्यां समादाय, सद्बोधः समुपेष्यति ॥४०५॥
ग्राहयित्वाऽस्य तां कन्यां, पाणौ स्थास्यति सोऽन्तिके । ततो ब्रूते स यत् किञ्चित्, तत्कार्यममुनेति दिग् ॥४०६॥
ततो भगवतो वाक्यं, तत् स्वीकृत्य प्रणम्य तम् । गतोऽहं नगरे तस्योपदेशं च प्रणीतवान् ॥४०७॥
मम तं कुर्वतः सम्यग्, गच्छत्सु दिवसेष्वथ । अन्यदा भावनाभाजो, निद्रा निशि समागता ॥४०८॥
तत्र मे भावनया, वृद्धा वुद्धस्य साऽधिकम् । रात्रिशेषे ततो जातः, प्रमोदो विस्मयावहः ॥४०९॥
तदा समीपमायातः, सद्बोधः प्रविलोकितः । दृष्टा मया च तत्पार्श्वे, सर्वावयवसुन्दरा ॥४१०॥
विमर्शमालतीदामस्फुरत्सौरभसम्पदा । धारणावेणिदण्डेन, लम्बमानेन राजिता ॥४११॥
आस्तिक्यवदना दीर्घप्रमाणनयलोचना । पीनवैराग्यसंवेगविशालस्तनमण्डला ॥४१२॥
आध्यात्मिकमनोवृत्तिस्तोमरोमालिशालिता । गम्भीरात्मज्ञतानाभिः, शमचारुनितम्बभृत् ॥४१३॥
मद्गतल्याऽतिरम्योरुः, शुचिवृत्ततपःक्रमा । लसत्परापरगुणानुरागकरपल्लवा ॥४१४॥
स्पृहणीयगुणोपेता, हृदयानन्दकारिणी । कन्या विद्याऽभिधा धन्या, स्नेहस्तिमितचक्षुषा ॥४१५॥
सा सद्बोधेन पाणौ मे, ग्राहिता लङ्घिता निशा । प्रभाते भगवन्मूलं, गतोऽहं सपरिच्छदः ॥४१६॥

विद्यायाः पाणिग्रहणम्

वन्दिता मुनयः सर्वे, पृष्टा निर्मलसूरयः। निशोदन्तमभूत् किं मे, तादृशी वरभावना ॥४१७॥
किं वा तादृक् समुत्पन्नः, प्रमोदो विस्मयावहः। भगवानाह भूमीश !, समाकर्णय कारणम् ॥४१८॥
तुष्टस्ते सदनुष्ठानात्, स कर्मपरिणामराट्। गत्वा सविद्यः सद्बोधस्तेन प्रोत्साहितः स्वयम् ॥४१९॥
यथा गच्छ भजस्वोर्वीशासवं गुणधारणम्। ततः स्वप्रभुमापृच्छ्य, प्रस्थितोऽसौ त्वदुन्मुखम् ॥४२०॥
ज्ञात्वा प्रवृत्तिमेतां च, महामोहादयो द्विषः। पापोदयं पुरस्कृत्य, पर्यालोचं प्रचक्रिरे ॥४२१॥
जगाद तत्र विषयाभिलाषो निहता वयम्। सद्बोधो यदि संसारिजीवपार्श्वे व्रजेदयम् ॥४२२॥
सर्वेऽपि पथि कुर्वन्तु, तदस्य स्खलनोद्यमम्। तदा पापोदयः प्राह, किमार्य ! क्रियतेऽधुना ॥४२३॥
यत् कर्मपरिणामोऽपि, जातः सद्बोधपक्षकृत्। पुरा हि बलवान् पक्षो, बलादस्य बभूव नः ॥४२४॥
उदासीनोऽपि देवश्चेद्, भवेदत्र बलद्वये। तदाऽपि युज्यते योद्धुमस्माकमरिभिः समम् ॥४२५॥
इदानीं याति सद्बोधस्तत्पार्श्वे देवशासनात्। तन्नास्य स्खलनं युक्तं, देवो दूरीकरोति नः ॥४२६॥
अधुना संस्थिता यूयं, प्रस्तावं लब्धुमर्हथ। सद्बोधो यातु तत्पार्श्वं, पश्चाद् विज्ञास्यतेऽखिलम् ॥४२७॥
इदमाकर्ण्य कुपितो, ज्ञानसंवरणो नृपः। जगाद यदि तत्पार्श्वे, सद्बोधो याति लीलया ॥४२८॥
जीवितेन तदा किं मे, मलिनेनायशोभरैः। यूयं तिष्ठत तद् भीता, यातव्यं तु मया ध्रुवम् ॥४२९॥
इत्युक्त्वा चलिते तस्य, प्रतिस्खलनकाम्यया। ज्ञानसंवरणे राज्ञि, सर्वेऽपि चलिता ह्रिया ॥४३०॥

सद्बोध-ज्ञानसंवरणयोर्युद्धम्

सद्बोधो मार्गमन्दाऽऽगत्य, सद्बोधसचिवस्य तैः । आसीच्चारित्रसैन्यं चात्रागतं तावतीं भुवम् ॥४३१॥
योग्मायोधनं लग्नं, ततश्च बलयोस्तयोः । परस्परसमाह्वानरोपनिर्घोषतो मिथः ॥४३२॥
एकतो विधुनच्छत्रं, भ्रमरच्छवि चान्यतः । बलद्वयं मिलद्गंगाकालिन्दीजलवद् बभौ ॥४३३॥
भग्नयोधं हतगजं, छिन्नच्छत्रं पतद्रथम् । बलयोस्तदभूद् युद्धं, गुरुपौरुषशालिनोः ॥४३४॥
जयः स्यादिह कस्येति, द्रष्टुं संशयसंक्रमात् । जयश्रीः संशयारूढा, मन्ये नैकमपि श्रिता ॥४३५॥
स कर्मपरिणामाख्यस्तदैवं पर्यचिन्तयत् । पक्षपात स्फुटं कुर्वे, कस्य साधारणो ह्यहम् ॥४३६॥
मोहाद्या भिन्नचित्ताः स्युः, सद्बोधस्य स्फुटे कृते । पक्षपाते तदा तैः स्यात् , सार्द्धं चाकाण्डविड्वरम् ॥४३७॥
न च तन्मम युक्तं यत् , साम्प्रतं मेऽस्ति वल्लभम् । बलं संसारिजीवस्य, रुच्या चारित्रभूपतेः ॥४३८॥
दोषेष्वेव निबध्नीयाद् , भूयोऽप्येष यदा मनः । तदा चिरन्तनस्थित्या, गतिर्मोहादयो मम ॥४३९॥
तत्र तेषां मनो मेध्यं, पोष्यं धर्मबलं च मे । इति तेन भवचित्ते, वर्धिता वरभावना ॥४४०॥
यावत् तं भावनासौधमारूढो गुणधारण । । तावत् सद्बोधसहितं, बलं प्रबलतां गतम् ॥४४१॥
स्फीते तद्भावनास्त्रे, मोहाद्याः क्षीणतां गताः । ततः सद्बोधसैन्येन, सर्वं मोहबलं हतम् ॥४४२॥

सद्बोध-विजयः ।

दत्ताः प्रहाराः सर्वेषां, महामोहादिविद्विषाम् । चूर्णितश्च विशेषेण, ज्ञानसंवरणो नृपः ॥४४३॥
मन्दाक्षलक्ष्या निःस्पन्दाः स्थिताः पापोदयादयः । पार्श्वे सविधः सद्बोधस्तत्र निर्विघ्नमागतः ॥४४४॥

तदा प्रव्राजयिष्येऽहं, प्रव्रज्या चातिदुष्करा । भुजाभ्यां तरणं ह्येतत्, स्वयंभूरमणोदधेः ॥४७३॥
नैष्ठिकं यत्यनुष्ठानं, वपुर्मे सुखलालितम् । रोगातङ्कांस्तथा रूक्षवृत्तिं नेदं क्षमिष्यते ॥४७४॥
बाधिष्यते च मदनमञ्जरी विरहेण मे । द्राघीयसाऽतिमृदङ्गी, तुषारेणेव पद्मिनी ॥४७५॥
जातो मनाग् मनोभङ्ग, इत्यादि ध्यायतो मम । चिन्तितं च तदा किं ताः, पाणौ गृह्णामि नाधुना ॥४७६॥
सुखैः प्रसृमरैस्तैर्यौवनं गमयाम्यहम् । वार्द्धके प्रव्रजिष्यामि, स्वाधीनाः परिणीय ताः ॥४७७॥
वितर्कोऽयमभूत् सर्वः, सद्बोधे दूरवर्तिनि । आगतायाथ सर्वोऽयं, प्रोक्तोऽसौ स्वाशयो मया ॥४७८॥
सद्बोधः प्राह न न्याय्यमिदं देवेन मन्त्रितम् । इदं ह्यज्ञानताचिह्नं, स्वहितप्रतिबन्धकम् ॥४७९॥
न चेदं त्वत्स्वभावोत्थं, किन्तु तेषां विजृम्भितम् । पापानामधुना ते हि, त्वद्विघ्नायोपतस्थिरे ॥४८०॥
मयोक्तमार्य ! ते पापा, निराकार्याः कथं मया । तेन प्रोक्तं निजबलान्मयोक्तं तत् प्रदर्शय ॥४८१॥
ततः प्रवेश्य मां चित्तसमाधानाख्यमण्डपे । नृपांश्चारित्रधर्मादीन्, सद्बोधः समदर्शयत् ॥४८२॥
कृता तैः प्रतिपत्तिर्मे, सर्वे सम्मानिता मया । प्रवृत्तास्ते द्विषो हन्तुं, सेनया चतुरङ्गया ॥४८३॥
दृष्ट्वैव तेषां संरम्भं भयेनोद्भ्रान्तमानसाः । पापोदयं पुरस्कृत्य, नष्टा मोहादयो द्विषः ॥४८४॥
तैस्तु भग्नास्तदावासाः, शोधिता च महाटवी । द्विषज्जयाद् यशस्तेषामखिला व्यानशे दिशः ॥४८५॥
किंचित् क्षयं गता किञ्चित्, प्रशान्तत्वमुपागताः । निलीय केवलं पापाः, स्थितास्ते बकचर्यया ॥४८६॥

अष्टमातृ-स्थापना ।

तत्राष्टौ मातरः पूर्वं, स्थापितास्ताश्च पूजिताः ॥४८७॥
प्रारब्धो मे तदा कर्तुं, विवाहो भाववान्वरैः । आद्या माता यतिं कुर्याद्, युगमात्रप्रलोकितम् ॥४८८॥
तासां निवेदितं वीर्यं, सद्बोधेन पृथक् पृथक् । तृतीया कारयेत् सर्वदोषवर्जितभोजनम् ॥४८९॥
प्रियं पथ्यं मितं तथ्यं, द्वितीया भाषयेद् वचः । माता चतुर्थी मुनिभिः, कारयन्ती विजृम्भते ॥४९०॥
पात्राद्यादाननिक्षेपं, सुदृष्टं सुप्रमार्जितम् । अनाकुलं मुनेश्चित्तं, षष्ठी माता तु रक्षति ॥४९१॥
पञ्चमी त्याजयेभीत्या, देहाहारमलादिकम् । अष्टमी लीनतां कार्य(ये), कारयेद् यतनां तथा ॥४९२॥
सप्तमी कारयेन्मौनं, धर्म्यं वा भाषयेद् वचः । शुद्धा चित्तसमाधाने, वेदिर्निःस्पृहता कृता ॥४९३॥
संपूज्याऽद्यदिने जैनपुराधिष्ठायिका इमाः । कुण्डं धर्मेण भावार्चिरुद्दीप्तं जातवेदसः ॥४९४॥
आध्यात्मिकमहःसंज्ञं, विस्तीर्णं तत्र निर्मितम् । स्नानाङ्गरागभूपादिवधूकर्म विनिर्मितम् ॥४९५॥
ततो वृद्धकुलस्त्रीभिर्भावनाख्याभिरादरात् । शमतीर्थोदकैर्लिप्तोऽथधानैश्चन्दनद्रवैः ॥४९६॥
ताभिरेव तथा शेषैः, स्नपितोऽहं नरेश्वरैः । ततः प्रवृत्तो विपुलः, पाणिग्रहमहोत्सवः ॥४९७॥
भूषितः कोमलैर्दिव्यैः, प्रत्याहारैस्तथांऽशुकैः । ऋच उच्चारयन् वेदगता अभ्युदयावहाः ॥४९८॥
स्वयं चकार सद्बोधस्तत्र कार्यं पुरोधसः । वितीर्यन्ते तथा लाजाञ्जलयो भववासनाः ॥४९९॥
हूयन्ते कर्मसमिधः, क्षिप्यन्ते हुतयोऽनयाः । अकारयन्मम क्षान्तिदारिकायाः करग्रहम् ॥५००॥
सांवत्सरः शुभं लग्नं, ददानोऽथ सदागमः ।

क्षान्त्यादीनां पाणिग्रहणम् ।

हर्षोल्लासस्ततस्तेऽभूत्, परिणीता च कन्यका । राजंस्त्वयाऽखिलं तत्त्वं, ज्ञातमेव ततः परम् ॥४४५॥
तदिदं भावनावृद्धेः, कारणं तव भूपते ! । हर्षोल्लासस्य चोत्पन्नं, रजन्यां नात्र संशयः ॥४४६॥
मयोक्तमधुना किं ते, कुर्वन्ति मम शत्रवः । भगवन्नाह भूमीश !, कुर्वते कालयापनाम् ॥४४७॥
उदीर्णास्ते परिक्षीणाः, परे चोपशमं गताः । चित्तवृत्तिमहाटव्यां, लीनाः सन्त्यखिलाः स्थिताः ॥४४८॥
प्रस्तावे मत्सरध्माताः, करिष्यन्ति रणं पुनः । सद्बोधवचनात् सर्वे, हन्तव्यास्ते तदा त्वया ॥४४९॥
तत् प्रमाणीकृतं वाक्यं, मया भगवतस्ततः । विहृता मासकल्पे ते, सम्पूर्णेऽन्यत्र सूरयः ॥४५०॥
ततस्तदुपदिष्टार्थो, विशिष्यानुष्ठितो मया । प्रसादितं मनो बाढं, शरीरं परिकर्मितम् ॥४५१॥
विहितं चित्तवृत्तौ मे, सद्बोधेन प्रवेशनम् । प्रदर्शितौ द्वौ पुरुषौ, शुभ्रौ रम्यौ सुखावहौ ॥४५२॥
उक्तं च तेन द्वावेतौ, धर्मशुक्लाभिधौ नरौ । तव प्रवेशकौ राज्ये, कार्यस्तेनादरोऽनयोः ॥४५३॥
ततश्च दर्शिता पीतपद्मशुक्लाभिधाः स्त्रियः । विद्युत्पद्मस्फटिकभास्तेन तिस्रो मनोहराः ॥४५४॥
उक्तं च प्रथमस्येमास्तिस्रोऽपि परिचारिका । शुक्लैवैका द्वितीयस्य, विज्ञेया पोषकारिणी ॥४५५॥
तदेतासु त्वया सम्यग्, वर्त्तितव्यं महाशय ! । पुरुषौ दास्यतो राज्यमेताभिः पोपितौविमौ ॥४५६॥
ततस्तद्वचनं पथ्यं, स्वीकृत्याहं पुनः पुनः । सद्बोधेन सह स्वैरं, विलसामि स्म लीलया ॥४५७॥
चित्तवृत्तौ प्रविश्य स्म मन्त्रयामि मुहुर्मुहुः । मानयामि स्म सम्यक्त्वगृहिधर्मसदागमान् ॥४५८॥

नवमः स्तबकः ।

धर्मशुक्लयोः प्रादुर्भावः ।

गतेषु कुर्वतश्चैवं, किञ्चिदूनेषु पञ्चसु । मासेषु मे भृशं तुष्टः, स कर्मपरिणामराट् ॥४५९॥
ततस्तेन नृपाः स्वस्वकन्यादानेऽनुकूलिताः । प्रावर्त्तन्त विवेकाद्रौ, दातुमेताः पुरोदिताः ॥४६०॥
अत्रान्तरे च विषयाभिलाषो मोहभूपतिम् । प्राह संसारिजीवोऽसाविमाः कन्या वृणोति चेत् ॥४६१॥
ततो नयं परिक्षीणास्तन्नोपेक्षाऽत्र युज्यते । कर्त्तव्यः सर्वथा यत्नः, सत्त्वमालम्ब्य निर्भयम् ॥४६२॥ यतः—
तावद् भयेभ्यो भेतव्यं, यावद् भयमनागमम् । आगतं तु भयं दृष्ट्वा, प्रहर्तव्यमशङ्कितैः ॥४६३॥
अनुमेने महामोहो, न्याय्यं तन्मन्त्रिणो वचः । समर्थितं भटैः शेषैः, सन्नद्धमखिलं बलम् ॥४६४॥
भूयः संभूय ते योद्धुं, कृतोत्साहाः समागताः । जाताः पर्याकुलाश्चित्ते, केवलं दृष्टसाध्वसाः ॥४६५॥
ततः मवितव्यं पृष्टा, सर्वैस्तैर्भवितव्यता । न्याय्यं किमधुनाऽस्माकं, भगवत्यभिधेहि नः ॥४६६॥
सा प्राह भद्र ! भवतां, रणारम्भो न युज्यते । यत् कर्मपरिणामोऽस्मिन्नार्यपुत्रेऽधुना हितः ॥४६७॥
शुभाशयादयस्तेन, विशेषात् तस्य मीलिताः । करिष्यत्यधुना सम्यक्, स्वबलस्यैव पोषणम् ॥४६८॥
अधुना युध्यमानानां, प्रलयस्तदनेन वः । संपत्स्यते ततः कालयापनां कर्तुमर्हथ ॥४६९॥
यदा त्ववसरो भावी, वक्ष्यामि भवतां तदा । अहं दत्तावधानाऽस्मि, सदा युष्मत्प्रयोजने ॥४७०॥
संहृतस्ते रणावेशस्ततस्तदुपदेशतः । संलीनैः केवलं स्वाः स्वाः, प्रयुक्ता योगशक्तयः ॥४७१॥
समजायन्त कल्लोलास्तन्माहात्म्येन मे हृदि । सूरिणोक्तं हिताः कन्या, यदि त्वं परिणेष्यसि ॥४७२॥

तदा प्रव्राजयिष्येऽहं, प्रव्रज्या चातिदुष्करा । भुजाभ्यां तरणं ह्येतत्, स्वयंभूरमणोदधेः ॥४७३॥
नैष्ठिकं यत्यनुष्ठानं, वपुर्मे सुखलालितम् । रोगातङ्कांस्तथा रूक्षवृत्तिं नेदं क्षमिष्यते ॥४७४॥
बाधिष्यते च मदनमञ्जरी विरहेण मे । द्राघीयसाऽतिमृद्वङ्गी, तुषारेणेव पद्मिनी ॥४७५॥
जातो मनाग् मनोभङ्ग, इत्यादि ध्यायतो मम । चिन्तितं च तदा किं ताः, पाणौ गृह्णामि नाधुना ॥४७६॥
सुखैः प्रसृमरैस्तैर्यौवनं गमयाम्यहम् । वार्द्धके प्रव्रजिष्यामि, स्वाधीनाः परिणीय ताः ॥४७७॥
वितर्कोऽयमभूत् सर्वः, सद्बोधे दूरवर्तिनि । आगतायाथ सर्वोऽयं, प्रोक्तोऽस्मै स्वाशयो मया ॥४७८॥
सद्बोधः प्राह न न्याय्यमिदं देवेन मन्त्रितम् । इदं ह्यज्ञानताचिह्नं, स्वहितप्रतिबन्धकम् ॥४७९॥
न चेदं त्वत्स्वभावोत्थं, किन्तु तेषां विजृम्भितम् । पापानामधुना ते हि, त्वद्विघ्नायोपतस्थिरे ॥४८०॥
मयोक्तमार्य ! ते पापा, निराकार्याः कथं मया । तेन प्रोक्तं निजबलान्मयोक्तं तत् प्रदर्शय ॥४८१॥
ततः प्रवेश्य मां चित्तसमाधानाख्यमण्डपे । नृपांश्चारित्रधर्मादीन्, सद्बोधः समदर्शयत् ॥४८२॥
कृता तैः प्रतिपत्तिर्मे, सर्वे सम्मानिता मया । प्रवृत्तास्ते द्विषो हन्तुं, सेनया चतुरङ्गया ॥४८३॥
दृष्ट्वैव तेषां संरम्भं भयेनोद्भ्रान्तमानसाः । पापोदयं पुरस्कृत्य, नष्टा मोहादयो द्विषः ॥४८४॥
तैस्तु भग्नास्तदावासाः, शोधिता च महाटवी । द्विपज्जयाद् यशस्तेषामखिला व्यानशे दिशः ॥४८५॥
किंचित् क्षयं गता किञ्चित्, प्रशान्तत्वमुपागताः । निलीय केवलं पापाः, स्थितास्ते बकचर्यया ॥४८६॥

प्रारम्भो मे तदा कर्तुं, विवाहो भाववान्धवैः । तत्राष्टौ मातरः पूर्वं, स्थापितास्ताश्च पूजिताः ॥४८७॥ अष्टमातृ-स्थापना ।
तासां निवेदितं वीर्यं, सद्बोधेन पृथक् पृथक् । आद्या माता यतिं कुर्याद् , युगमात्रप्रलोकितम् ॥४८८॥
प्रियं पथ्यं मितं तथ्यं, द्वितीया भाषयेद् वचः । तृतीया कारयेत् सर्वदोषवर्जितभोजनम् ॥४८९॥
पात्राद्यादाननिक्षेपं, सुदृष्टं सुप्रमार्जितम् । माता चतुर्थी मुनिभिः, कारयन्ती विजृम्भते ॥४९०॥
पञ्चमी त्याजयेन्नीत्या, देहाहारमलादिकम् । अनाकुलं मुनेश्चित्तं, षष्ठी माता तु रक्षति ॥४९१॥
सप्तमी कारयेन्मौनं, धर्म्यं वा भाषयेद् वचः । अष्टमी लीनतां कार्ये(ये), कारयेद् यतनां तथा ॥४९२॥
संपूज्याऽद्यदिने जैनपुराधिष्ठायिका इमाः । शुद्धा चित्तसमाधाने, वेदिर्निःस्पृहता कृता ॥४९३॥
आध्यात्मिकमहःसंज्ञं, विस्तीर्णं तत्र निर्मितम् । कुण्डं धर्मेण भावार्चिरुद्दीप्तं जातवेदसः ॥४९४॥
ततो वृद्धकुलस्त्रीभिर्मावनाख्याभिरादरात् । स्नानाङ्गरागभूषादिवधूकर्म विनिर्मितम् ॥४९५॥
ताभिरेव तथा शेषैः, स्नपितोऽहं नरेश्वरैः । शमतीर्थोदकैर्लिप्तोऽवधानैश्चन्दनद्रवैः ॥४९६॥
भूषितः कोमलैर्दिव्यैः, प्रत्याहारैस्तथांऽशुकैः । ततः प्रवृत्तो विपुलः, पाणिग्रहमहोत्सवः ॥४९७॥
स्वयं चकार सद्बोधस्तत्र कार्यं पुरोधसः । ऋचः उच्चारयन् वेदगता अभ्युदयावहाः ॥४९८॥ क्षान्त्यादीनां पाणिग्रहणम् ।
हूयन्ते कर्मसमिधः, क्षिप्यन्ते हुतयोऽनयाः । वितीर्यन्ते तथा लाजाञ्जलयो भववासनाः ॥४९९॥
सांवत्सरः शुभं लग्नं, ददानोऽथ सदागमः । अकारयन्मम क्षान्तिदारिकायाः करग्रहम् ॥५००॥

तदा प्रव्राजयिष्येऽहं, प्रव्रज्या चातिदुष्करा । भुजाभ्यां तरणं ह्येतत्, स्वयंभूरमणोदधेः ॥४७३॥
नैष्ठिकं यत्त्वनुष्ठानं, वपुर्मे सुखलालितम् । रोगातङ्कांस्तथा रूक्षवृत्तिं नेदं क्षमिष्यते ॥४७४॥
बाधिष्यते च मदनमञ्जरी विरहेण मे । द्राघीयसाऽतिमृदङ्गी, तुषारेणेव पद्मिनी ॥४७५॥
जातो मनाग् मनोभङ्ग, इत्यादि ध्यायतो मम । चिन्तितं च तदा किं ताः, पाणौ गृह्णामि नाधुना ॥४७६॥
सुखैः प्रसृमरैस्तैर्यौवनं गमयाम्यहम् । वार्द्धके प्रव्रजिष्यामि, स्वाधीनाः परिणीय ताः ॥४७७॥
वितर्कोऽयमभूत् सर्वः, सद्बोधे दूरवर्तिनि । आगतायाथ सर्वोऽयं, प्रोक्तोऽस्मै स्वाशयो मया ॥४७८॥
सद्बोधः प्राह न न्याय्यमिदं देवेन मन्त्रितम् । इदं ह्यज्ञानताचिह्नं, स्वहितप्रतिबन्धकम् ॥४७९॥
न चेदं त्वत्स्वभावोत्थं, किन्तु तेषां विजृम्भितम् । पापानामधुना ते हि, त्वद्विघ्नायोपतस्थिरे ॥४८०॥
मयोक्तमार्य ! ते पापा, निराकार्याः कथं मया । तेन प्रोक्तं निजबलान्मयोक्तं तत् प्रदर्शय ॥४८१॥
ततः प्रवेश्य मां चित्तसमाधानाख्यमण्डपे । नृपांश्चारित्रधर्मादीन्, सद्बोधः समदर्शयत् ॥४८२॥
कृता तैः प्रतिपत्तिर्मे, सर्वे सम्मानिता मया । प्रवृत्तास्ते द्विषो हन्तुं, सेनया चतुरङ्गया ॥४८३॥
दृष्ट्वैव तेषां संरम्भं भयेनोद्भ्रान्तमानसाः । पापोदयं पुरस्कृत्य, नष्टा मोहादयो द्विषः ॥४८४॥
तैस्तु भग्नास्तदावासाः, शोधिता च महाटवी । द्विषज्जयाद् यशस्तेषामखिला व्यानशे दिशः ॥४८५॥
किंचित् क्षयं गता किञ्चित्, प्रशान्तत्वमुपागताः । निलीय केवलं पापाः, स्थितास्ते बकचर्यया ॥४८६॥

प्रारम्भो मे तदा कर्तुं, विवाहो भावबान्धवैः । तत्राष्टौ मातरः पूर्वं, स्थापितास्ताश्च पूजिताः ॥४८७॥
तासां निवेदितं वीर्यं, सद्बोधेन पृथक् पृथक् । आद्या माता यतिं कुर्याद्, युगमात्रप्रलोकितम् ॥४८८॥
प्रियं पथ्यं मितं तथ्यं, द्वितीया भापयेद् वचः । तृतीया कारयेत् सर्वदोषवर्जितभोजनम् ॥४८९॥
पात्राद्यादाननिक्षेपं, सुदृष्टं सुप्रमार्जितम् । माता चतुर्थी मुनिभिः, कारयन्ती विजृम्भते ॥४९०॥
पञ्चमी त्याजयेन्नीत्या, देहाहारमलादिकम् । अनाकुलं मुनेश्चित्तं, षष्ठी माता तु रक्षति ॥४९१॥
सप्तमी कारयेन्मौनं, धर्म्यं वा भापयेद् वचः । अष्टमी लीनतां कार्ये(ये), कारयेद् यतनां तथा ॥४९२॥
संपूज्याऽद्यदिने जैनपुराधिष्ठायिका इमाः । शुद्धा चित्तसमाधाने, वेदिर्निःस्पृहता कृता ॥४९३॥
आध्यात्मिकमहःसंज्ञं, विस्तीर्णं तत्र निर्मितम् । कुण्डं धर्मेण भावार्चिरुद्दीप्तं जातवेदसः ॥४९४॥
ततो शुद्धकुलस्त्रीभिर्भावनाख्याभिरादरात् । स्नानाङ्गरागभूपादिवधूकर्म विनिर्मितम् ॥४९५॥
ताभिरेव तथा शेषैः, स्नापितोऽहं नरेश्वरैः । शमतीर्थोदकैर्लिप्तोऽवधानैश्चन्दनद्रवैः ॥४९६॥
भूषितः कोमलैर्दिव्यैः, प्रत्याहारैस्तथांऽशुकैः । ततः प्रवृत्तो विपुलः, पाणिग्रहमहोत्सवः ॥४९७॥
स्वयं चकार सद्बोधस्तत्र कार्यं पुरोधसः । ऋच उच्चारयन् वेदगता अभ्युदयावहाः ॥४९८॥
हूयन्ते कर्मसमिधः, क्षिप्यन्ते हुतयोऽनयाः । वितीर्यन्ते तथा लाजाञ्जलयो भववासनाः ॥४९९॥
सांवत्सरः शुभं लग्नं, ददानोऽथ सदागमः । अकारयन्मम क्षान्तिदारिकायाः करग्रहम् ॥५००॥

अष्टमातृ-स्थापना ।

क्षान्त्यादीनां पाणिग्रहणम् ।

शुभाशयाद्याः सर्वेऽथ, प्रमोदेन विजृम्भिताः। भ्रान्तानि मण्डलान्युच्चैः, प्रवृत्तोऽतिमहोत्सवः॥५०१॥
तस्मिन्नेव क्रमेणैव, लग्ने शेषा दयादिकाः। परिणीता मया कन्या, अष्टौ स्पष्टौजसाऽन्विताः ॥५०२॥
ताभिः सहोपविष्टोऽहं, जीववीर्यवरासने। चारित्रधर्मराजाद्याः, सर्वेऽपि मुदिता भृशम् ॥५०३॥
यदैव विद्या कन्या सा, परिणीता तदैव मे। लीनो मोहः परं पार्श्वे, दग्धरज्जुसमः स्थितः ॥५०४॥
यदा तु परिणीतास्ताः, क्षान्त्यादिशुचिकन्यकाः। वैश्वानरादिसंहारस्वभावसमवस्थिताः ॥५०५॥
गतोऽसौ लीनतरतां, तदाऽनीकसमन्वितः। पापोदयश्च संत्रस्तो, दूराद् दूरतरं गतः ॥५०६॥
शान्ताबाधस्ततः कान्तान्वितः स्वबलसंयुतः। स्वसंवेदनसिद्धं स, वेद्मि सत्यं मुनेर्वचः ॥५०७॥
अन्या अपि धृतिश्रद्धामेधाविविदिषासुखाः। मैत्रीप्रमुदितोपेक्षाविज्ञप्तिकरुणादिकाः ॥५०८॥
परिणीता मया कन्याः, शुभाशयमहीभृतः। ताभिः प्रौढसुखं मेऽभूत्, स्त्रीभिर्विलसतः सह ॥५०९॥
समागता अथाह्लादमन्दिरे निर्मलाभिधाः। सूरयस्ते मया गत्वा, सर्वर्द्ध्या तत्र वन्दिताः ॥५१०॥
ततो विनयनम्रेण, तेषामग्रे मयोदितम्। सम्पन्नो भवदादेशो, नाथ ! दीक्षाऽथ दीयताम् ॥५११॥
सूरिराह महाराज !, जातैव तव भावतः। दीक्षा किमधुना देयं, गृहस्थोऽपि यतिर्भवान् ॥५१२॥
यदेव जातमधुना, वसतोऽपि गृहे तव। यतित्वेऽपि विधातव्यमिदमेव विशेषतः ॥५१३॥
तथापि व्यवहारोऽत्र, लङ्घनीयो न धीमताम्। भावस्य दीयते हेतुर्द्रव्यलिङ्गं ततस्तव ॥५१४॥

महाप्रमाद इत्युक्त्वा ततः प्रमदमेदुरः। विधायाष्टदिनान्यर्हद्बिम्बपूजां मनोहराम् ॥५१५॥
संभाल्य बन्धून् दत्त्वा च, यथेष्टं दानमर्थिनाम्। जनतारणनामानं, राज्ये संस्थाप्य नन्दनम् ॥५१६॥
कुलन्धरेण मदनमञ्जर्या च समन्वितः। शेषैः श्रेष्ठजनैश्चाहं, निष्क्रान्तः सूरिसन्निधौ ॥५१७॥
ततोऽभ्यस्ताः क्रिया गाढं, प्रियोऽभून्मे सदागमः। अङ्गान्येकादश मया, पठितानि तदाज्ञया ॥५१८॥
इष्टोऽभून्मे भृशं सम्यग्दर्शनाख्यो महत्तमः। जातश्चारित्रधर्मे च, चिंत्ताबन्धो[1] विशेषवान् ॥५१९॥
ज्ञातं विशिष्य तत्सैन्यं, धृतो योगः कृतं तपः। प्रमत्ततानदीमुख्या, भग्नाः क्रीडालया द्विषाम् ॥५२०॥
संपाल्य चरणं भूरिकालं त्यक्त्वा समाधिभाग्। अन्तेऽनशनतो देहमाद्यग्रैवेयकं गतः ॥५२१॥
तत्रोत्तममुखं भुक्त्वा, त्रयोविंशतिवारिधीन्। भार्याङ्गैरवतकं, प्राप्तोऽहं मनुजालये ॥५२२॥
जातः सिंहपुरे तत्र, पुत्रो वीणामहेन्द्रयोः। अहं गङ्गाधरो नाम, क्षत्रियो वरविक्रमः ॥५२३॥
जातिं स्मृत्वा व्रतं लात्वा, सुघोषाचार्यसन्निधौ। ग्रैवेयके द्वितीयेऽथ, गतः पूर्वविधानतः ॥५२४॥
कृता गमागमाः पञ्च, भावमौनाद् दिशाऽनया। ग्रैवेयकेषु तत्राभूदेकैकाऽभ्युत्तरा स्थितिः ॥५२५॥
ततश्च धातकीखण्डे, भरते शङ्खसत्पुरे। पुत्रो भद्रामहागिर्योर्जातोऽहं सिंहनामकः ॥५२६॥
नृपवंशे महाभूतिः, सुप्रतापः शुभाकृतिः। अभूवं यौवनं प्राप्तः, कलानामेकमास्पदम् ॥५२७॥
जगृहेऽथ मया दीक्षा, धर्मबन्धुमहामुनेः। समीपे तेन सार्द्धं च, विहृतोऽभ्यस्तसत्क्रियः ॥५२८॥

संसारिजीवस्य सिंहकुमारतया जन्म, दीक्षा आचार्यपदं च

[1] चित्तबन्धो क्री. मु.।

जातः स्वल्पेन कालेन, द्वादशाङ्गाब्धिपारगः। सदागमस्थितिः काऽपि, न स्थिता मदगोचरे ॥५२९॥
ततोऽधिगतसूत्रार्थो, धर्मबन्धुमुनीन्दुना। समक्षं सर्वसंघस्य, स्थापितोऽहं पदे निजे ॥५३०॥
आचार्यपददाने मे, देवदानवमानवैः। कृतो महोत्सवो विश्वमनोविस्मयकारणम् ॥५३१॥
धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि, प्रोद्धर्त्ता जगतामसि। ज्ञातः सदागमो येन, संस्तुतो गुरुणेत्यहम् ॥५३२॥
मुनयो मानवा देवाः, सर्वे मे नम्रतां गताः। गुणैरावर्जिताः सन्तः, कुन्दपूर्णेन्दुनिर्मलैः ॥५३३॥
विनीताः पण्डिताः शिष्याः, बभूवुर्बहवो मम। पुरः स्फुरन्ति नो येषां, वाचो वाचस्पतेरपि ॥५३४॥
विद्यार्थिनः श्रिताः शिष्याः, मामागत्य गणान्तरात्। सौरभाकाङ्क्षिणः पद्मं, भृङ्गा इव लतान्तरात् ॥५३५॥
मत्तर्कवादमाकर्ण्य, सिंहनादमिवोद्धतम्। दुर्वादिमत्तमातङ्गैर्दूरादेव पलायितम् ॥५३६॥
स्वशास्त्रभासः प्रथितास्तेजोभानोर्ममोदये। छन्नाश्च परशास्त्रार्था, ग्रहांशव इवाभवन् ॥५३७॥
मद्देशनासुधां भव्या, ग्रामाकरपुरादिषु। विततैः श्रोत्रचुलुकैः, पायंपायं मुदं ययुः ॥५३८॥
मद्यशःपटहध्वानैः, पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम्। दिशः सर्वा अपि व्याप्ताः, प्रसरद्भिर्गुणैर्मम ॥५३९॥
सत्यं सिंहोऽसि धाम्ना त्वं, त्वया भूर्भूषिताऽखिला। इति मां नम्रमूर्द्धानस्तीर्थिका अपि तुष्टुवुः ॥५४०॥
तादृशीं सूरिपदवीभूतिं प्रेक्ष्य ममाद्भुताम्। असूययेव रुष्टा मे, पापिष्ठा भवितव्यता ॥५४१॥
चिन्तितं च तया पूर्वं, प्रस्तावो यो मयाऽऽस्थितः। साम्प्रतं सोऽस्ति तदिमं, ब्रुवे मोहादिभूभुजाम् ॥५४२॥

॥२१६॥

मोहादि
प्राबल्यम्

गौरवोत्पत्तिः।

ते हि मे मुखमीक्षन्ते, याचका धनिनो यथा। तदद्य पूरयाम्याशां, तेषामेषा प्रसेदुषी ॥५४३॥
इति निश्चित्य ते सर्वे, रहस्यं ज्ञापितास्तया। स कर्मपरिणामश्च, मोहिता बन्धवश्च मे ॥५४४॥
प्रस्तारमादधुर्भूयो, मोहपापोदयादयः। किन्तु दृष्टभयाश्चक्रुः, सर्वे रहसि मन्त्रणम् ॥५४५॥
कः स्यात्तत्रोपाय इति, प्राह मन्त्र्यथ गच्छतु। ज्ञानसंवरणस्तावद्, समिथ्यात्वस्तदन्तिके ॥५४६॥
त्रीणि शैलेन्द्रयुक्तानि, गौरवाणि श्रयन्तु तम्। पुरुषौ प्रेषणीयौ द्वावार्त्तरौद्राशयौ ततः ॥५४७॥
लेश्या यास्सन्त्यथो कृष्णनीलकापोतसंज्ञकाः। स्वत एव तदभ्यर्णं, तिस्रस्तत्परिचारिकाः ॥५४८॥
नयं तु भूयः संस्थाप्य, नदीं दीर्घां प्रमत्तताम्। रचनां मण्डपादीनां, कुर्महे प्रयताः परम् ॥५४९॥
एवं नः कुर्वतां कार्यमनायासेन सेत्स्यति। तदिदं रुचितं मन्त्रिवचो मोहादिभूभुजाम् ॥५५०॥
समर्थितं तैस्तद्वाक्यं, प्रारब्धा मन्त्रितक्रिया। अथ तेष्वन्तिकस्थेषु, हृत्तरङ्गा ममोत्थिताः ॥५५१॥
यथाऽहो मे परं तेजो, ममाहो गौरवप्रथा। अहो युगप्रधानोऽहं, कोऽपि नैवास्ति मत्समः ॥५५२॥
अमात्योऽपि जगत् त्यक्त्वा, कलाः सर्वाः समागताः। अहंपूर्विकया तीर्थे, मय्येव प्रियमेलके ॥५५३॥
प्राक्पर्याये नरेन्द्रोऽहमधुना सूरिपुङ्गवः। जात्यहेम्न इवोद्दीप्तिः कदा जाता न मे गुणैः ॥५५४॥
महान् वंशो महद्धैर्यं, महती धीर्महत्तपः। महान् मम प्रतापश्च, महतां सकलं महत् ॥५५५॥
ईदृग्विकल्पशिखरैर्वर्धमानैर्यथोत्तरम्। ममानन्तानुबन्धेन, शैलराजो व्यजृम्भत ॥५५६॥

ज्ञानावरणमिथ्यात्वे, महागहनसन्निभे। नियतस्थितिके तत्र, ताभ्यां क्षिप्तस्तमस्यहम् ॥५५७॥
शास्त्रार्थं तद्विलासेन, विदन्नपि न वेद्म्यहम्। पठामि पाठयाम्यन्यं, व्याचक्षे शून्यचेतसा ॥५५८॥
तथाभूतस्य मे भ्रष्टं, सार्द्धं पूर्वचतुष्टयम्। शेषज्ञानं तु नो नष्टं, विपर्यस्तं तु मोहतः ॥५५९॥
अत्रान्तरे नदीपूर्णा, चित्तवृत्तौ च वाहिता। प्रमत्तताऽऽख्या रिपुभिर्व्याक्षेपावर्तभीषणा ॥५६०॥
गौरवाणि व्यजृम्भन्त, ततो मयि विशेषतः। कुभावनास्तदुत्कर्षान्ममाभूवन् सहस्रशः ॥५६१॥
सन्ति मे विपुला वस्त्रपात्रपुस्तकसम्पदः। महाजनानां नेताऽहं, प्राज्ञाः शिष्या ममेदृशाः ॥५६२॥
प्रत्यासीदन्ति मां सर्वाः, सिद्धयश्चाणिमादिकाः। इति प्राप्तर्द्धिदृप्तेन, मयेष्टाऽनागतापि सा ॥५६३॥
भोज्यं नीरसमुत्सृष्टं, भुक्तं च सरसं मया। बद्धा तत्र रतिर्लौल्यात्, प्रार्थनाऽनागतेऽपि च ॥५६४॥
सुखे शारीरके तोषः, कृतः शय्यासनादिजे। मया प्राप्ते तथा लौल्यं, प्रवर्त्तितमनागते ॥५६५॥
गा(गौ)रवत्रयमग्नेन, तदानीमेवमादृतम्। शिथिलत्वं मया व्यक्तं, विहायोग्रविहारिताम् ॥५६६॥
आर्त्ताशयोऽप्याविरभूत्, ततो दुष्टविकल्पभूः। रौद्राशयस्तदा पार्श्वे, तस्यास्थाद् व्यापृतस्तु न ॥५६७॥
ततः समागताः कृष्णनीलकापोतसंज्ञकाः। दौःशील्यकारिकास्तिस्रो, लेश्यास्तत्परिचारिकाः ॥५६८॥
इतश्च चित्तविक्षेपो, मण्डपो वेदिका च सा। चित्तवृत्तौ कृता सज्जा, रिपुभिर्विष्टरं तथा ॥५६९॥
तिरोबभूवुश्चारित्रधर्मराजादयस्ततः। जातोऽहं मुनिवेषोऽपि, मिथ्यादृष्टिशिरोमणिः ॥५७०॥

आर्त्तध्या-
नम्।

लब्धावकाशा रिपवः, स्वेच्छया व्यलसंस्तदा। आयुर्नामाऽथ सन्दिष्टो, भूपतिर्मम भार्यया ॥५७१॥
निरूपयोचितं स्थानमार्यपुत्रस्य साम्प्रतम्। तेनोक्तं दृष्टमेवास्ति, स्थानमस्योचितं मया ॥५७२॥
स कर्मपरिणामोऽस्य, विरक्तो दुश्चरित्रतः। पापोदयं पुरस्कृत्य, मोहसैन्येऽधुना गतः ॥५७३॥
पुरे तेनैकाक्षवासे, प्रेपितोऽहं ततश्च तौ। तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधावाकारितौ द्रुतम् ॥५७४॥
वेदनीये च कुपितश्चक्रेऽकिंचित्करं स तम्। त्वया मया च नेयोऽसौ, तत्र ताभ्यां समं ततः ॥५७५॥
अस्य त्रिभागमात्रेह, स्थितिरद्यापि तिष्ठति। तत् सिंहः कार्यतां पूर्णां, सामग्रीं गमनोचिताम् ॥५७६॥
स्वीकृत्य तद्वचस्तस्य, भवितव्यतया तथा। शेषैश्चारिभिरत्यन्तं, मार्गेऽहं शिथिलीकृतः ॥५७७॥
अलक्षितात्मा शारीरैर्दोपैरन्ते ततस्ततैः। जीर्णप्राचीनगुटिकः, समासाद्य परां गुटीम् ॥५७८॥
अलक्षितात्मा यातोऽहं, वनस्पत्याख्यपाटके। सौधापवरकन्यायात् तत्राहं सुचिरं स्थितः ॥५७९॥
आनीतोऽहं ततः शेपपाटकान्यपुरेषु च। पत्न्या कदाचित् पञ्चाक्षपशुस्थाने ततो धृतः ॥५८०॥
ततो विशुद्धभावत्वाद् गतोऽहं विबुधालये। भूयो गमागमास्तत्र, बहवो विहितास्ततः ॥५८१॥ तथाहि–
पञ्चाक्षपशुसंस्थानाद्, व्यन्तरादिषु भूरिशः। अकामनिर्जराजन्यभावशुद्धेरहं गतः ॥५८२॥
विशिष्टपरिणामेन, गतः कल्पोपगेष्वपि। सम्यक्त्वश्राद्धधर्माभ्यामष्टौ कल्पा मयेक्षिताः ॥५८३॥ तथा–
कर्माकर्मान्तरद्वीपभूमिजेषु नृषु स्थितः। आगत्य मानवावासे, खलोके बहुशो गतः ॥५८४॥

वनस्पत्यादिषु जन्म भवपरम्परा च।

अकार्षं कृत्यमज्ञानादुत्पन्नः कर्मभूमिषु । पञ्चाग्नितपनाद्यं यद्, यच्चाम्बुपतनादिकम् ॥५८५॥
धर्मबुद्ध्याऽन्यथा चान्तर्भावशुद्ध्यनुवेधतः । ततोऽहं किल्बिषावासे, गतो व्यन्तरपाटके ॥५८६॥
कृत्वा बालतपः क्रोधी, तपो गौरवभाग् गतः । भवनस्थेषु भूत्वा च, ज्योतिश्चारिषु तापसः ॥५८७॥
प्राप्य भागवतीं दीक्षां, क्रियाभ्यासपरायणः । ध्यानमौनतपोयोगशीलसंयमयत्नवान् ॥५८८॥
गतोऽश्रद्धानदुष्टात्मा, सर्वग्रैवेयकेष्वपि । आगतो मनुजावासं, भूयो भूयोऽन्तराऽन्तरा ॥५८९॥
इयतो भ्रमणस्यैव, विद्धि पद्माक्षि ! कारणम् । तत्र सिंहाचार्यभावे यत्, कृतं चारित्रखण्डनम् ॥५९०॥
शैथिल्यं नाकरिष्यं चेत्, सिंहाचार्यपदस्थितः । तदैव हत्वाऽरिततीरगमिष्यं शिवालयम् ॥५९१॥
इयद्भ्रमणदुःखं यन्मम जातं वरानने ! । तदेतन्निजदुर्भार्याप्रेरणाजनितं फलम् ॥५९२॥
अथागृहीतसंकेता, प्राह तात ! न केवलम् । इयत् किन्तु त्वया प्रोक्तमखिलं त्वद्विजृम्भितम् ॥५९३॥
पूर्वमेवाभविष्यश्चेत्, सुस्थिताज्ञास्थिरादरः । ततो दीर्घाऽभविष्यत् ते, नैषाऽनर्थपरम्परा ॥५९४॥
प्राह संसारिजीवोऽथ, सुभ्रु ! चारूदितं त्वया । नाम्नाऽगृहीतसंकेता, भावतस्त्वसि पण्डिता ॥५९५॥
अथाकर्णय तद् येन, जातोऽहं तस्कराकृतिः । प्राहागृहीतसंकेता, निवेदय महाशय ! ॥५९६॥
संसारिजीवो न्यगददन्त्यग्रैवेयकात् ततः । आनीतोऽहं नृगत्यन्तःस्थितां क्षेमाऽभिधां पुरीम् ॥५९७॥
मध्ये महाविदेहस्य, हट्टमार्गस्य सा स्थिता । रम्ये सुकच्छविजयस्थाने विंस्तारशालिनि ॥५९८॥

१ विस्तारशालिनी डे. ज्ञा.

संसारिजीवस्य अनुसुन्दरचक्रवर्तित्वेनोत्पत्तिः

गुणन्धरस्य नृपतेः, पुत्रस्तत्रोक्तविक्रमः । नलिनीनन्दनश्चक्री, पितरि द्यां गतेऽभवम् ॥५९९॥
क्षेमपुर्यां स्थितेनैव, मया धाम्ना जिता मही । भुक्ताश्च विपुला भोगा, बिभ्रता चक्रवर्तिताम् ॥६००॥
अशीतिं पूर्वलक्षाणि, चतुर्भिरधिकामहम् । भुक्त्वा राज्यसुखं काले, पश्चिमे चारुलोचने ! ॥६०१॥
स्वपुर्या निर्गतः स्वीयविजयोर्वीदिदृक्षया । भ्रान्त्वा वसुन्धरां शङ्खनगरेऽस्मिन् समागतः ॥६०२॥ ततश्च
इदं चित्तरमोद्यानं, नृपः कतिपयैर्युतः । पश्चात् कृत्वा बलं शेषं, संप्राप्तो नन्दनोपमम् ॥६०३॥
इतश्च यान्यभूवन्मे, गुणधारणजन्मनि । आद्यधर्मप्रदः कन्दमुनिर्मित्रं कुलन्धरः ॥६०४॥
भार्या च रम्या मदनमञ्जरी हन्त तान्यपि । भ्रमितान्यद्भुतै रूपैर्भवितव्यतया भवे ॥६०५॥
कनाद् बकुलिकासज्ञात्, ततः कन्दमुनिः क्वचित् । सुकच्छविजयेऽत्रैवानीतो हरिपुरे तया ॥६०६॥
सुभद्राया भीमरथराज्ञ्याः कुक्षौ प्रवेशितः । जाता पुत्री कृतं तस्या, महाभद्रेति नाम च ॥६०७॥
भ्राता समन्तभद्रोऽभूत्, तस्या लात्वा स च व्रतम् । सुघोपमगुरोः पार्श्वे, द्वादशाङ्गधरोऽभवत् ॥६०८॥
ज्ञात्वा योग्यं पदे स्वीये, स्थापयामास तं गुरुः । महाभद्राऽपि संप्राप्ता, यौवनं युवमोहनम् ॥६०९॥
करेऽग्रहीत् तां गन्धर्वपुरनाथो दिवाकरः । रविप्रभस्य भूपस्य, पद्मावत्याश्च नन्दनः ॥६१०॥
दैवादसौ गतोऽस्तं सा, प्रतिबोध्य न लम्भिता । दीक्षां समन्तभद्रेण, जाता चैकादशाङ्गभृत् ॥६११॥
प्रवर्तिनी कृता दक्षा, गीतार्था गुरुभिस्ततः । अन्यदा विहरन्ती सा, पूज्या रत्नपुरं ययौ ॥६१२॥

कन्दमुनेर्महाभद्रात्वेन जन्म ।

1 नगरे इ। पाठ नगमितौ ।

मदनमञ्जर्याः सुललितात्वेन समुत्पत्तिः।

राजा मगधसेनोऽभूत्, तत्र देवी सुमङ्गला। इतश्च तत्सुतात्वेन, जाता मदनमञ्जरी ॥६१३॥
कृतं सुललितेत्यस्या, नाम सा प्राप्य यौवनम्। पुरुषद्वेषिणी जाता, नेष्टः कोऽपि तया वरः ॥६१४॥
अभूतां जननीतातौ, तच्चिन्तादग्धमानसौ। श्रुत्वा मान्यां महाभद्रामागतां मुदितौ हृदि ॥६१५॥
गतावादाय तनयां, तां प्रणन्तुमुपाश्रये। धर्मलाभस्तया दत्तः, प्रदत्ता धर्मदेशना ॥६१६॥
तद्वचोऽबुध्यमानाऽपि, तस्यां स्नेहमुपागता। पूर्वाभ्यासात् सुललिता, स्थिता तन्मुखदत्तदृग् ॥६१७॥
अथ सा विततस्नेहकल्लोलाक्रान्तमानसा। स्थास्याम्येतां विना नाहमित्यभिग्रहमग्रहीत् ॥६१८॥
प्रतिश्रुतं च कष्टेन, पितृभ्यामपि तद्वचः। स्वीकारितं च न ग्राह्या, प्रव्रज्याऽस्मदपृच्छया ॥६१९॥
अथ साऽनु महाभद्रां, विजहार तमोभिदम्। कर्मोदयान्न बोधोऽस्या, जायते च स्फुटः परम् ॥६२०॥
महाभद्रा शङ्खपुरे, समायाताऽन्यदा स्थिता। नन्दस्य श्रेष्ठिनो घंघशालायां शीलशालिनी ॥६२१॥

कुलन्धरस्य पुण्डरीकत्वेनोत्पत्तिः। ॥२१९॥

इतः शङ्खपुरेऽभून्मे, श्रीगर्भो मातुलो नृपः। देवी कमलिनी तस्य, महाभद्रापितृष्वसा[1] ॥६२२॥
उपचारानपत्यार्थं, साऽनपत्याऽकरोद् बहून्। औषधीमूलपानादींस्तत्कुक्षावागतस्ततः ॥६२३॥
कुलन्धरः कृतशुभाभ्यासो बहुषु जन्मसु। तया दृष्टस्तदा स्वप्नो, यथा कोऽपि शुभाकृतिः ॥६२४॥
प्रविश्य मे मुखेनाङ्गे, निर्गत्य च गतः क्षणात्। नरेण केनचित् सार्धं, भर्त्रे स कथितस्तया ॥६२५॥
तेनोक्तं ते सुतो भावी, केवलं प्रव्रजिष्यति। शीघ्रं कंचिद् गुरुं प्राप्य, तच्छ्रुत्वा सा दधौ मुदम् ॥६२६॥

१ –'मातृष्वसा' इति पाठ उपमितौ।

जातस्तृतीये मासेऽस्याः, शुभकर्ममनोरथः । संपूरितोऽसौ श्रीगर्भराजेनातुलसम्पदा ॥६२७॥
असूत सा सुतं पूर्णे, काले रुचिरलक्षणम् । संतुष्टोऽचीकरद् राजा, तस्य जन्ममहोत्सवम् ॥६२८॥
गुरुः समन्तभद्राख्यो, जातनिर्मलकेवलः । इतः समागतोऽत्रैव, स्थितश्चित्तरमे वने ॥६२९॥
इतः सुललिताऽऽयाता, वन्दितुं तं प्रवर्तिनी । गता कथंचित् तत्राभूद्, वार्ता पुत्रस्य भूभुजः ॥६३०॥
उक्तं भगवताऽभ्यस्तसत्कर्मा बहुशो ह्ययम् । न स्थास्यति गृहे दीक्षां, लात्वा भावी श्रुतार्थवित् ॥६३१॥
तदाकर्ण्य महाभद्रा, हृष्टा स्वोपाश्रये गता । इतश्च राजपुत्रस्य, तस्य नाम प्रतिष्ठितम् ॥६३२॥
पुण्डरीक इति स्पष्टं, कृतस्तत्करणोत्सवः । इतश्च सा सुललिता, कुतूहलपरायणा ॥६३३॥
विचरन्ती वने तत्र, गता सूरिं स पश्यति । वर्णयन्तं गुणान् भाविभद्रस्य नृपजन्मनः ॥६३४॥ तथाहि—
शुभेन कर्मणा कालपरिणत्याऽनुकूलया । अयं हि नृगतौ पुर्यां, जातः श्रेयांसि लप्स्यते ॥६३५॥
यदयं भव्यपुरुषः सुमतिश्चेति युज्यते । श्रेयोयोगोऽत्र तच्छ्रुत्वा, दधुः सर्वे जना मुदम् ॥६३६॥
दध्यौ सुललिता त्वन्तर्जनकाम्यादिगोचरः । कोऽयं भेदः कथं चैष, वेत्ति भाविगुणोच्चयम् ॥६३७॥
इति शङ्कापरा गत्वा, वसतिं सा प्रवर्तिनीम् । पप्रच्छ साऽतिमुग्धां तां, ज्ञात्वा युक्त्याऽर्थमाह तम् ॥६३८॥
अस्याः सदागमप्रीतिं, तनोमीति विचिन्त्य च । सदागमस्यावितथं, कथयामास गौरवम् ॥६३९॥
उक्तार्थप्रत्ययार्थं च, तत्संस्तवमकारयत् । दिनानि यान्त्यथ तयोर्भगवत्पादसेवया ॥६४०॥

लङ्घिते मासकल्पेऽथ, सूरिराह प्रवर्तिनीम्। क्षीणजङ्घाबलाऽसि त्वं, तत् तिष्ठात्रैव धीमति! ॥६४१॥
वयं पुनः समेष्यामः, प्रतिजागरणाय ते। क्षेत्रे साध्वीश्रिते वस्तुं, कारणं हीदमेव नः ॥६४२॥
आबाल्यात् स्नेहलो बाढं, कर्तव्यश्च नृपाङ्गजः। त्वया यद् वर्धमानोऽसौ, मम शिष्यो भविष्यति ॥६४३॥
महाभद्रा गुरुवचस्तत् तथा प्रत्यपद्यत। विहृता गुरवः प्राप्तः, पुण्डरीकः कुमारताम् ॥६४४॥
बभूवाथ महाभद्रास्नेहवश्यो गुणैकभूः। आचार्याः पुनरायातास्तत्पार्श्वे तं निनाय सा ॥६४५॥
भाविभद्रतया हृष्टः, स तन्मूर्तिनिरीक्षणात्। रञ्जितस्तद्गुणव्रातैः, प्रीतस्तद्वचनामृतैः ॥६४६॥
संपप्रच्छे महाभद्रां, किं नामायं महाशयः। साऽऽह भद्र! भवद्भूतभाविज्ञोऽयं सदागमः ॥६४७॥
स प्राह चित्ते यद्यम्बाताततयोः प्रतिभाति मे। तदागमार्थं गृह्णामि, गुरोरस्यैव सन्निधौ ॥६४८॥
महाभद्राऽथ तं भावं, श्रीगर्भाय महीभुजे। जगाद कमलिन्यै च, जातो हर्षस्तयोर्महान् ॥६४९॥
दत्तस्ताभ्यां भगवतः, स महाभद्रया सह। सततं याति तत्पार्श्वे, कुरुतेऽभ्यासमागमे ॥६५०॥
व्याचक्षाणेऽन्यदाऽऽचार्ये, धर्मं शृण्वत्सु देशनाम्। महाभद्रासुललितापुण्डरीकेषु भाविषु ॥६५१॥
लोके धर्मकथाऽऽक्षिप्ते, बलकोलाहलो मम। समुल्ललास तच्छ्रुत्वा, पर्षदुत्कर्णिताऽखिला ॥६५२॥
ततः सुललिता प्राह, महाभद्रामिदं तु किम्। सा प्राह नास्मि जानामि, जानाति भगवान् परम् ॥६५३॥
अथ प्रभुः सुललितापुण्डरीकप्रबुद्धये। इमं रूपकगूढार्थमाचचक्षे विचक्षणः ॥६५४॥

१ वालको–की॰ मु।

महाभद्रे! न जानीषे, ख्यातेयं नृगतिः पुरी। महाविदेहरूपोऽयं, हट्टमार्गोऽत्र विश्रुतः ॥६५५॥
चौरः संसारिजीवोऽत्र, सलोप्त्रो दण्डपाशिकैः। गृहे क्रूराशयैः कर्मपरिणामाय दर्शितः ॥६५६॥
तेन वध्यतयाऽऽज्ञप्तः, पृष्ठ्या भार्यां च बान्धवान्। कोलाहलैः प्रसृमरैर्वेष्टितो राजपूरुषैः ॥६५७॥
बहिः पुर्या विनिस्सार्य, हट्टमार्गस्य मध्यतः। नीत्वा वध्यस्थले पापिपञ्जरे मारयिष्यते ॥६५८॥
श्रूयते कर्णनिर्घाती, सोऽयं कोलाहलो महान्। प्राप्ता सुललिताऽऽश्चर्यं, तत् श्रुत्वाऽऽह प्रवर्तिनीम् ॥६५९॥
नृगतिर्नगरी नेयं, ननु राजपुरं ह्यदः। वनं चित्तरमं चेदं, हट्टमार्गो न विश्रुतः ॥६६०॥
न कर्मपरिणामोऽत्र, राजा श्रीगर्भ एव तु। अवदद् भगवान् बुद्धे! किमित्येवं प्रभाषते ॥६६१॥
भगवानाह जानीषे, परमार्थं न मे गिराम्। भद्रेऽगृहीतसंकेता, ततस्त्वमसि निश्चितम् ॥६६२॥
सा दध्यौ हा ममाप्यन्या, कृता भगवताऽभिधा। स्थितेति विस्मिता भावं महाभद्रा त्वलक्षयत् ॥६६३॥
नूनमेष महापापो, निर्दिष्टो नरकं गमी। जीवो भगवता तस्याः, संजाता महती कृपा ॥६६४॥
पप्रच्छ भगवन्तं सा, मुच्येतासौ कथंचन। स प्राह दर्शनात् तेऽस्य, मोक्षः स्याच्छ्रयणाच्च नः ॥६६५॥
महाभद्राऽऽह भगवंस्तद्, गच्छाम्यस्य संमुखम्। भगवानाह गच्छाशु, सफलोऽयं तवोद्यमः ॥६६६॥
ततः कृपापरा याता, महाभद्रा मदन्तिकम्। उक्तश्चाहं तया त्राणं, भज भद्र! सदागमम् ॥६६७॥
नो चेदाभ्यन्तरं चौरं, नीत्वा त्वां पापिपञ्जरे। कदर्थयिष्यन्ति कर्मपरिणामस्य पूरुषाः ॥६६८॥

१ [illegible] पा. मु.

महाभद्राकृतोऽनुसुन्दरचक्रवर्तिनो बोधः।

इत्युक्तवत्या नीतोऽहं, तया भगवदन्तिकम्। दृष्टश्चौराकृतिश्चैवं, वध्यः सकलपर्षदा ॥६६९॥
पश्यतो भगवन्तं मेऽनाख्येयसुखमज्जनात्। मूर्च्छाऽऽगताऽथ शुद्ध्याप्तौ, मयाऽसौ शरणीकृतः ॥६७०॥
आश्वासितो भगवता, मा भैषीरित्यहं ततः। मत्तोऽमी राजपुरुषा, दूरीभूताश्च तद्भिया ॥६७१॥
ततो विश्रम्भमाप्तोऽहं, पृष्टो व्यतिकरं त्वया। कथितश्च मया स्वीयवृत्तान्तो विस्तरादयम् ॥६७२॥
वार्ता समन्तभद्रादेस्त्वत्प्रतीताऽपि योदिता। सा त्वत्प्रत्ययसिद्ध्यर्थं, तज्जातः प्रत्ययस्तव ॥६७३॥
सा प्राह बाढं जातो मे, प्रत्ययो वचने तव। परं त्वं चक्रवर्ती चेत्, किमीदृगिति मे वद ॥६७४॥
स प्राह भद्रे! युवयोः, प्रतिबोधाय निर्मितम्। मयेदं तास्करं रूपं, [2]प्रोक्तं भगवता यतः ॥६७५॥
भवतां पुरतश्चौर्यं, समुद्दिश्याहमान्तरम्। चौरः संसारिजीवोऽयं, वध्यो नीयत इत्यहो ॥६७६॥
मया गतायां च महाभद्रायां मम सम्मुखम्। तद्दर्शनात् प्रबुद्धेन, मनसीदं विचिन्तितम् ॥६७७॥
यद्यप्येषा महाभद्रा, जानात्येव गुरूदितम्। प्रज्ञाविशाला सकलं, चौर्यमाभ्यन्तरं मम ॥६७८॥
वार्ताया गन्धमप्यस्या, वेत्त्यद्यापि तथाऽपि न। अगृहीतार्थसङ्केता, मुग्धा सुललिता ततः ॥६७९॥
विप्रत्ययो भवेद् दृष्ट्वा, रूपं मे चक्रवर्तिनः। सदागमवचस्यस्या, उक्तव्यत्ययशङ्कया ॥६८०॥
किं चासौ पौण्डरीकोऽपि, प्रतिबुद्धो भविष्यति। एतन्मदीयवृत्तान्तं, श्रुतिद्वारैव भावुकः ॥६८१॥
इति ध्यात्वा कृतं रूपमन्तश्चौर्यस्य सूचकम्। वैक्रियर्द्ध्या बहिरपि, स्फुटमेवंविधं मया ॥६८२॥

तास्कररूप-
निर्माणस्य
कारणम्

॥२२१॥

जगौ सुललिता कीदृग्, भावचौर्यं कृतं त्वया। कथं वा परवृत्तान्तं, जानासीत्यखिलं वद ॥६८३॥
अथानुसुन्दरोऽवादीदन्त्यग्रैवेयकादहम्। सुकच्छविजये क्षेमपुर्यां जातो महोदयः ॥६८४॥
अत्रान्तरे महामोहादयः प्रत्यर्थिनो मम। भवितव्यतया लब्ध्वा, छलं प्रोत्साहिता इति ॥६८५॥
दुःसाध्यो यावदेषोऽस्ति, सम्यक्त्वादनुसुन्दरः। तावत् सर्वबलं कृत्वा, यतध्वं स्वार्थसिद्धये ॥६८६॥
अन्यथा स्वबलं लब्ध्वा, प्राग्वदेष भविष्यति। बाधाकृद् वस्तदधुना, किंकरीक्रियतामयम् ॥६८७॥
ततस्तत्प्रेरितैर्गाढं, वल्गद्भिरनियन्त्रितैः। वशीकृतस्तैराबाल्यादहं तन्मयतां गतः ॥६८८॥
ततस्तैः स्वीयवीर्येण, कृतः पापपरायणः। कौमारे वर्तमानोऽहं, मद्यमांसरतोऽभवम् ॥६८९॥
प्रमत्त पारदार्यादौ, प्रवृत्तौ यौवने प्रभुः। चक्रित्वे सेविता दोषाः, पापर्द्ध्याद्याः सहस्रशः ॥६९०॥
ततो लब्धप्रचारैस्तैर्नितरां मलिनीकृता। द्विपद्भिः चित्तवृत्तिर्मे, सुहृत्सैन्यं तिरस्कृतम् ॥६९१॥
तिरोहितं च क्षान्त्यादिशुच्यन्तःपुरमान्तरम्। राज्याद् बहिष्कृतश्चाहं, कर्मवीर्यं प्रकाशितम् ॥६९२॥
तदा पापोदयो दीप्तो, मोहसैन्यं प्रवल्गितम्। जातानि तत्पुरादीनि, वो(चो)ढा सिन्धुः प्रमत्तता ॥६९३॥
निस्तृतं तद्विलसितं पुलिनं मण्डपो नवः। उद्भूतश्चित्तविक्षेपस्तृष्णाऽभूद् वेदिकाऽद्भुता ॥६९४॥
संस्कृतं च विपर्यासविष्टरं परिपोषिता। अविद्याऽऽख्या गात्रयष्टिर्महामोहेन भूभुजा ॥६९५॥
सर्वथैव नवीभूता, सामग्री सकला द्विषाम्। पर्यालोचस्ततोऽमीषां, जातः स्वेष्टफलाश्रयः ॥६९६॥

मोहस्य सामर्थ्यम्

जगाद तत्र विषयाभिलाषः सचिवाग्रणीः। दृष्टदाहाः पुरा यूयं, किन्तु वः कथ्यतेऽधुना ॥६९७॥
स्वक्षतिं प्राक्तनीं प्रेक्ष्य, मन्दादरकृताद् रणात्। युष्माकं साम्प्रतं कर्तुं, युक्तो मन्दोऽत्र नादरः ॥६९८॥
तीव्रादरेण तद् यूयं, यतध्वमधुनाऽखिलाः। यथा निष्कण्टकं राज्यं, भवेदाकालनिश्चलम् ॥६९९॥
प्रतिभातं वचस्तेषां, मन्त्रिणस्तत् ततश्च ते। तस्योपदेशमादृत्य, प्रेरयामासुराशु माम् ॥७००॥
तैः कर्मपरिणामस्य, क्षेत्रस्थं वर्गणोद्भवम्। अशस्ताख्यं द्रव्यजातं, ग्राहितोऽहं स्वयं बहु ॥७०१॥
तैरेव ज्ञापितः कर्मपरिणामस्य भूभुजः। अहं चौरतया तेनादिष्टमेष विडम्ब्यताम् ॥७०२॥
मार्यतां दुःखमारेण, नीत्वा द्राक् पापिपञ्जरे। मुदितास्ते दुरात्मानस्तदाकर्ण्य प्रभोर्वचः ॥७०३॥
ततश्च तैर्विलिप्तोऽहं, कर्माणुमलभस्मना। गात्रे गैरिकहस्तैश्च, चर्चितो राजसैस्ततैः ॥७०४॥
श्यामीकृतस्तृणमषीपुण्ड्रकैस्तामसैस्तथा। कणवीरस्रजा रागवीचिनाम्न्या विनाटितः ॥७०५॥
मूर्ध्नि पापौघ्यसूर्पेण, हृदये घूर्णमानया। शरावमालया भ्रान्तिसन्तत्या च विडम्बितः ॥७०६॥
स्वरूपे निहिताशस्तकर्मलोप्त्रो गलोपमे। आरोपितोऽसदाचाराभिधे महति रासभे ॥७०७॥
क्रूराशयैर्यमसमैर्वेष्टितो राजपूरुषैः। कोलाहलैः कषायाख्यडिम्भानां प्रविसृत्वरैः ॥७०८॥
श्रूयमाणेन विरसडिण्डिमध्वनिना तथा। शब्दादिभोगसंज्ञेन, निन्दया च विवेकिनाम् ॥७०९॥
बाह्यलोकविलासेन, खलहासेन भूयसा। निःसारितो वध्यभूमेः, संमुखं शून्यमानसः ॥७१०॥

१ तत्कृतश्च डे. ज्ञा.

महाविदेहरूपेऽस्मिन्, हट्टमार्गे सुविस्तृते । आनीतो देशमेनं स्वदेशदर्शनकैतवात् ॥७११॥
श्रुतो युष्माभिरुच्चैर्मर्दलकोलाहलस्ततः । आगता मे महाभद्रा, संमुखं विपुलाशया ॥७१२॥
ज्ञनश्चाहं परित्यज्य, स्वमन्यं ग्रहतोऽखिलम् । इतो नृपैः कतिपयैरुद्यानमिदमागतः ॥७१३॥
रक्ताशोकतले यावत्, स्थितस्तोत्तीर्य वारणात् । राजपुत्रा विनीता मे, दर्शयन्ति वनश्रियम् ॥७१४॥
आगच्छन्ती मया तावन्महाभद्रा विलोकिता । तस्यां ममज्ज मे दृष्टिर्निवृत्त्य विषयान्तरात् ॥७१५॥
ववर्ष स्नेहपीयूषं, तस्यां मया च दृग् मम । मयि स्नेहं दधौ पूर्वाभ्यासादेषाऽपि निःस्पृहा ॥७१६॥
ममाभ्यर्णमथ प्राप्ता, स्मरन्ती भगवद्वचः । अयं नरकगामीति, करुणापूर्णमानसा ॥७१७॥
ततः कदम्बमुनित्वेऽस्या, गुणधारणजन्मनि । चित्तार्पणान्मया भूयो, विनयाद्यनुशीलनात् ॥७१८॥
कृतश्चारुविमर्शोऽयं, केयं भगवती ननु । दृष्टमात्राऽपि याऽऽह्लादं, मानसे वितनोति मे ॥७१९॥
वपुर्निर्वापयत्यक्ष्णोः, पीयूषमभिवर्षति । ततोऽहं प्रणतोऽमुष्यै, धर्मलाभमियं ददौ ॥७२०॥
जगाद च महाराज !, मानुष्ये मोक्षकारणे । प्राप्तेऽन्यत्र न गन्तुं ते, युक्तमुन्मार्गसंश्रयात् ॥७२१॥
नीयमानस्य चौरस्य, वध्यस्थाने स्वमन्तुना । किं राज्यं के विलासास्ते, किं वा स्वास्थ्यं विचिन्तय ॥७२२॥
किं च मद्दर्शनात् तस्या, जाता जातिस्मृतिस्तदा । सर्वं सोदन्तमाकन्दमुनिकालात् ततोऽस्मरत् ॥७२३॥
उत्पन्नमवधिज्ञानं, शुभभावात् तदाश्रयात् । तेन दृष्टं ममाप्युच्चैर्भगवत्या विचेष्टितम् ॥७२४॥

ततोऽसावाह राजेन्द्र !, किं न सरसि यद् तदा। लालितः प्रौढलीलाभिर्ममाग्रे गुणधारण ! ॥७२५॥
क्षान्त्याद्यन्तःपुरं प्राप्य, परमानन्दमेदुरः। भावराज्ये स्थितो यत् त्वं, तत् किं नु तव विस्मृतम् ॥७२६॥
किं न ते स्मृतिमायाति, विमलाचार्यभारती। भवप्रपञ्चो निखिलः, प्रोक्तोऽनन्तोऽपि ते यया ॥७२७॥
यत्प्रसादात् त्वया प्राप्तं, सुखं ग्रैवेयकादिषु। सदागमः स ते त्राणं, तत् प्रबुद्ध्यस्व मा मुहः ॥७२८॥
तवैवाहं प्रबोधाय, करुणार्द्रा समागता। विहाय चित्तशून्यत्वमन्तस्तत्त्वं विलोकय ॥७२९॥
अत्रान्तरे च प्रस्तावं, ज्ञात्वा मत्सम्मुखं पुनः। सम्यग्दर्शनसद्बोधावागन्तुं चक्रतुर्मनः ॥७३०॥
दुष्टान्तरारिवर्गेण, संरुद्धौ तमसा पथि। विकुर्वितेन मे पार्श्वे, नागन्तुं शक्नुतः स तौ ॥७३१॥
सूर्यकान्तसमे दीप्ते, जीववीर्यवरासने। क्षीणं तमो भगवतीवाक्यसूर्यांशुभिश्च तत् ॥७३२॥
आयोधनं ततो लग्नं, चित्तवृत्तौ बलद्वये। सम्यग्दर्शनसद्बोधौ, हत्वाऽरीन् मामुपागतौ ॥७३३॥
ध्यातं मया भगवती, किमेषा परिजल्पति। ईहापोहं गतस्यैवं, जातिस्मृतिरभून्मम ॥७३४॥
गुणधारणकालीना, स्मृताऽवस्था शुभाशयात्। ततः सद्बोधमित्रं मामवधिः समुपागतः ॥७३५॥
असंख्येया मया दृष्टास्तद्बलाद् द्वीपवार्धयः। भवप्रपञ्चोऽसंख्येयः, साक्षादेव विलोकितः ॥७३६॥
सिंहाचार्यभवाभ्यस्तं, सर्वैरतिशयैः सह। निर्मलं पूर्वपर्यन्तं, प्रादुर्भूतं श्रुतं मम ॥७३७॥
स्मृतः संसारविस्तारो, निर्मलाचार्यकीर्तितः। असंख्येयः स्फुटं दृष्टस्तदारात्तु भवभ्रमः ॥७३८॥

अनुसुन्दरस्य सम्यग्दर्शनं सद्बोधश्च।

---

१ भावप्रपञ्चो की. मु.।

धृत्वाऽहं तस्कराकारं, ततः पूर्वोक्तकारणात् । इहागतस्तदारात् तु, वार्ता ज्ञातैव ते मम ॥७३९॥
ततो भद्रे सुललिते !, ज्ञात्वा मदनमञ्जरीम् । त्वां प्रबोधयितुं मुग्धां, जातस्नेहकृपाभरः ॥७४०॥
बहुमानाद् भवत्वस्याः, सर्वज्ञागमगोचरात् । तपस्विन्याः क्लिष्टकर्मक्षय इत्यवधारयन् ॥७४१॥
प्रभोः सदागमस्यास्य, प्रभावादखिलं हृदः । अहं वेद्मीति जनयन् , बहुमानं सदागमे ॥७४२॥
संक्षेपतोऽपि षण्मासवाच्यं माहात्म्यतः प्रभोः । सर्वं चरित्रं प्रहरत्रयेण स वदामि ते ॥७४३॥
तदिदं भावचौर्यं मे, ममेदृक् च विडम्बना । एवं च भद्रे ! जानामि, वृत्तान्तं स्वपराश्रयम् ॥७४४॥
श्रुत्वा चेदं सुललिता, विस्मिता भाविता हृदि । पौण्डरीकोऽपि भावार्थं, जग्राहैतद्गतं मनाक् ॥७४५॥
अवादीचार्य ! किंचित् तद् , वृत्तावस्ति तवाधुना । ततोऽनुसुन्दरेणोक्तं, यावत् संवेगमागतः ॥७४६॥
प्रक्रान्तोऽहं चरित्रं भो, वक्तुं स्वं भवतां पुरः । तावच्चारित्रधर्मोऽसौ, चलितो मम सम्मुखम् ॥७४७॥
तेन चागच्छता चारुकृतं सात्त्विकमानसम् । नगरं शुभ्रतां नीतो, विवेकगिरिपर्वतः ॥७४८॥
शिखरं चाप्रमत्तत्वं, कृतमुच्चैस्तरां शुचि । भूयोऽपि भूषितं जैनपुरमुत्तोरणावलि ॥७४९॥
स च चित्तसमाधानमण्डपः परिमण्डितः । सा च निःस्पृहता वेदिर्भूयः सज्जा विनिर्मिता ॥७५०॥
कृतं तच्चोल्लसत्कान्ति जीववीर्यं वरासनम् । सर्वशक्त्या निजं सैन्यं, निखिलं परितोषितम् ॥७५१॥
महामोहबलं लग्नं, तस्य चागच्छतः पथि । सर्वप्राणेन तद् युद्धं, द्वयोर्दृष्टं स्फुटं मया ॥७५२॥

तवः सम्यक्त्वसद्बोधयुक्तेन स नृपो मया । जातः प्रदत्तावष्टम्भो, जयलक्ष्मीनिकेतनम् ॥७५३॥
चिरंतनं हताशातिर्गृहीत्वाऽन्तःपुरं ततः । चारित्रधर्मराजेन्द्रो, मदभ्यर्णमुपागतः ॥७५४॥
द्विपस्ते हृतसर्वस्वाः किंचिच्छेपस्वजीविताः । लीनास्तिष्ठन्त्यदश्चित्तवृत्तावस्ति ममाधुना ॥७५५॥
अन्यच्च त्रिजगद्वन्द्यं, प्रपद्य जिनभाषितम् । लिङ्गं सम्प्रति बन्धूनां, वर्गः पोष्यो मयाऽऽन्तरः ॥७५६॥
एवं च वदता तेनानुसुन्दरमहीभुजा । संहृतं तास्करं रूपं, चक्रिरूपं स्फुटीकृतम् ॥७५७॥
कृतसंकेतभावेन, गता चौरविडम्बना । आगता मन्त्रिसामन्ताः, प्रोक्तस्तेभ्यो निजाशयः ॥७५८॥
प्राप्तकालतया तेषां, प्रतिभातः स मानसे । ततः पुरन्दरायादाद् , राज्यं चक्री स्वसूनवे ॥७५९॥
अर्हत्पूजादिकृत्यं च, निःशेषं तेन निर्मितम् । सपौरान्तःपुरो राजा, श्रीगर्भो निर्गतः पुरात् ॥७६०॥
कृता च तेन सर्वेषां, प्रतिपत्तिर्निजोचिता । पुनः संमिलिता पर्षत् , प्रवृत्तः पृथुरुत्सवः ॥७६१॥
दृष्ट्वाऽद्भुतं सुललिता, क्षणात् तादृक् चमत्कृता । संजातः पौण्डरीकोऽपि, प्रीतो विस्मितलोचनः ॥७६२॥
अथातिप्रार्थिते सूरौ, दीक्षां दातुं समुद्यते । राजपुत्रीं समुद्दिश्य, प्राह भूयोऽनुसुन्दरः ॥७६३॥
न जातः किं तवाद्यापि, बोधः सुललितेऽनघे । यद् दोलायितचित्ता त्वं, लक्ष्यसे चकितेक्षणा ॥७६४॥
त्वद्बोधार्थमयं भद्रे, मया निर्वेदकारकः । स्वीयः प्रकीर्त्तितः सर्वः, प्रपञ्चो भवगोचरः ॥७६५॥
तदनेन श्रुतेनापि, किं ते चित्ते न जायते । संसारचारके पूर्णे, निर्वेदो दुःखराशिभिः ॥७६६॥

अनुसुन्दरकृतः सुललिताया उपदेशः ।

पुरे मध्यमलागम्ये, मयोक्तं स्वविडम्बनम् । यत्र तत् किं त्वयाऽलक्षि, यद् दधासि भवे रतिम् ॥७६७॥
एकेन्द्रियादिभेदेषु, यश्च तिर्यक्षु कीर्तितः । मयाऽनुभूतो दुःखौघः, स त्वया किं न भावितः ॥७६८॥
यत् त्वं विलम्बसेऽद्यापि, त्यक्तुं संसारचारकम् । किं वा कथानिकामात्रमिदं ते प्रतिभासते ॥७६९॥
मोक्षसाधनयोग्येऽपि, लब्धे मनुजजन्मनि । हिंसाक्रोधवशेनाप्ता, यन्मया दुःखसन्ततिः ॥७७०॥
तथा मानमृषावादस्तेयमायापरायणः । लोभमैथुनदोषान्धो, यदहं भ्रान्तवान् भवम् ॥७७१॥
तदप्याकर्ण्य चित्तं ते, यदि न द्रुतिमागतम् । कठोरं तदहं मन्ये, वज्रसारेण निर्मितम् ॥७७२॥
यत्र बुद्धा मया प्रोक्तौ, दुष्टौ मोहपरिग्रहौ । श्रुत्वाऽगृहीतसंकेतेत्युक्ता तेनासि भूरिशः ॥७७३॥
स्पर्शनादीन्द्रियाणां यः, प्रोक्तो बाले जडे तथा । मन्दे जडेऽतिविरसो, विपाको बालिशेऽपि च ॥७७४॥
सोऽपि चेन्न त्वया बुद्धो, वैराग्यफलशून्यया । काष्ठभूतमहं मन्ये, तन्नूनं तव मानसम् ॥७७५॥
इन्द्रियाणां जयाज्जातं, मनीषिणि विचक्षणे । यद् बुद्धे चोत्तमे चैव, कोविदे च यशः शुचि ॥७७६॥
तदाकलय्य यो नाम, संसारान्न विरज्यते । ततोऽधिको जगत्यस्ति, स्वार्थभ्रष्टो न कश्चन ॥७७७॥
चित्तवृत्तिस्थितं यत् ते, मया प्रोक्तं बलद्वयम् । आभ्यन्तरं सुहृद्बन्धुसमानं मुग्धमानसे ! ॥७७८॥
तद्विलासमपि श्रुत्वा, यदि न प्रतिबुध्यसे । त्वद्बोधकरणोपायस्ततः खकुसुमोपमः ॥७७९॥
श्रुत्वा गरिष्ठां शिष्टत्वनिष्ठां कानकशेखरीम् । आलोच्य तादृशं धर्म्यमुत्साहं नारवाहनम् ॥७८०॥

१ पर्युप–श्री. मु.

विमलं विमलस्येन्दुज्योत्स्नावच्च विजृम्भितम्। त्यागं हरिनरेन्द्रस्य, ध्यात्वा विस्मयकारणम् ॥७८१॥
विवेकमकलङ्कस्य, निष्कलङ्कं विचिन्त्य च। श्रुत्वा मुनीनां वैराग्यकारणानि च नैकधा ॥७८२॥
यदि चित्तं न ते बाले!, विरक्तं भववासतः। ततः कांकटुकप्राया, वर्तसे नात्र संशयः ॥७८३॥
इत्थं ह्यबुध्यमाना त्वं, न रोषं गन्तुमर्हसि। वाचाऽगृहीतसंकेतेत्युच्यमाना बुधैर्जनैः ॥७८४॥
बाले! मदनमञ्जर्या, दशायां यन्मया सह। भोगास्त्वया विलसिताः, पुण्योदयसमर्पिताः ॥७८५॥
भवत्या विस्मृतास्ते किं, यच्च बुद्धा जिनागमे। कुलन्धरान्विता कन्दमुनीन्दोस्तन्न वेत्सि किम् ॥७८६॥
प्राह यं विमलाचार्यः, केवली प्रकटाक्षरैः। भवप्रपञ्चमनन्तं, न विज्ञातस्त्वया स किम् ॥७८७॥
तदुक्तमेव संसारविस्तारं प्रत्यपादयम्। अमुना वाग्विलासेन, बुबोधयिषया तव ॥७८८॥
एकरूपोऽपि संसारिजीवोऽहं प्रविनाटितः। संसारे नाटकाकारे, नानाकारैः स्वकर्मणा ॥७८९॥
तदेनमपि चेच्छ्रुत्वा, महाव्यतिकरं मम। न निर्विण्णाऽसि संसारात्, तत् कुर्मः कां प्रतिक्रियाम् ॥७९०॥
नगराण्यन्तरङ्गाणि, यानि ये तेषु भूभुजः। तद्देव्यो दश तत्कन्याः, प्रत्येकं तद्गुणाश्च ये ॥७९१॥
दिव्यः क्षान्त्यादिकन्यानां, विवाहो यश्च कीर्त्तितः। तत्राष्टौ मातरो याश्च, व्युत्पत्त्यर्थं निवेदिताः ॥७९२॥
तदेतदखिलं श्रुत्वा, यदि बाले! न बुद्ध्यसे। तदा पाषाणभूतायास्तव किं कथ्यतेऽधिकम् ॥७९३॥
किं न स्मरसि तन्मुग्धे!, निर्मलाचार्यसन्निधौ। मत्प्रेमपारतन्त्र्याद् यत्, प्रतिपन्नाऽसि संयमम् ॥७९४॥

कृत्वा ततस्तपः स्वर्गं, प्राप्ताऽसि सुखसन्ततिम्। इहागता परिभ्रम्य, भूयोऽपि भवचक्रके ॥७९५॥
अपार्द्धपुद्गलावर्तं, सम्यग्दर्शनदूषणात्। जिनाद्याशातनातश्च, यद् भ्रान्तोऽहं भवोदधौ ॥७९६॥
चतुर्दशापि पूर्वाणि, विज्ञाय मदगौरवात्। यच्च भूयो निगोदादौ, गत्वाऽहं दुःखितोऽभवम् ॥७९७॥
तदप्याकर्ण्य चित्तं ते, नाभूत् किं रसपिच्छलम्। यत्संवेगाङ्कुरोद्भेद, इहाद्यापि न दृश्यते ॥७९८॥
सूक्ष्मबोधेन वाक्यार्थं, मामकीनमवेहि तत्। बालिके! मा विलम्बस्व, श्रमं मे सफलीकुरु ॥७९९॥
तत्रानुसुन्दरनृपे, वदत्येवं स मूर्च्छितः। पौण्डरीकः पपातोर्व्यां, जाता पर्षत् ससंभ्रमा ॥८००॥
श्रीगर्भो व्याकुलीभूतः, शोकं कमलिनी ययौ। आश्वासितोऽनिलैः सोऽथ, प्रबुद्धः पितरं जगौ ॥८०१॥
अनुसुन्दरराजोऽयं, स्वस्य पूर्वं त्वदागमात्। वैक्रियं तास्करं रूपं, बिभ्रत् प्रोचे भवभ्रमम् ॥८०२॥
अनाख्येयस्ततोऽभून्मे, बुद्ध्यमानस्य सम्मदः। चैतन्यनिःसहस्याथ, जाता जातिस्मृतिः स्फुटा ॥८०३॥
प्राग्भवेऽभूममस्याहं, मित्रं नाम्ना कुलन्धरः। तदा भवप्रपञ्चोऽस्य, श्रुतो निर्मलसूरितः ॥८०४॥
स एवायमनेनेत्थमाख्यात इति भावनात्। विरक्तोऽहं भवावासादनुजानीत तेन माम् ॥८०५॥
येन गृह्णाम्यहं दीक्षामनेनैव सहाद्भुताम्। तदाकर्ण्य प्ररुदिता, कमलिन्युग्रदुःखतः ॥८०६॥
प्राह श्रीगर्भराजोऽथ, मा रोदीर्दिव्ययं यतः। शुद्धधर्मकरो जातः, स्वमस्यैवानुसारतः ॥८०७॥
तत्रास्य धारणं युक्तमनुव्रजनमावयोः। घटते किन्तु निर्मिथ्यस्नेहसूचनचंचुरम्[1] ॥८०८॥

---

1 चंचुरम्-रम्।

बालश्चेत् कुरुते धर्ममेष भोगोर्मिसंमुखः। स्थातुं न युक्तं तद्भोगोत्तीर्णयोरावयोर्भवे ॥८०९॥
ततः कमलिनी प्राह, प्रतिभातमिदं मम। चारूदितं त्वया राजन्!, युक्तमेतत् किलावयोः ॥८१०॥
ततोऽनुज्ञाय पुत्रं तं, तौ देवीक्षितिवासवौ। गृहीतुमुद्यतौ दीक्षामभूतां दृढनिश्चयौ ॥८११॥
अथ भूपसुता सा तैरनुसुन्दरभाषितैः। द्राविता प्रेक्ष्य चोद्भ्रान्ता, पुण्डरिकादिचेष्टितम् ॥८१२॥
प्रत्यब्रवीन्महाभद्रां, साऽनुतापा कृताञ्जलिः। किं कृतं प्राग् मया पापं, येन जाताऽहमीदृशी ॥८१३॥
धन्यो राजसुतोऽयं यो, बुद्धो भवकथामिमाम्। श्रुत्वा पापा न बुद्ध्येहं, बोद्धुकामाऽपि किं ततः ॥८१४॥
त्रयाणामपि धन्यानां, प्रत्ययो ज्ञानपूर्वकः। एषां स्फुटः प्रादुरभूदनुसुन्दरवाक्यतः ॥८१५॥
अहं पुनर्न जानेऽस्मिन्, मामुद्दिश्य वदत्यपि। शून्या ग्रासेयकाकारा, किं करोम्यन्धसन्निभा ॥८१६॥
महाभागे! स्वयं ज्ञात्वा, पृष्ट्वा यद्वा सदागमम्। तदिदं कस्य पापस्य, चेष्टितं मेऽखिलं वद ॥८१७॥
ततस्तां तादृशीं दृष्ट्वा, बाष्पपिच्छललोचनाम्। कृपार्द्रः क्षितिभृत्पुत्रीमब्रवीदनुसुन्दरः ॥८१८॥
मुग्धे! जिज्ञासितं भावमहमेव ब्रवीमि ते। भगवत्या श्रमितया, सूतमत्र प्रयोजने ॥८१९॥
गुणधारणराजेन, मया मदनमञ्जरी। सार्द्धं प्रव्रजिताऽभूस्त्वं, तदाऽभ्यस्तः क्रियाभरः ॥८२०॥
तप्तं त्वया तपस्तीव्रं, धृतेयं किन्तु दुर्मतिः। इष्टं यदेकं तत् कार्यं, किं प्रपञ्चेन भूयसा ॥८२१॥
ततः स्वाध्यायपाठस्ते, हृदये न सुखायितः। रुचिता वाचना नोच्चैः, प्रच्छना नानुशीलिता ॥८२२॥

सुललिताया अबोधस्य कारण-पृच्छा।

न परावर्तनाऽभीष्टा, नानुप्रेक्षाऽप्यनुष्ठिता । न धर्मदेशना दत्ता, प्रचला परिशीलिता ॥८२३॥

स्वाध्यायोद्वेगतो मौनव्रतमेवादृतं परम् । न तत्राभिनिवेशोऽभून्न कृता प्रत्यनीकता ॥८२४॥

नान्तरायः कृतो ज्ञाने, न तद्घातोऽपि निर्मितः । तत्प्रद्वेषो न विहितो, न तस्याकारि निह्नवः ॥८२५॥

केवलं ज्ञानशैथिल्यात्, प्रमादाद् दुर्द्धिया तया । कृता लवीयसी सेयं, श्रुतस्याशातना त्वया ॥८२६॥

तत्प्रमादादसंख्येयं, कालं भ्रान्ता भवोदधौ । जाता चैवंविधाऽसि त्वं, जडधीरविशेषवित् ॥८२७॥

भावाः किं चानुवर्तन्ते, प्राग्भवाभ्यासतोऽङ्गिनाम् । पुरुषद्वेषिणी जाता, यत् त्वं मदनमञ्जरी ॥८२८॥

तथैवापि तथाभावाद्, ब्रह्मचर्यैकनिष्ठिता । उच्चैराकारिताऽसि त्वं, ब्राह्मणीति सखीजनैः ॥८२९॥

तत्किं मिलति ते वृत्तं, प्रोचे सुललिता ततः । आर्य ! किं न मिलत्यत्र, भवद्वचनविस्तरे ॥८३०॥

केवलं मन्दभाग्याऽहं, तिष्ठामि तमसा वृता । वितन्यमानेऽप्यालोके, त्वद्वचोरविरश्मिभिः ॥८३१॥

इत्युक्त्वा कर्मपङ्कस्य, क्षालनायैव वृद्धधीः । प्रवृत्ता वर्षितुं बाला, विस्तारि नयनोदकम् ॥८३२॥

ततोऽनुसुन्दरः प्रोचे, मुञ्च खेदं नृपाङ्गजे ! । क्षीणप्रायान्तरायाऽसि, कुरु भक्तिं सदागमे ॥८३३॥

तत्त्वज्ञानमदो भक्तिमूलमेव हि देहिनाम् । धन्याऽसि त्वं समायाता, या सदागमसन्निधौ ॥८३४॥

ततः सुललिताऽमीभिर्वचोभिः पाविताशया । सदागमोऽयमित्युच्चैः, पतिताऽऽचार्यपादयोः ॥८३५॥

जगाद च जगन्नाथ !, त्वमेव शरणं मम । अज्ञानपङ्कमग्नायास्त्वमेवोद्धारकारकः ॥८३६॥

सुललिताया बोधो दीक्षा च ।

सदागमस्य माहात्म्यात्, ततः संवेगगौरवात्। चेतःप्रह्वतया चास्या, बहु कर्म क्षयं गतम् ॥८३७॥
जाता जातिस्मृतिर्दृष्टो, वृत्तान्तः प्राग्भवाश्रयः। पपातोत्थाय हृष्टाऽथ, साऽनुसुन्दरपादयोः ॥८३८॥
जगाद च प्रसादात् ते, भगवत्संनिधेस्तथा। जातिस्मृतिर्ममोत्पन्ना, निर्विण्णाऽस्मि भवोदधेः ॥८३९॥
मन्दभाग्यामपि भवान्, भगवांश्चोद्धार माम्। ततोऽनुसुन्दरः प्रोचे, गुणो भगवतो ह्ययम् ॥८४०॥
स्वभक्तमुद्धरत्येष, लोकमार्ये! न संशयः। बद्धमप्यात्मचौर्येण, य एवं माममोचयत् ॥८४१॥
आनीतो वर्त्मनाऽनेन, नरकप्रस्थितोऽप्यहम्। पापिष्ठा अपि भक्त्याऽस्य, मुच्यन्ते नात्र संशयः ॥८४२॥
कार्या त्वया न कृच्छ्रेण, बुद्धाऽसीत्यवभावना। अकलङ्कादिभिः पूर्वं, यन्नाहमपि बोधितः ॥८४३॥
तथाभव्यतया स्वस्य, पापकर्मव्यये सति। त्वत्तोऽपि ह्यतिकृच्छ्रेण, प्रबुद्धोऽहं जिनागमे ॥८४४॥
कालादिहेतुभिः पापं, यदा जन्तोर्विलीयते। तदाऽसौ बुध्यते तत्त्वं, गुरवः सहकारिणः ॥८४५॥
ततः सुललिता प्राह, विगता मेऽवभावना। किन्तु दीक्षां समादास्ये, पित्रोराज्ञां विना कथम् ॥८४६॥
दीक्षानामापि न ग्राह्यमननुज्ञातया मया। प्रतिज्ञातमिदं ह्यस्ति, पूर्वं ताताम्बयोः पुरः ॥८४७॥
ततोऽनुसुन्दरः प्राह, माऽऽर्ये! मैषीस्तवागतौ। पितरौ बहलः कोलाहलश्चात्रान्तरेऽजनि ॥८४८॥
सुमङ्गलान्वितश्चैत्ये, मनोनन्दनसंज्ञके। राजा मगधसेनोऽथ, प्रविष्टः सपरिच्छदः ॥८४९॥
नत्वाऽर्हन्तं तथाऽऽचार्यं, साधून् सुललितानतः। नत्वाऽनुसुन्दरनृपं, निषण्णोऽसौ तदन्तिके ॥८५०॥

१ –संनिधौ की. मु.।

सुमङ्गलाऽपि विहितनिःशेषप्रतिपत्तिका। स्थिता सुललितामूर्ध्न्याघ्रायालिङ्ग्य तदन्तिके ॥८५१॥
आनन्दगद्गदगिरा, प्राह वत्से! समुत्सुकौ। आवां त्वद्दर्शने त्यक्त्वा, राज्यं त्वत्पार्श्वमागतौ ॥८५२॥
न प्राप्नोति रतिं वत्से!, जनकस्ते त्वया विना। तव स्नेहानले चैष, जनो दंदह्यते सदा ॥८५३॥
वार्ताऽपि नावयोर्दत्ता, भवत्या तु कठोरया। अङ्गारोग्यादिसंसूचाकरी प्रेमाब्धिचन्द्रिका ॥८५४॥
ततः सुललिता प्राह, मातः! किं बहुभाषितैः। निर्मिथ्यो युवयोः स्नेहः, शीघ्रं व्यक्तीभविष्यति ॥८५५॥
अहं दीक्षां ग्रहीष्यामि, नावं संसारवारिधेः। ततो यदि युवां मेऽद्य, वारणं न करिष्यथः ॥८५६॥
ग्रहीष्यथस्तथा दीक्षां, निर्विकल्पं मया सह। यौष्माकीणस्तदा स्नेहः, प्रतीतिमुपयास्यति ॥८५७॥
राजा मगधसेनस्तच्छ्रुत्वा प्राह सुमङ्गलाम्। आदावेव बबन्धेयं, देवि! वत्साऽऽवयोर्मुखम् ॥८५८॥
निर्बन्ध इदं चित्त, दीक्षायां च कुतोऽन्यथा। ईदृग्वचनविन्यासः, स्यादस्या मोहनाशकृत् ॥८५९॥
अनया साधु च प्रोक्तं, युक्तमेवाधुनाऽऽवयोः। सहानया प्रव्रजनं, निर्मिथ्यस्नेहसूचकम् ॥८६०॥
देवार्यत्र प्रमाणं मे, प्राहेत्यथ सुमङ्गला। ततो हृष्टा सुललिता, पतिता पादयोर्द्वयोः ॥८६१॥
तया संक्षिप्य वृत्तान्तः कथितश्चानुसुन्दरः। चारित्रपरिणामोऽभूद्, भावतोऽपि ततस्तयोः ॥८६२॥
तावन्वमोदत गुरुस्ताभ्यां दीक्षार्थमर्थितः। अथोच्छ्सन्महानन्दमहोत्सवमनोहरम् ॥८६३॥
स्फुरज्ज्योतिर्दिग्गुद्योतिदेवसम्पातमद्भुतैः। मुखरं तूर्यनिर्घोषैर्भूरिभव्यैः समाकुलम् ॥८६४॥

मुनिवृन्दैस्तदापूर्णं, स्मयमानमिवाबभौ। अनुसुन्दरराजादिप्रव्रज्याऽवसरे वनम् ॥८६५॥
ततो मगधसेनश्च, श्रीगर्भश्च महीपती। राज्यं पुरन्दरायैव, रक्षायै ददतुः स्वयम् ॥८६६॥
विधिना तानि सर्वाणि, सूरिणा दीक्षितान्यथ। दत्ता संवेगवृद्ध्यर्थं, देशना च सुधोपमा ॥८६७॥
ययुस्तदन्ते स्वस्थानं, देवा लोकाश्च भाविताः। साध्व्योऽपि च महाभद्राऽन्विता गुरुनिदेशतः ॥८६८॥
अथादित्यो ययावस्तं, कृता चावश्यकक्रिया। स्वाध्यायलीनैर्मुनिभिः, प्रदोषश्चातिलङ्घितः ॥८६९॥
लब्ध्वाऽभ्यन्तरसाम्राज्यं, मन्वानः कृतकृत्यताम्। विशुद्धध्यानमारूढो, राजर्षिरनुसुन्दरः ॥८७०॥
ततो विशुद्ध्यमानाभिर्लेश्याभिः स महाशयः। आरुह्योपशमश्रेणीं, शान्तमोहः क्षणादभूत् ॥८७१॥
निर्याणकालं विज्ञाय, तस्मिन्नेव क्षणे स्थिताः। समाधिकारिणोऽभ्यर्णे, मुनयो गुरुशासनात् ॥८७२॥
अत्रान्तरे च तस्यायुः, समाप्तं स ततो वपुः। त्यक्त्वा सर्वार्थसिद्ध्याख्ये, विमानेऽभूत् सुरोत्तमः ॥८७३॥
अनुसुन्दरराज्ञस्तं, ज्ञात्वा व्यतिकरं प्रगे। मिलितः सकलः संघो, विधिनाऽत्याजि तद्वपुः ॥८७४॥
कृता नरामरैः पूजा, तस्य तद्गुणरञ्जितैः। अनुसुन्दरवृत्तान्ते, तूर्णं जातेऽथ तादृशे ॥८७५॥
स्वधर्मदत्वरागेण, प्राग्भवस्नेहतस्तथा। चित्ते सुललिता साध्वी, मनाक् शोकेन पीडिता ॥८७६॥
तस्याः शोकापनोदाय, ततस्ते सूरिवासवाः। शृण्वत्सु सर्वसभ्येषु, वाचमेवं वितेनिरे ॥८७७॥
आर्ये! न शोचनीयोऽसौ, नृशार्दूलो महाशयः। पूर्वकोट्यायुषा साध्यमह्नैकेनाप्यवाप यः ॥८७८॥

नवमः स्तवकः। मगधसेनादीनां दीक्षा

अनुसुन्दरमृत्युः। सुललितायाः शोकापनोदाय उपदेशः।

मर्त्यार्थसिद्धिं संप्राप्तो, नरकाभिमुखोऽपि यः । स कथं शोच्यतामेति, धीरो ध्वस्तद्विपद्दलः ॥८७९॥
जीवन्नपि सतां शोच्यो, नरः संयमदुर्बलः । न पुनः संयमे धीरो, मृतोऽप्यानन्दभाजनम् ॥८८०॥
सद्धर्मधनयुक्तस्य, मरणेऽपि महोत्सवः । बिभेति मृत्योः स पुनर्यो धर्मधनवर्जितः ॥८८१॥
ज्ञानदर्शनचारित्रतपोरूपाऽऽत्मजीवितम् । आराधनाचतुःस्कन्धा, यस्य स्यात् तस्य किं मृतम् ॥८८२॥
प्रक्षालितावपङ्का ये, मृताः पण्डितमृत्युना । सतां ते हर्षदातारो, न तु शोच्याः कदाचन ॥८८३॥
सिद्धस्वकार्य इत्यार्ये !, न शोच्यस्तेऽनुसुन्दरः । अनुमोद्यः परं धर्मधीरः कल्याणभाजनम् ॥८८४॥
च्युत्वा स्थितिक्षयात् तस्मात्, पुष्करार्धस्य भारते । गान्धारराजपुत्रोऽसावयोध्यायां भविष्यति ॥८८५॥
नाम्ना चामृतसारोऽसौ, पद्मिनीहृदयप्रियः । लास्यत्युद्यौवनो दीक्षां, विपुलाशयसन्निधौ ॥८८६॥
कृत्वा तीव्रं तपो हत्वा, ततः कर्मकदम्बकम् । भवप्रपञ्चं संत्यज्य, शिवसद्मनि यास्यति ॥८८७॥
तत् सर्वथा प्रमोदस्य, कारणं भव्यदेहिनाम् । आर्येऽनुसुन्दरो नैव, शोकसन्तापकारणम् ॥८८८॥ अनुसुन्दरस्यागामिनि भवे मोक्षः ।
पौण्डरीकमुनिः प्राह, प्रणम्यात्रान्तरे गुरून् । भावि वृत्तमिदं नाथैस्तस्य प्रोक्तं महात्मनः ॥८८९॥
चित्तवृत्तौ पुनर्भावि, किमिति प्रतिपाद्यताम् । गुरुराह भवे तत्रामृतसारमहात्मनः ॥८९०॥
क्षान्तिर्दया च ये कान्ते, मृदुतासत्यते च ये । ऋजुताचौरते ये च, ये ब्रह्मरतिमुक्तते ॥८९१॥
विद्यानिरीहते ये च, यच्च लीनं पुरा स्थितम् । सैन्यं चारित्रधर्माद्यं, तत् सर्वं पार्श्वमेष्यति ॥८९२॥

प्रियाश्चान्या धृतिः श्रद्धा, मेधा विविदिषा सुखाः । मैत्रीप्रमुदितोपेक्षाविज्ञप्तिकरुणादिकाः ॥८९३॥
सुखं तस्य प्रदास्यन्ति, भावराज्यं स लप्स्यते । करिष्यति गुणैः शुभ्रैश्चित्तवृत्तिं सुनिर्मलाम् ॥८९४॥
आरूढः क्षपकश्रेणिं, ततश्चैष महाबलः । निहत्य घातिलुण्टाकान् , केवलालोकमाप्स्यति ॥८९५॥
अनुगृह्य ततो विश्वं, समुद्घातं विधाय च । योगान्निरुध्य शैलेशीं, प्राप्य यास्यति निर्वृतौ ॥८९६॥
तस्यां च भोक्ष्यते पुर्यां, भावराज्यफलं महत् । अनन्तज्ञानसम्यक्त्ववीर्यानन्दविलासभाग् ॥८९७॥
इतश्च तेन दुर्भार्या, त्यक्ता सा भवितव्यता । परिक्षीणे महामोहबले शोकं करिष्यति ॥८९८॥
मोहादीनां कृतः पक्षो, जानत्याऽप्यस्थिरो यया । मया भग्नाशया प्राप्तं, तया यद्दीयतेऽर्भकैः ॥८९९॥ इदं च तत् ।
"ध्रुवाणि यः परित्यज्य, अध्रुवाणि निषेवते । ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव च" ॥९००॥
मुह्यत्येव जनः सर्वो, यद्वा स्वीयप्रयोजने । तत् को दोषो ममेत्येषा, प्रहास्यत्यवभावनाम् ॥९०१॥
आन्तरं तदिदं प्रोक्तमानुसुन्दरचेष्टितम् । श्रुत्वेदं मुदिताः सर्वे, पुण्डरीकादिसाधवः ॥९०२॥
जहौ सुललिता शोकं, संविग्ना च व्यचिन्तयत् । पूर्वाबोधमपेक्ष्याहं, यथाऽस्मि गुरुकर्मिका ॥९०३॥
तदिदं जीवरत्नं मे, विना तीव्रतपोऽग्निना । न शुद्ध्यतीति संचिन्त्य, सा गुरूणामनुज्ञया ॥९०४॥
कर्तुं तपांसि कष्टानि, प्रवृत्ता विपुलोद्यमा । तद्गात्रं रत्नकनकावलीश्रीपात्रतां ययौ ॥९०५॥
लघुभिश्च महद्भिश्च, सिंहनिष्क्रीडितैस्तथा । त्रासिताः कर्मणां भेदाः, कलभा यूथपास्तथा ॥९०६॥

तस्या भद्रामहाभद्रे, सर्वतोभद्रिका तथा। भद्रोत्तरा च प्रतिमा, भद्राद्वैतं वितेनिरे ॥९०७॥
आचाम्लवर्धमानेन, भावसायुज्यमीयुषा। प्रवर्धमानस्तद्भावः, प्लावयामास पातकम् ॥९०८॥
चान्द्रायणं चरन्त्या च, चन्द्रिकासमया तया। द्योतितं स्वकुलव्योम, ध्वस्तं च ध्वान्तमान्तरम् ॥९०९॥
संसेव्य यवमध्यानि, वज्रमध्यानि चादरात्। निःस्पृहा मोक्षमार्गस्य, मध्यमध्यासितेव सा ॥९१०॥
एवमादितपोभिः सा, क्षालयन्ती स्वकल्मषम्। वाहिनीव स्थिता शुद्धध्यानपूरप्रवाहिनी ॥९११॥
इतश्च पौण्डरीकोऽपि, कृतश्रुतदृढोद्यमः। जातः क्रमेण गीतार्थो, भावितात्मा जितेन्द्रियः ॥९१२॥
पप्रच्छ सारं जिज्ञासुस्ततोऽसौ विनयाद् गुरुम्। भगवन्! द्वादशाङ्गस्य, किं सारमिति कथ्यताम् ॥९१३॥
समन्तभद्रगुरवस्ततः प्राहुर्महाशयाः। ध्यानयोगो विनिर्दिष्टः, सारोऽत्र जिनशासने ॥९१४॥
साधूनां श्रावकाणां च, मूलोत्तरगुणैः क्रिया। घटिता निखिला बाह्या, ध्यानयोगार्थमीरिता ॥९१५॥
मनःप्रसादो मुक्त्यर्थं, साध्यः खलु मनीषिणा। ऐकाग्र्यापरपर्यायो, ध्यानयोगः स एव च ॥९१६॥
विषयान्तरसंचारनिरोधात् तच्च जायते। आलम्बनं तदर्थं च, मन्यते नैष्ठिकी क्रिया ॥९१७॥
श्रुत्वा पैशाचिकाख्यानं, कुलवध्वाश्च रक्षणम्। नित्यं संयमयोगेषु, व्यापृतात्मा भवेन्मुनिः ॥९१८॥
आत्मारामतया यस्तु, व्युत्थानं न प्रपद्यते। तस्य बाह्यक्रियासाध्यं, सिद्धमेव तदुच्यते ॥९१९॥
आरुरुक्षुर्मुनिर्ध्यानं, श्रयेद् बाह्यक्रियामपि। ध्यानारूढः शमादेव, शुध्यत्यन्तर्गतक्रियः ॥९२०॥

जिनशासनस्य सारो ध्यानयोगः

१ –र्गस्य की. मु.।

ध्यानयोगः शुभः सारः, सर्वप्रवचनस्य तत्। शेषानुष्ठानमप्यूह्यं, सारं तस्याङ्गभावतः ॥९२१॥
श्रुत्वा गुरोरिमां वाचं, पौण्डरीकमहामुनिः। कृताञ्जलिः पुनः प्रोचे, स्वशङ्काऽपनिनीषया ॥९२२॥
भदन्त! मोक्षमार्गेऽभूद्, बाल्येऽपि मम कौतुकम्। ततः पृष्टा मया सर्वे, तद्रहस्यं कुतीर्थिकाः ॥९२३॥
ततस्तैः कथितं तत्त्वं, परस्परविलक्षणम्। तथा ह्येके जगुः सर्वे, हिंसादि क्रियतामिह ॥९२४॥
केवलं बुद्धिलेपोऽत्र, रक्षणीयो मुमुक्षुणा। कर्मण्यकर्मविज्ञाने, कुतः कर्म यदुच्यते ॥९२५॥
"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान् मनुष्येषु, स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥९२६॥ तथा–
"यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत्। आकाशमिव पङ्केन, नासौ पापेन लिप्यते" ॥९२७॥
अन्येऽभ्यधुर्विधायापि, पापं ये देहधारिणः। महेश्वरं स्मरन्त्यन्तस्ते मुच्यन्ते न संशयः ॥९२८॥ यतः–
छिन्त्वा भित्त्वा च भूतानि, कृत्वा पापशतानि च। स्मरन् देवं विरूपाक्षं, सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥९२९॥
विष्णुध्यानमुदाजह्रुः, परे पापविशुद्धये। पवित्रं परमानन्ददायकं यदिदं स्मृतम् ॥९३०॥
अपवित्रः पवित्रो वा, सर्वावस्थागतोऽपि वा। यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥९३१॥
ऋचमन्ये तु गायत्रीं, प्राहुः पापनिबर्हणीम्। मोक्षस्य साधनं प्राहुरन्ये वायुजयं बुधाः ॥९३२॥
हृदि स्थितं यद्ध्यानेन, पुण्डरीकं विजृम्भते। विकस्वरदलं रम्यं, मनोऽलिसुखदायकम् ॥९३३॥
पदे मनोऽलिः परमे, तद्द्वारेण निलीयते। लक्ष्यते तस्य यो नादस्तत् तत्त्वमपरे जगुः ॥९३४॥

रेचकं पूरकं चैव, कुम्भकं च तथा परे। अस्यैव पुण्डरीकस्य, प्राहुर्वायुं विघाटकम् ॥९३५॥
विशुद्धं बिन्दुमेवाहुरन्ये तु स्फटिकोपमम्। ज्ञानहेतुं प्रसर्पन्तं, तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ॥९३६॥
नासाग्रे भ्रलतामध्ये, बिन्दुमेव तथाऽपरे। तुषारहारविमलं, ध्येयमाहुश्चलस्थिरम् ॥९३७॥
आग्नेये मण्डले स स्यान्मीलितो(ते) रक्तवर्णकः। माहेन्द्रे पीतकः कृष्णो, वायव्ये वारुणे सितः ॥९३८॥
पीतः सुन्दरचित्तेन, रक्तस्तापेषु चिन्त्यते। कृष्णोऽभिचारके कार्ये, पुष्टिदो धवलो मतः ॥९३९॥
प्राहुः परे तु संशोध्यौ, नाडीमार्गौ मुमुक्षुणा। इडापिङ्गलयोर्ज्ञेयं, नाड्योः संचारकर्म च ॥९४०॥
नाडीचक्रप्रचारश्च, विज्ञेयो दक्षिणेतरः। तद्द्वारैव च विज्ञेयं, बहिः कालबलादिकम् ॥९४१॥
ओंकारोच्चारणादेव, घण्टानादायतात् परे। पद्मासने निविष्टस्य, शान्तिप्राप्तिं समभ्यधुः ॥९४२॥
अन्ये तु प्राहुरानाभेः, प्राणतन्तुं शनैः शनैः। मूर्धान्तस्तालुरन्ध्रेण, निर्गच्छन्तं विचिन्तयेत् ॥९४३॥
स्थितं हृदयराजीवे, मण्डले वा त्रयीतनोः। पुमांसमाद्यं निष्पापं, प्राहुर्ध्येयतया परे ॥९४४॥
पुमांसं परमं ध्येयं, नित्यं हृद्व्योम्नि संस्थितम्। अपरे विलसत्कान्तिलताकीर्णं विदुर्बुधाः ॥९४५॥
आकाशमात्रमपरे, विश्वमन्ये चराचरम्। आत्मस्थं चिन्त्यमित्याहुरपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥९४६॥
इत्थं च भगवद्भिर्मे, ध्यानयोगो यथोदितः। सारस्तीर्थ्यैरपि तथा, स एव प्रतिपादितः ॥९४७॥
भवेयुस्तीर्थिका मुक्तेस्तत् किं सर्वेऽपि साधकाः। साध्ये मोक्षे तथैकस्मिन्, केयं ध्येयविभिन्नता ॥९४८॥

१ सुदिग्गम डे. ना. की. मु.। २ त्रयीतनुरादित्य।

छित्त्वेदं वाक्कुठारेण, सन्देहं गहनं मम। मोक्षमार्गं वितिमिरं, विधातुं यूयमर्हथ ॥९४९॥
समन्तभद्रगुरवस्ततः प्राहुर्महाधियः। आर्य ! त्वमल्पगीतार्थस्तत्तात्पर्यं न बुध्यसे ॥९५०॥
तीर्थ्याः सर्वेऽपि खल्वेते, कूटवैद्यसमा मताः। सद्वैद्यजिनशास्त्रार्थपल्लवग्रहगर्विताः ॥९५१॥
प्रोच्यन्ते भ्रान्तिनाशार्थमत्र वैद्यकथा यथा। एकस्मिन् नगरे भूरिरोगग्रस्तजनाकुले ॥९५२॥
एक एव महावैद्यो, दिव्यज्ञान्यस्ति कश्चन। संहितानां समस्तानां, स्रष्टा रोगौघनाशकः ॥९५३॥
नाधन्यत्वेन तल्लोकाः, प्रपद्यन्ते तथापि तम्। ये केऽपि धन्यमूर्द्धन्याः, प्रपद्यन्ते त एव तम् ॥९५४॥
स च दत्ते स्वशिष्येभ्यस्तद्व्याख्यानमनारतम्। अन्यधूर्तैरुपश्रुत्या(त्य), तत्प्रसङ्गागतैर्धृतम् ॥९५५॥
ततस्तल्लवमात्रेण, तुष्टैस्तैर्वैद्यकं कृतम्। स्वपूजार्थमधन्यानां, प्रतिभातं च तन्नृणाम् ॥९५६॥
ततस्तैः पण्डितंमन्यैः, रचिताः स्वस्वसंहिताः। वचांसि ग्रथयामासुः, केचित् तासु नवान्यपि ॥९५७॥
धृतानि तान्युपश्रुत्या, सद्वैद्यवचनानि च। कानिचित् स्थापयामासुस्तथा भङ्ग्यन्तरेण च ॥९५८॥
सद्वैद्यवचनेभ्योऽन्यैरतिपाण्डित्यमानिभिः। एकान्तवैपरीत्येन, संहिता रचिता ध्रुवम् ॥९५९॥
लोकाः पृथक् पृथग् भिन्नरुचयस्ते च रोगिणः। केषांचित् केचिदेवेष्टाः, कूटवैद्येषु तेष्वतः ॥९६०॥
प्रसिद्धा वैद्यशालास्ताः, सर्वाः शिष्यप्रतीच्छकैः। महावैद्याश्च तेऽभूवन् , सर्वे पाठितसंहिताः ॥९६१॥
ततो मौलमहावैद्योऽनादृतो बहुभिर्जनैः। कुर्वते तत्क्रियां ये च, ते भवन्त्येव नीरुजः ॥९६२॥

यथा जीवति मद्वैद्ये, तस्मिन् रोगाः क्षयं ययुः । तस्यां सुवैद्यशालायां, क्रियाविधिकृतां नृणाम् ॥९६३॥
तथा मृतेऽपि तस्मिन् सा, जाता रोगविनाशिनी । शाला सकललोकानां, सविनेया ससंहिता ॥९६४॥
ये पुनः कूटवैद्यानां, रोगिणः शरणं गताः । अनाथा रोगजालेन, पीडिता एव ते मृताः ॥९६५॥
जीवन्सु तेषु तच्छाला, यथाऽनर्थकरी नृणाम् । मृतेष्वपि तथैवाभूत् , सशिष्या च ससंहिता ॥९६६॥
यश्च तास्वपि केषांचिद् , वैद्यशालासु दृश्यते । रोगाणां तानवाद् दैवात् सर्वमोक्षेण वा गुणः ॥९६७॥
सोऽपि सद्वैद्यशास्त्राब्धिगृहीतवचसां गुणः । एकान्तविपरीतानां, संहितासु च सोऽपि न ॥९६८॥
किमन्यत् सा महावैद्यशालैका रोगनाशिनी । तत्संहितानुसारात् तु शेषा अपि तथाविधाः ॥९६९॥
महावैद्यो हि जानीते, दोषं तच्छमनं तथा । कूटवैद्या न जानन्ति, स्वयं तत्त्वविरोधतः ॥९७०॥
गुणो घुणाक्षरन्यायाद् , यश्च तेभ्योऽपि जायते । सद्वैद्य एव तत्रापि, तत्त्वनीत्या चिकित्सकः ॥९७१॥
तदियं ते समासेन, मया वैद्यकथोदिता । पुण्डरीकोपनीयैनां, व्यक्तं भावं वदामि ते ॥९७२॥ कथाया उपनयः ।
संसारो नगरं ज्ञेयो, भावरोगिजनाकुलः । तत्रैकश्च महावैद्यः, सर्वज्ञो जगदीश्वरः ॥९७३॥
उत्पन्नकेवलालोकः, शुद्धसिद्धान्तसंहितः । रोगजातप्रविध्वंसी, सर्वलोकोपकारकृत् ॥९७४॥
तथापि गुरुकर्माणस्तमधन्याः श्रयन्ति न । किन्तु धन्यतमाः क्षीणपापाः स्तोकाः श्रयन्ति तम् ॥९७५॥
स यदोपदिशत्युच्चैर्धर्मं पर्षदि हर्षदम् । सदेवासुरमर्त्यायां, विनेयेभ्यो जगद्गुरुः ॥९७६॥

देवासुरनरास्तत्र, प्रसङ्गेनागतास्तदा। शृण्वन्ति देशनां केचिन्मिथ्यात्वक्लिष्टमानसाः ॥९७७॥
श्रुत्वा मन्दधियस्तां ते, गम्भीरां विविधैर्नयैः। कल्पयन्त्यन्यथैवार्थं, स्वीयभावानुसारतः ॥९७८॥
ततो जिनमहावैद्यादुपश्रुत्य बहिर्गताः। कूटवैद्यसमानास्ते स्वशास्त्राणि प्रकुर्वते ॥९७९॥
तीर्थ्याः केचन सांख्याद्यास्तत्र ये तावदास्तिकाः। ग्रन्थेषु जैनवाक्यानि, तैर्बद्धानि कियन्त्यपि ॥९८०॥
अर्हद्वाक्यान्यथात्वेन, स्वयं शेषं च कल्पितम्। कूटवैद्यैरिवाशेषं, निजपाण्डित्यदर्पतः ॥९८१॥
तच्छास्त्राण्यपि राजन्ते, ततोऽर्हद्वचनश्रिया। कण्टकानां वनानीव, मध्यस्थैराम्रपादपैः ॥९८२॥
बार्हस्पत्यादयो ये तु, नास्तिकाः पापबुद्धयः। विकल्पितं-विपर्यस्तं, सर्वं तैर्जिनशासनात् ॥९८३॥
कुतर्कवादमौखर्यार्जने तेऽपि तथाविधे। गताः प्रसिद्धिं चौराणां, प्रागल्भ्यं हि महत्तरम् ॥९८४॥
तीर्णा(र्थ्या)यथाऽऽशयं ते च, नानारुचिभृतां नृणाम्। केषांचित् केचिदेवेह, प्रतिभान्ति न चापरे ॥९८५॥
कणभक्षाक्षपादाद्याः, शास्त्रकर्माणि यान्यथ। शिष्येभ्योऽदर्शयंस्तेभ्यो, वैद्यशालेयमुत्थिता ॥९८६॥
इत्थं च जिनसद्वैद्यशालायां कर्मरोगिणः। धन्याश्चिकित्सां कुर्वाणा, भवन्त्येव हि नीरुजः ॥९८७॥
आस्तिकेषु च तीर्थेषु, कर्मरोगस्य तानवम्। यद् दृश्यते यश्च सर्वमोक्षो वा श्रूयते क्वचित् ॥९८८॥
सोऽपि स्वशास्त्रबद्धानां सर्वज्ञवचसां गुणः। अपुनर्बन्धकस्य स्यात्, तद्रुच्या कर्मतानवम् ॥९८९॥
अनुष्ठानं हि तस्योक्तं, चित्रं दर्शनभेदतः। त्यक्तविप्रतिपन्नाशं, पर्यवस्यत् फलोदये ॥९९०॥

नम्य सर्वकृतास्यत्वादहिंसाद्येव सम्मतम्। तत्त्वं निरञ्जनो देवो, गुरुर्ग्रन्थविवर्जितः ॥९९१॥
इत्थं सदोषसंज्ञानात्, सत्यार्थपदगोचरे। सूक्ष्मबोधं विनाऽपि स्यात्, कर्मरोगस्य तानवम् ॥९९२॥
अतिशुद्धिवशाद् भावसम्यक्त्वादिक्रमेण तु। जायेत सर्वमोक्षोऽपि, जिनवाक्यानुसारिणाम् ॥९९३॥
यथा जातिमगदीनां, वचो जैनं हृदि स्थितम्। तेषामास्तिकतीर्थ्यानां, कर्मरोगं क्षयं नयेत् ॥९९४॥
दोपत्रयं शरीरस्थं, यथा वैद्यश्चिकित्सति। रागद्वेपमहामोहांस्तथा सर्वज्ञ एव हि ॥९९५॥
चिकित्सा कर्मरोगाणां, जिनवैद्यं विना न तत्। आस्तिकेष्वपि तीर्थेषु, सा हि सर्वज्ञपूर्विका ॥९९६॥
एकान्तविपरीता ये, नास्तिका जिनशासनात्। एकान्तेनैव पापास्ते, भवभ्रमणहेतवः ॥९९७॥
अर्थकामकगृद्धानां, तथाऽपि प्रतिभान्ति ते। क्लिष्टाशयानां जन्तूनां, नास्तिकाः साम्प्रतेक्षिणः ॥९९८॥
तदेवं निर्गतान्यार्यतीर्थानि जिनशासनात्। शेषाणि व्यापकं चैकं, विज्ञेयं जिनशासनम् ॥९९९॥
इत्थं च वर्तते रागद्वेषमोहविरोधि यत्। सत्यं भूतदया ब्रह्म, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥१०००॥
औदार्यं सुन्दरं वीर्यमाकिञ्चन्यमलोभता। गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं, ध्यानमन्यच्च तादृशम् ॥१००१॥
आस्तिकेष्वपि [1]तीर्थेषु, तत्र स्वरूपेण सुन्दरम्। किन्तु नो राजते तेषु, यथा याचितभूषणम् ॥१००२॥
तदि स्वकल्पितैः शेषैः, सर्वज्ञवचनातिगैः। यागहोमादिभिः सार्द्धं, मीलितं न विराजते ॥१००३॥
एकग्रन्थप्रबन्धस्य, कूटवाक्यार्थमुद्रया। सर्वांशशुद्धबोधस्याहेतुत्वात् तन्न सुन्दरम् ॥१००४॥

1 तीर्थेषु डे. शा. की. मु.।

जैनदर्शनस्य व्यापकता

विवेकेन गृहीतं तु, स्यात् स्वरूपेण सुन्दरम् ॥१००५॥

हंसेनेव जलात् क्षीरमपुनर्बन्धकेन तत्। निहन्यते न सिद्धान्ते, यथा मिथ्यात्विसंग्रहात् ॥१००६॥

इत्थं स्वरूपशुद्धत्वं, तत्रान्यपदमिश्रणात्। तन्मूलपूर्वजलधेर्भवत्याशातना ध्रुवा ॥१००७॥

अत एवान्यशास्त्रस्य, सत्यार्थपददूषणे। जैनतीर्थे स्थितं ज्ञेयं, न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥१००८॥

तदेवं सर्वतीर्थेषु, भावात् सर्वगुणात्मकम्। साधयेयुर्ध्यानबलाचारु तत्रेदमुत्तरम् ॥१००९॥

अतो यदुक्तमार्येण[1], मोक्षं किं तीर्थिका अपि। शुद्धं पुनरनुष्ठानं, न स्यात् सिद्धान्तमन्तरा ॥१०१०॥

शुद्धानुष्ठानविकलं, ध्यानं हास्यं विवेकिनाम्। यश्च स्यात् स तु भावेन, वर्तते जिनशासने ॥१०११॥

सर्वोपाधिविशुद्धात्मा, तीर्थिकोऽपि कथंचन। भवच्छिदो भवन्त्येव, तत्रस्थास्तीर्थिका अपि ॥१०१२॥

जैनेन्द्रमेव तेनैकं, शासनं भवनाशनम्। प्रयुक्तं कूटभिषजाऽप्याप्तवैद्यस्य सम्मतम् ॥१०१३॥

आरोग्यकारि दोषच्छिद्, यथा लोके सुभेषजम्। परशास्त्रस्थमपि तज्जिनवैद्यस्य सम्मतम् ॥१०१४॥

तथा घुणाक्षरन्यायाद्, वचनं गुणकारि यत्। अतो घुणाक्षरन्यायात्, तादृग् योग्यतयेष्यते ॥१०१५॥

कुसम्प्रदायापतिताद्, यत्नात् तन्न गुणावहम्। गुणकृद् भावजैनानामतस्तत् सम्मतं सताम् ॥१०१६॥

साऽवच्छिनत्ति तस्येष्टहेतुतां चानुमोद्यताम्। यतिश्रावकरूपेण, तज्जिनाज्ञाबहिश्चरम् ॥१०१७॥

क्रियते यत् पुनः कर्म, चित्तमालिन्यकारकम्। सर्वथा भावहीनस्तु, स ज्ञेयो भववृद्धिकृत् ॥१०१८॥

व्यवहारोऽपि गुणकृद्, भावोपष्टम्भतो भवेत्।

---

1 यदुक्तमार्गेण की. मु.।

भावतीर्थं समालम्ब्य, व्यापकं जैनमित्यदः । जनास्तरन्ति दुःखाब्धिं, पर्याप्तं वेपचिन्तया ॥१०१९॥
यन्न ते ध्येयनानात्वमस्ति संसार(शय)कारणम् । तत्रापि परमार्थोऽयं, निश्चयायानधार्यताम् ॥१०२०॥
बध्नाति भावैः संक्लिष्टैः, पापं पुण्यं तथेतरैः । आत्मा समाहितोऽत्यन्तमौदासीन्येन मुच्यते ॥१०२१॥
स्वभाव एव जीवस्य, यत् तथा परिणामभाग् । बध्यते पुण्यपापाभ्यां, माध्यस्थ्यात्तु विमुच्यते ॥१०२२॥
तत्र हिंसाद्यनुष्ठानाद्, भवन्ति भ्रमकारकात् । संक्लिष्टाश्चित्तकल्लोला, देहेऽपथ्याद् यथा गदाः ॥१०२३॥
तथा दयाद्यनुष्ठानाज्जायन्ते स्थैर्यकारकात् । प्रशस्ताश्चित्तकल्लोला, यथा पथ्यात् सुखासिकाः ॥१०२४॥
चित्तजालोपसंहारि, ध्यानं यत् पुनरुत्तमम् । निर्जरामात्रजनकं, तदौदासीन्यमिष्यते ॥१०२५॥
भवेन्नानाविधोपायैश्चित्तजालोपसंहृतिः । भावतीर्थे स्थितस्यातो, ध्येयभेदो न दुष्यति ॥१०२६॥
बहिःशुद्धक्रियाध्येयैर्यन्मोक्षाय मुमुक्षवः । नानाविधैः प्रगल्भन्ते, माध्यस्थ्यं तत्र कारणम् ॥१०२७॥
किन्तु जीवस्य जायन्ते, यथा चेतःप्रसत्तये । परमात्मादयो ध्येया, नैव विन्ध्यादयस्तथा ॥१०२८॥
यौ सालम्बनभेदेन, स्वसंवेदनशालिना । चेतःशुद्ध्यन्यथाभावौ, प्रत्याख्येयौ न तौ पुनः ॥१०२९॥
नानारुचित्वाज्जीवानां, ततो माध्यस्थ्यशालिनाम् । विन्ध्यादयोऽपि केषांचिद्, भवेयुश्चित्तशोधकाः ॥१०३०॥
विज्ञायापि च ये तत्त्वं, लुब्धाः मन्तोऽर्थकामयोः । असदालम्बना योगाभिमानान् मुग्धमानसे ॥१०३१॥
कोटरान्तःप्रविष्टानां, घूकानां भास्करोदये । यादृक् तादृक् किल ज्ञेयं, तेषां ज्ञानं महात्मभिः ॥१०३२॥

१ कान्दुरुन्-की. मु. ।

अज्ञानध्वान्तनिहतास्ते हि दृक्प्रसरं विना। कौशिका इव तिष्ठन्ति, लीनाः संसारकोटरे ॥१०३३॥
परिस्फुरति योगार्के, दीप्ते ज्ञानमहोभरैः। अर्थकामस्पृहाध्वान्तं, कुतस्तिष्ठति मानसे ॥१०३४॥
ततो निरीहचित्तानां, विन्द्वाद्यालम्बनादपि। माध्यस्थं योगिनामिष्टं, वैराग्यलवशालिनाम् ॥१०३५॥
कुतीर्थिकैरतो येऽमी, ध्येयभेदाः प्रकीर्तिताः। ते जैनमतपाथोधौ, यान्ति निस्यन्दबिन्दुताम् ॥१०३६॥
तत्कूटवैद्यशालावत्, परदर्शनसन्ततिः। ज्ञेया तथा स्वरूपेण, कर्मरोगविवर्द्धनी ॥१०३७॥
तत्रस्थानां पुनर्यत् स्यात्, कर्मरोगस्य तानवम्। कर्मरोगक्षयो वा यः, स सर्वज्ञवचोगुणः ॥१०३८॥
तस्मात् सद्वैद्यशालेयं, सिद्धा जैनमतस्थितिः। आकालं निश्चला पूता, द्वादशाङ्गी सुसंहिता ॥१०३९॥
दोषच्छेदकरं लोके, यत्किञ्चिद् दृश्यते वचः। तद् गुणाश्रयभूतायामस्यामेव प्रतिष्ठितम् ॥१०४०॥
बुद्ध्यलेपेन[1] हिंसादिसौद(न्द)र्यादिवचश्च यत्। हास्यं विवेकिनां तत्तु, तीर्थिकानामयुक्तिकम् ॥१०४१॥
श्रुत्वेदं सद्गुरोर्वाक्यं[2], पुण्डरीकमुनिः पुनः। अब्रवीत् तत्त्वरत्नस्य, सर्वांशपरिशुद्धये ॥१०४२॥
यथा ब्रूमो वयं स्वामिन्!, व्यापकं जिनशासनम्। तीर्थ्या अपि तथा ब्रूयुः, स्वतीर्थं चेत् किमुत्तरम् ॥१०४३॥
देवे धर्मे निजे तत्त्वे, मोक्षे चाभिनिवेशिनः। स्वप्नान्तेऽपि न जानन्ति, परे हि परदर्शनम् ॥१०४४॥
तेभ्यः स्वमत[3]दक्षेभ्यः, को भेदस्तादृशां तु नः। मन्मनो मेरुवत् कर्तुमिदं निर्णेतुमर्हथ ॥१०४५॥
लसद्दन्तद्युतिश्रेणिच्छुरिताधरपल्लवः। गुरुस्तदुत्तरं दातुमित्थमाह महाशयः ॥१०४६॥

१ बुद्धिलेपेन की. मु.। २ तद्गुरो-की. मु.। ३ स्वमति- की. मु.

देवस्यैकत्वम् ।

तदेतद् व्यापकं प्रोक्तं, मया ते जैनदर्शनम् । यद् वेद्यसंवेद्यपदस्थितैर्भावेन दृश्यते ॥१०४७॥
उपलब्धे हि तत्तत्त्वे, जीवानां मलसंभवाः । स्वयमेव निवर्तन्ते, मोहिन्यो भेदबुद्धयः ॥१०४८॥
नयेषु स्वार्थसत्येषु, मोघेषु परचालने । समशीलं मनो यस्य, स हि सम्यक्त्वभूषितः ॥१०४९॥
एको हि शासने रागद्वेषमोहविवर्जितः । सर्वत्र तत्त्वतो देवः, सर्वज्ञः सर्वदर्शनः ॥१०५०॥
सकलोऽसौ जगत्कर्ता, सशरीरो निगद्यते । स एव योगिनां ध्येयो, मुक्तावस्थस्तु निष्कलः ॥१०५१॥
इत्थमेकस्वरूपे हि, देवतत्त्वे विनिश्चिते । न स्युर्नानाविधाः शब्दा, बुधानां भेदबुद्धये ॥१०५२॥
बुद्धो ब्रह्माऽथवा विष्णुर्महेशो वा स उच्यताम् । जिनेश्वरो वा सर्वत्र, भावतोऽर्थो न भिद्यते ॥१०५३॥
भजेद् य एव तं ज्ञात्वा, भावात् तस्यैव स प्रभुः । ममास्ति तव नास्तीति, सर्वोऽयं मत्सरभ्रमः ॥१०५४॥
सर्वेषां हि समानोऽसौ, निःशेषक्लेशवर्जितः । दत्ते मोक्षं सुविज्ञातः, पैतृकी कस्य जाह्नवी ॥१०५५॥
विभिन्ना अपि पन्थानो, यान्ति नद्य इवाम्बुधौ । कर्मप्रपञ्चनिर्मुक्ते, तत्रैकत्रैव योगिनाम् ॥१०५६॥
यज्ञातोऽसौ महाभागैः, श्रितश्चाशयशुद्धितः । तेषां निश्चयभाजां स्याद्, विवादः केन हेतुना ॥१०५७॥
रक्तं द्विष्टं तथा मूढं, मूढास्तं कल्पयन्ति ये । भावनाज्ञानभाजस्तांस्तारयन्ति कृपापराः ॥१०५८॥
श्रुतज्ञानाद् विवादः स्यान्मतावेशश्च चिन्तया । माध्यस्थं भावनाज्ञानात् , सर्वत्र च हितार्थिता ॥१०५९॥
तदेकत्वात्त्विको देवः, प्रोक्तस्ते ये भजन्त्यमी । सामान्यतो विशेषाद् वा, योगिनोऽसद्ग्रहोज्झिताः ॥१०६०॥

१ गुरुत्वदा–की. मु. । २ व एव डे. श्रा. । ३ माध्यस्थ्य डे श्रा. ।

धर्मोऽपि तात्त्विको ह्येकः, शुद्धः शुद्धगुणात्मकः। हेतुः कल्याणमालानां, विज्ञेयो मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥१०६१॥
क्षमामार्दवसच्छौचतपःसंयममुक्तयः। सत्यब्रह्मार्जवत्यागा, अमी धर्मगुणा दश ॥१०६२॥
विवदन्ते न सद्धर्मं, ज्ञात्वैतं दशलक्षणम्। वारयन्ति बुधाः किन्तु, तद्विपर्ययकल्पकम् ॥१०६३॥
प्रोक्तस्तदेक एवायं, सद्धर्मः सार्वतान्त्रिकः। एक एव च विज्ञेयो, मोक्षमार्गोऽपि तात्त्विकः ॥१०६४॥
सत्त्वं लेश्याविशुद्धिर्वा, शक्तिर्वीर्यं तथाऽऽत्मनः। इत्यादिशब्दभेदेऽपि, नार्थतः स विभिद्यते ॥१०६५॥
अदृष्टं कर्म संस्कारः, पुण्यापुण्ये शुभाशुभे। धर्माधर्मौ तथा पाशः, पर्यायाः[1] सुकृताश्रयाः ॥१०६६॥
भवन्ति हीयमानेऽस्मिन्[2], सर्वा भवविपत्तयः। भूतयो वर्द्धमानेऽस्मिन्, सर्वाः प्रादुर्भवन्ति च ॥१०६७॥
इदमेव परे प्राहुश्चतुष्कोटिविशुद्धिमत्। ऐश्वर्यज्ञानवैराग्यधर्मरूपास्तु कोटयः ॥१०६८॥
रजस्तमोभ्यां संछन्नं, सत्त्वं यन्न प्रकाशते। ऐश्वर्यादिगुणास्तेन, जन्तोर्यान्ति विपर्ययम् ॥१०६९॥
रजोवशादवैराग्यमनैश्वर्यं तमोवशात्। तमसश्चैव माहात्म्यादज्ञानाधर्मसंभवः ॥१०७०॥
तत् सत्त्वं मलिनीभूतं, हेतुः संसारदुःखयोः। तदेव निर्मलं वीर्यं, कारणं सुखमोक्षयोः ॥१०७१॥
ध्यानव्रततपोमुख्यास्तल्लाभार्थमिमेऽखिलाः। गीयन्ते हेतवश्चित्रास्तत् तत्त्वं पारमेश्वरम् ॥१०७२॥
ज्ञानं तद्गोचरं श्रेष्ठं, श्रद्धानं च तदाश्रयम्। क्रिया च वृद्धिकृत् तस्य, मोक्षमार्गः स[3] कीर्तितः ॥१०७३॥
एतच्च तत्त्वं यैर्ज्ञातं, ध्रुवं तेषां भ्रमः कुतः। केवलं वारयन्तीमे, तत्त्वभ्रष्टं कृपापराः ॥१०७४॥

१ "पर्यायास्तस्य कीर्त्तिता" शास्त्रवार्ता० स्तवक १ श्लो० १०७। २ अस्मिन् सत्त्वादिशब्दवाच्ये। ३ प्रकीर्त्तित. की. मु.।

मोक्षस्यै-
कता ।

तदेको मोक्षमार्गस्ते, तात्त्विकः कीर्तितो मया । पूर्णानन्दमयो ज्ञेयो, मोक्षोऽप्येकोऽनया दिशा ॥१०७५॥
संसिद्धिर्निर्वृतिः शान्तिः, शिवमक्षरमव्ययम् । अमृतं ब्रह्म निर्वाणं, ध्वनयस्तस्य वाचकाः ॥१०७६॥
सर्वकर्मक्षयादेष, सर्वतन्त्रे व्यवस्थितः । ज्ञानदर्शनसद्वीर्यसुखसाम्राज्यलक्षणः ॥१०७७॥
गुणातीतदशारूपो, यैरेष परिकीर्तितः । तैरप्यत्र न पर्यस्ता, चिद्रूपात्मव्यवस्थितिः ॥१०७८॥
यदशेषगुणोच्छेदरूपोऽसौ परिगीयते । स्वभावसुखसंवित्तिः, शक्या क्षेप्तुं न तैरपि ॥१०७९॥
दुःखाभावोऽपि नावेद्यः, पुरुषार्थतयेष्यते । न हि मूर्च्छाद्यवस्थार्थं, प्रवृत्तो दृश्यते सुधीः ॥१०८०॥
अशरीरं वा वसन्तं, स्पृशतो न प्रियाप्रिये । इत्यद्वन्द्वसुखात्मैको, मोक्षो मानप्रतिष्ठितः ॥१०८१॥
सर्वथा निर्मलं रूपमात्मनो मोक्ष उच्यते । इत्थं ह्यभेदविज्ञाने, शब्दभेदेन को भ्रमः ॥१०८२॥
उच्यतां वैष्णवं वा तद्, ब्राह्मणं वाऽभिधीयताम् । बौद्धं वा गीयतां यद्वा, माहेश्वरमुदीर्यताम् ॥१०८३॥
कथ्यतां वाऽथ जैनेन्द्रं, ज्ञातार्थैर्मानवैर्मतम् । अविनष्टे हि भावार्थे, शब्दभेदो न दुष्यति ॥१०८४॥
प्रसीदन्त्यर्थवैशद्यान्न बुधाः शब्दमात्रतः । विनाऽर्थं देव इत्युक्तो, मूर्ख एव हि तुष्यति ॥१०८५॥
इत्थं च दर्शनैकत्वे, भावतो ये स्वदर्शनम् । तीर्थिका व्यापकं ब्रूयुर्वादस्तैः सह कीदृशः ॥१०८६॥
मोहेनाच्छादितानां हि, पुण्डरीक महामुने ! । बहूनि दर्शनानीति, मोहोऽयं संप्रवर्तते ॥१०८७॥
भेदबुद्धिर्निवर्तेत, तन्नाशे दर्शनाश्रया । स मुञ्चेदाग्रहं तत्र, तथा चोक्तं मनीषिभिः ॥१०८८॥
रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य, गुणदोषानपश्यतः । विलब्धा बत केनामी, सिद्धान्तविषमग्रहाः ॥१०८९॥

अहं चारुरचारुस्त्वं, मदीयं चारु दर्शनम् । न त्वदीयमिति स्पष्टं, मत्सरस्य विजृम्भितम् ॥१०९०॥
सद्दृष्टयो हि यावन्तस्तावन्तः शुद्धदर्शने । ममत्वरहिताः सन्ति, तेषामस्त्येकवाक्यता ॥१०९१॥
ये त्वक्षीणमलत्वेन, स्वमताग्रहयालवः । तेषां जात्यन्धतुल्यानामपकर्णनमुत्तरम् ॥१०९२॥
अथवा बोधनीयास्ते, तत्त्वं यत्नशतैरपि । मोहापोहात् परः कोऽपि, नोपकारोऽस्ति भूतले ॥१०९३॥
स्वतीर्थं व्यापि चेत् तीर्थ्या, ब्रूयुस्तत्र किमुत्तरम् । इति प्रश्ने मयाऽऽख्यातं, तदिदं ते सदुत्तरम् ॥१०९४॥
यदा च दृष्टिवादाङ्गे, समग्रनयसागरे । पतन्तीर्द्रक्ष्यसि व्यक्तं, कुदृष्टिसरितोऽखिलाः ॥१०९५॥
तदा तव प्रयास्यन्ति, सन्देहाः सकलाः क्षयम् । ज्ञास्यसे[1] च यथा नास्ति, परं तत्त्वं जिनागमात् ॥१०९६॥
प्रपद्य नष्टसन्देहस्ततस्तद्वचनं गुरोः । पुण्डरीकमुनिश्चक्रे, सविशेषश्रुतोद्यमम् ॥१०९७॥
जातो गुरुप्रसादेन, द्वादशाङ्गाब्धिपारगः । अनन्तगमपर्यायज्ञानी सातिशयः क्रमात् ॥१०९८॥
ततः सगच्छोऽनुज्ञातोऽनुयोगस्तस्य सूरिभिः । दत्तं सूरिपदं स्वीयं, स्वस्यात्मा चानृणीकृतः ॥१०९९॥
कृताऽमरनरैर्देवसङ्घपूजा दिनाष्टकम् । तस्य सूरिपदस्योच्चैः, स्थापनाया महोत्सवे ॥११००॥
ततः समन्तभद्राख्याः, सूरयो देहपञ्जरम् । हित्वा शिवपुरं प्राप्ताः, कृतार्थाः क्षीणकल्मषाः ॥११०१॥
अथ लब्धावधिमनःपर्यायज्ञानवैभवः । पुण्डरीकाभिधः सूरिर्दीपयामास शासनम् ॥११०२॥
शिष्यान्निष्पाद्य देशेषु, विहृत्य जिनशासनम् । प्रभाव्य च चकारासौ, शुद्धसंलेखनां सुधीः ॥११०३॥

[1] ज्ञास्यते डे. ज्ञा.।

पुण्डरीकमुनेः सन्देहनाशः।

श्रीमन्नयादिविजया इह तत्सतीर्थ्या-स्तीर्थोदयावहपवित्रचरित्रभाजः ॥५॥
तदीयपदसेवकः स्ववशभावमान्विक्षिकी-नयं खलु निनाय यो दृढतरैस्तदीयैर्गुणैः।
स पद्मविजयाह्वयः प्रियसहोदरः प्रीतिमान्, यशोविजयवाचकः किमपि तत्त्वमेतज्जगौ ॥६॥
प्राभृतं विजयदेवगुरूणां ग्रन्थ एष सुविचारविशेषः। एतदुत्थसुकृतं निभृतं तैर्यत्समीहितमनागतमेव ॥७॥

॥ इति श्रीवैराग्यकल्पलतायां समाप्तिप्रशस्तिः। स्वस्तिरस्तु वाचकश्रोतृलोकानामलौकिकतात्त्विकप्रीतिकारिणीति मंगलम् ॥

संवत् १७९६ वर्षे शके १६६१ प्रवर्तमाने, पौष वदि २ भृगुवासरे लिखितं श्री राजनगरे ॥ श्रीरस्तु ॥ शुभम् ॥
पण्डित श्री ५ श्रीकर्पूरविजयजी तत्शिष्य संवेगरचितक्रियाशिरोमणि विनयवंत विचक्षण पण्डितोत्तम पण्डित श्री ५ श्रीक्षमाविजयजी तत्शिष्य चतुरशिरोरत्न पं० श्रीजिनविजयगणि तत्शिष्य मुनिश्रीमानविजयजी परिवारेण श्रीपुस्तकं लिखापितं यथा मात्रम् ॥

॥ श्रीरस्तु ॥ शुभम् ॥

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा, तादृशं लिखितं मया। यदि शुद्धमशुद्धं वा, मम दोषो न दीयते ॥१॥
तैलात् रक्षेज्जलात् रक्षेत्, रक्षेत् शिथिलबन्धनात्। मूर्खहस्ते न दातव्यं, एवं वदति पुस्तिका ॥२॥
अज्ञानाच्च मतिभ्रंशाद्, यत्कूटं लिखितं मया। मिथ्या मे दुष्कृतं तस्य, मनोवाक्कायशुद्धितः ॥३॥
सगुण निगुण पटंतरो, किम लब्भइ दशरत्थ। निगुण बोलाव्यो गालि दे, सगुणो जोडे हत्थ ॥४॥ इत्यादि ॥

सर्वग्रन्थमान श्लोकसहस्र ७००८